हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला--७१

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

लेखक

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रकाशक की ओर से

○ ○ ○

विश्व मे एशिया खण्ड ही ऐसा स्थल है जहाँ धर्मों और सम्प्रदायो का उद्गम हुआ है। पारसी, यहूदी, ताओ, कनफ्यूसियन, सांख्य-योग, बौद्ध, जैन, जैसे धर्म इसी उर्वर भूमि मे जन्मे और इनकी वैचारिक उद्भावनाएँ ईसापूर्व पाँच-छ: शताब्दियो मे ही नवीन चेतना के रूप मे प्रतिष्ठित हुईं। इनमे से भारत मे प्रादुर्भूत बौद्ध धर्म व्यापक मानवीयता, करुणा और नैतिकता का अधिक पोषक माना गया और इसका प्रसार शिष्टता एव आदर के साथ पूरे एशिया-खण्ड मे आरम्भ से ही होने लगा। इस धर्म मे किसी सद्विचार का विरोध नही था, किसी जीवधारी का अहित चिन्तन नही था, अपितु समन्वयात्मक विश्व-कल्याण की भावना थी। इस देश मे प्राचीनकाल से यह भावना अनजानी न थी, किन्तु कुछ शतको के बीच लौकिक जीवन का नेतृत्व राजाओ और पुरोहितो, श्रेष्ठियो और ऋत्विजो के अधीन हो गया था। ये लोग शक्ति, धन और देवपूजा द्वारा अपने भोग और सुविधाएँ जुटाना ही जीवन का लक्ष्य मानने लगे थे। अत जन-सामान्य के कष्ट से तप्त गौतम बुद्ध ने भरी तरुणाई मे व्यक्तिगत सुख से मुँह मोडकर मानवता के उद्धार मे ही अपनी शान्ति एव निर्वाण-प्राप्ति की सिद्धि की। कृतज्ञ जनता ने उनको भगवान् माना और उनके वचनामृतो से अपनी जीवन-पद्धति निर्धारित की।

पुन एक युग ऐसा आया जिसमे बौद्ध धर्म के प्रभाव से अशोक, मिलिन्द, शालिवाहन, कनिष्क, हर्षवर्धन जैसे महान् शासक धन, वैभव, मद, मोह को त्याग कर लोकहितकारी पवित्र जीवन बिताने लगे। भारत

का यह धर्मसन्देश यूनानी, तूरानी, चीनी, जापानी शासकों को भी शिरोधार्य हुआ। इस आधुनिक नये युग मे भी बुद्ध-उपदिष्ट धर्म को मानने वाले विदेशी लोगो की सख्या भारतवासी हिन्दुओ से अधिक है और वे सब इस देश भारत को पुण्य भूमि मानते है।

हिन्दी समिति की प्रस्तुत पुस्तक मे सक्षेप मे इन्ही सब विषयो का दिग्दर्शन कराते हुए उन परिस्थितियो और घटनाओ का विवेचन किया गया है जो बौद्ध धर्म के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि मानी जाती हैं। इस प्रसग मे बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो, उपदेशो, कलात्मक, साहित्यिक और सामाजिक रचना एवं रीति-नीतियो का विशद वर्णन किया गया है। विद्वान् लेखक के गम्भीर चिन्तन तथा पाण्डित्यपूर्ण पाश्चात्य शैली के गवेषणात्मक अध्ययन की छाप पुस्तक मे स्पष्ट मिलती है। यह उपयोगी रचना इतिहास-प्रेमियो को बहुत रुचिकर हुई और इसका प्रथम सस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। पाठको की आग्रहपूर्ण माँग को ध्यान मे रखकर अब इसका द्वितीय सस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारे अनुरोध पर लेखक ने इस सस्करण मे यत्र-तत्र आवश्यक सशोधन और परिवर्धन कर दिया है। इससे उपयोगिता बढ गयी है। गुणग्राही अध्येता प्रस्तुत सस्करण का भी पूर्ववत स्वागत करेगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

लखनऊ
हिन्दी भवन

विषय-सूची

संकेत विवरण

अथर्व०	=अथर्ववेद सहिता
अनु०	=अनुवादक
अगुत्तर (रो०)	=अगुत्तरनिकाय, रोमन लिपि मे सम्पादित (Palı Text Socıety) के द्वारा प्रकाशित।
अट्ठसालिनी (ना०)	=अट्ठसालिनी, नागरी लिपि मे सम्पादित, वापट और वाडेकर के द्वारा, १९४२।
अप्ट०, अप्टसाहस्त्रिका	=अप्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता (स० राजेन्द्र-लाल मित्र)।
आयारग	=आयारगमुत्त (शीलाक की व्याख्या के साथ, कलकत्ता, १८७९)
आपस्तम्व	=आपस्तम्व धर्मसूत्र (स० वूलर, द्वितीय सस्करण)
आइ० एच० क्यू०=IHQ	=Indian Historical Quarterly
ई० आर० ई०=ERE	=Encyclopaedia of Religion and Ethics (स० J. Hastigs)
ई०	=ईसवी सन्
ई० पू०	=ईसापूर्व
उप०, उ०	=उपनिपद्
उत्तर०	=उत्तरज्झयण (आगमोदय समिति के द्वारा प्रकाशित)
उदा०	=उदाहरणार्थ
ऋ० स०	=ऋग्वेदसहिता
एस० वी० ई०=SBE	=Sacred Book of the East
ए० एस० आई०=ASI	=Archaeological Survey of India

एम० ए० एस० आइ०=MASI =Memoir of the Archaeological Survey of India
ऐ० =ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० आ० =ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० =ऐतरेय ब्राह्मण
आरिजिन्स आव बुद्धिज्म =डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, Studies in the Origins of Buddhism (Allahabad 1957).
कठ० =कठोपनिषद्
कथा० =कथावत्थु
का० स० =काठक संहिता (स्वाध्याय मंडल, औंध)
कोश =L'Abhidharmakos'a de Vasubandhu (tr et an par L dela Vallée Poussin, Paris, 1923-31)
कोनाउ =Sten konows Kharosthé Inscriptions
काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी =A Comprehensive History of India Vol II (Ed K A N. Sastri)
कौषीतकि० =कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
केन० =केनोपनिषद्
खुद्दक (ना०) =खुद्दकनिकाय, नागरी लिपि में सम्पादित (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला)
गौतम गौतमधर्मसूत्र (आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थ-माला मे प्रकाशित, १९१०)
छा० =छान्दोग्योपनिषद्
जि० =जिल्द
जे० आर० ए० एस०=JRAS =Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain Ireland
जे० ए०=JA =Journal Asiatique
जे० ए० एस० बी०=JASB =Journal of the Asiatic Society of Bengal.

जे०आर०ए०एम०वी०=JRASB=Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal.

जे० वी० ओ० आर० एस०=
JBORS=Journal of the Bihar Orissa Research Society

जे० वी० वी० आर० ए० एस०–
JBBRAS=Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society

जे० जी० आर० आइ०=JGRI =Journal of the Ganganatha Jha Research Institute

जेड० डी० एम० जी०=ZDMG=Zeitschrift der deutschen Morgenlandischen Gesellschaft

जे० पी० टी० एम०=JPTS =Journal of the Pali Text Society

जे० डी० एल०=JDL =Journal of the Department of Letters

जातक (ना०) =जातकट्ठकथा, भाग १ (काशी, १९५१)

जातक० =Jatakatthavannana (लंदन, १८७७–९७) (Ed Fausbell)

तै० =तैत्तिरीयोपनिषद्

तै० आ० =तैत्तिरीयारण्यक (आनन्दाश्रमीय संस्करण)

तै० ब्रा० =तैत्तिरीय ब्राह्मण

ताण्ड्य० =ताण्ड्यमहाब्राह्मण (चौखम्बा का संस्करण)

तारानाथ =A Schiefner (अनु०) Taranathas Geschichte des Buddhism in Indian (St. Petersberg, 1867)

तकाकुसु, इ-चिंग =J Takakusu, A Record of the Buddhist Religion as practised in India and the Malaya Archipelage by I-tsing (Oxford, 1896)

तु० =तुलनीय

त्रिंशिका	=द्र० विंशतिका
दीघ (ना०)	=दीघनिकाय, नागरी लिपिमे सम्पादित (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
दीघ (रो०)	=दीघनिकाय, रोमन-लिपि मे सम्पादित (पी० टी० एस० के द्वारा प्रकाशित)
दे०	=देखिए
द्र०	=द्रष्टव्य
दिव्यावदान	=दिव्यावदान (पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित)
दत्त, महायान	=नलिनाक्ष दत्त, Aspects of Mahayana & its Relation to Hīnayāna.
धम्मसगणि	=धम्मसगणि, नागरी लिपि मे सम्पादित, बापट और वाडेकर के द्वारा, पूना, १९४०
नजियो	=Bunyin Nanjio, Catalogue of the Chinese translation of the Buddhist Tripitaka (Oxford, 1883).
पी० टी० एस०	=Pali Text Society
पी० एच० ए० आइ०=PHAI	=H C Raychaudhuri, Political History of Ancient India.
पी० आइ० एच० सी०=PIHC	=Proceedings of the Indian History Congress.
प्रश्न०	=प्रश्नोपनिषद्
पूर्व०	=पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ
पृ०	=पृष्ठ
प्र०	=प्रभृति
बील, श्वाँच्वांग	=S. Beal, (tr) Si-Yu-Ki or Buddhist Records of the Western World (कलकत्ता, १९५७)
बौधायन	=बौधायनधर्मसूत्र (मैसूर, १९०७)
बुदोन	=E. Obermiller (tr.), Bu-Ston—History of Buddhism. २ जि० (१९३१–३२)

बारो =A. Bareau, Les Sectes Bouddhiques du Petit Vehicule (सैगोन, १९५५)

बोधिचर्या० =वोधिचर्यवितार (विब्लियोथेका इण्डिका में प्रकाशित)

विव० इण्ड० =विब्लियोथेका इण्डिका

ब्र० सू० =ब्रह्मसूत्र

बृ० =बृहदारण्यकोपनिषद्

मललसेकर =Malalesekara, Dictionary of Pali Proper Names २ जिल्द

मसुदा =J. Masuda, Origin and Doctrines of Early Indian Buddhist Schools (Asia Major II, 1925)

मिलिन्द =मिलिन्दपञ्हो (आर० डी० वाडेकर द्वारा नागरी मे सम्पादित)

मध्यमक० =Mulamadhyamakakarikas de Nagarjuna avec le Prasannapada (स० La Valee Poussin)

मज्झिम (ना०) =मज्झिमनिकाय (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)

मज्झिम (रो०) =मज्झिमनिकाय (पी०टी०एस० के द्वारा प्रकाशित)

मुण्ड० =मुण्डकोपनिषद्

ललित =ललितविस्तर (पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित)

लामोत, लत्रैते =E Lamotte, Le Traite' de La Grande Vertue de Sagesse de Nagarjuna. २ जि०

लंका० =लंकावतार (कियोटो, १९२३)

लूदर्स =M, Luders, A List of Brahmi Inscriptions (Epigraphia Indica, X)

वसिष्ठ	=वसिष्ठधर्मशास्त्र (पूना, १९३०)
वाटर्स	=T Watters, On Yuan Chwang's tiavels in India, २ जि०
वालेजेर	=M. Walleser: Die Seken desalten Buddhismus, (Heidelbeig, 1927)
विनय (ना०)	=विनयपिटक, (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थ-माला मे प्रकाशित)
विन्टरनित्ज	=Winternitz, History of Indian Literatuie, जि० २ (कलकत्ता, १९३८)
विसुद्धिमग्गो	=विसुद्धिमग्गो (धर्मानन्द कोसम्बि द्वारा नागरी मे सम्पादित)
विंशतिका	=Vijnaptimatratasiddhi deux traites de Vasubandhu, Vinśatika et Trimśikā (Paris, १९२५)
वैदिक इन्डेक्स	=A. A. Macdonell & A B Keith, Vedic Index २ जि० ।
शत०, शतसाहस्रिका	=शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (स० प्रतापचन्द्रघोष)
शतपथ०	=शतपथब्राह्मण (अच्युत ग्रन्थमाला का सस्करण)
सी० आइ० आइ०	=Corpus Inscriptionum Indicarum
सी० एच० आइ०	=Cambridge Histoiy of India, Vol I
सिद्धि	=Vijnaptimatratasiddhi-La Siddhi be Hiuen Tsawg tr. et an. ar de la Vall'e Poussin (Paris १९२८-२९)
स्चेरबात्स्की, सेन्ट्रल कन्सेप्शन	=T Stcherbatsky, Central conception of Buddhism and the Meaning of the Word Dharm
स्चेरबात्स्की, निर्वाण	=T Stcherbatsky the Conception of Buddhist Nirvana (1927)
,, लाजिक	=T. Stcherbatsky, Buddhist Logic 1932 २ जि०

सूत्रालकार	=महायानसूत्रालकार (सिल्वे लेवि द्वारा सम्पादित)
स्फुटार्था	=स्फुटार्था, अभिधर्मकोशव्याख्या, वोगिहारा के द्वारा रोमन मे सम्पादित।
श्लो०	=श्लोक
सूय०	=सूयगडग (=सूत्रकृताग, पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित)
श्वेताश्व०	=श्वेताश्वतरोपनिषद्
सयुत्त (ना०)	=सयुत्त निकाय (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला मे प्रकाशित)
सयुत्त (रो०)	=सयुत्त निकाय (पी०टी०एस० के द्वारा प्रकाशित)
स०	=सम्पादक
शिक्षा	=शिक्षासमुच्चय (स०C Bendall)

अध्याय १

बुद्ध और उनका युग

वैदिक पृष्ठभूमि

आर्येतरीय और आर्यधर्म—प्रागैतिहासिक काल से भारत नाना जातियो और सस्कृतियो का आश्रय रहा है और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियो तथा जीवन-विधाओ के सघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास की प्रगति और सस्कृति का विकास हुआ है। इस विकास मे आर्येतर जातियो का उतना ही महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है जितना आर्य जाति का। पिछले इतिहासकार भारत की आर्येतर जातियो को प्राय वर्वर अथवा असभ्य मानते थे, अतएव यह कल्पना करते थे कि वैदिक तथा परवर्ती भारतीय सभ्यता के अभ्युन्नत तत्त्व मूलत आर्यों की देन होगे। परन्तु अब हरप्पा-सस्कृति के पता लगने पर न केवल यह दृष्टि भ्रान्त ठहरती है, प्रत्युत् यह प्रतीत होता है कि भारत मे आर्यो के आक्रमण को एक सभ्य प्रदेश मे वर्वर जाति का प्रवेश समझना चाहिए।[1] यद्यपि आर्यो ने अपनी पूर्ववर्तिनी आर्येतर सभ्यता को ध्वस्त कर अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म और समाज को भारत मे प्रतिष्ठित किया तथापि यह निर्विवाद है कि यह सास्कृतिक विध्वस निरन्वय विनाश नही था और सिन्धु-सस्कृति के अनेक तत्त्व परवर्ती आर्य-सभ्यता मे अगीकृत हुए। आर्य तथा आर्येतर सास्कृतिक परम्पराओ का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुई। इसका प्रभाव एक ओर उत्तर वैदिक-कालीन समाज-रचना मे स्पष्ट देखा जा सकता है, दूसरी ओर उस बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन में जिसका चरम परिणाम बौद्ध धर्म का अभ्युदय था।[2]

१—तु०—पिगट, प्रिहिस्टरिक इण्डिया, पृ० २५७–५८।

२—द्र०—लेखक की स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, अध्याय ८।

सैन्धव-संस्कृति—आर्यो का भारत मे आगमन और वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में निर्धारित किया गया है[३]। पर यह धारणा अयुक्त प्रतीत होती है। बोगज़कोई के अभिलेखो मे उल्लिखित देवताओ को वैदिक देवता स्वीकार करने पर आर्यो का भारत-प्रवेश १४०० ई० पू० से पर्याप्त पहले होगा[४]। वैदिक भाषा और सस्कृति का सुदीर्घ विकास तथा पश्चिमी एशिया का इतिहास देखते हुए आर्यो का भारत मे पदार्पण १८०० ई० पू० के लगभग मानना युक्ति-सगत होगा। उस समय ताम्र-प्रस्तर-युगीन, साक्षर और नागरिक सैन्धव सभ्यता शिमला की पहाड़ियो की तलहटी से लेकर कराची से ३०० मील पश्चिम अरब सागर के तट तक फैली हुई थी। पूर्व की ओर इसका प्रभाव काठियावाड, बीकानेर और कदाचित् उत्तरकालीन हस्तिनापुर तक विस्तृत था। इस सस्कृति के निर्माता अनेक जातियो के थे—मूल-आस्ट्रेलिद (निषाद), भूमध्यसागरीय (द्रविड़ ?), तथा मंगोलिद (किरात[५])। नगरमापन, मूर्तिकला और व्यापार मे समुन्नत होते हुए भी यह सभ्यता शस्त्रास्त्र के विज्ञान में दुर्बल थी और अश्वारोहण से प्राय अपरिचित। इसके आध्यात्मिक कृतित्व के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है क्योकि तत्कालीन लिखित सामग्री जितनी अल्प है उतनी ही दुर्बोध। इस विरोधाभास पर विस्मय प्रकट किया गया है कि सैन्धव सभ्यता अपने उत्तराधिकारियो को अध्यात्म-विद्या की अक्षय थाती सौप सकी जबकि उसका वह भौतिक कलेवर, जिसके अवशेषो मे वह इस समय विद्यमान है, आर्यो के आक्रमण को बिलकुल न सह सका[६]। इसका प्रत्याख्यान नही किया जा सकता कि परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिन्धु-सभ्यता से लिये गये, जिनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पशुपति, योगीश्वर तथा कदाचित् नटराज के रूपो मे शिव की पूजा, मातृ-शक्ति की पूजा, अश्वत्थ-पूजा, वृषभादि अनेक

३—ह्वीलर, इण्डस सिविलिज़ेशन, पृ० ४, ८४–९२; केम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया, जि० १, पृ० ७६।

४—तु०—दि वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन) पृ० २०४।

५—यह स्मरणीय है कि हड़प्पा ('आर ३७' तथा 'एरिया जी') से उपलब्ध प्रचुरतर सामग्री का नृतत्त्वीय विश्लेषण अभी कर्तव्य है, द्र०—ह्वीलर, इन्डस सिविलिज़ेशन, पृ० ५१–५२।

६—वही, पृ० ९५।

पशुओ का देव-सबन्ध, लिंग-पूजा, जल की पवित्रता, मूर्ति-पूजा और योगाभ्यास जो कि आसन और मुद्रा के अकन से सकेतित होता है[७]। योग-विद्या की प्राचीनता का यह सकेत बौद्ध-धर्म के अभ्युदय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पर यह कहना कि केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही सिन्धु सभ्यता से उत्तरकालीन सभ्यता में अगीकृत हुए, अत्युक्ति होगी। भौतिक सभ्यता के भी अनेक तत्त्व परवर्ती काल मे स्पष्टत. अनुसन्तत देखे जा सकते है, यथा गेहूँ, जौ, और कपास की खेती, गृह-विन्यास एव दुर्ग-विन्यास, नाप-तौल की प्रणाली, लिपि-विद्या आदि[८]। कितने उत्तरकालीन शिल्प प्राचीन आर्येतर जातियो की देन है, यह कह सकना कठिन है, पर अधिकाश शिल्पियो की - काल में हीन सामाजिक दशा विजेता आर्यो की अपेक्षा विजित आर्येतरो से उनका अधिक सम्बन्ध द्योतित करती है।

यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-सस्कृति का यह विविध प्रभाव आर्यसभ्यता के प्रथम आविर्भाव के समय कम था और पीछे क्रमश अधिक। प्रारम्भ मे विजेता आर्य और विजित, पलायमान अथवा दासकृत आर्येतर जातियाँ परस्पर सघर्ष में निरत थी और यह कहना आवश्यक है कि युद्धजन्य सम्पर्क सास्कृतिक आदान-प्रदान अथवा समन्वय के लिए अधिक उपयोगी नही होता। आर्य-समाज का प्रारम्भिक रूप भी एक विजयी समाज का था जिसमे शक्ति और प्रतिष्ठा क्षत्रियो तथा ब्राह्मणो के हाथ मे थी। क्षत्रिय अथवा राजन्य शासक थे और ब्राह्मण उनके पुरोहित। शेष जनता 'विश ' पद से सम्बोधित होती थी और कृषि तथा पशुपालन के द्वारा आर्थिक जीवन उन पर आधारित था। यद्यपि ऋक्सहिता के 'दास' तथा 'दस्यु' शब्दो की अनार्यपरक व्याख्या समीचीन नही प्रतीत होती तथापि भृत्यार्थक एक दूसरा 'दास' शब्द भी वहाँ

७—सैन्धव धर्म पर द्र०—मार्शल, मोहेन्जोदड़ो एन्ड दि इन्डस सिविलिजेशन, जि० १, पृ० ७७–७८; ह्वीलर, इन्डस सिविलिजेशन, पृ० ८२–८४; पिगट, प्रिहिस्टरिक इण्डिया पृ० २०१–३; मैके, दि इन्डस सिविलिजेशन, पृ० ६४–९९; ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २५२–५६।

८—द्र०—ह्वीलर, पूर्व०, पृ० ६२–६३; पिगट, पूर्व, पृ० १५३ प्र०; सैन्धव लिपि का ब्राह्मी से सम्बन्ध अनायास कल्पनीय, किन्तु विवादग्रस्त है। सैन्धव दुर्गविन्यास की परम्परा पर द्र०—जी० आर० शर्मा, एक्सकवेशन्स एट कौशाम्बी पृ० ६, तु०—ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एन्ड पाकिस्तान, पृ० १२९।

पाया जाता है[९]। और यह मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है कि आर्य-ग्रामो और आर्य-कुटुम्बो मे आर्येतर दास-दासियो का अभाव नही था। आर्यजनो के पर्यन्त मे स्थित ग्रामो तथा अरण्यो मे निषाद, किरात आदि अनेक आर्येतर जनो का निवास था। सम्भव है कि दास-वर्ग मे सिन्धु-सस्कृति के अनेक उन्मूलित किसान और कारीगर थे जिन्होने कालान्तर मे आर्य-कृषि और शिल्प के विकास मे योग दिया। वैदिक ब्राह्मण समाज की सास्कृतिक पर्यन्त भूमि मे 'मुनियो' और 'श्रमणो' का एक निराला वर्ग था जिसका योगविद्या से परिचय होने के कारण कदाचित् पिछली सिन्धु सस्कृति से अन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। ये मुनि और श्रमण ब्राह्मणेतर, तथा वैदिक सस्कृति के अनभ्यन्तर, प्रतीत होते हैं।

मुनि-श्रमण—ऋक्सहिता के केशि-सूक्त मे केशधारी, मैले 'गेरुए' कपडे पहने हवा मे उडते, जहर पीते, 'मौनेय' से 'उन्मदित' और 'देवेषित' 'मुनियो' का विलक्षण चित्र अलिखित है। मुनियो का उल्लेख ऋक्सहिता मे अन्यत्र भी है, पर विरल है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखलाते हुए मुनियो के दर्शन ने सूक्तकार को विस्मय मे और इस भ्रान्ति मे डाल दिया था कि वे उन्माद अथवा आवेश मे है। यहा पर यह भी स्मरणीय है कि निवृत्तिपरक अथवा क्लेश-लक्षण तप ऋक्सहिता के सुविदित जीवन-दर्शन के विरुद्ध था तथा योगजन्य सिद्धियाँ उनकी अपरिचित थी अतएव यह स्वाभाविक है कि मुनियो का आचरण वैदिक ऋषियो को विचित्र प्रतीत हो। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त मे 'वातरशन' मुनियो के नाम इस प्रकार थे—जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश और ऋष्यश्रृग। ऐतरेय ब्राह्मण मे एक ऐतश का 'उन्मत्त' मुनि के रूप मे उल्लेख आता है[१०]। ऋष्यश्रृग की कथा परवर्ती साहित्य मे अनेकत्र और अनेक रूपो मे पायी जाती है, पर यह स्पष्ट है कि ऋष्यश्रृग एक ब्रह्मचारी और आरण्यक तपस्वी थे। तैत्तिरीय आरण्यक में श्रमणों को 'वातरशना' कहा गया है[११]। ताण्ड्य० मे 'तुरो देवमुनि' का उल्लेख है[१२]।

९—द्र०—पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, दास एन्ड दस्यु इन दि ऋग्वेद (रोम में सयोजित प्राच्य तत्त्वविदों के १९वें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की विवरण पत्रिका)।

१०—वैदिक इन्डेक्स, जि० २, पृ० १६७।

११—तै० आ०, जि० १, पृ० ८७, १३७–३८।

१२—ताण्ड्य० जि० २, पृ० ६०१।

ऋक्संहिता के अरण्यानी सूक्त के द्रष्टा ऐरम्मद देवमुनि थे, जिससे अथर्व० में पठित है 'मुनेर्देवस्य मूलेन' इत्यादि तुलनीय है। ताण्ड्य० में 'मुनिमरण' नामक स्थान का उल्लेख है और 'यतियों' को इन्द्र का शत्रु कहा गया है[13]। उत्तरकाल में यति का अर्थ तापस था, यथा मुण्ड० ३ २ ६। शतपथ में तुर कावषेय को मुनि कहा गया है[14]। शंकराचार्य शारीरकभाष्य (ब्र० सू० ३, ४, ९) में एक श्रुति का उद्धरण देते हैं जिसके अनुसार कावषेय ऋषि वेदाध्ययन और यज्ञ के समर्थक नहीं थे। यह स्मरणीय है कि कवष ऐलूष सरस्वती तट के वैदिक यज्ञ से साक्रोश अब्राह्मण कहकर निकाल दिये गये थे[15]। तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा-यमुना के मुनियों को नमस्कार किया गया है[16]। आरुण केतुक चयन के विधान में भिक्षा आवश्यक है। एक भिक्षु आंगिरस ऋक्संहिता के दान की महिमा ख्यापित करनेवाले दशम मण्डल के ११७ वे सूक्त के ऋषि कहे गये हैं। उपनिषदों में श्रमण शब्द का सकृत् प्रयोग है,[17] यद्यपि मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही यज्ञ-विधि के निन्दक मुण्डित-शिर भिक्षुओं की कृति प्रतीत होती है। इस प्रसंग में बहुचर्चित व्रात्य भी उल्लेख्य है[18]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में मुनि-श्रमण ब्राह्मण-प्रधान वैदिक समाज के बहिर्भूत होते हुए भी एक प्राचीन और उदात्त आध्यात्मिक परम्परा के उन्मूलित अवशेष थे। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रमणों के विषय में अधिक सामग्री प्राप्त होती है और इसमें सन्देह नहीं रहता कि ब्राह्मण और श्रमण परस्पर विविक्त और विरोधी थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में यूनानियों ने उनके विभेद का उल्लेख किया है[19] और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उनका शाश्वत विरोध बताया है[20]। बुद्धकालीन श्रमण समुदायों का विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है, पर इतना स्पष्ट है कि वे प्रायः दुःखवादी, निवृत्तिवादी, निरीश्वरवादी, जीववादी और

१३—ताण्ड्य०, जि० १, पृ० २०८।
१४—शतपथ, जि० २, पृ० १०४१।
१५—ऐ० ब्रा० ८, १।
१६—तै० आ० जि० १, पृ० १६६।
१७—बृ० उप० ४, ३, २२।
१८—व्रात्यों पर द्र०—अथर्व० काण्ड १५।
१९—मैकक्रिन्डल, एन्शेन्ट इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थेनीज़ एण्ड एरियन, पृ० ९७–१०५।
२०—अष्टाध्यायी २, ४, ९ पर महाभाष्य।

क्रियावादी थे। उनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार ससारवाद अथवा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त थे।

इस मुनि-श्रमण दृष्टि के प्रतिकूल थी पूर्ववैदिक कालीन ब्राह्मण-धर्म की प्रवृत्ति-वादी और दैववादी दृष्टि। जहाँ मुनियो के लिए प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक तथा हेय था और ब्रह्मचर्य, तपस्या, योग आदि निवृत्तिपरक क्रियाएँ ही उपादेय थी, ब्राह्मण-धर्म मे ऐहिक और आमुष्मिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन। शकराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण[२१]। पर यह स्मरणीय है कि पूर्व-वैदिक-कालीन ब्राह्मण-धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्तिलक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि-श्रमण थे।

वैदिक आर्यधर्म—देवता

पूर्व वैदिक धर्म की निष्ठा को गीता के इन शब्दो मे सगृहीत किया जा सकता है—"सहयज्ञा: प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व । परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ ।।"[२२] भौतिक प्रकृति और मानव-जीवन के विविध व्यापारो के पीछे बहुविध शक्तियाँ अधि-ष्ठातृरूप से विद्यमान हैं। इन शक्तियो का ही देवता शब्द से अभिधान होता है[२३]। देवताओ की सत्ता ज्योतिर्मय, शुभ और अमर है। उनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र पुरुषविध नही होती, पर समीचीन यजन का उचित फल प्रदान करने मे वे चेतनवत् सामर्थ्य रखते हैं[२४]। यज्ञ और उसके फल का सम्बन्ध देव-शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है

२१—गीताभाष्य का उपोद्घात।

२२—गीता, ३, १०—११।

२३—तु०—"ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानः ··· ।"

(ब्रह्मसूत्र, १, ३, ३३ पर शांकरभाष्य)

२४—द्र०—निरुक्त, दैवतकाण्ड; ब्रह्मसूत्र, १.३. २६-३३ तथा उन पर शांकरभाष्य; गीता, ७.२०—२३, तु०—योगसूत्र, २.४४—"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" जहाँ देवताविषयक तान्त्रिक सिद्धान्त अन्तर्निहित है।

और इस प्रकार का फलप्रदत्व ही देवसत्ता का वास्तविक अर्थक्रियाकारित्व है[२५]। यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवताओ को प्रसन्न और उनके प्रसाद से अपना कल्याण कर सकते हैं। देवता के लिए मन्त्रपूर्वक द्रव्यत्याग को यज्ञ कहते हैं। ईरान मे एक समय प्राचीन आर्य लोग हवि को अग्नि मे नही डालते थे[२६]। भारतीय आर्यों में वहुत पहले ही वैदिक काल मे अग्नि हव्यवाह के रूप मे प्रकट होते है, यद्यपि यह स्मरणीय हे कि यहाँ भी उत्तरकालीन सिद्धान्त के अनुसार हवि का अग्नि मे प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति कर्म' ही समझा जाता था।

वेद के अनेक देवताओ मे इन्द्र का प्राधान्य था[२७]। इन्द्र वल के देवता थे और आर्य-प्रसार के युग मे सग्रामो का बाहुल्य उनकी लोक-प्रियता का कारण था। उत्तर-काल मे इन्द्र वर्षा के देवता के रूप मे अर्चित हुए और इस प्रकार लोक-प्रिय वने रहे। अग्नि, बृहस्पति और सोम विशेष रूप से ब्राह्मणो के देवता थे। वरुण, सत्य और ऋत के पालक के रूप मे माने जाते थे। उनके सूक्तो मे ऋक्-सहिता के नैतिक आदर्श प्रकाश पाते है। औध्र्वदेहिक जीवन के विषय मे भी पूर्व वैदिक कालीन धारणाएँ अस्पष्ट थी। यह माना जाता था कि देवताओ का यजन करने वाले सत्पुरुष मृत्यु के पश्चात् पितृलोक मे निवास करते हैं[२८]। अनृत-परायण व्यक्तियो की औध्र्वदेहिक अवस्था के विषय मे कुछ स्पष्ट नही कहा गया है। देवताओ का उस समय मुख्यतया ऐहिक प्रसाद

२५–तु०—महिम्नस्तोत्र, श्लो० २०, "क्रतौ सुप्ते जाग्रत्वमसि फलयोगे क्रतुमताम्" इत्यादि तथा उस पर मधुसूदनी व्याख्या।

२६–द्र०—हेरोडोटस, हिस्टरीज, (पेंग्विन क्लासिक्स में अनुवाद), पृ० ६८–६९।

२७–वैदिक देवताओ एव देववाद पर सामान्यत· द्र०—मैकडॉनल, वैदिक माइथॉ-लॉजी; कीथ—रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स जि० १; वैदिक 'ऐकेश्वरवाद' पर द्र०—श्मित्, ऑरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव रिलिजन, पृ० १७२–८७; मैक्समूलर के 'पर्यायेश्वरवाद' (हेनोथीइज्म) पर मैकडॉनल, पूर्व० पृ० १० प्र०, कीथ, पूर्व०, जि० १, पृ० ८८–८९; "विभागीय देवताओ" ('जान्देरगातर') पर, ओल्देनबर्ग, दी रेलिगियोन देस वेद, पृ० ६०–७३, इन्द्र आदि देवताओ पर, ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २६६–७०।

२८–ऋ० सं० १०.१४–१८; ९.११३; १.१५४।

प्रार्थित था। यह भी उल्लेख्य है कि वैदिक देवताओ को आर्येतर प्रभाव से सर्वथा मुक्त नही माना जा सकता[२९]।

सामाजिक परिवर्तन

मध्य और उत्तर वैदिक काल मे दूर तक प्रभाव डालने वाले सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन हुए। वैदिक आर्य सभ्यता का उत्तर-भारत मे क्रमश पूर्वाभिमुख प्रसार होता गया। शतपथ से विदित होता है कि अरण्यानी का साम्राज्य दग्ध करते हुए अग्नि वैश्वानर ने प्रसार का पथ प्रदर्शित किया और आर्य-ग्राम सदानीरा के पार विदेह तक जा पहुँचे[३०]। भाषा का परिवर्तन और चातुर्वर्ण्य का विकास 'आर्य' तथा 'आर्येतर' जनता के पर्याप्त समिश्रण की ओर सकेत करता है। स्वय वेद का सकलन और विभाजन महर्षि व्यास का कार्य बताया गया है, जिनमे अनार्य रक्त प्रचुर मात्रा मे विद्यमान था। बृहदारण्यक उपनिषद् मे श्यामवर्ण, लोहिताक्ष और वेदवित् पुत्र की प्राप्ति के लिए विधि का निर्देश किया गया है[३१]। ये लक्षण निश्चय ही आर्यो के प्रथित गौरवर्ण और पिंगलकेशो से वहुत दूर है[३२]। पूर्ववैदिक काल की जनता-विश –अव वैश्यो और शूद्रो मे विभक्त हो गयी। शूद्र-वर्ण में आर्येतर जाति की प्रधानता निर्विवाद है, पर केवल आर्येतर ही शूद्र नही थे और जैसा कि ऊपर देखा गया है, न अन्य वर्णो मे आर्येतर रक्त का अभाव था[३३]।

२९–उदाहरणार्थ, वैदिक रुद्र का सम्वन्ध सिन्धु संस्कृति से अनायास प्रतिपाद्य है—तु०—दि वैदिक एज, पृ० २०३। वैदिक उषा और उर्वशी का सिन्धु-संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। द्र०—इण्डिया पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, १.१ पृ० १६३ प्र०।

३०–खाण्डवदहन की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है।

३१–बृ० उप० ६.४.१६।

३२–तु०—महाभाष्य, अष्टाध्यायी २.२.६ पर, "कपिल पिंगलकेश इत्येनानभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति"।

३३–शूद्रो की उत्पत्ति पर तु०—केम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया, जि० १, पृ० ८५–८६, १२८–१२९; काणे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र जि० २, भा० १, पृ० २५ प्र०, ३३ प्र०, ४५ प्र०; हटन, कास्ट इन इण्डिया, अध्याय ११, आर० एस० शर्मा, दि शूद्रज इन एन्श्येन्ट इण्डिया, ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २६३–६४।

जब एक ओर वैदिक समाज जातीय और सास्कृतिक दृष्टियो से मिश्रित और सकीर्ण हो रहा था और एक पुरानी परम्पराओ से बोझिल और जटिल समाज मे परिणत हो रहा था, पुरानी विद्याओ पर सशय और नवीन तत्त्व-विचार का जन्म अनिवार्य था। अत वैदिक धर्म भी परिवर्तनग्रस्त था और देवताओ के प्राधान्य तथा यज्ञ द्वारा मर्त्यो और अमर्त्यो की सहयोगिता को छोड ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या की ओर विकसित हो रहा था। देव-यजन से आत्म-यजन की ओर यह विकास प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर दिग्दर्शक बन गया। किन्तु निवृत्ति-मार्ग का यह उन्मेष अभी कुछ ही विचार-शील व्यक्तियो मे हुआ था। इस परिवर्तन का कारण मुख्यतया श्रमण विचार-धारा का प्रभाव था जिसके लिए जातीय और सास्कृतिक समिश्रण तथा ब्राह्मण धर्म के आन्तरिक विकास ने अब मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

मध्य और उत्तर वैदिक काल मे देवता-विषयक धारणाओ मे अनेक परिवर्तन हुए। अदिति, विश्वकर्मा, मन्यु, काम, श्रद्धा, काल, स्कम्भ, प्राण आदि अमूर्त देवताओ का इस काल मे उल्लेख मिलता है। साथ ही सौर देवताओ के अभ्युदय से नैतिक निष्ठाओ का अभ्युदय द्योतित होता है। बहुदेववाद का स्थान एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद ले लेते हैं[३४]। और फिर कर्मवाद का प्रभाव देववाद-मात्र की पुरानी स्थिति के लिए प्रतिकूल सिद्ध होता है।

यज्ञ

यज्ञ का प्रारम्भिक रूप जटिल न था। ऋत्विक् के द्वारा देवता की स्तुतिपरक मन्त्र पढे जाते थे और हवि के रूप में विविध धान्य अथवा गोरस से निर्मित अन्न, पशु अथवा सोम-रस अर्पित किये जाते थे। 'यदन्न पुरुषो लोके तदन्ना तस्य देवता।' क्रमश अनेक यज्ञो मे ऋत्विक् के कार्य का चतुर्धा विभाजन दृष्ट होता है। होता नाम का ऋत्विक् ऋक्सहिता की ऋचाओ का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्म का भार सम्हालता था और यजुर्वेद से सम्बद्ध होता था। उद्गाता साम-गान करता था और ब्रह्मा समस्त यज्ञ-कर्म का अध्यक्ष होता था। श्रौत यज्ञो को हविर्यज्ञ और सोम, इन दो विभागो मे बाटा गया है[३५]। हविर्यज्ञ मे अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, पशु,

३४—उदाहरणार्थ, बृ० उप० ३.९; केन० ३,४।

३५—विस्तार के लिए द्र०——ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २७४–७७, काणे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र जि० २, भा० २, पृ० ९७६ प्र०; कीथ, रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, जि० २; यज्ञो के भिन्न

सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ परिगणित होते हैं। सोम याग की सात संस्थाएँ हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। सोम-यागो के विकास से और ऋत्विजो के बढ़ने वर्ग के अथक प्रयास और संचित परम्परा मे यज्ञविधान अधिकाधिक विपुल, जटिल और रहस्यात्मक होता गया। अग्नि-चयन के विकास ने याज्ञिक रहस्यवाद को विशेष रूप से पुष्ट किया। इस प्रसंग में 'कर्म' से 'विद्या' का अधिक महत्त्व शीघ्र ही समझा और घोषित किया गया[३६]। आरुणकेतुक अथवा सावित्रचयन सदृश अग्नि चयनो मे यज्ञ-विधि का भौतिक पक्ष प्रतीकात्मता में विलीन प्राय हो गया[३७]। इन चितिविषयक विद्याओ की आगे चलकर उपनिषत्वकालीन विद्याओ अथवा उपासनाओ मे परिणति हुई[३८]। इस प्रकार क्रमश. मनीषियो का ध्यान देवयजन से आत्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या की ओर गया। चिति-निर्माण में ईंटो का प्रयोग तथा प्रारम्भिक पञ्च-पशु-वध प्राचीन आर्येतरीय प्रभाव का उन्मज्जन सूचित करता है।[३९]

उपनिषदों का दार्शनिक चिन्तन

आत्मा तथा ब्रह्म—सृष्टि-विषयक जिज्ञासा का प्राचीन वैदिक साहित्य में उन्मेष दो दिशाओं में हुआ—जगत् के मूलकर्ता के विषय में और जगत् के मूल-उपादान के विषय

विवरण का आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा उन पर आश्रित विविध श्रौतसूत्र हैं, जिन पर सामान्यतः द्र०—विन्टरनित्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० १, पृ० २७१ प्र०, कात्यायन-श्रौतसूत्र (अच्युतग्रन्थमाला), भूमिका।

३६—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २७९–८०।

३७—द्र०—तै० आ० जि० १, पृ० २, प्र०।
तै० ब्रा० पृ० १३१५ प्र०; तै० आ० जि० १.८३–८५ में विभिन्न चित्तियों के प्रतीकों का उल्लेख है।

३८—इस प्रसंग में छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

३९—यह स्मरणीय है कि तत्कालीन वैदिक गृह-निर्माण में ईंटों का प्रयोग नहीं होता था। उस समय इष्टकामय चित्ति-निर्माण को विलुप्त नागरिक सभ्यता का धार्मिक क्रिया-कलाप की रूढ़िवादिता के कारण अविलुप्त, प्रतीकात्मक अवशेष मानना चाहिए। पञ्च-पशु-वध भी एक प्रकार की आधार-बलि (फ़ाउण्डेशन सैक्रिफाइस) है। अग्निचयन की पुरातत्त्वीय और साहित्यिक सामग्री की विस्तृत तुलना—द्र० शर्मा, जी० आर०, पूर्व०, अध्याय ८–१०।

मे। जगत् की निर्मिति अथवा विमिति पहले देवताओ का ही कार्य माना जाता था। देवताओ के एकत्व की स्पष्टतर उद्भावना के साथ इस धारणा की भी स्पष्टतर उद्भावना हुई कि जगत् की सृष्टि के पीछे एक सर्वशक्तिशाली चेतन सत्ता है जिसे पुरुष, आत्मा, ईश्वर, अथवा ब्रह्म की आख्या दी गयी[४०]। दूसरी ओर जगत् का मूल-उपादान अनेक तत्त्वो मे खोजा गया—जल, वायु, आकाश, असत् सत् आदि। कुछ विचारको ने चेतन सत्ता, आत्मा अथवा पुरुष को जगत् का न केवल कर्ता, अपितु उसका मूल उपादान भी स्वीकार किया। इस प्रकार आत्माद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैत के सिद्धान्त का प्ररोह हुआ।

आत्मा के स्वरूप के विषय मे वैदिक चिन्तन की एक सुदीर्घ विकास-परम्परा देखी जा सकती है[४१]। प्रारम्भ मे देह अथवा अगो से आत्मा को पृथक् नही समझा जाता था यद्यपि 'प्राण' ही आत्मा का मुख्य अर्थ था। प्राण को देह तथा इन्द्रियो की प्रेरिका शक्ति माना जाता था[४२]। प्राण के सहारे ही इन्द्रियाँ कार्यशील रह सकती है, और सुषुप्ति मे भी केवल प्राण ही जागरूक रहता है। प्राण का जीवित देह की साँस और उष्णता से सबध देखकर उसका वायु और अग्नि से तादात्म्य भी स्थापित किया गया। प्राण मे ही समस्त देवताओ का समाहार होता है[४३]। प्राण का चेतना के साथ घनिष्ठ संबध है और कुछ विचारको ने दोनो को एक ही माना,[४४] किन्तु औरो ने इनमे भेद किया तथा आत्मा का स्वरूप विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान माना[४५]। कुछ ने और आगे बढकर प्रश्न किया—'विज्ञातार वा अरे केन विजानीयात्', और इस प्रकार आत्मा की अनिर्वचनीयता, किन्तु अनिवार्यता के सिद्धान्त को उपस्थित किया[४६]।

ब्रह्म शब्द का मौलिक अर्थ बृहण या बढाई अर्थात् स्तुति था। अतएव देवताओ के स्तुतिपरक मन्त्रो को ब्रह्म कहा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यज्ञ और मन्त्र की महिमा इतनी बढी कि ब्रह्म शब्द प्रकारान्तर से मूल-तत्त्व-वाची हो गया। जिस वस्तु को दार्श-

४०–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २९५–९८, विशेषत पादटिप्पणियां।

४१–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २९०–९८।

४२–प्राण और इन्द्रियो के विवाद पर, द्र० बृ० उप० ६.१।

४३–बृ० उप० ३.९.९।

४४–कौषीतकि० ३.१.४।

४५–बृ० उप० २.१.१७, कठ० ४.३ इत्यादि।

४६–बृ० उप० २.४.१४, वही, ३.७.२२–२३, वही, ३.८.११ इत्यादि, तु०—इण्डियन कल्चरल हेरिटेज (द्वितीय सस्करण) जि० ३, पृ० ४७३–९४।

निकों ने सृष्टि का मूल-तत्त्व बताया उसे ही ऋत्विजो ने ब्रह्म की सज्ञा दे दी और इस प्रकार देवताओ की मूल-भूत शक्ति को ब्रह्म कहा गया और आत्मवाद को ब्रह्मवाद के अन्दर कवलित कर लिया गया।

निवृत्ति रूप लक्ष्य—ऊपर कहा गया है कि पूर्ववैदिक दर्शन के अनुसार यज्ञ द्वारा, जगत् और जीवन मे कार्यशील देवताओ के आराधन से ऐहिक और आमुष्मिक सुख और सौभाग्य प्राप्त किया जा सकता है। उत्तरवैदिक काल मे न केवल देवताओ का स्थान ब्रह्म और ईश्वर ने ले लिया अपितु पुरुषार्थ-विषयक धारणा मे भी प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के प्रधान कारण थे आत्मवाद और ससारवाद। आत्मा को अमर और आनन्दमय समझ लेने पर मरणशील और सुखासक्त मनुष्यो की लौकिक और स्वर्गिक भोग कामना अवश्य ही घट जाती है और उसके स्थान पर आत्म-ज्ञान की अभिलाषा प्रतिष्ठित होती है क्योकि आत्म-बोध ही समस्त कामनाओ की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय है। पर यह स्मरणीय है कि बहुधा विशुद्ध आत्मवाद के सन्दर्भो मे 'आप्तकामता' अथवा 'आनन्द' ही परमार्थ निरूपित किया गया है, न कि दुःखनिवृत्ति अथवा केवल उपशम। प्राचीन वैदिक परम्परा की जीवन की ओर उन्मुखता तथा आनन्द की खोज का यह एक आध्यात्मिक रूपान्तर है[४७]।

कर्म एवं संसार

दुःखवाद और निवृत्तिवाद की धारा मुनि-श्रमणो की प्रचारित थी और ससारवाद अथवा पुनर्जन्मवाद पर आश्रित थी, जिसका कि आत्माद्वैतवाद से कोई अनिवार्य सबध नही है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्ववैदिक सहिताओ अथवा मध्यवैदिक ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होता। और न इन ग्रन्थो मे और्ध्वदेहिक जीवन के विषय मे विकसित धारणाएँ मिलती है। उत्तर वैदिक कालीन उपनिषदो मे ससारवाद परिनिष्ठित, किन्तु अल्प-प्रचलित सिद्धान्त के रूप मे प्रकट होता है। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त का जन्म केवल वैदिक परम्परा के अन्तर्गत बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक विकास का परिणाम नही मानना चाहिए, यद्यपि यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि आत्मवाद के विकास के बिना पुनर्जन्मवाद वैदिक ऋत्विजो को ग्राह्य न हो पाता। और न यह मानना उचित होगा कि पुनर्जन्मवाद एक बहुप्रचलित 'आदिम' तथा 'प्राकृत' धारणा है क्योकि वह आत्मा की केवल और्ध्वदैहिक सत्ता तथा किसी रूप मे कादाचित्क जन्म का

४७–तु०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० २९८–९९, २८९–९०।

ही सिद्धान्त नही है, जो कि अनेक प्राचीन समाजो मे सिद्धान्तित पाया जाता है, अपितु एक स्वभावत विशुद्ध, अमर तथा अशरीरी आत्मा का सत्, और असत्, कर्म की अपरिहार्य शक्ति के द्वारा मुक्तिपर्यन्त बार-बार देह-धारण का सिद्धान्त है। ससारवाद जीव, कर्म और मुक्ति अथवा निवृत्ति के सिद्धान्तो से पृथक् अपनी सत्ता नही रखता[४८]। इसका आधार किसी भी विचारक की तर्क-वुद्धि का कादाचित्क और अपर्यनुयोज्य विलास भी नही माना जा सकता। अन्यथा इसका व्यापक और सतत परवर्ती प्रभाव दुर्बोध हो जाता है। उत्तरकाल मे भी पुनर्जन्म का युक्तिश समर्थन नितान्त गौण रहा। 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' की युक्ति पीछे की उद्भावित है। और केवल इस युक्ति के सहारे शायद ही कोई पुनर्जन्म पर विश्वास रखता। योगियो का अलौकिक ज्ञान ही पुनर्जन्म का वास्तविक साक्ष्य है और योग-विद्या मे अभिज्ञ मुनि-श्रमणो का वढता जीवन्त प्रभाव ही ससारवाद की वैदिक परम्परा मे अनुप्रविष्ट और जनता मे प्रचलित करा सका।

मोक्षमार्ग

देवताओ को पुरुषवत् मानकर स्तवन और अन्नादि के अर्पण द्वारा उनका प्रसादन सरल था। अलक्षण और अनिर्वाच्य ब्रह्म अथवा आत्मा की प्राप्ति किस प्रकार हो ? दूसरी ओर, ससार से मुक्ति के लिए भी उपाय आवश्यक था। और इन उपायो में प्रधान था आत्म-ज्ञान। प्राय उपनिषदो मे यह विश्वास है कि योग्य गुरु से उपदेश सुनने पर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है[४९]। गुरु प्राय शिष्य के लिए ब्रह्मचर्यवास आवश्यक समझते थे, पर यह ज्ञान का साक्षात् अथवा आवश्यक उपाय नही था[५०]। सच्चरित्र तथा नैतिक गुणो पर भी वल दिया गया है, किन्तु वे परम्परा-द्वार ही है[५१]।

४८–संसारवाद की उत्पत्ति पर द्र०—वही, पृ० २८०–८८, अन्य मतो के लिए, तु०—टाइलर, प्रिमिटिव कल्चर, जि० २, पृ० १६, ई० आर० ई०, जि० १२, पृ० ४२६, ओल्देनबर्ग, दी लेर देर उपनिषदेन उन्द दी आनफेंगे देस वुद्धिसमुस, पृ० २७ प्र०, १०५ प्र०, ला० वाले पूसें, लॅंद जूस्को ३०० आवाँ जैसी, पृ० २८२ प्र०, वेलवल्कर एण्ड रानाडे, दि क्रियेटिव पीरियड ऑव इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ८२।

४९–यथा, छा० उप० ६ १४ २, श्वेताश्वतर० ६ २२, छा० उप० ४.९.३।

५०–यथा, छा० उप० १८.७ प्र०, वही, ४.४-१०।

५१–यथा, कठ० १.२ २३।

यह स्वीकार किया गया है कि यदि उपदेश का श्रवण पर्याप्त न हो तो उस पर मनन और निदिध्यासन करना चाहिए, किन्तु यहाँ भी ये बाद की क्रियाएँ एक प्रकार से बाधक-निराकरण मात्र करती है। प्रधान हेतु श्रवण ही है[५२]। अर्थात् उपनिषदो मे प्राय. आत्मा अथवा ब्रह्म के लिए शब्द को ही प्रमाण माना गया है। कुछ स्थलो पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा समस्त विषयो का भासक होने के कारण स्वय भास्य अथवा विषय नही बन सकता। आत्मा नित्य-सिद्ध है, न कार्य है न ज्ञाप्य। आत्मज्ञान के लिए केवल उस अज्ञान का निरास अपेक्षित है जो कि देहादि-विषय-वर्ग मे आत्म-प्रतीति-रूप है। इस दृष्टि से आत्मा का स्वरूप-वर्णन तथा प्राप्ति का उपाय, दोनो ही 'नेति नेति' इन शब्दो मे सूचित है।

गुरूपदेश तथा तत्त्व-विचार के अतिरिक्त कही-कही उपनिषदो मे भक्ति तथा योग की भी साधन के रूप मे सूचना उपलब्ध होती हे। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे कहा है—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ॥" कठ मे कृपा के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा विवृणुते तन् स्वाम् ॥" ईश के प्रारम्भ मे तथा छान्दोग्य के घोर आगिरस के उपदेश मे गीता के निष्काम कर्म की पूर्व-सूचना प्राप्त होती है।

सांख्य-योग

कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर मे साख्य-योग का परिचय मिलता है। प्राय यह माना जाता है कि साख्य और योग अपने परवर्ती परिनिष्ठित रूप मे क्रमश विकसित हुए और इस विकास की पहली अवस्था उपनिषदो के इन सदर्भो मे उपलब्ध होती है[५३]। किन्तु औपनिषद साख्य के परवर्ती साख्य से मेल न खाने का एक और भी कारण हो सकता है और वह यह कि उपनिषदो मे साख्य की अवतारणा नही की गयी है, केवल कुछ साख्य-सिद्धान्तो का वेदान्त की दृष्टि से उपयोग किया गया हे। अर्थात् औपनिषद, साख्य विशुद्ध साख्य नही, साख्य की छायामात्र है। वस्तुत साख्य दर्शन के लिए वैदिक मूल

५२—तु०—पंचदशी, ९.३०, वेदान्तपरिभाषा, (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला,) पृ० १९९।

५३—तु०—याकोबी, दी एन्तवि क्लुग देर गॉतेस इदे बाइ देन इन्देर्न, पृ० २४–२५, ओल्देनबर्ग, दी लेर इत्यादि (पूर्व०), पृ० २०६ प्र०।

नही खोजना चाहिए[५४]। स्वय साख्य कारिका मे, जो कि साख्य का सबसे प्रामाणिक और प्राचीन ग्रन्थ है, वैदिक मार्ग को 'अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त' कहा है[५५]। वेदान्त-सूत्रो के 'प्रधान (प्रकृति) को 'अशब्द' अर्थात् वेद-विरुद्ध कहा हे[५६]। सिद्धान्तश भी विरोध अपरिहार्य है—औपनिषद सिद्धान्त चेतनकर्तृत्ववाद अथवा पुरुषवाद है, साख्य-सिद्धान्त अचेतन-कर्तृत्ववाद अथवा प्रधानवाद है। साख्य दर्शन स्वय अपना मूल अनादि श्रुति मे नही, किन्तु कपिल मुनि के उपदेश मे मानता है। 'कपिल मुनि', इस सज्ञा मे कदाचित् 'पिशङ्ग वस्त्रधारी' मुनियो की ओर इगित पाया जाता है। साख्य दर्शन की निरीश्वर-वादिता, निवृत्तिपरायणता और श्रुति-विरोध से इस सकेत का समर्थन होता है और उसके मूल की श्रमण-विचारधारा मे खोज युक्ति-सगत प्रतीत होती है, न कि वैदिक-विचारधारा मे। किन्तु यह निस्सन्देह है कि उपनिषदो के साख्यसन्दर्भ वैदिक क्षेत्र मे श्रमण-प्रभाव को विशद करते है। मुण्डकोपनिषद् का नाम ही इस प्रसग मे अवधेय है क्योकि मुण्डक का साधारण अर्थ श्रमण ही होता है।

साख्य के साधन पक्ष का कुछ परिचय तो साख्य के सिद्धान्त-पक्ष के परिचय से ही आक्षेप्य है। इसके अतिरिक्त योग की अन्य प्रक्रियाओ का साख्य से कोई अपरिहार्य सबध नही है और उनका कुछ-न-कुछ परिचय नाना प्रकार के रहस्यवाद की परम्पराओ मे मिलता हे। किन्तु, गुरु-शिष्य-परम्परा मे सरक्षित, एक व्यवस्थित आध्यात्मिक विज्ञान के रूप मे योग-विद्या साख्यादि श्रमण-सम्प्रदायो मे उद्भूत और परिपुष्ट हुई। उपनिषदो मे नाना रहस्यवादी सकेत मिलते है और ध्यान का उल्लेख भी[५७]। अधिकाश उल्लेखो से रीतिबद्ध योगविद्या के परिचय का अनुमान नही किया जा सकता, किन्तु कठ और श्वेताश्वतर के उल्लेख विशिष्ट है और अवश्य ही योग-विद्या की गहरी जान-कारी जतलाते है।

श्वेताश्वतर से यह भी स्पष्टतर प्रतीत होता है कि वह युग एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन का था जब कि नाना दार्शनिक मत प्रस्तुत किये जा रहे थे।[५८]

५४—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३०५–९, तु०—गार्वे, दी साख्य फिलो-जोफी, पृ० ३, प्र०; तु०—कीथ, साख्य सिस्टम, पृ० ७–८।

५५—साख्यकारिका, का० २।

५६—ब्रह्मसूत्र, १.१ ५।

५७—द्र०—ऑरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० ३०१–२।

५८—श्वेताश्वतर० १.१–२।

यही धारणा बृहदारण्यक की जनक-सभा के विवरण से और प्रश्नोपनिषद् तथा अन्य स्थलो से भी मन में बनती है[५९]। यह प्रतीत होता है कि विदेह के अभ्युदय के युग में आर्य और आर्येतरीय सास्कृतिक सम्पर्क घनिष्ठ और आध्यात्मिक बौद्धिक स्तर पर सविशेष फलप्रद बन गया। ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर, ससार, कर्म और निवृत्ति के जटिल विषयो पर इस समय नाना ब्राह्मण और श्रमण मनीषी दत्तावधान थे।

छठी शताब्दी ईसापूर्व

सामाजिक परिवर्तन—ई० पू० छठी शताब्दी समस्त प्राचीन ससार मे व्यापक धर्मसुधार का युग था जबकि चीन, यूनान और भारत मे बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुरण देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पिछली अनेक सहस्राब्दियो की पर्येषणा के बाद मानव-जाति-मात्र के लिए 'अभिसम्बोधि' का युग उपस्थित हुआ हो। इस व्यापक आध्यात्मिक क्रान्ति के लिए ऐतिहासिक 'हेतु-प्रत्यय-सामग्री' का समुचित निर्देश करना सरल नही है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव-चेतना के परिवर्तनो का कारण सामाजिक धरातल पर खोजना चाहिए[६०], अध्यात्मवादी दृष्टि के अनुसार चेतनागत क्रान्ति ज्ञान के स्वाधीन विकास अथवा अति-मानवीय प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इन दोनो दृष्टियो मे से किसी की भी अवहेलना नही की जा सकती। सच तो यह है कि दोनो परस्पर सापेक्ष है, क्योकि जहाँ एक ओर भौतिक-सामाजिक परिवर्तन के पीछे भी अन्ततोगत्वा नवीन आविष्कार और उनकी जननी प्रतिभा कारणरूप में विद्यमान है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक धरती के अनुकूल न होने पर किसी भी आध्यात्मिक बीज का प्रबल ऐतिहासिक परम्परा के रूप में प्ररोह असभव है। ई० पू० छठी और पाँचवी शताब्दियो मे अनेक महापुरुषो और मनीषियो के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते है, जिन्होने न्यूनाधिक मात्रा में कुछ सामाजिक वर्गो के लिए क्लेश और उसके द्वारा जिज्ञासा के भाव को जन्म दिया होगा। सामाजिक परिवर्तन और अशान्ति का अनुभव निस्सन्देह धर्म और दर्शन की नयी सरणियो की खोज से सम्बन्ध रखता है, किन्तु सामाजिक क्रान्ति नवीन चिन्तन की अपेक्षामात्र को जन्म देती है,

५९—बृहदारण्यक० ३।

६०—उदाहरणार्थ, द्र०—कार्ल मार्क्स, क्रिटीक ऑव पुलीटिकल इकॉनमी, प्रेफेस, गॉर्डन चाइल्ड, हिस्टरी।

उसके विषय और प्रकार का निर्णय नही करती। सस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के विकास मे प्रतिभा बीज का कार्य करती है और सामाजिक स्थिति भूमि का। दोनो के सहयोग से ही नवीन आध्यात्मिक परम्पराएँ वनती और बढती है। बुद्ध भगवान् की देशना मे उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभूति कितनी और किस रूप मे अभिव्यक्त हुई, इसमे तत्कालीन समाज और चिन्तन का हाथ अवश्य ही था[६१]।

जनपद

भारत मे छठी शताब्दी तक जनो के 'सचार और सनिवेश' का युग वीत चुका था और राज्य के सगठन मे साजात्य की अपेक्षा देश-तत्त्व अधिक महत्त्वशाली हो गया था। फलत जनो का स्थान जनपदो ने ले लिया था जिनमे कुछ राजाधीन थे और कुछ गणाधीन। अगुत्तरनिकाय की एक प्रसिद्ध सूची के अनुसार उस समय 'सोलह महाजनपद' थे जिनके नाम इस प्रकार है—कासि, कोशल, अग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेतिय, वस, कुरु, पञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज[६२]। जैन वियाहपन्नत्ति मे उससे अशत भिन्न सूची दी गयी है जिसमे बग, पाढ, और लाढ के नाम उल्लेखनीय है। जनपद परस्पर सघर्ष मे निरत थे और उनकी स्थिति परिवर्तन-शील थी। सुदूर उत्तर-पश्चिम मे शाखामनीषी साम्राज्य का प्रसार महत्त्वशाली घटना थी यद्यपि इस प्रसार की देश-गत और काल-गत परिधियो के विषय मे अथवा इसके तत्कालीन ऐतिहासिक, सास्कृतिकप्रभाव के विषय मे निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है। इस युग के उदीच्य भारत का महत्त्व और सास्कृतिक चित्र पाणिनि की अष्टाध्यायी मे सुरक्षित है[६३]। मध्यदेश के जनपदो की सस्कृति उत्तरवैदिक साहित्य मे

६१—साधारण लौकिक स्तर पर वैखरी के द्वारा ही उपदेश सम्भव है, किन्तु इन उपदेश को श्रोता अथवा वक्ता के सस्कारो से पृथक् रखना असम्भव है। ये सस्कार ही ऐतिहासिक-सास्कृतिक प्रभाव के मुख्य द्वार है। किन्तु वैखरी के अतिरिक्त, अथवा शब्दरहित, उपदेश भी सम्भव होने के कारण, एव अनौप-देशिक ज्ञान के सम्भव होने के कारण, सब ज्ञान को इतिहासानुविद्ध नहीं माना जा सकता। तथापि सामान्यत. लोकसिद्ध शास्त्रीय परपराएँ शब्दमय एवं सस्कारविद्ध ही हैं, अतएव उनकी ऐतिहासिक आलोचना सम्भव है।
६२—अगुत्तर (रो०) जि० १ पृ० २१३, जि० ४, पृ० २५२, २५६, २६०।
६३—द्र०—वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत।

और महाभारत के प्राचीन अंगो मे प्रतिबिम्बित है। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के जनपदो और उनकी संस्कृति का चित्र प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य मे उपलब्ध होता है[६४]। इस प्रदेश मे शाक्यादि गणो और निर्ग्रन्थादि श्रमणो का प्राचुर्य था और यही बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि थी। दक्षिणापथ का परिचय इस युग मे बहुत अल्प था।

राजा और राजनीति—राजाओ का पारस्परिक सघर्ष उतना ही तीव्र था जितना कि राजाधीन और गणाधीन जनपदो का। जहाँ उपनिषदो मे और जातको मे काशी एक बलवान् स्वतन्त्र राज्य के रूप मे हमारे सामने आती है, बुद्ध के समय मे वह कोशल के साम्राज्य का एक अग बन चुकी है। ऐसे ही बिम्बिसार के समय मे मगध ने अग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्य गण कोशल की अधीनता स्वीकार करता था तब भी विदूडभ ने उस पर साघातिक आक्रमण किया, और अजातशत्रु ने लिच्छवियो मे सग्राम ठाना।

इन घटनाओ मे गण-राज्यो का ह्रास, राज-तन्त्र का उत्कर्ष और मगध के साम्राज्य का प्रसार स्पष्ट देखे जा सकते है। इस युग के अनेकविध राजनीतिक परिवर्तनो ने स्वभावत तत्सबधी विचार-विमर्श को प्रोत्साहित किया और दण्डनीति की उस परम्परा को जन्म दिया जिसकी चरम परिणति परवर्ती काल के कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होती है। अनेक ब्राह्मण विचारको ने चक्रवर्ती राजा का आदर्श निरूपित किया था और इस आदर्श का तत्कालीन आकर्षण इससे स्पष्ट है कि बौद्धो ने उसका आध्यात्मिक क्षेत्र मे उपयोग करना चाहा[६५]। समाज और राज्य की उत्पत्ति तथा गणो के बलाबल पर विशेष रूप मे विचार किया गया जैसा कि दीघनिकाय, महाभारत और अर्थशास्त्र से प्रकट होता है[६६]।

शासन की बागडोर क्षत्रियो के हाथ मे थी। उत्तर-पूर्वी भारत के शाक्य, लिच्छवि आदि गण क्षत्रियबहुल और राजशब्दोपजीवी थे। लिच्छवियो के ७७०७

६४—आधुनिक निरूपण के लिए द्र०—फिक (अंग्रेजी अनुवाद) सोशल ऑर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन दि एज ऑव् बुद्ध; बी० सी० लॉ०, इण्डिया इन अर्ली बुधिस्ट एण्ड जैन लिटरेचर; जे० सी० जैन, एन्श्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन जैन कैनन; टी० डब्ल्यू राइज डेविड्स—बुधिस्ट इण्डिया इत्यादि।

६५—दीघ० लक्खण-सुत्तन्त, चक्कवत्ति-सीहनादसुत्तन्त, दे०—नीचे।

६६—दीघ० अग्गञ्जसुत्तन्त, महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना), शान्तिपर्व, अध्याय १०७; अर्थशास्त्र (त्रिवेन्द्रम् संस्करण), जि० ३ पृ० १४४।

राजाओ का उल्लेख प्राप्त होता है। कदाचित् ये गण के मुख्य क्षत्रियकुलो के प्रधान थे। लिच्छवियो की न्याय-व्यवस्था विशेष रूप से सुचारु थी। शाक्यो मे भी राजा अथवा 'राजशब्दोपजीवी' शुद्धोदन का बाद मे उल्लेख आता है। कपिलवस्तु मे शाक्य गण का सस्थागार था जहाँ बूढे और जवान एकत्र होते थे और परामर्श से गण के शासन का कार्य चलाते थे। इन गणो की शासन-पद्धति कितनी जनतन्त्रात्मक और कितनी सामन्ततन्त्रात्मक थी, यह निश्चय से नही कहा जा सकता।

कोशल, मगध आदि जनपदो मे भी राजा और उनके सजात क्षत्रिय थे यद्यपि अजातशत्रु या विडूडभ सरीखे नये राजाओ का बल उनके अमात्यो की कूटनीति, सेना की शक्ति तथा व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक निर्भर था, उनकी मूर्धाभिषिक्तता पर कम[६७]। धर्म और अर्थ की विभिन्न दृष्टियो से राजकीय आदर्श दो रूपो मे प्रकट होता है। धर्म की दृष्टि राजा के कर्त्तव्यो पर जोर देती थी, अर्थ की दृष्टि राजा की शक्ति पर। धर्मविषयक धारणा भी ब्राह्मणो की ओर थी, बौद्धो तथा जैनो की ओर।

क्षत्रिय और धार्मिक आन्दोलन—राजाओ और उनके बन्धुओ के जीवन-यापन के लिए अनेक व्यसन थे—मृगया, द्यूत, पान, स्त्रियाँ और युद्ध। किन्तु अनेक राजा अपने अवकाश मे नवीन धर्म-दर्शन की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देते थे। सच तो यह है कि ब्राह्मणो के समान ही क्षत्रिय भी इस युग मे बौद्धिक जीवन का नेतृत्व करते थे। उपनिषदो मे अनेक ज्ञानी राजाओ का वर्णन आता है, जैसे पाचालराज प्रवाहण जैवलि जिन्होने श्वेतकेतु के पिता उद्दालक को उपदेश दिया[६८]। केकयराज अश्वपति और काशिराज अजातशत्रु भी ब्राह्मणो को ज्ञान का उपदेश देते पाये जाते है[६९]। विदेह-राज जनक तो भारतीय आध्यात्मिक इतिहास में राजर्षि के रूप में सुप्रथित ही है। महाभारत मे कृष्ण और भीष्म ज्ञान का उपदेश करते है। गीता मे ज्ञान की एक राजर्षि-परम्परा की ओर सकेत किया गया है जिसकी तुलना प्रवाहण जैवलि के द्वारा निर्दिष्ट क्षत्रिय-विद्या से होनी चाहिए। बुद्ध और महावीर भी क्षत्रिय उपदेशक थे। जैन परम्परा मे तीर्थकरो का क्षत्रिय होना अनिवार्य है।

यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानो ने क्षत्रियो को इस युग के एक ब्राह्मण-विरोधी धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन का नेता ठहराया है[७०]। किन्तु उपर्युक्त तथ्य

६७—तु०—जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० १८६—८७।

६८—बृ० उप० ६ २, छा० उप०, ५ ३ प्र०।

६९—छा० उप० ५ ११ प्र०, बृ० उप० २ १।

७०—तु०—राइस डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० २५७, वैदिक एज, पृ० ४६८-६९।

इस मत का निश्चित समर्थन नही करते । विश्वामित्र और वसिष्ठ के संघर्ष की कथा इस प्रसंग मे निस्सार है और ऐसे ही महाभारत मे उल्लिखित जामदग्न्य के किये हुए क्षत्रिय-संहार की कथा को भी भार्गवो की अतिरंजित कल्पना ही मानना चाहिए[७१] । ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिए कोई वास्तविक आधार नही मिलता । क्षत्रियो ने नवीन आध्यात्मिक और बौद्धिक आन्दोलनो मे महत्त्व-पूर्ण भाग लिया, किन्तु इससे यह अनुमान नही किया जा सकता कि आर्थिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा राजकीय शक्ति के लिए ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे जातिश अथवा वर्गश संघर्ष था । अवश्य ही नैष्कर्म्यपरक अध्यात्मविद्या पौरोहित्य की विरोधिनी थी, पर इसके नेता वास्तव में श्रमण थे जिनकी आध्यात्मिक-सांस्कृतिक परम्परा मे इस समय क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनो ही थे । बुद्ध और महावीर जन्मना क्षत्रिय थे, किन्तु जाति के परित्यागपूर्वक ही वे श्रमण बन सके । दूसरी ओर उपनिषदो मे और गीता मे संकेतित विशुद्ध क्षत्रिय-विद्या 'कर्म' का प्रत्याख्यान नही करती । फलत उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि पुरोहितो के कर्मकाण्ड का इस युग मे अनेक दिशाओ से विरोध हुआ, जिसका श्रमणो, प्रबुद्ध क्षत्रियो और अध्यात्मवादी ब्राह्मणो ने नेतृत्व किया ।

आर्थिक प्रगति—ग्रामीण और 'आरण्यक' वैदिक सभ्यता अब अनेकत्र नगर-वासिनी हो गयी थी[७२] । व्यापार के सुदूर-विस्तृत स्थल और जल-पथो पर सार्थवाहो के उद्यम ने इन नगरो को समृद्धि प्रदान की थी ।[७३] नागरिक वाणिज्य और व्यवसाय श्रेणियो मे संगठित थे और इन श्रेणियो के प्रधान श्रेष्ठी समाज मे और राजसभा मे प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे ।[७४] नागरिक जीवन का विविध विकास इस युग के सामाजिक दृश्य को पिछले युग से विभक्त करता है । व्यावसायिक प्रविभाजन से उत्पन्न व्यापार

७१—तु०—सुकथंकर, क्रिटिकल स्टडीज इन दि महाभारत, पृ० २७८–३३३, (पूना, १९४४) ।

७२—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३१४–१५, तु० सी० ए० एफ० राइज डेविड्स, केम्ब्रिज हिस्टरी, जि० १, पृ० १८९ प्र०, एन० सी० बन्द्योपाध्याय, इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्श्येन्ट इण्डिया, जि० १, भाग ३ ।

७३—व्यापारपथो एवं सार्थवाहो पर, द्र०—राइज डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० १०३–१०५, मोतीचन्द, सार्थवाह ।

७४—श्रेणियों पर, द्र०—मजुमदार, कॉरपोरेट लाइफ इन एन्श्येन्ट इण्डिया ।

को स्वय एक विनिमय-साधन की अपेक्षा रहती है। द्रव्य ('मनी') का आविर्भाव इस अपेक्षा की पूर्ति करता हुआ समाज मे एक नयी और रहस्यमयी-सी शक्ति को जन्म देता है। समाज मे पहले की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशीलता आती है, सामाजिक चिन्तन अमूर्त और पुरुष-निरपेक्ष बनने लगता है, और सामाजिक सम्बन्धो का 'वस्तुसात्करण' ('रेइफिकेशन') प्रारम्भ हो जाता है[75]। बुद्ध के समय मे ही भारतीय सस्कृति सर्वप्रथम 'द्रव्य के युग' मे अवतीर्ण हो रही थी। यह श्रमणो का ही नही, श्रेष्ठियो का युग था। अग के मेण्डक, कोशल के अनाथपिण्डिक और कोशाम्बी के घोषक इन धनाढ्य श्रेष्ठियो के कुछ ज्वलन्त उदाहरण है[76]। यह स्मरणीय है कि ये बड़े श्रेष्ठी प्राय उस युग के सन्यास-परायण श्रमण-सम्प्रदायो के पोषक थे।

कुछ इतिहासकारो ने सोलहवी शताब्दी के यूरोपीय धार्मिक सुधार को तत्कालीन धनिक-वर्ग के अभ्युदय के साथ जोडा है[77]। ऐसे ही, कुछ विद्वानो का सुझाव है कि जैन और बौद्ध धर्मो के अभ्युदय मे भी श्रेष्ठियो की अनुकूलता एक सहयोगी कारण था। इस सुझाव के लिए विशुद्ध सम्भावना के अतिरिक्त विशेष प्रमाण नही है। यह सच है कि प्राचीन वैदिक देवता और यज्ञ एक ग्रामीण और कृषिप्रधान सामाजिक परिवेष में उद्भूत हुए थे। नगर-जीवन के बदले हुए वातावरण में पुराने वैदिक धर्म के प्राकृतिक व्यापारो तथा ग्राम-जीवन सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रतीको का धुँधलाना उतना ही स्वाभाविक था जितना उनके साथ उस श्रद्धा का जो कि पुराने देवताओ और उनके याज्ञिक कर्मकलाप का आधार थी। तथापि यह स्मरणीय है कि प्रोटेस्टेट आन्दोलन के विपरीत जैन और बौद्ध सम्प्रदाय निवृत्तिपरक थे और उनके अनुसरण का धार्मिक सम्पत्ति के हथियाने के लोभ के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। और फिर इन सम्प्रदायो को सुधारवादी कहना वस्तुत सगत नही है। अतएव यद्यपि यह निर्विवाद है कि श्रेष्ठियो ने श्रमणसम्प्रदायो की सहायता की, यह नही कहा जा सकता कि इन सम्प्रदायो का उद्भव अथवा विकास समाज के धनिक-वर्ग के तत्कालीन उद्भव तथा विकास के साथ अनिवार्य सम्बन्ध रखता था।

ब्राह्मण वर्ग—ब्राह्मण इस युग मे अपना सामाजिक श्रेष्ठत्व प्रख्यापित करते थे और पुरोहित तथा आचार्य के जीवन को अपना आदर्श मानते थे। धर्मशास्त्र के

७५–तु०—स्वीजो, थियरी ऑव कैपिटलिस्ट डिवेल्पमेंट, पृ० ३५ प्र०।
७६–द्र०—मल्लसेकर, डिक्शनरी ऑव पालिप्रोपर नेम्स, २ जि०।
७७–तु०—टाउनी, रिलिजन एण्ड दि राइज ऑव कैपिटलिज्म।

अनुसार ब्राह्मण के ६ प्रधान कर्त्तव्य थे—'यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। पर यथार्थ मे अनेक ब्राह्मण न पुरोहित थे न आचार्य, कुछ प्रशासकीय कार्यो मे अधिकृत थे और कुछ जमीदार अथवा क्षुद्र किसान, अथवा दरिद्र कर्मकर थे[७८]। साधारण जनता के जीवन मे जटिल श्रौत यागो की अपेक्षा नाना गृह्य कर्मो का अनुष्ठान अधिक महत्त्व रखता था। यह स्मरणीय है कि जहाँ श्रौत कर्म का बौद्धो और जैनो ने बहुत विरोध किया, गृह्य कर्मो का बौद्ध और जैन उपासको ने सर्वथा तिरस्कार नही किया। अतएव परवर्ती काल मे उदयनाचार्य ने कहा कि 'नास्त्येव तद्दर्शन यत्र सावृतमेतदित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्ता वैदिकी क्रिया नानुतिष्ठति जन'[७९]। ऊपर उपनिषदो की आलोचना मे यह कहा गया है कि स्वय ब्राह्मणो के धर्म मे कर्म-काण्ड के अतिरिक्त ज्ञान-काण्ड ने महत्त्वशाली स्थान पा लिया था और ब्राह्मण ऋत्विजो और आचार्यो ने इसका सतत प्रयत्न किया कि उनके धर्म का प्रगतिशीलतम दार्शनिक सिद्धान्तो से सामञ्जस्य बना रहे। आत्मवाद और ब्रह्मवाद का समन्वय तथा ससार-वाद और कर्मवाद का स्वीकार, इस प्रवृत्ति के उदाहरण है। महाभारत मे, विशेषत. गीता और शान्तिपर्व मे, कर्म और ज्ञान के प्रचलित विरोध का स्पष्ट परिचय मिलता है। मोक्षधर्म पर्व मे ज्ञान को प्राधान्य दिया गया है। भगवद्गीता मे कर्म और ज्ञान के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। ये दोनो धाराएँ उपनिषदो मे भी देखी जा सकती है—मुण्डक मे कर्म का तिरस्कार, ईश और अशत. छान्दोग्य मे ज्ञान-कर्म-समुच्चय। यह कहा गया है कि वैदिक प्रवृत्ति धर्म का विरोध उत्तरपूर्व मे व्यापक रूप से किया गया जब कि उत्तर-पश्चिम मे प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का यत्न किया गया। इस प्रकार एक ओर बौद्ध धर्म और जैन धर्म का तथा दूसरी ओर भागवत धर्म का विकास हुआ[८०]। इस मत मे बौद्धिक प्रवृत्तियो का जैसा असकीर्ण प्रादेशिक विभाजन अभीष्ट है वैसा यथार्थ मे सिद्ध नही किया जा सकता। इतना अवश्य सत्य है कि गणो और श्रमणो के पूर्वी प्रदेशो मे निवृत्तिपरक सम्प्रदायो का

७८—तु०—फिक, पूर्व० (कलकत्ता, १९२०), पृ० २२२ प्र०।

७९—आत्मतत्त्वविवेक (चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला) पृ० ४१७—"ऐसा कोई दर्शन नहीं है जिसमें लोग गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त वैदिक कर्म को सावृत्त बताते हुए भी उसका अनुष्ठान न करते हो।"

८०—तु०—आर० जी० भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म, एन्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम, पृ० ४१—४२।

जितना प्रचार था उतना इस समय पश्चिमी प्रदेशो मे नही था। इस आपेक्षिक भेद का कारण न तो मूलत भौगोलिक था—क्योकि भौगोलिक कारणो का विशिष्ट बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो से सम्बन्ध जोड पाना सरल नही है[८१]—और न एक व्यापक सुधार की प्रवृत्ति का अतर्क्य न्यूनाधिक था, प्रत्युत यह स्वीकार करना होगा कि उत्तरपूर्वी आध्यात्मिक आन्दोलन वैदिक धर्म का आन्तरिक सुधार-आन्दोलन न होकर वास्तव मे श्रमणो के प्रभाव का विस्तार था जिसमे प्रादेशिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारण सहकारी बन गये, जब कि पश्चिम मे वैदिक धर्म के अन्तर्गत सुधार की प्रवृत्तियाँ अनेक रूपो मे विकसित हुई।

प्रचलित धर्म—भारतीय समाज मे सदैव अनेक सांस्कृतिक स्तर संगृहीत रहे है और उनके अनुरूप धार्मिक निष्ठा भी विविध रही है। भगवद्गीता मे कहा गया है "सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स ॥ यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षासि राजसा। प्रेतान्भूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जना ॥" (१७, ३–४)[८२] देव-पूजा वैदिक थी और यहाँ सात्त्विक कही गयी है। यक्ष-पूजा, जिसे यहाँ राजस कहा गया है, साधारण जनता में सुप्रचलित थी। यक्ष शब्द प्राय देवता के समान ही अर्थ रखता था, और यक्ष-पूजा को अनेकाश मे आर्य-धर्म का ही प्रचलित, परिवर्तित और परिवर्धित रूप मानना अयुक्त न होगा। यक्षो को अलौकिक सत्त्व माना जाता था जो प्राय वृक्षो मे निवास करते थे और प्रसन्न होने पर नाना सासारिक कामनाओ की पूर्ति का वर देते थे। वे अनेकत्र स्थानदेवता अथवा कुलदेवता के रूप मे प्रतिष्ठित थे। यम और शक्र के साथ उनका विशेष सबध था। कभी वे अनिष्टकारी भी हो सकते थे और आवेश के कारण भी बन जाते थे। यक्षियो मे अप्सराओ का सादृश्य देखा जा सकता है और कभी वे पुरुषो को प्रलोभित करती मिलती है। कुछ यक्ष बाद मे ब्राह्मण और बौद्ध देवताओ में रूपान्तरित पाये जाते है

८१—भौगोलिक और बौद्धिक तत्त्वो के सम्बन्ध पर, तु०—बकल, हिस्टरी ऑव सिविलजेशन इन इग्लैण्ड, अध्याय २, इसकी आलोचना, लॉर्ड एक्टन, हिस्टॉरिकल एसेज एण्ड स्टडीज, अध्याय १०–११।

८२—अर्थात् 'सबकी श्रद्धा सत्त्वानुरूप होती है, मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है। सात्त्विक पुरुष देवताओ का यजन करते है, राजसिक यक्ष-राक्षसो का, तथा अन्य तामसिक जन भूत-प्रेतो का।

और उनका प्रभाव कुछ अशो मे प्रतिभा-विधान की परम्परा तथा तान्त्रिक पद्धतियो पर देखा जा सकता है।[८३]

यक्षो की पूजा के अतिरिक्त नाना प्रेत, भूत और पशुओ की तामस पूजा भी लोक मे प्रचलित थी। इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, यक्ष, प्रेत, नाग आदि के अनेक उत्सव मनाये जाते थे। इन अवसरो पर ब्राह्मणो और श्रमणो को, दरिद्रो को और भिखारियों को दान दिये जाते थे और खिलाया जाता था। इन उत्सवो मे जन-समर्द और मद्यपान अविदित नही थे और इनकी तुलना बौद्ध ग्रन्थो मे उल्लिखित 'समज्जा' से की जा सकती है।[८४]

प्रचलित धारणा के अनुसार जीव एक सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष पुरुष है जो कि स्थूल आधिभौतिक देह का सचालन करता है और मन और प्राण की चेष्टाओ का वास्तविक आधार है। उपनिषदो और बौद्ध ग्रन्थो मे इस प्रकार की धारणा नाना रूपो मे हमारे सामने आती है। "अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सनिविट " (कठ० २ ६ १७), "इहैवान्त. शरीरे सौम्य स पुरुषो ··" (प्रश्न ६ २), "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति ··" (छा० ४ १५ १), "अथ योऽय भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतमएष इत्येष उ एवेषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति" (छा० ८ ७ ४), "य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति ··" (छा० ८ १० १) आदि उपनिषदो के वाक्यो ने आत्मविषयक ऐसी प्रचलित धारणा का उल्लेख मिलता है। किन्तु इस प्रकार की सूक्ष्मदेहाध्यास-युक्त धारणा उपनिषदो के वास्तविक सिद्धान्त को प्रकट नही करती। 'जीव' अथवा 'आत्मा'—इन शब्दो से एक ओर प्रचलित, अध्यास-दूषित पुरुषविषयक धारणाएँ और दूसरी ओर उपनिषदो के अनिर्वचनीय, किन्तु अनपोह्य आत्मा का सिद्धान्त, ये दोनो ही सूचित होते रहते है। बौद्ध ग्रन्थो मे 'जीवन' 'तथा 'आत्मा' का प्रयोग प्राय. पहले अर्थ मे, अर्थात् प्रत्यगात्मा मे अध्यस्त सूक्ष्मादि देह के अर्थ मे, होता रहा है। ब्रह्मजाल सुत्तन्त, पायासि० आदि सन्दर्भो मे यह स्पष्ट है। वस्तुत यही अर्थ बुद्धिस्थ रखने पर 'नैरात्म्य' के सिद्धान्त की सगति होती है। आत्ममात्र का प्रत्याख्यान नही किया जा सकता क्योकि वह अपनी ही सत्ता का अपलाप होगा और स्वय व्याहत। आत्मा की विशिष्ट व्याख्याओ का

८३–यक्षों पर द्र०—कुमारस्वामी—यक्षज २ भाग।

८४–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३१८–१९।

अवश्य खण्डन किया जा सकता है, यथा इसका कि आत्मा मे कर्तृत्व और नित्यत्व दोनो धर्म है, किन्तु इन व्याख्यानो मे आत्मा की अनिर्वाच्यता का सग्रह अयुक्त होगा।

परिव्राजक-उद्भव—छठी शताब्दी के लौकिक जीवन का नेतृत्व राजाओ और श्रेष्ठियो, ऋत्विजो और आचार्यो के हाथ मे था जो कि शक्ति और धन से अथवा देवताओ की कृपा से अपने और दूसरो के लिए भोग और सुविधाएँ जुटाने मे दत्तचित्त थे और जिनके प्रयत्न से साम्राज्य विस्तृत और नगर समृद्ध हो रहे थे। दूसरी ओर, सामाजिक जीवन के इस प्रवृत्ति-पक्ष की सर्वथा अवहेलना करते हुए अनेक श्रमण, मुण्डक अथवा भिक्षु जीवन के अवार्य दु ख से तप्त जनता के समक्ष निवृत्ति और शान्ति का आदर्श उपस्थित कर रहे थे। ससार-त्याग के प्रचारक नाना 'पाषण्डो' में विभक्त इन परिव्राजको का अभ्युदय और प्रभाव इस युग के धार्मिक जीवन का सम्भवत. सबसे महत्त्वशाली तथ्य था।

याकोवी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मण भिक्षुओ के अनुकरण मे बौद्ध और जैन भिक्षुओ का उदय हुआ था।[८५] इसके समर्थन मे उन्होने मुख्य युक्ति यह दी है कि बौद्ध और जैन भिक्षुओ के नियम गौतम और बौधायन के धर्म-सूत्रो मे प्राप्त नियमो से सादृश्य रखते है। वस्तुत यह सादृश्य केवल ससार-त्याग के आदर्श की समानता मे पर्यवसित हो जाता है और अत्यन्त व्यापक नियमो की परिधि का अतिक्रमण नही करता। याकोवी का विश्वास था कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणो के धर्म मे पहले उदित हुआ और चतुर्थ आश्रम के रूप मे व्यक्त हुआ। पीछे इस आदर्श का बौद्धो और जैनो ने अनुसरण और अनुकरण किया। किन्तु इस अभ्युपगम के समर्थन मे पर्याप्त युक्ति-बल नही दीखता क्योकि चातुराश्रम्य के सिद्धान्त की ब्राह्मण-धर्म में प्रतिष्ठा सर्वप्रथम धर्म-सूत्रो मे हुई, उसके पहले नही। और, अधिक सभावना इस बात की है कि ससार-वाद के साथ परिव्रज्या का भी ग्रहण ब्राह्मणो ने श्रमणो से किया, न कि श्रमणो ने ब्राह्मणो से।

वैदिक सहिताओ मे तथा ब्राह्मणो मे आश्रम शब्द की कही उपलब्धि नही होती। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के "किन्नु मल किमजिन किमु श्मश्रूणि कि तप। पुत्र ब्रह्माण इच्छध्व स वै लोको वदावद ॥" (३३ १)। इस श्लोक की व्याख्या में कहा है कि "आश्रम-चतुष्टय विवक्षितम्" और काणे महोदय ने इसको वैदिक-

८५—एस० बी० ई० जि० २२, भूमिका, तु०—मैक्समूलर, हर्बर्ट लेक्चर्स, पृ० ३५१, बूलर, बौधायन-धर्म सूत्र (एस० बी० ई० में अनु०)।

साहित्य मे चार आश्रमो का प्राचीनतम, अस्फुट उल्लेख माना है।[८६] किन्तु यह व्याख्या निर्विवाद नही कही जा सकती, विशेषत सायण का 'मल' को गार्हस्थ्य का द्योतक मानना। सम्भव है कि इस श्लोक मे ब्रह्मचारियो, तपस्वियो और मुनियो की ओर सकेत हो, किन्तु किसी स्वीकृत चातुराश्रम्य की व्यवस्था की ओर सकेत नही है। उपनिषदो मे जैसे कुछ स्थलो मे ससारवाद और कर्मवाद का अभ्युपगम है, वैसे ही कुछ स्थलो मे ससार-त्याग का भी उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वतर मे 'अत्याश्रमिभ्य' पद पाया जाता है,[८७] बृहदारण्यक मे याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध कुछ स्थलो मे प्रव्रज्या का सकेत है,[८८] मुण्डक (३.२.६) मे "सन्न्यासयोग" का उल्लेख है। मुण्डक (१.२.११) मे भी सन्यासियो का उल्लेख है, यद्यपि इस स्थल मे अरण्यवासियो और भिक्षुओ मे विभेद नही किया गया है। छान्दोग्य (२.२३.१) मे भी तृतीय और चतुर्थ आश्रमो का विवेक नही है। इन उल्लेखो से यह तो स्पष्ट है कि कुछ वैदिक आचार्य उपनिषत्काल के उत्तरार्ध मे न केवल भिक्षु-जीवन से परिचित थे, अपितु उसको आदर्श मानना चाहते थे। किन्तु इन उल्लेखो से यह नही प्रतीत होता कि इस समय वैदिक धर्म के अन्दर चार आश्रमो का व्यवस्थित आदर्श प्रतिष्ठा-लाभ कर चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन वैदिक काल मे केवल दो ही आश्रम अगीकृत थे—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, यद्यपि वैदिक जीवन के बाहर पुरानी सभ्यता के अवशेष मुनि-श्रमणो की सत्ता सर्वथा अविदित नही थी। उत्तर वैदिक काल मे प्रतीकात्मक और रहस्यमय विद्याओ और उपासनाओ के आविर्भाव के साथ आरण्यक-जीवन का भी प्रचार हुआ और एक तीसरे आश्रम का आदर्श विकसित हुआ जिसमे पहले दोनो आश्रमो का तथा कर्म और विद्या का समन्वय है। साथ ही साथ श्रमणो के सिद्धान्त और दृष्टान्त से कुछ वैदिक ऋषि और विचारक प्रभावित हुए और फलत उपनिषदो मे कही-कही वैदिक कर्म की अवहेलना तथा सन्यासियो की स्तुति पायी जाती है। परवर्ती काल मे सन्यास को चतुर्थ आश्रम के रूप मे धर्म-सूत्रो ने स्वीकार किया, किन्तु उनके युग मे भी इन आश्रमो के नामादि सर्वसम्मत नही प्रतीत होते। आपस्तम्ब की पक्ति है—"चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुल मौन वानप्रस्थ्यमिति।"[८९] गौतम ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु

८६—काणे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र, जि० २, भा० १, पृ० ४१८।

८७—श्वेताश्वतर, ६.२१।

८८—बृ० उप० २.४.१, ३.५.१, ४.४.२२, ४.५.२।

८९—"चार आश्रम है—गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन एव वानप्रस्थ्य" (आपस्तम्ब, २.९.२१.१)

और वैखानस का उल्लेख किया है।[९०] वसिष्ठ और बोधायन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक—ये सज्ञाएँ प्रस्तुत करते है।[९१] यही नहीं, बौधायन और गौतम दोनो गार्हस्थ्य का प्राधान्य देते है। बौधायन का कथन है—"ऐकाश्रम्य त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्। तत्रोदाहरन्ति प्रह्लादि वै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदाञ्चकार देव स्पर्धमानस्तान्मनीषी नाद्रियेत।"[९२] गौतम की तुलनीय उक्ति है—"तेषा गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्।"[९३] इस प्रकार श्रामण्य की एक प्राचीन परम्परा को ही ई० पू० छठी शताब्दी के वैदिक और अवैदिक भिक्षु सम्प्रदायो के मूल मे मानना चाहिए।

ब्राह्मण-परिव्राजक—भिक्षुओ के अनेक सम्प्रदाय थे जो कि दो मुख्य विभागो मे बाँटे जा सकते है—ब्राह्मण और श्रमण। ससार-त्यागी और तपस्वी दोनो ही थे, किन्तु कुछ विषयो मे व्यापक भेद था। ब्राह्मणो की दृष्टि मे ससार-त्याग नाना लौकिक कर्त्तव्यो की पूर्ति के बाद युक्त था। इसी दृष्टि की ओर उत्तरज्झयण का यह निर्देश है—"अहिज्ज वेये परिविस्स विपे पुत्ते परिठप्प गिहसि जाया। भोच्चाण भोए सह इत्थियाहि आरण्णगा होह मुणो पसत्थ।[९४] इसके अतिरिक्त 'बम्भणणय' मे वर्ण-भेद के अनुसार प्रव्रज्या का अधिकार केवल ब्राह्मण अथवा द्विज को ही प्राप्त था जब कि बौद्ध सघ मे सब ही वर्ण और जातियाँ सागर मे नदियो के समान भेद छोडकर हिल-मिल जाती थी। और फिर वेद के प्रमाण और महत्त्व की ओर भी ब्राह्मणो और श्रमणो की दृष्टियाँ विभक्त थी। वसिष्ठ का कथन है—"सन्न्यासेत्सर्वकर्माणि वेदमेक न सन्न्यसेत्। वेदसन्न्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेद न सन्न्यसेत्।"[९५] इसके विपरीत उत्तरज्झयण मे

९०—गौतम, १.३ २।

९१—वसिष्ठ, ७, १—२; बौधायन, २. ६. १४।

९२—"किन्तु आचार्य एक ही आश्रम बताते है क्योंकि अन्य (आश्रम) सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य है। कहते है कि प्रह्लादि कपिल नाम का असुर था, उसने देवताओ की होड में इन भेदो का निर्माण किया। अत मनीषी को चाहिए कि उनका आदर न करे।" (बौधायन २.६ २९—३०)।

९३—"गृहस्थ उनका मूल है, शेष के प्रजोत्पत्ति में अक्षम होने के कारण।" (गौतम, १ ३ ३।

९४—उत्तरज्झयण, १४.९।

९५—वसिष्ठ, १० ४।

कहा है—"वैया अहीया न भवन्ति ताप ।"[९६] अन्त मे, स्त्रियो की प्रव्रज्या पर भी ब्राह्मणो का मत श्रमणो की अपेक्षा भिन्न तथा अनुदार था । यह भी स्मरणीय है कि ब्राह्मणो मे तापस और भिक्षु अलग-अलग थे । शकराचार्य ने इन दोनो का अभेद प्रतिपादित करने वाले मत का खण्डन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वानप्रस्थ्य मे कायक्लेश-लक्षण तप का महत्त्व है जब कि सन्यास में सयम का प्राधान्य हे ।[९७] वस्तुत. वानप्रस्थ्य मे वैदिक कर्म शेष रहता था, सन्यास मे नही । दोनो के लिए पृथक् सूत्रो की रचना हुई थी । वानप्रस्थो के लिए वैखानस-शास्त्र का और भिक्षुओ के लिए पाराशर्यकृत सूत्रो का उल्लेख प्राप्त होता है ।[९८] किन्तु क्रमश उत्तरकाल मे वानप्रस्थ अप्रचलित-सा हो गया । अरण्यवास, तपस्या और यज्ञादि क्रिया मे निरत वानप्रस्थो की सज्ञा 'जटिल' भी थी । विनयपिटक मे उन्हे कर्मवादी, क्रियावादी और अग्नि के परिचारक बताया गया है ।[९९] कदाचित् मेगास्थेनेज़ के 'हुलोबियोइ' भी ये ही थे जो कि 'न नगरो मे रहते थे, न घरो में', वल्कल पहिनते थे, अञ्जलि से पानी पीते थे, और न विवाह करते थे, न सन्तानोत्पादन ।[१००] किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि मेगास्थेनेज ने इनको श्रमणो के साथ रखा है, न कि ब्राह्मणो के । इसका कारण स्पष्ट ही यह था कि तपस्या आदि के द्वारा वानप्रस्थ श्रामण्य के निकट अधिक थे और ब्राह्मणो मे प्रायिक पहले दो आश्रमो के कम । मेगास्थेनेज़ ने भारतीय साधुओ को ब्राह्मण और श्रमण इन दो भागो मे बाटा है, किन्तु उसके वर्णन से स्पष्ट है कि उसने ब्राह्मणो को ब्रह्मचारी और गृहस्थ ही देखा । सम्भवत वह ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर श्रमण परिव्राजको मे विवेक नही कर सका और अतएव उसने श्रमणो के आपेक्षिक प्राचुर्य के कारण सब परिव्राजको और तापसो को 'श्रमण' की ही आख्या दे दी ।

परिव्राजक-गण एवं उनके नियम—परिव्राजक अकेले अथवा गणो मे भ्रमण करते थे । उनके गुरु अथवा नेता शास्ता या गणाचार्य कहे जाते थे ।[१०१] सगठन का प्रकार विविध था । निगण्ठो मे सगठन सुदृढ था, आजीविको मे अपेक्षया शिथिल । शाक्य-

९६—उत्तरज्झयण, १४.१२ ।

९७—ब्रह्मसूत्र, ३.४.२० पर भाष्य ।

९८—द्र०—बौधायन, २.६ १६, पाणिनि, ४.३.११० ।

९९—विनय ना०, महावग्ग, पृ० २७—३४ ।

१००—मैक्क्रिन्डल, पूर्व, पृ० १०२, १०५ ।

१०१—दे०—नीचे ।

पुत्रीयो में बुद्ध के बाद 'धर्म'-मात्र को शास्ता मानना सर्वथा अपूर्व था। प्रसिद्ध आचार्यो के पास ज्ञान के लिए परिव्राजक एकत्र होते थे और उनके शास्तृत्व में ब्रह्मचर्यवास स्वीकार करते थे। ब्रह्मचर्य का प्राचीन अर्थ वेदाध्ययन के लिए नियमाचरण था। किन्तु जब उपनिषदो मे ब्रह्म शब्द का अर्थ परम तत्त्व हो गया तो ब्रह्मचर्य का अर्थ भी ब्रह्म की जिज्ञासा से प्रेरित होकर विशिष्ट नियमो का पालन हो गया, यद्यपि वेदाध्ययन सम्बन्धी पुराना अर्थ लुप्त नही हुआ और इस प्रकार ब्रह्मचर्य शब्द के दो अर्थ प्रचलित हुए—वेदाध्ययन-परक अनुशासन अथवा प्रथम आश्रम और ब्रह्म अथवा परमार्थ की खोज मे गुरु के पास शिष्यत्वपूर्वक नियम-चर्या। मुण्डकोपनिषद् में निर्दिष्ट अपरा और परा विद्या के भेद का अनुसरण करते हुए इन दोनो अर्थो को यदि अपर-ब्रह्मचर्य और पर-ब्रह्मचर्य की सज्ञा दी जाय, तो यह कहा जा सकता है कि परिव्राजक केवल पर-ब्रह्मचर्य का ही अनुसधान करते थे।

योग-सूत्रो मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है।[१०२] इनके द्वारा भिक्षु-जीवन के आदर्श की रूप-रेखा प्रस्तुत होती है, और इनमे सभी प्रमुख परिव्राजक सम्प्रदायो का ऐकमत्य था। इनमे पहले तीन व्रत सभी अवस्थाओ मे सबके लिए मान्य होते हुए भी शेष दो अवस्था-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। अन्तिम व्रत केवल भिक्षु-जीवन मे ही स्वीकार किया जाता था। 'विशुद्धि' को प्राय भिक्षु-जीवन का लक्ष्य अभिहित किया गया है। विशुद्धि की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बताये जाते थे—आहार, ससार, उपपत्ति, आवास, यज्ञ, अग्नि, परिचर्या, नैष्कर्म्य, तपश्चर्या, ध्यान इत्यादि। बाह्य आचार में परिधान, भोजन और निवास विषयक निश्चित नियमो का विस्तर-भेद के साथ विभिन्न सम्प्रदायो में विधान था।

ब्राह्मण यतियो के लिए कौपीन का विधान था जो कि धोई जा सकती थी, और गेरुए रग मे रगी जा सकती थी।[१०३] वे अपने साथ दण्ड, रज्जु, पानी छानने के लिए वस्त्र, तथा कमण्डलु और भिक्षा-पात्र रख सकते थे।[१०४] वानप्रस्थ जटा रखते थे, भिक्षु प्राय सिर मुंडाते थे। निर्गन्थ लुंचित केश रहते थे। आजीवक साधु नग्नता को ही श्रेष्ठ मानते थे। महावीर ने यद्यपि स्वय उस आचार का अनुसरण किया तथापि उन्होने निर्ग्रन्थो को एक वस्त्र धारण करने की अनुमति दी। इस कारण निर्ग्रन्थो

१०२—योगसूत्र, २.३०—३१।

१०३—एस० बी० ई० जि० ५२, भूमिका, पृ० २६।

१०४—वही, पृ० २८।

को गोशाल के अनुयायी 'एकशाटक' कहते थे ।[१०५] किन्तु व्यवहार मे निर्गन्थो को विभिन्न अवस्थाओ मे अधिक वस्त्र धारण करने की भी अनुमति थी । आजीवक भिक्षा-पात्र का निषेध करते थे और 'हस्तापलेखन' कहे जाते थे । पर निर्ग्रन्थो का आचार भिन्न था । आहार के विषय मे भी पर्याप्त आचार-भेद था । ब्राह्मण यतियो के लिए आवश्यक था कि मधुर भोजन की कामना छोड दे और बीजविनाश न करते हुए पेड-पौधो के स्वय स्रस्त अवयवो से आहार-निष्पादन करे । यह स्मरणीय है कि छान्दोग्योपनिषद् मे आहार-शुद्धि के द्वारा सत्त्वशुद्धि को साध्य बनाया है ।[१०६] आजीवक अनुष्ण जल और अतप्त बीजो का निषेध नही करते थे और न सोद्देश्य कल्पित अन्न का । निर्ग्रन्थ तीनो का निषेध करते थे ।[१०७] परिधान और आहार दोनो ही विषयो मे शाक्यपुत्रीयो के नियम अधिक उदार थे ।

आवास के विषय मे वसिष्ठ का विधान है—"अनित्यावसति वसेत् । ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा ।"[१०८] सुत्तनिपात मे कहा गया है "एको चरे खग्गविसाणकप्पो" ।[१०९] प्रारम्भ मे प्राय सभी भिक्षुओ के समक्ष यह आदर्श था कि वे एकान्त मे रहे, यथाशक्ति अकेले विचरण करे, और प्रकृतिदत्त निवासो का आश्रय ले, यथा वृक्षमूल अथवा गिरि-गह्वर का । किन्तु उपासको की श्रद्धा बढने पर और भिक्षु-गणो के अधिक सगठित होने पर उनके लिए विशिष्ट उपवन, आराम, विहार आदि का प्रबन्ध होना भी स्वाभाविक था ।[११०] इस विषय मे ब्राह्मण सन्यासियो के नियम अपेक्षया अधिक कडे थे ।

वर्षा मे चारिका का निषेध सभी भिक्षुओ के लिए था । इसमे ब्राह्मणो, बौद्धो और जैनो का ऐकमत्य था । इस प्रथा का आविर्भाव उस समय के मार्गो और यातायात के साधनो की अविकसित अवस्था मे तथा कोशल और विदेह की समतल भूमि मे नाना

१०५–तु०—ई० आर० ई० जि० १, पृ० २६५ ।

१०६–छा० उप० ७ २६ २ ।

१०७–एस० बी० ई० जि० २२, भूमिका, पृ० २४–२६, ई० आर० ई० जि० १, पृ० २६५ ।

१०८–वसिष्ठ, १०, १२–१३, "ग्रामान्त में, देवायतन में, शून्य आगार मे अथवा वृक्ष के नीचे अनित्य आवास कल्पित करना चाहिए ।"

१०९–सुत्तनिपात, खग्गविसाणसुत्त ।

११०–द्र०—नीचे ।

नदियो की ओघ-प्रवणता मे स्पष्टत देखा जा सकता है। आज भी पूर्वी उत्तरप्रदेश और उत्तर बिहार मे वर्षाकालिक यात्रा की कठिनाइयाँ सुविदित हैं। वर्षावास के ही 'उपवसथ' की सस्था सब सम्प्रदायो मे व्यापक थी। 'उपवसथ' अथवा 'उपोसथ' भिक्षुगण के पाक्षिक सम्मेलन को कहा जाता था। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि वैदिक कर्मकाण्ड मे भी दर्श और पूर्णमास की इष्टियाँ पक्षान्त का धार्मिक महत्त्व स्पष्ट करती हैं।

विचारसन्थन—उपनिषदो से तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थो से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० एक बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रान्ति का युग था जब कि ब्राह्मण और श्रमण आचार्य और भिक्षु नाना धार्मिक-दार्शनिक मतो की उद्भावना और नाना नवीन मार्गो और सम्प्रदायो का प्रचार कर रहे थे।[111] परिव्राजको का तत्कालीन समाज मे ऊपर निर्दिष्ट महत्त्व इस व्यापक बौद्धिक आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण ही था। प्रचलित वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य यज्ञादि के अनुष्ठान से देवताओ के प्रसाद और फलत सुखी जीवन तथा स्वर्ग की आशा कर सकते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० के प्राय सभी विचारक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे और मृत्यु और क्षय से अवार्यतया ग्रस्त लौकिक और पारलौकिक जीवन को एक दु खमय विभीषिका मानते थे तथा भोग के स्थान पर मोक्ष चाहते थे। उनमे विचार और मत-भेद इस पर था कि बन्ध और मोक्ष के कारण क्या हैं ?

भौतिकवाद—कुछ विचारक पुनर्जन्म मे आस्था नही रखते थे और आत्यन्तिक दु खनिवृत्ति-रूप मुक्ति की खोज ही असगत मानते थे। विभिन्न दु खो के लिए विभिन्न दृष्ट उपाय उपलब्ध हैं और दु ख की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए मृत्यु की शरण मे जाना होगा। किन्तु दु ख के भय से जीवन के नाना सुखो का त्याग नही करना चाहिए। मनुष्य चार भौतिक तत्त्वो के सयोग से बना है और चैतन्य उसका आगन्तुक धर्म है। उन महाभूतो के विसयोग से मृत्यु हो जाती है जिसके बाद कोई और्ध्वदैहिक जीवन अथवा परलोकादि शेष नही रह जाते। इस प्रकार के भौतिकवाद का सकेत छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम प्रपाठक में मिलता है जहा असुरो का प्रतिनिधि

१११—तु०—सुकुमार दत्त, अर्ली बुधिस्ट मोनेशिज्म; थादेर इयर देन ग्लासनाप्प डेर इन्दिशेन फिलोसोफी त्सुर त्साइत महावीरस उन्द बुद्धस, आरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३२७।

विरोचन देहात्मवाद से सन्तुष्ट हो जाता है। उपनिषत्कार की यहाँ पर उक्ति है—"तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणा ह्येपोपनिषत्प्रेतस्य शरीर भिक्षया वमनेनालकारेणेति सस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमु लोक जेष्यन्तो मन्यन्ते ।" (८८५)[112] दान, श्रद्धा और यज्ञ स्पष्ट ही असुर-सम्मत देहात्मवाद के प्रतिकूल थे। मृत शरीर का अलकरण आदि के साथ परलोक की आशा से गाडना पुरानी सम्यताओ मे व्यापक प्रथा थी। गीता के सोलहवें अध्याय मे आसुरी निष्ठा का वर्णन स्मरणीय है—"असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूत किमन्यत्कामहैतुकम् ॥" (१६ ८)।[113] श्वेताश्वतर मे ब्रह्मवादियो के मौलिक प्रश्न—"अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे"—को उत्थापित कर उत्तर मे काल, स्वभाव, नियति और यदृच्छा के साथ 'भूतानि' को भी जिज्ञासित कारण के रूप मे अभिहित किया गया है। बौद्ध ग्रन्थो मे असकृत् 'उच्छेदवाद' का उल्लेख मिलता है, जो कि मृत्यु का निश्शेष विनाश मानता था। सामञ्जफलसुत्त में अजित केशकम्बली नाम के आचार्य का उच्छेदवाद उल्लिखित है। बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे एक और भौतिकवादी विचारक पायासि-पएसि का उल्लेख आता है जो कि आत्मा की सत्ता को प्रत्यक्ष की कसौटी पर जाँचना चाहता था।[114] यह स्मरणीय है कि उत्तरकालीन चार्वाक अथवा लोकायत मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।[115] पालिग्रन्थो मे 'लोकायतिक' शब्द पाया जाता है, किन्तु अर्थ भिन्न प्रतीत होता है।[116] चतुर्थ शताब्दी के कौटिलीय अर्थशास्त्र मे लोकायत को आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत माना है।[117] महाभारत मे चार्वाक

११२–"इसलिए लोक में दान, यज्ञ एवं श्रद्धा से हीन को कहते हैं—असुर है। यह असुरो का रहस्य है कि वे मृत व्यक्ति के शरीर को अन्न, वस्त्र एवं अलंकार से परिष्कृत कर उसके द्वारा परलोक की प्राप्ति में विश्वास करते हैं।

११३–"वे जगत् को असत्य, निराधार, निरीश्वर, अपरस्पर समुत्पन्न एवं केवल कामहेतुक कहते हैं।"

११४–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३५१।

११५–द्र०—सर्वदर्शनसंग्रह (आनन्दाश्रम प्रेस, १९२८), पृ० १–५, तु० नैषधीयचरित, १७वाँ सर्ग।

११६–तु०—पालि डिक्शनरी (पालि टेक्स्ट सोसायटी)।

११७–अर्थशास्त्र (त्रिवेंद्रम सस्करण), जि० १, पृ० २७।

का उल्लेख मिलता है। रामायण में जाबालि का मत सदृश है।[118] पाणिनि आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक मतो की ओर संकेत करते हैं।[119] इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि उपनिषत्काल से प्रारम्भ कर चतुर्थ शताब्दी ई० पू० तक एक निश्चित भौतिकवादी और नास्तिक विचार-धारा का उद्‌गम और प्रवाह हुआ था। यह विचारधारा प्रत्यक्ष-वादी थी और परलोक अथवा पुनर्जन्म को नही मानती थी। यह अनेक नामो से उल्लि-खित है और वैदिक यागादि कर्म का उतना ही विरोध करती थी जितना श्रमणो के निवृत्ति मार्ग का। फलत. प्राय सभी दिशाओ से इसका खण्डन और कालान्तर में लोप हो गया।

'अज्ञानवाद'—यदि उच्छेदवादी अमृतत्व और मुक्ति की आध्यात्मिक आकाक्षा की ओर निराश थे और साधारण लौकिक जीवन का ही एक मात्र सम्भव जीवन मानते थे, 'अज्ञानवादी' अप्रत्यक्ष विषय को निश्चित ज्ञान का अगोचर समझते थे। सजय बेलट्ठिपुत्त का कहना था कि परलोक, औपपातिक जीव, कर्म, मुक्ति के वाद की अवस्था, इन सब विषयो का निश्चित ज्ञान असम्भव है और इनको अस्ति, नास्ति, आदि चारो कोटियो मे नही रखा जा सकता। ब्रह्मजालसुत्तन्त मे इस मत को अमरा-विक्षेपको का मत कहा गया है। सूयगडग की व्याख्या मे शीलाङ्क का कहना है—'तत्र को वेत्तीत्यस्यार्थो न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतिन्द्रीयान् जीवादीनवमोत्स्यते। न च तैर्ज्ञातै किंचित्फलमस्ति। (सूय १ २ १६ पर)।[120] यह स्मरणीय है कि सजय के कुछ विषयो की चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता का सिद्धान्त बौद्धो और जैनो दोनो के परवर्ती विचारो पर प्रकारान्तर से प्रभाव डाले विना न रहा।[121]

कुछ विचारक ससार को मानते हुए भी उसका अकारण घटना मानते थे। श्वेता-श्वतर तथा जैनो का यदृच्छावाद तथा बौद्धो का अधीत्यसमुत्पाद ऐसे ही विचारको के मत थे। कुछ अन्य विचारक ससार और उसके कारण को मानते हुए भी उस कारण

११८—रामायण (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०) २.१०८।

११९—पाणिनि, ४. ४.६०।

१२०—"कौन जानता है", इसका अर्थ है—किसी का भी विशिष्ट ज्ञान नहीं है कि वह अतीन्द्रिय जीव आदि का बोध प्राप्त करे और उनके ज्ञान का कुछ फल भी नहीं है।"

१२१—चार कोटियां इस प्रकार हैं—अस्ति (है), नास्ति (नहीं है), अस्ति च नास्ति च (है और नहीं है), नास्ति न च नास्ति (न है, न नहीं है)।

को स्वतन्त्र और अपरिवर्तनीय मानते थे। इस दृष्टि से मोक्ष भी बन्ध के समान ही नियत और पुरुषार्थनिरपेक्ष है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद, तीनो ही इस दृष्टि के अन्तर्गत होते हैं। काल के विषय मे चिन्तन अथर्वसंहिता शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मैत्रायणीयोपनिषद् तथा महाभारत मे पाया जाता है।''[१२२] स्वभाववादियो की प्रसिद्ध उक्ति है—'स्वभावात्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते स्वभावत। सर्वे भावास्तथाभावा पुरुषार्थो न विद्यते'[१२३] नियतिवाद का मुख्य उदाहरण आजीविको का मत था। 'दैष्टिक' पद से सम्भवत पाणिनि ने भी उनकी ओर संकेत किया है।

नियतिवाद—सामञ्जफलसुत्तन्त मे अजातशत्रु ने मस्करी गोशाल के मत को 'संसार-विशुद्धि' का मत वर्णित किया है। जैसे लिपटे हुए सूत का गोला फेंक देने पर स्वत एक आभ्यन्तर नियति से निर्वेष्टित होता है, ऐसे ही एक अन्तर्भूत शक्ति से नियत संसार की विशुद्धि की ओर उपगत हो रहा है। इस प्रकार संसरण के द्वारा ही सब जीवो के दु ख का अन्त होगा। प्रत्येक के भोक्तव्य सुख-दु ख की मात्रा नियत है, मानो नपी-तुली हो। संक्लेश और विशुद्धि के पीछे 'नियति-संगति-भाव-परिणाम' का नियमन विद्यमान रहता है। बुद्धघोष नियति, संगति और भाव को पृथक्-पृथक् मानते हैं। उन्होंने संगति की व्याख्या की है—'संगतीति छन्नमभिजाती न तत्थ-तत्थ गमन।''[१२४] किन्तु शीलाङ्क की प्रसंगान्तर की व्याख्या मे संगति और नियति एक ही है—'सागतिकं सम्यक् स्वपरिणामेन गति यस्य यदा यत्सुखदु खानुभवन सा संगतिर्नियति।' वस्तुत गोशाल के मत मे जन्म-मरण, सुख-दुख, संसार और मोक्ष सब अतीत कर्म के ऊपर निर्भर हैं। कर्म सर्वथा नियत और परम कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोशाल समस्त संचित कर्म को प्रारब्ध कर्म के समान यथाकाल पाकोन्मुख और सर्वथा अपरिहार्य मानते थे। पुरुषार्थ सर्वथा तुच्छ और हेय है। 'तथ्य नत्थि अपरिपक्कं वा

१२२–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३३८–३९।

१२३–"सब भाव एवं अभाव स्वभाव से प्रवृत्त एवं निवृत्त होते है, पुरुषार्थ की कोई सत्ता नहीं है।"

१२४–आजीविको पर सामान्यतः द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३४२;–४६; बरुआ, प्रिबुधिस्टिक इण्डियन फिलॉसफी, जे० डी० एल० २; हर्नले, ई० आर० ई० जि० १; बैशम, हिस्टरी एन्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव दि आजीविकस। मूल सन्दर्भो के निर्देश के लिए द्र०—बरुआ, जे० डी० एल०, जि० २, पृ० २३।

कम्म परिपाचैस्सामि, परिपक्क वा कम्म फुस्स फुस्स व्यन्तिकरिस्सामि हेव नत्थि दोण-मिते सुखदुक्खे ..।' पतञ्जलि ने इसी मत को बुद्धिस्थ कर कहा है—"मा कृत मा कृत कर्माणि शान्तिर्व. श्रेयसी त्याहातो मस्करी परिव्राजक ।" जैन ग्रथो मे भी आजीवक अक्रियावादी कहे गये हैं । इस प्रसग मे वियाहपन्नत्ति का 'पउट्टपरिहारवाद' उल्लेखनीय हे, यद्यपि उसकी सही व्याख्या दुष्कर है । ऐसा प्रतीत होता है कि आजीवक सिद्ध एक देह छोडने पर दूसरे किसी की मृत देह स्वीकार कर लेते थे । 'पउट्ट' की व्याख्या 'मृत्वा' की गयी है, 'पउट्ट' को 'प्रवृत्त' मानने पर भी कदाचित् अर्थ यही होगा—पहले से, अर्थात् दूसरे की, प्रवृत्त अथवा प्रारब्ध देह । 'परिहार' धारण के अर्थ में गृहीत होना चाहिए । इस प्रकार 'पउट्ट परिहार' का अर्थ होगा पहले से प्रवृत्त अथवा प्रारब्ध देहान्तर का धारण । जैसे तिल-पुष्प की उजडी हुई झाडी मे गोशाल ने फिर से बीज-समुत्पत्ति देखी थी, ऐसे ही "सव्वजीवावि पउट्ट परिहार परिहरति ।" कदाचित् प्रारब्ध कर्म को निश्शेष करने के लिए इस उपाय का स्वीकार मान्य रहा होगा। यह स्मरणीय है कि योग-सम्प्रदाय मे निर्माण-चित्त का ऐसा ही उपयोग उपदिष्ट है ।'[१२५]

आजीविको का निगण्ठो से विशिष्ट सम्बन्ध था । गोशाल और महावीर परस्पर परिचित और कुछ समय तक साथ थे । आजीविको के अनेक सिद्धान्त निगण्ठो में भी स्वीकृत हुए, यथा छ अभिजातियो मे विश्वास, जो कि निगण्ठो में 'लेश्याओं' के रूप मे पाय जाते हैं । ऐसे ही सत्त्व, प्राण, भूत और जीव, इन चारो पदो का सहप्रयोग, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवो का वर्गीकरण और सिद्धो की सर्वज्ञता में विश्वास, ये धारणाएँ भी समान हैं, किन्तु जहाँ आजीवक अक्रियावादी थे और जीव को रूपी मानते थे निगण्ठ क्रियावादी थे और जीव को अरूपी मानते थे ।

अन्य अक्रियावाद—अक्रियावाद के कुछ और उदाहरण सामञ्जफलसुत्तन्त में उल्लिखित हैं । पूर्ण काश्यप का विश्वास था कि कुछ भी करने से पाप अथवा पुण्य नही होता । इस मत को पाप का प्रोत्साहन समझना ठीक न होगा । यह वस्तुत. पुरुष के अकर्तृत्व तथा असगता का सिद्धान्त है जो कि साङख्य तथा वेदान्त दोनो को ही स्वीकार हे । ईशोपनिषद् में, अतएव कहा है "न कर्म लिप्यते नरे ।" सूयगडग में भी एक सदृश अकारकवाद का उल्लेख है जिसे शीलाक ने साङख्य से अभिन्न माना है ।'[१२६]

१२५—द्र०—योगसूत्र, ४.५ पर वाचस्पति मिश्र के द्वारा उद्धृत पुराणवाक्य ।
१२६—सूयगडग, १ १.१३ पर ।

प्रकुध (ककुद ?) कात्यायन का मत था कि सात परम तत्त्व (काय) है जो कि शून्य ('विवर') मे कूटस्थ है। ये सात तत्त्व इस प्रकार है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तथा सुख, दु ख और जीव। इन सातो में किसी प्रकार की पारस्परिक क्रिया अथवा अनित्य सम्बन्ध नही है। शीलाक ने एक सम्भव आत्मषष्ठवाद का उल्लेख किया है जो कि कात्यायन के मत के सदृश है, पर जिसमे आकाश की सत्ता स्वीकार की गयी है, और सुख, दु ख को छोड दिया गया है।[१२७] यह मत अशत वैशेषिक का और अशत सांख्य का स्मरण दिलाता हे। यह भी स्मरणीय है कि प्रश्नोपनिषद् मे एक कबन्धी कात्यायन का उल्लेख आता हे, किन्तु पिप्पलाद मे उसे जो उपदेश मिला, उसका इस सप्तकायवाद अथवा अक्रियावाद से कुछ भी सम्बन्ध नही है।

निगण्ठ—श्रमणो मे कदाचित् प्राचीनतम सम्प्रदाय निगण्ठो अथवा जैनो का था।[१२८] अब यह प्राय सर्व-सम्मत है कि महावीर से पूर्व पार्श्व नाम के तीर्थंकर सचमुच हुए थे। उनके पहले के तीर्थंकरो की तत्तद्रूप मे ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है, किन्तु जैनो के इस विश्वास को अस्वीकार नही किया जा सकता कि उनकी मुनि-परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा अवैदिक थी। वैदिक साहित्य मे उल्लिखित मुनियो के वर्ग मे जैन मुनियो का होना नितान्त सम्भव है। ईशोपनिषद् मे कर्म करते हुए सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा को सराहा गया है और आत्मघात को घोर पाप बताया गया है। इस सन्दर्भ मे कदाचित् जैन मुनियो की निष्ठा का विरोध किया गया है क्योकि वे प्राण-त्याग पर्यन्त नैष्कर्म्य को आदर्श मानते थे।[१२९] अन्यत्र उपनिषदो मे कर्म के अनुसार जीव का ससरण तथा कर्म को बन्धन और जीव के लिए स्वरूप से बहिर्भूत एक आगन्तुक धर्म माना गया है, यथा बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण मे। यह दृष्टि जैनो को स्वीकृत थी और, जैसा ऊपर कहा गया है, वैदिक

१२७–वही, १.१.१५–१६ पर।

१२८–निगण्ठो पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३५३–६८; कैंब्रिज हिस्टरी जि० १; शार्पन्तियर, उत्तराध्ययनसूत्र, भूमिका; याकोबी, एस० बी० ई० जि० २२ और ४५, भूमिका; जैनी, आउट लाइन्स ऑव जैनिज्म; ग्लाजेनाप, दि डॉक्ट्रिन ऑव कर्म इन जैन फिलासफी। जैनो के मूल साहित्य पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५६७–७३; विन्टरनित्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० २, पृ० ४२४ प्र०।

१२९–यह सुझाव मुझे अपने गुरु पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से मिला है।

साहित्य मे नवीन थी। किन्तु उपनिषदो मे मोक्ष का साधन प्राय. ज्ञान को माना गया है, निर्ग्रन्थो के लिए तपस्या प्रधान थी, और तप का काय-क्लेश लक्षण जो अर्थ उनके सम्प्रदाय मे और उत्तरकाल मे सामान्यत रूढ था, वह अर्थ उपनिषदो मे विरल है। इसके अतिरिक्त उपनिषदो के प्राणभूत ब्रह्मवाद, आत्माद्वैत, ईश्वरवाद आदि सिद्धान्त जैन-निष्ठा के सर्वथा विरुद्ध है।

यदि उपनिषद् पढने के बाद तत्काल आयारग, सूयगडग आदि प्राचीन जैन ग्रन्थ पढे जाते है तो बौद्धिक, आध्यात्मिक वातावरण का भेद बलवत् स्पष्ट हो जाता है। जैनो का ससार एक अनादि दु ख प्रवाह है जिसमे कर्म के बन्धन से विवश, अज्ञान मे विचेष्टमान असख्य जीव बहे जा रहे है। जीव-सत्ता सर्वत्र फैली है। महाभूतो मे भी सख्यातीत जीव दु ख भोगते है। प्रत्येक चेष्टा और परिस्पन्द मे जीव-हिसा इस प्रकार अनिवार्य है। इस हिसा और दु ख के असीम साम्राज्य मे सुदृढ सकल्प के द्वारा कर्म-बन्धन को भग करने के अतिरिक्त और कोई मुक्ति का उपाय नही है।

जैनो के मत मे जीव अरूपी अर्थात् अभौतिक सत्ता है जो न इद्रियो मे उपलब्ध की जा सकती है, न मति और तर्क से। आयारग का कहना है—"से न दीहे न हस्से न किण्हे न नीले अरूपी सत्ता ··से न सद्दे न रूवे न गन्धे न रसे न फासे" (१ ५ ६)[130] और "तक्का जत्थ न विज्जई मई तत्थ न गाहिया ··" (वही)।[131] किन्तु ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म हे, "जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया। जेण विजाणाइ से आया त पडुच्च पडिसखाए एस आयावाई।" (आयारग १ ५ ५)।[132] आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान विशुद्धावस्था मे अनन्त होता है। इस सर्वज्ञता को केवल ज्ञान की सज्ञा दी जाती है। ज्ञान के साथ ही आत्मा मे अनन्त सुख भी स्वाभाविक है। और, कम से कम उत्तर काल मे, अनन्त क्रिया-शक्ति का भी आत्मा मे स्वीकार किया गया है। "अरूविणो जीवघणा नाणदसनसनिया। अउल सुह सवण्णा उवमा

१३०—"वह न दीर्घ है, न ह्रस्व ···न कृष्ण, न नील · जीव अरूपी है वह न शब्द है, न रूप, न गन्ध, न रस, न स्पर्श"।

१३१—"जहाँ तर्क विद्यमान नहीं है, जहाँ मति का प्रवेश नहीं है।"

१३२—"जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वही आत्मा है, आत्मा को मानने के कारण वह आत्मवादी कहलाता है।"

जस्स नत्थि उ ।।""[१३३] यह स्मरणीय है कि शाक्यपुत्रीय भिक्षु निर्ग्रन्थ सिद्धो के सर्वज्ञता के दावे का उपहास करते थे ।

जीव असख्य है और नाना अवस्थाओ मे उपलब्ध होते है । पृथ्वी, जल आदि भौतिक तत्त्वो मे भी जीव पाये जाते है और प्राचीन जैन सन्दर्भो मे इनकी पर्याप्त चर्चा है । जीव स्थावर भी है ओर जगम भी । कुछ असज्ञी है जो केवल अनुभव कर सकते है, किन्तु ज्ञान मे असमर्थ है । कुछ सज्ञी है जो कि अनुभव और ज्ञान दोनो की सामर्थ्य रखते है । सिद्ध जीव सर्वज्ञ होते है, पर ज्ञानातिरिक्त अनुभव अथवा मवेदन नही करते ।

जीवो की सासारिक गति कर्म के अधीन है । कर्म के कारण ही उनके जीवन पृथक्-पृथक् नियन्त्रित है—"अदु थावर य तसत्ताए तस जीवा य थावरत्ताए । अदु सव्वजोणिया सत्ता फम्मुणा कप्पिया पुढो वाले ।" (आयारग १.९,१४)[१३४] । "कम्मा नानाविहा कट्टु पुढो विस्समिया पया ।" (उत्तर ३ २)[१३५] । कर्म स्वय एक द्रव्यात्मक और पौद्गलिक पदार्थ है जिसका आधार अज्ञान और उससे उत्पन्न राग-द्वेषादि कषाय है । कर्म से आत्मा का स्वभाव आच्छन्न हो जाता है और वह अपने को अज्ञान, अशान्ति और दु ख मे निमग्न पाती है । यह स्मरणीय है कि कर्म और अज्ञान का इतरेतराश्रय ससार के अनादि होने के कारण दोष नही है ।

बौद्धो का कहना था कि निर्ग्रन्थ शारीरिक कर्म को महत्त्व देते है, चैतसिक कर्म को नही ।[१३६] वस्तुत चेष्टाजन्य परिस्पन्दात्मक कर्म और आत्मा को आवृत्त करने वाला उसका परिणाम, इनका निर्ग्रन्थ मत मे प्राधान्य है । जीव-सत्ता के सर्वत्र सुलभ होने के कारण प्रत्येक चेष्टा मे हिसा अनिवार्य बन जाती है । अतएव प्राचीनतम निर्ग्रन्थ सन्दर्भो मे 'कर्म' और 'दण्ड' प्राय परस्पर समानार्थक और परिवर्तनीय पद प्रतीत होते है । कर्म और उसका फल, दोनो निरन्तर ही दु खात्मक है—"किच्च दुक्ख फुस्स दुक्ख कज्जमानकड दुक्ख कट्टु-कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयण

१३३—"अरूपी जीव ज्ञान और दर्शन तथा अनुपम, अतुल सुख से सम्पन्न है ।" (उत्तरज्झयण, ३६.६७) ।

१३४—"स्थावर जीव त्रस-जीव हो जाते है, त्रसजीव स्थावर । सब योनियो में जीव कर्म से पृथक्-पृथक् कल्पित है ।"

१३५—"नाना कर्मो से जीव विनियन्त्रित है ।"

१३६—जैनधर्मसम्बन्धी मूल बौद्ध सन्दर्भो पर द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५७१–७३ ।

वेयति।"[137] और इस प्रकार दु खमय ससार का कारण कर्म के द्वारा पुरुष स्वय है—"अत्तकडे दुक्खे नो परकडे नो उभयकडे "[138] और अपने ही प्रयत्न के द्वारा दु ख से मोक्ष भी सम्भव है—"पुरिसा तुममेव तुम मित्ता किं बहिया मित्तमिच्छसि।" (आयारग १ ३ ३)[139]। कर्म का सिद्धान्त जैनो मे विशेष विकसित हुआ और उत्तर काल मे नाना परिभाषाओ और विभाजनो के द्वारा अत्यन्त जटिल हो गया। किन्तु यह सम्भव है कि अष्टविध कर्म की धारणा प्राचीन निर्ग्रन्थो मे भी विद्यमान थी।

मृतक की गति के विषय में यह माना जाता था कि जीव के निर्वाण के पांच मार्ग है—पैरो से, ऊरुओं से, वक्ष से, सिर से और सर्वांग से। इन पाँच मार्गों से क्रमश पाँच प्रकार की गति होती है—निरय, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध। यह विचारणीय है कि उपनिषदो मे भी कुछ ऐसी धारणाएँ मिलती है।[140]

ससार से मुक्ति के लिए अपूर्व कर्म के आस्रव का निरोध और पूर्व कर्म का अपसारण आवश्यक है। इनमे पहली प्रक्रिया 'सवर' कहलाती है और दूसरी 'निर्जरा'। 'सवर' आध्यात्मिक जीवन का पूर्वांग है, निर्जरा प्रधानाग। 'सवर' में मुख्यतया पाँच महाव्रत सगृहीत थे। सामञ्जफल मे निगण्ठो के 'चातुय्यामसवर' का उल्लेख है। वस्तुत चातुर्याम अथवा 'चाउज्जाम' पार्श्व के अनुयायियो का सवर था। महावीर ने चतुर्विध सवर को पञ्चविध किया।

निर्जरा से तप अथवा शरीर को क्लेश देने की प्रक्रिया अभिहित होती है। जैनो की तपस्या का अतिशय सर्व-विदित है। स्वय महावीर की कृच्छ्र-चर्या इस विषय मे आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित है।[141] लाठ, वज्ज और सुम्ह मे वे १३ वर्ष से अधिक बिना आवास के घूमते रहे। नहाना, मुँह धोना, खुजलाना आदि उन्होने छोड दिया और मौन, एकान्त, प्रजागर, उपवास, शान्ति, निरन्तर ध्यान आदि का असाधारण अभ्यास किया। उत्तरज्झयण मे तप के पाँच आध्यात्मिक और पाँच बाह्य भेद बताये गये है।[142]

१३७—ठाणंग सूत्र १६६—६७ "कृत्य दु.ख है, 'स्पर्श' दु ख है, क्रियमाण-कृत दु ख है, जीव कर्म कर-करके दु ख भोगते हैं।"

१३८—"दु ख आत्मकृत है, न परकृत, न उभयकृत"

१३९—"पुरुषो ! तुम स्वयं अपने मित्र हो, अपने बाहर मित्र क्यो चाहते हो ?"

१४०—कठ, ६—१६, प्रश्न ३—७।

१४१—आयारग, १.९।

१४२—उत्तरज्झयण, ३०।

अनशन, अवमौदर्य, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और सन्तीरणा, ये पाँच भेद बाह्य तप के है, और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्यवसर्ग, ये पाँच भेद आतरिक तप के हैं।

निर्ग्रन्थो के और बहुत-से सिद्धान्त उत्तरकाल मे विकसित हुए। स्याद्वाद अथवा सप्तभगी नय को अपने सुविदित रूप मे महावीरकालीन नही माना जा सकता, किन्तु इस सिद्धान्त का दार्शनिक बीज अवश्य प्राचीन था। सजय बेलट्ठिपुत्त के अज्ञानवाद और बुद्ध के अव्याकृतवाद मे परमार्थ के विषय मे सत्, असत् आदि चारो कोटियाँ अनुपयोगी मानी जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मतो के विरोध मे प्राचीन निर्ग्रन्थ इन कोटियो को अगत उपयोगी मान कर उनका विरोध-परिहार करते थे। इस प्रकार का दार्शनिक अनेकान्तवाद पीछे सप्तभङ्गी नय मे विकसित हो गया। लेश्याओ का सिद्धान्त आजीवको से लिया होने के कारण प्राचीन रहा होगा, पर ज्ञान के पाच भेद, देह के प्रकार, परमाणुवाद तथा तत्त्वो और पदार्थों का निरूपण, ये क्रमश विकसित हुए और मुख्यत उत्तरकालीन थे। प्राचीन निर्ग्रन्थो मे जीव, कर्म और तपस्या, इन तीन पर ही आग्रह था और इसीलिए आयारग मे निर्ग्रन्थ के लिए कहा है—"से आयावाई लोगावाई कम्मावाई किरियावाई य।"[१४३] आध्यात्मिक साधन पर उनका अधिक ध्यान था, दार्शनिक पाण्डित्य पर कम।

बुद्ध की जीवनी—यह स्मरणीय है कि गौतम बुद्ध अपने जीवन-काल मे महापुरुष और तीर्थंकर माने जाते थे, न कि एक अलौकिक अवतार अथवा तत्त्व, जैसा कि बाद के भक्ति-प्रवण बौद्धो ने उन्हे समझा। इस कारण जहाँ बुद्ध भगवान् के पहले शिष्यो ने उनके उपदेशो का सग्रह ध्यान से किया, उनके जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त को उन्होने उतना महत्त्वशाली नही समझा। बाद के भक्तो ने उनकी जीवनी को अपनी श्रद्धा और सिद्धान्तो के अनुरूप कल्पना से मण्डित किया। परिणाम यह है कि बुद्ध के जीवन के विषय मे प्राचीन और ऐतिहासिक सामग्री अत्यन्त विरल है। जो जीवनियाँ मिलती हैं वे उत्तरकालीन तथा श्रद्धाप्रधान हैं।

पालि त्रिपिटक मे बुद्ध की सर्वांगीण जीवनी कही उपलब्ध नहीं होती। मज्झिमनिकाय के चार सुत्तो मे उनकी पर्येषणा का वर्णन मिलता है। सबोधि का वर्णन अनेकत्र निकायो मे और महावग्ग मे उपलब्ध होता है। महावग्ग मे सम्बोधि के बाद के कुछ समय का क्रमबद्ध इतिवृत्त भी दिया गया है। ऐसे ही महापरिनिब्बान सुत्तन्त

१४३—"वह आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी, क्रियावादी है।"

में निर्वाण और उसके कुछ पहले के समय का वर्णन मिलता है। महापधान सुत्त में बुद्ध की जीवनी को एक आदर्श साँचे मे कस दिया गया है। 'महापरिनिर्वाण' और 'महावदान' सूत्रो के सस्कृत रूप की न्यूनाधिक मात्रा मे मध्य एशिया मे प्राप्त हुए है (उ० अर्न्स्ट वाल्दश्मिन, दास महापरिनिर्वाणसूत्र, ३ भाग, बर्लिन, १९५१)। निदान-कथा बहुत बाद की है और उससे भी बाद के हैं जिनचरित और मालालकारवत्थु।

लोकोत्तरवादी विनय के अन्तर्भूत महावस्तु मे बुद्ध सम्बन्धी कथाएँ मिलती है।[144] ललितविस्तर मे बुद्ध की जीवनी दी गयी है।[145] यद्यपि ललितविस्तर अपने वर्तमान रूप में महायान सूत्र है, तथापि उसमे स्पष्ट ही अनेक स्थलो पर प्राचीन सन्दर्भ अवशिष्ट हैं। तिव्वती परम्परा के बुद्ध की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अश का रॉकहिल ने अग्रेजी मे अनुवाद किया है।[146] चीनी अनुवाद मे रक्षित 'अभिनिष्क्र-मणसूत्र' अधिकाश मे महावस्तु से मेल खाता है। अश्वघोष के बुद्धचरित मे बुद्ध की जीवनी काव्य के रूप मे प्रस्तुत है।[147]

मूल-जीवनी और 'विनय'—विभिन्न सम्प्रदायो के उपलब्ध विनयो के तुल-नात्मक अध्ययन के आधार पर फ्राउवाल्नर महोदय ने यह मत प्रस्तुत किया है[148] कि मूल विनय मे बुद्ध के जीवन-चरित का तथा विनय के नियमो का विवरण एक सूत्र में सम्बद्ध था। इस विनय का सम्पादन दूसरी सगीति के युग मे हुआ था। पीछे विनय के विभिन्न रूपो मे न्यूनाधिक मात्रा में बुद्ध के जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त विनय से पृथक् कर अन्य सग्रहो मे डाल दिये गये। उदाहरण के लिए, पालि विनय मे स्कन्धक के आरम्भ का बुद्ध चरित सम्बन्धी ही कुछ अश इस समय अपने मूल स्थान मे विद्यमान है। प्रारम्भ मे महापरिनिर्वाण सम्बन्धी वृत्तान्त स्कन्धक के अन्त मे था। पालि त्रिपिटक

१४४—महावस्तु, ई० सेनार (Schart) द्वारा ३ जिल्दो में सम्पादित (पेरिस, १८८२—९७)।

१४५—ललितविस्तर, राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, १८७७), लेफ-मान द्वारा परिष्कारपूर्वक सम्पादित (हाल, १९०२, १९०८), पी० एल० वैद्य द्वारा स० (मिथिला, १९५८)।

१४६—डब्ल्यू० डब्ल्यू राकहिल, दि लाइफ ऑव बुद्ध (कैगनपॉल)।

१४७—बुद्धचरित, ई० बी० कॉवेल द्वारा सम्पादित (आक्सफोर्ड, १८९३)।

१४८—ई० फ्राउवाल्नर, दि अर्लियेस्ट विनय एन्ड दि बिगिनिंग्स ऑव बुधिस्ट लिट-रेचर (१९५७)।

मे उसे वहा से निकाल कर दीघनिकाय मे डाल दिया गया।[149] सम्बोधि तथा उसके पहले का जीवन चरित भी मज्झिम आदि के उपर्युक्त सूत्रो में रख दिया गया है। महासांघिक एव मूल-सर्वास्तिवादी विनयो मे महापरिनिर्वाण सूत्र को सगीतियो के विवरण के प्रारम्भ मे देखा जा सकता है।[150] मूल-सर्वास्तिवादी विनय में सघभेद-वस्तु तथा क्षुद्रकवस्तु मे बुद्ध की जीवनी के अनेक अश सगृहीत है।[151] कालान्तर मे त्रिपिटक के बुद्धचरित सम्बन्धी अशो को सगृहीत कर निदानकथा, ललित-विस्तर, महावस्तु आदि की रचना हुई। इन ग्रन्थो मे भी बुद्ध की जीवनी असम्पूर्ण रूप मे ही पायी जाती है, जैसे कि त्रिपिटक मे। चीनी मे उपलब्ध एक बुद्ध की जीवनी के[152] अन्त मे इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है कि इस सूत्र को महासांघिक आचार्य महावस्तु कहते है, सर्वास्तिवादी आचार्य महाव्यूह अथवा ललितविस्तर, काश्यपीय आचार्य बुद्धजातकनिदान अथवा अवदान, धर्मगुप्तक आचार्य शाक्यमुनि-बुद्ध-चरित तथा महीशासक आचार्य विनयपिटकमूल। इन सभी मे बुद्ध के जन्म से लेकर उनके धर्म-चक्रप्रवर्तन तक का इतिहास सगृहीत है। जैसा कि महीशासक-सम्मत नाम प्रकट करता है, बुद्धचरित का यह प्रारम्भिक अश कदाचित् विनयपिटक का मूल एव स्कन्धक का आमुख था।

फ्राउवाल्नर महोदय का यह मत विचारोत्तेजक एव सभाव्य है। महापदान-सुत्तन्त से यह सिद्ध होता है कि महापरिनिर्वाण के अनन्तर सूत्रपिटक के वर्तमान रूप प्राप्त करने के पहले ही बुद्ध की जीवनी धर्मता से प्रतिनियत एक आदर्श के रूप मे कल्पित हो चुकी थी। किन्तु इस प्रकार की कल्पना ऐतिहासिक स्मृति के सरक्षण के लिए अधिक उपयोगी नही हो सकती थी। यह भी विचारणीय है कि महाभि-निष्क्रमण के पूर्व बुद्ध-जीवनी त्रिपिटक में कही भी सतोषजनक रूप मे उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि बुद्ध भगवान् के परिवार-सबधी नामादि-विस्तर मे परवर्ती विवरण एकमत नही है। यह भी स्पष्ट है कि ललित-विस्तर, बुद्धचरित आदि परवर्ती ग्रन्थो का आधार त्रिपिटक-गत—फ्राउवाल्नर के अनुसार मूल-विनय-गत—सामग्री

१४९–द्र०—फ्राउवाल्नर, वही, पृ० ४२ प्र०।

१५०–वही, पृ० ४४।

१५१–वही, पृ० ४७।

१५२–फु-पेन-शिग-चि-चिग (बुद्ध-पूर्व-चर्या-सग्रह-सूत्र), द्र०—नन्जियो संख्या ६८० स्तम्भ, १६३–६४।

थी। ऐसी स्थिति मे त्रिपिटक की सामग्री को ही सामान्यत' ललित-विस्तर आदि की प्रामाणिकता की परिविमानना चाहिए।[153]

प्रारम्भिक जीवन और साधना—जन्म से महाभिनिष्क्रमण तक—गौतम बुद्ध ने लगभग ई० पू० ५६३ मे शाक्यो की राजधानी कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन मे जन्म ग्रहण किया।[154] यह स्थान वर्तमान नेपाल राज्य के अन्तर्गत और भारत की सीमा से आजकल ५ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ पर अशोक का एक अभिलेख-युक्त स्तम्भ ई० १८९५ मे प्राप्त हुआ जिसमे लिखा मिलता हे "हिद बुधे जाते ति।" त्रिपिटक मे शाक्यो को अभिमानी और विशुद्ध जाति के क्षत्रिय बताया गया है।[155] यद्यपि उनको ब्राह्मणो का गौतम गोत्र दिया गया हे।[156] उनमे परस्पर निकट सम्बन्धो मे विवाह का उल्लेख उनका आर्येतरीय सम्पर्क भी सूचित करता है। हिमालय की तराई मे स्थित शाक्य जनपद कोशलराज के अधीन एक गणराज्य था जो कि विडूडम के आक्रमण तक प्राय स्वतन्त्र था। गण का शासन-कार्य छोटे-बडो की एक सभा के द्वारा होता था जो कि कपिलवस्तु के सस्थागार मे एकत्र होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गण का एक निर्वाचित प्रमुख होता था जिसे राजा कहा जाता था।[157]

१५३—बुद्ध की जीवनी पर आधुनिक पुस्तको मे द्र०—ई० जे० टॉमस, दि लाइफ ऑव् बुद्ध; ई० एच० ब्रूस्टर, दि लाइफ ऑव गौतम, द बुद्ध (पालिपरम्परा), रॉकहिल, पूर्व (तिब्बती परम्परा); एफ० बिगेन्डेट, लाइफ आर लेजेन्ड ऑव गौतम दि बुद्ध ऑव दि बर्मीज; एस० बील, रोमेन्टिक लेजेन्ड ऑव शाक्य बुद्ध; ऑग्जिन्स ऑव बुधिज्म, अध्याय १०।

१५४—बुद्ध की तिथि पर विद्वानो में प्रचुर विवाद रहा हे—द्र०—विन्टरनित्स, पूर्व० जि० २, पृ० ५९७, टॉमस, दि लाइफ ऑव् बुद्ध, पृ० २७।

१५५—द्र०—दीघ० का अम्बट्ठ सुत्त, जातकरो जि० १, पृ० ८८।

१५६—तु०—"उजु जनपदो राजा हिमवन्तस्स पस्सतो।
धनविरियेन संपन्नो कोसलेसु निकेतिनो॥
आदिच्चा नाम गोत्तेन साकिया नाम जातिया।"
(सुत्तनिपात—३ १ १८-१९)

महापरिनिब्बानसुत्तन्त में कुसिनारा में मल्ल 'वासिष्ठ' कहे गये हैं।

१५७—तु०—टी० डब्ल्यू० राइज डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया पृ० १९-२०।

बुद्ध के स्वजन और सम्बन्धियो के विषय मे उत्तरकालीन ग्रन्थ विविध और परस्पर असमजस सूचनाएँ देते है जिनके सत्यासत्य-निर्णय में प्राचीनतर विनय आदि ग्रन्थो से विशेष सहायता नही मिलती। महावग्ग से ज्ञात होता है कि बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन था।[१५८] एक स्थान पर उनकी माता का नाम माया दिया गया है।[१५९] महाप्रजापति गौतमी का विनय मे और निकायो मे अनेकत्र उल्लेख पाया जाता है। विनय मे उन्हे बुद्ध की मातृष्वसा (मौसी) कहा गया है।[१६०] दण्डपाणि से उनके सम्बन्ध का विवरण निकायो मे प्राप्त नही होता।[१६१]

बुद्ध के जन्मकालीन 'आश्चर्याद्भुत धर्मो' की कथाओ को प्राचीन नही माना जा सकता और न असित की भविष्यवाणी को ही ऐतिहासिक माना जा सकता है।[१६२] बुद्ध के बचपन और शिक्षा के विषय मे भी कोई प्रामाणिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नही होती और न उनकी पत्नी अथवा पत्नियो के विषय मे। राहुल नाम के भिक्षु का निकायो मे एकाधिक स्थान पर उल्लेख मिलता है, किन्तु बुद्ध के पुत्र के रूप मे नही। पर महावग्ग मे राहुलकुमार को उनका पुत्र कहा गया है। राहुलमाता का भी उल्लेख है।[१६३]

अभिनिष्क्रमण—उन्नीस वर्ष की अवस्था मे बुद्ध ने घर-बार छोड़कर अनागारता स्वीकार की।[१६४] यह घटना उनका 'अभिनिष्क्रमण' कहलाती है। परवर्ती विश्वास के अनुसार यह परिवर्तन अचानक घटा। बुद्ध को शुद्धोदन की आज्ञा से एक कृत्रिम ससार मे रखा गया था। देवदूतो के द्वारा प्रदर्शित जरा, रोग, मृत्यु और भिक्षु के दर्शन से उनके मन मे सहसा तीव्र उद्वेग उत्पन्न हुआ और उन्होने ससार-त्याग कर काषाय

१५८–विनय, ना० महावग्ग, पृ० ८६।

१५९–दीघ० ना० जि० २, पृ० ८।

१६०–विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० ३७४।

१६१–तु०—मललसेकर, जि० १, पृ० १०५३।

१६२–सुत्तनिपात, नालकसुत्त।

१६३–महावग्ग, ना०, पृ० ८६।

१६४–"एकूनतिंसो वयसा सुभद्द्य पब्बजि कि कुसलानुएसी।
वस्सानि पञ्चाससमाधिकानि यतो अह पब्बजितो सुभद्द॥"
(दीघ० महापरिनिब्बानसुत्तन्त)

धारण किया।[१६५] आध्यात्मिक सवेग का इस प्रकार अचानक जागरण अन्यत्र अविदित नही है, किन्तु जिस प्रकार की कथा बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध मे कही गयी है वह विश्वास नही प्रतीत होती। यह मानना कठिन है कि उन्तीस वर्ष की अवस्था तक वे जरा अथवा रोग से सर्वथा अपरिचित थे। और फिर सूत्र अथवा विनय मे अभिनिष्क्रमण के प्रसग मे इस कथा का अनुल्लेख उसकी अप्रामाणिकता में सन्देह बढाता है। प्राचीन सन्दर्भ देखने से प्रतीत होता है कि जरा, मृत्यु, रोग आदि पर चिन्तन से बोधिसत्त्व ने ससार की दु खमयता हृदयगम की और अनुत्तरशान्ति का पद खोजने का निश्चय किया। उनके ससार-त्याग के लिए प्रेरक विचारो को इस प्रचलित कथा मे एक नाटकीय घटना का रूप दिया हुआ प्रतीत होता हे। उत्तर काल मे जब गण-राज्य और शाक्यो के साधारण ग्रामीण जीवन की ऐतिहासिक स्मृति खो गयी थी, यह माना गया कि बुद्ध एक प्रतापी राजा के पुत्र थे और असाधारण समृद्धि और विलास मे पले थे। बुद्ध की कोई भी बात साधारण नही हो सकती। शुद्धोदन को अपने पुत्र की भावी प्रव्रज्या के विषय मे पहले ही चेतावनी मिल गयी थी। अतएव उन्होंने बोधिसत्त्व को यथार्थ से इतना दूर रखा कि केवल देवदूत[१६६] ही उन्हे यथार्थ तक लौटा सकते थे। इस सारे कथानक के निर्माण मे अनेक काल्पनिक कारण स्पष्ट है।

आर्यपर्येषणा—अनेक पूर्व-जन्मो के अर्जित पुण्य से अभिसस्कृत बोधिसत्त्व के चित्त मे जरा-मृत्यु आदि पर चिन्ता से जीवन की अनित्यता और निस्सारता प्रकट हो गयी तथा तीव्र वैराग्य और जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होने 'आर्यपर्येषणा' मे चरण धरे। वे कुशल की खोज मे, शान्ति की पर्येक्षणा में सलग्न थे (कि कुसलगवेसी अनुत्तर सन्तिवरपद परियेसमानो)[१६७] नाना स्थानो मे घूमते हुए, प्रसिद्ध आचार्यो

१६५–यथा, ललितविस्तर १४वाँ परिवर्त, बुद्धचरित, सर्ग ३।

१६६–यह उल्लेखनीय है कि निकायो में अनेक स्थलो पर जरा आदि को 'देवदूत' कहा गया है—अंगुत्तर (रो०) जि० १, पृ० १३८, १४२, मज्झिम (रो०) जि० २, पृ० ७५, जि० ३, पृ० १७९।

१६७–परवर्ती निदानकथा के अनुसार अभिनिष्क्रमण के समय आषाढी पूर्णिमा की रात थी और उत्तराषाढा नक्षत्र आकाश में विद्यमान था। प्रात काल तक कन्थक पर आरूढ बोधिसत्त्व शाक्य, कोलिय तथा मल्लो के जनपदो को पार कर अनोमा नदी के तीर पर पहुँच गये। बुद्धचरित के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले ब्राह्मण ऋषियो के आश्रमो में स्वर्गपरायण वानप्रस्थो को देखा और उनके धर्म से असन्तोष अनुभव किया।

से ज्ञान प्राप्त करते हुए, विविध साधन और तपश्चर्या में सलग्न, अन्तत. गया में ध्यान के अभ्यास से बोधिसत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया। इस 'पर्येपणा' में उनके छ. वर्ष व्यतीत हुए। जिन आचार्यो से उन्होने आध्यात्मिक शिक्षा पायी उनमे से कुछ के नाम प्राप्त होते हैं। आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र इनमें प्रधान थे। ललितविस्तर में ब्राह्मणी पद्मा और ब्रह्मर्षि रैवत के आश्रमो मे भी बोधिसत्त्व के ठहरने का उल्लेख है।[१६८] अश्वघोष ने बुद्धचरित में आलार कालाम को विन्ध्यकोष्ठ का निवासी कहा है और उनके सिद्धान्तो का विवरण प्रस्तुत किया है, यद्यपि यह ज्ञात नही है कि उन्होने किस प्राचीन आधार का सहारा लिया था।[१६९] इस समय उपलब्ध उससे प्राचीनतर ग्रन्थो मे कही भी कालाम के सिद्धान्तो का इस प्रकार वर्णन नही मिलता। ललितविस्तर में अराडकालाप का स्थान वैशाली मे बताया गया है। कालाम के विषय मे निकायो मे यही सूचना मिलती है कि उन्होने बोधिसत्त्व को 'आकिञ्चन्यायतन' नाम की 'अरूपसमापत्ति' की शिक्षा दी।[१७०] अश्वघोष के अनुसार कालाम ने जिस सिद्धान्त का उपदेश किया उससे कपिल, जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर ने मोक्षलाभ किया था। कालाम के उपदेश का साख्यदर्शन से सादृश्य स्पष्ट है। दोनो मे प्रकृति और विकृति, अव्यक्त और व्यक्त को परिणामी कहा है, तथा क्षेत्रज्ञ को इनसे पृथक् बताया है। और दोनो में अविद्या को छिन्न कर क्षेत्रज्ञ मोक्षलाभ करता है। किन्तु कालाम के उपदेश में अनेक अपूर्व लाक्षणिक शब्दो का उपयोग किया गया है तथा कई स्थानो पर सुविदित साख्य दर्शन से भेद है। पाँच भूत, अहकार, बुद्धि और अव्यक्त को प्रकृति कहा गया है। विषय, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन विकार कहे गये हैं। इसके विपरीत साख्य में अव्यक्त ही केवल प्रकृति है, शेष सब प्रकृति-विकृति अथवा विकृति। विप्रलय, सन्देह, अभिसम्प्लव, अविशेष, अनुपाय, सग और अभ्यवपात, इनको पारिभाषिक शब्द माना गया है जो कि—अविशेष और संग को छोडकर—साख्य मे अप्रसिद्ध हैं। अज्ञान, कर्म और तृष्णा को ससार-हेतु कहा गया है जो कि अनेक-दर्शन-साधारण है। ससार-निवृत्ति का मार्ग आकिञ्चन्यपरका अरूप-ध्यान बताया गया है। इसका साख्य-दर्शन की विवेक-ख्याति

१६८—ललितविस्तर, (सं० वैद्य) पृ० १७४।

१६९—बुद्धचरित, सर्ग १२।

१७०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३७७-७८।

से भेद है। बोधिसत्त्व ने इस मत का यह कह कर अस्वीकार किया कि जब तक क्षेत्रज्ञ के रूप मे आत्मा शेष है तब तक पुन संसार की प्रवृत्ति सम्भव है।

राजगृह मे बोधिसत्त्व का मगधराज बिम्बिसार से साक्षात्कार हुआ, इसका उल्लेख सुत्तनिपात के पब्बज्ज-सुत्त और ललितविस्तर मे है। ललितविस्तर में वहीं उद्रक रामपुत्र का आश्रम भी बताया गया है।[171] रामपुत्र ने नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन का उपदेश बोधिसत्त्व को दिया जिससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। यहाँ से पांच भद्रवर्गीय भिक्षु उनके साथ हो लिये।

गया मे विचरते बोधिसत्त्व को यह सूझा[172] कि जैसे गीली अरणियो के मन्थन से अग्नि का उत्पादन नही किया जा सकता, ऐसे ही भोगो मे आकर्षण और तृष्णा रहते हुए तपश्चर्या के द्वारा आर्य ज्ञान की प्राप्ति नही की जा सकती। किन्तु असग और वैराग्य रहने पर तप से ज्ञान की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से उन्होंने उरुबिल्व के निकट सेनापति ग्राम मे नैरञ्जना नदी के किनारे रमणीय प्रदेश मे 'प्रधान' अथवा तपश्चर्या का निश्चय किया। उन्होंने दाँतो से दांत भीचकर और तालु मे जिह्वा सटा कर इतना घोर तप किया कि चिल्ले जाडे मे भी उनके पसीना छूटता था, किन्तु इससे यद्यपि उत्साह और जागरूकता बढती थी, देह अशान्त हो जाती थी विरिय होति असल्लीन, उपट्ठिता सति असम्मुट्ठा, सारद्धो च पन म कायो होति अप्पटिपस्सद्धो।"[173] इसके पश्चात् उन्होने आश्वास-प्रश्वास रोककर अप्राणक ध्यान का अभ्यास किया ("सो खो अह • मुखतो च नासतो च अस्सासपस्साने उपरुन्धि।")[174] किन्तु इस प्राणायाम के अभ्यास से बोधिसत्त्व को तीव्र वेदना और जलन का अनुभव हुआ। बहुतो ने प्रखर तप से निश्चेष्ट पड़े हुए उनको देखकर समझा कि श्रमण गौतम की मृत्यु हो गयी है। इसके अनन्तर उन्होंने आहार छोड़ने का अभ्यास किया। फलत उनका शरीर अत्यन्त कृश तथा क्षीण हो गया और उनकी स्वाभाविक सवदात छवि काली पड गयी। इस स्थिति में उन्हें दुष्कर चर्या की व्यर्थता स्पष्ट दीखने लगी।

१७१—ललितविस्तर, (सं० वैद्य), पृ० १७४।

१७२—ये 'उपमाएँ' एवं दुष्कर चर्या का विवरण मज्झिम के बोधिराजकुमारसुत्त आदि स्थलो में उपलब्ध होता है तथा यह ललितविस्तर के विवरण के अत्यन्त सन्निकट है—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ३७९।

१७३—उदा०—मज्झिम ना०, जि० १, पृ० ३०१।

१७४—तु०—ललितविस्तर, पृ० १७४।

तपस्या छोड़ने के अनन्तर बोधिसत्त्व को बचपन में अनुभूत ध्यान का स्मरण हुआ और उन्होने उसे ही सम्बोधि का मार्ग निर्धारित किया। "तस्स मय्हमेतदहोसि अभिजानाभि खो पनाहं पितु सक्कस्स कम्मन्ते सीताय जम्बुच्छायाय निसिन्नो विविचेव कामेहि···पठमज्झान उपसम्पज्ज विहरता, सिया नु खो एसो मग्गो बोधायाति। तस्स मे सतानुसारि विञ्जाण अहोसि एसो व मग्गो बोधायाति।"[१७५] और साथ ही उन्होने अपना ध्यान-सुख का भय छोड दिया क्योकि इस सुख का आधार न भोग-लालसा थी, न अपुण्य। "किन्तु अह तस्स सुखस्स भायामि, य त सुख अञ्जत्रेव कामेहिं अञ्जत्र अकुसलेहि धम्मेहि।"[१७६] किन्तु भूख, प्यास और थकान में मन स्वस्थ और एकाग्र नही रहता और न "ध्यानयोग" में प्रवृत्त होता है। अतएव बोधिसत्त्व ने अनाहार का त्याग किया। इस प्रकार छ साल के कठोर तप का अन्त हुआ, जिस पर उनके साथ के पाँच भद्रवर्गीय भिक्षुओ ने उन्हें साधन से भ्रष्ट मानकर छोड़ दिया।

उत्तरकालीन बौद्ध परम्परा के अनुसार ध्यान-सलग्न बोधिसत्त्व को मार और उसकी सेना का सामना करना पडा। प्राचीन पालि सन्दर्भो मे मार का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु सम्बोधिप्राप्ति के क्रमबद्ध विवरण में मार-धर्षण का स्पष्ट उल्लेख नही प्राप्त होता।[१७७] इस कारण कुछ विद्वानो का मत है कि मार-विजय की यह कथा उत्तरकालीन कल्पना है। अन्य विद्वानो ने इस अश्रद्धा का विरोध किया है। इस प्रसंग में श्री राइसडेविड्स ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि मार की कथा में एक आध्यात्मिक व्यापार का बाह्य इतिवृत्त के रूप में चित्रण है।[१७८] पालि-साहित्य मे मार को कही मृत्यु और कही काम अथवा सांसारिक प्रलोभन के रूप में समझा गया है। निवृत्ति-मार्ग की दृष्टि से काम और मृत्यु का निविड सम्बन्ध सुबोध है। यह

१७५—मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० २४७—"तब मुझे हुआ कि मुझे अपने पिता शाक्य के कर्मान्त में जामुन की ठंडी छाँह में प्रथम ध्यान की प्राप्ति का स्मरण है, कदाचित् वही बोधि का मार्ग हो। उस समय स्मृति के अनुसार ही मेरा मन हुआ कि यही बोधिमार्ग है।"

१७६—मज्झिम, वही—"मै उस सुख से क्यो डरूँ जो काम एवं अकुशल धर्मों से सम्बद्ध नहीं है।"

१७७—तु०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३८१–८२।

१७८—तु०—टॉमस, पूर्व०, पृ० २३०।

स्मरणीय है कि कठोपनिषद् मे यम अथवा मृत्यु नचिकेता के रूप मे जिज्ञासु को नाना प्रलोभन देकर ज्ञान से वञ्चन का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यह सम्भव है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए सासारिक आकर्षणो के साथ जो आध्यात्मिक अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य है, उसका ही मार-घर्षण की कथा मे एक कल्पित नाटकीय रूप प्रस्तुत किया गया है।

यह स्मरणीय है कि एक प्रकार से आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र ने भी बुद्ध को ध्यान की शिक्षा दी थी क्योकि अरूप-समापत्तियो की प्राप्ति के लिए रूप-धातु का अतिक्रमण आवश्यक है और काम-धातु से रूपे-धातु मे प्रवेश ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार ध्यान के क्रमश सूक्ष्म होने से, वितर्क, विचार, प्रीति और सुख के निरोध के द्वारा चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति और फिर रूप-सज्ञा के अतिक्रमण से आकाशानन्त्यायतनादि अरूप समापत्तियो का लाभ होता है। किन्तु बुद्ध भगवान् ने चतुर्थ ध्यान के अनन्तर सम्बोधि का लाभ किया। यहाँ पर यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जो ध्यान-योग बोधिसत्त्व ने अरूप समपत्तियो के लिए सीखा और वह ध्यान जिसका पहला अनुभव उन्होंने अपने पिता के उद्यान मे जामुन की छाया मे किया था और जिसके अभ्यास से गया मे न्यग्रोध के नीचे उन्हे सम्बोधि प्राप्त हुई, इन दो ध्यान-योगो मे क्या भेद था। वस्तुत यहाँ पर भेद ध्यान के लक्ष्य मे ही मानना चाहिए। शकराचार्य का कहना है कि समस्त आध्यात्मिक साधन का रहस्य लक्ष्य-चिन्तन में ही है, यद्यपि एक अवस्था के बाद अचिन्तन ही शेष रहता है।[१७९] ध्यान का मर्म यही है—किसी लक्ष्य की ओर चित्त को बार-बार लगाना जब तक कि चित्त स्वय उसकी ओर निरन्तर प्रवाहित होने लगे।[१८०] किसी विषय पर चित्त के बार-बार लगाने को बौद्धो ने 'वितर्क' की सज्ञा दी है, और उस विषय पर चित्त के निरन्तर प्रवाह को 'विचार' की।[१८१] ऐसे एकाग्रभूमिक चित्त के समाहित होने के प्रसग मे पहले मौन (वाक्सस्कारनिरोध) के साथ-साथ चित्त की जडता और चचलता के तात्कालिक उपशम के कारण सात्त्विक सुख और सुख का आमग, जिसे बौद्धो ने 'प्रीति' कहा है, उत्पन्न होते हैं। यह प्रथम ध्यान की अवस्था है, पर क्रमश वितर्क, प्रीति और सुख के निरोध से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान की अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। साथ ही

१७९—गीता, २.५४ तथा ६.२५ पर भाष्य।

१८०—यथा योगसूत्र—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' दे०—नीचे।

१८१—ध्यान पर द्र०—विसुद्धिमग्गो (बम्बई, १९४०) पृ० ९५-९६; अभिधर्मकोश ८म कोशस्थान।

साथ समाहित होने से चित्त की स्वाभाविक शक्ति का उन्मेष होता है और ध्यान के मूल लक्ष्य के अनुरूप ज्ञान और विभूति का आविर्भाव होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समकालीन अनेक आचार्यगण ध्यान और समाधि का उपयोग रूप-धातु और अरूप-धातु के नाना-लोको की प्राप्ति के लिए करते थे। अतएव परवर्ती बौद्ध आचार्यो ने इस प्रकार के ध्यान और समाधि को 'लौकिक' और 'सास्रव' कहा है।[१८२] यह स्मरणीय है कि अश्वघोष के अनुसार अराड कालाम के योग का लक्ष्य किसी देव-लोक की प्राप्ति न था, अपितु आत्मा की देह से मुक्ति था। किन्तु आत्मपरक होने के कारण परवर्ती बौद्ध दृष्टि से ऐसा योग भी 'सास्रव' ही कहलायेगा। साधारण तौर से चतुर्थ ध्यान मे स्थित रहने से 'बृहत्फल' नामक देवताओ के लोक की प्राप्ति होती थी तथा इस ध्यान की रूपसज्ञा का अतिक्रमण करने पर सूक्ष्मतर आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती थी। किन्तु अतिशय पुण्यात्मा, त्रैधातुकविरक्त, अनुत्तर शान्ति-पद-गवेषी बोधिसत्त्व चतुर्थ ध्यान मे अपने विशुद्ध और निश्चल चित्त के अभिनिर्हार के द्वारा रात्रि के तीन यामो में तीन विद्याएँ प्राप्त कर उष काल मे सर्वज्ञ सम्बुद्ध हो गये।

सम्बोधि—रात्रि के प्रथम याम मे उन्होने पूर्व जन्मो की स्मृतिरूपी पहली विद्या प्राप्त की। रात्रि के मध्यम याम में उन्होने दिव्य चक्षु प्राप्त किया और उसके द्वारा समस्त लोक को अपने कर्मों का फल अनुभव करते देखा। रात्रि के तृतीय याम मे उन्होने प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया जिससे उन्होने सत्य को आपातत. दो पक्षो मे विभक्त देखा—एक ओर अनित्य, परतन्त्र और सापेक्ष ससार, दूसरी ओर चिर-शान्त निर्वाण। एक मत से यह 'त्रैविद्यता' ही बुद्ध की सर्वज्ञता थी। मतान्तर से प्रतीत्यसमुत्पाद के समानान्तर सर्वधर्माभिसमय रूप सर्वाकारक प्रज्ञा अथवा सम्बोधि का उदय हुआ।[१८३] जिस प्रकार पहाड की चोटी से कोई नीचे देखे ऐसे ही सम्यक् सम्बुद्ध ने धर्ममय प्रासाद से शोकमग्न ससार को देखा।[१८४] सम्बोधि के बाद बुद्ध के

१८२–यथा, अभिधर्मकोश, ८.६ प्र०।

१८३–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४५८–६४, ललित, पृ० २५०–५४। अभिधर्मकोश, ६.६७, महाव्यानसूत्रालंकार (सं० लंवि), ९।

१८४–"सेले यथा पब्बतमुद्धनिट्ठितो यथापि पस्से जनतं समन्ततो।
तथूपमं धम्ममयं सुमेध पासादमारुय्ह समन्तचक्खु।
सोकावतिण्णं जनतं अपेतसोको अवेक्खस्सु जातिजराभिभूतं।"
(मज्झिम ना०, १.२१८, सयुत्त ना० १.१३.८) तु० योगभाष्य, सूत्र २.४७ पर।

प्रथम वचन के विषय मे बौद्ध परम्परा एक मत नही है। महावग्ग और उदान मे उस गाथा को बुद्ध का प्रथम उदान बताया गया है—"यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स । अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा यतो पजानाति सहेतुधम्म ॥" जिसका इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है—

अर्थात् "धर्मों का होता जब प्रादुर्भाव
संशय सारे हो जाते संछिन्न
आतापी ध्यायी ब्राह्मण के, क्योकि
जाना उसने धर्म हेतु-सभिन्न ॥"[१८५]

किन्तु दी घभाणक और बुद्धघोष के अनुसार बुद्ध के प्रथम वचन धम्मपद की इन गाथाओ से रक्षित है —

"अनेकजातिसंसारं सधाविस्स अनिब्बिसं,
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि,
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं,
विसंङ्खारगतं चित्तं तण्हाणं खयमज्झगा ॥"[१८६]

अर्थात् "बहुत जन्म संसृति में सन्धावित हो अविरत,
गृहकारक को खोजा बार-बार जीवित मृत,
दीख गये, गृहकारक, अब न बना सकते घर,
भग्न हुईं सब कड़ियाँ गिरता टूट गृह-शिखर,
संस्कारो से मुक्त चित्त, तृष्णा अशेष गत।"

ललितविस्तर मे पहला उदान इस प्रकार दिया है—"छिन्नवर्त्मोपशान्तरजा[१८७] शुष्का" आस्त्रवा न पुन श्रवन्ति। छिन्ने वर्त्मनि वर्तत दु खस्यैपोऽन्त उच्यते।

अर्थात् "छिन्न हो गया वर्त्म, शान्त रज,
रुद्ध हो गये आस्रव शोषित।
छिन्न हो गया वर्त्म और यह
दुख का अन्त हो गया अभिहित।"

१८५—विनय ना०, महावग्ग, पृ० ३, खुद्दक ना० जि० १, ६३–६५ (उदान)
१८६—धम्मपद—खुद्दक ना० जि० १, पृ० ३७।
१८७—ललित, पृ० २५३।

तिब्बती विनय मे एक और उदान दिया हुआ है। इस परम्परागत वैमत्य से स्पष्ट है कि सम्बुद्ध की प्रथमोक्ति का उत्तरकाल मे यथावत् स्मरण शेष नही रहा है।

विनय के अनुसार सम्बोधि के अनन्तर चार सप्ताह तक बुद्ध विमुक्ति-सुख-प्रतिसवेदी होकर बद्धासन बने रहे। कुछ परवर्ती ग्रन्थो के अनुसार यह समय सात सप्ताह अथवा एक सप्ताह का था। महावग्ग मे इस विमुक्ति-सुख-प्रतिसवेदन के अनन्तर तपुस्स और भल्लिक नाम के दो व्यापारियो के सर्वप्रथम उपासक बनने का उल्लेख है। इसके अनन्तर ब्रह्मयाचन का वर्णन है।[१८८] किन्तु मज्झिम के सुत्तो मे सम्बोधि के समनन्तर ही ब्रह्मयाचन उल्लिखित है, बीच मे विमुक्ति-सुख का प्रतिसवेदन अथवा तपुस्स और भल्लिक का उल्लेख नही है।[१८९]

बुद्ध के मन मे यह सशय उत्पन्न हुआ कि "अधिगतो खो म्यानं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवेदनीयो। आलयरामा खो पनाय पजा आलयरता आलयसम्मुदिता। आलयरामायखो पन पजाय... दुद्दस इद ठान यदिद इदप्पच्चयता-पटिच्चसमुप्पादो, इद पि खो ठान सुदुद्दस यदिद .. निब्बान। अह चैव खो पन धम्म देसेय्य, परे च मे न आजानेय्यु, सो ममस्स किलमथो, सा ममस्स विहेसा।[१९०] और उन्हें ये गाथाएँ सूझी "किच्छेन मे अधिगत हलदानि पकासितु। राजदोसपरेतेहि नाय धम्मो सुसम्बुधो॥ पटिसोतगामि निपुण गम्भीर दुद्दस अणु। रागरत्ता न दक्खन्ति तमोखन्धेन आवुटा ति"।[१९१] बहुत कष्ट से बुद्ध ने जिस

१८८–विनय, ना० महावग्ग, पृ० ६–१०।

१८९–आ० मज्झिम, ना० जि० १, पृ० २१८–१९, तु० संयुत्त ना०, जि० १, पृ० १३६–३९।

१९०–अर्थात् "मुझे यह गम्भीर, दुरवलोक्य, दुर्बोध, शान्त, उत्तम, अतर्कगोचर, सूक्ष्म एवं पण्डित वेद्य धर्म प्राप्त हुआ है। आलयरत जनता के लिए इदम्प्रत्ययतारूप प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निर्वाण दुर्बोध है। यदि मैं धर्म का उपदेश करूँ और लोग न समझें तो परिश्रम एवं आभासमात्र होगा।" (मज्झिम ना०, जि० १, पृ० २१७)।

१९१–अर्थात् "मुझे कठिनाई से प्राप्त हुआ (धर्म) प्रकाशित करना व्यर्थ है। राग-द्वेष से, अभिभूत (लोगो के लिए) यह धर्म सुबोध नहीं है। प्रतिस्रोतगामी, सूक्ष्म, गंभीर, दुर्बोध, अणु (धर्म) को रागरक्त एवं तमःस्कन्ध से आवृत्त (लोग) नहीं देखेंगे।"

अतर्क्य और सूक्ष्म परमार्थ का बोध प्राप्त किया था उसे राग, द्वेष और मोह से अधि-भूत, संसार के प्रवाह में बहते हुए मनुष्य किस प्रकार समझ पायेंगे और उनमें धर्म-प्रचार का प्रयत्न क्या सर्वथा निष्फल न होगा—इस प्रकार का संशय और धर्म प्रव-र्तन की ओर अनभिरुचि बुद्ध के मन में स्वभावत उदित हुई। परम्परा के अनुसार बुद्ध के अनौत्सुक्य को देखकर ब्रह्मा उनके सम्मुख प्रकट हुए और उन्होंने कहा—धर्ममय प्रासाद से शोकावतीर्ण जनता को देखिए और धर्म का उपदेश कीजिए, जानने-समझने वाले भी होंगे। ब्रह्मा की याचना से बुद्ध ने जीवों पर करुणा कर बुद्धचक्षु से लोक को देखा और पाया कि जैसे सरसी (तलैया) में कुछ कमल जल से अनुद्गत, कुछ समोदक और कुछ जल से अभ्युद्गत होते हैं, ऐसे ही जीव भी संसार में आध्यात्मिक विकास की नाना अवस्थाओं में हैं।[192] कुछ संसारी सुविज्ञाप्य हैं, कुछ दुर्विज्ञाप्य। यह देखकर बुद्ध ने धर्म-देशना स्वीकार की।

इस 'घटना' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। एक मत यह है कि वस्तुत बुद्ध को एक देवता ने संसारियों का 'उत्पल-सादृश्य' दिखाया और आध्यात्मिक विकास के धर्म के प्रचार के लिए प्रेरित किया।[193] यह मत मूल-सन्दर्भों का सर्वथा तिरस्कार करने से अग्राह्य है। एक अन्य मत यह है कि सर्वज्ञ बुद्ध को संशयापन्न होना ब्रह्मा के द्वारा इस संशय का निराकरण असम्भव है। वस्तुत बुद्ध ने यह निश्चय किया कि वे अतर्क्य निर्वाण के विषय में मौन धारण करेंगे और केवल मार्ग की देशना करेंगे।[194] यह निष्कर्ष भी मूल-सन्दर्भ से पुष्ट नहीं होता।

वस्तुत ब्रह्मयाचन से और करुणा से संसार को देखकर धर्मदेशना के लिए बुद्ध का स्वीकृति देना महायान का आध्यात्मिक जन्म मानना चाहिए। ज्ञानी के लिए अज्ञा-नियों का उद्धार और गुरु-पद का स्वीकार आवश्यक कर्तव्य बन जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो संसार में अलौकिक ज्ञान की परम्परा कभी बन ही न पाती। सम्यक्

१९२—ललित, पृ० २९२ में ये तीन प्रकार के कमल तीन प्रकार के जीवों की ओर संकेत करते हैं—मिथ्यात्वनियतराशि, अनियतराशि और सम्यक्त्वनियत०। उपदेश की आवश्यकता केवल अनियतराशि के लिए है।

१९३—श्रीमती रीजडेविड्स, वट वॉज़ दि ऑरिजिनल गॉस्पेल इन बुद्धिज्म, पृ० १६।

१९४—नलिनाक्षदत्त, अर्ली मॉनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० १००।

सम्बुद्ध के चित्त मे करुणा का विकास एक अनिवार्य घटना थी। अपनी ही मुक्ति से सन्तुष्ट रहने का प्रलोभन तथा धर्म-प्रवर्त्तन के प्रति निराशा बुद्ध के चित्त मे सम्भाव्य न होते हुए भी ब्रह्मयाचन के इस नाटकीय विवरण मे तिरस्कार्य पूर्व पक्ष के रूप में कल्पित की गयी थी जिससे प्राकृत जन की बुद्धि और अभिसम्बुद्ध धर्म की दूरी स्पष्ट हो सके और यह भी प्रकट हो जाये कि बुद्ध की करुणा-प्रसूत देशना के अतिरिक्त इस दूरी को पाटने का और कोई साधन नही है।[१९५] ललितविस्तर का वर्णन अधिक विस्तृत और स्वयव्याख्यात है। बुद्ध के मन मे कोई वास्तविक विचिकित्सा अथवा सकोच नही था, किन्तु उनके मन का वितर्क ब्रह्मा को प्रेरित करने के लिए आहार्य था क्योकि बुद्ध विना अध्येषणा के उपदेश नही देते।

धर्म-चक्र-प्रवर्तन—बुद्ध ने पहली देशना के युक्ततम पात्र आलार कलाम और उद्रकरामपुत्र को माना, किन्तु उनका देहान्त इससे पूर्व ही हो गया था। उनके वाद उपदेश्यता की दूसरी कोटि में बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओ को रखा जो उन्हे छोडकर चले गये थे। इन भिक्षुओ से मिलने बुद्ध वाराणसी गये और वहाँ ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) मे उन्होने पहला धर्मोपदेश कर धर्मचक्रप्रवर्त्तन किया। इस प्रथम उपदेश का ठीक जिस रूप मे वर्णन इस समय उपलब्ध होता है उसका पूर्णतया प्रामाणिक होना सन्दिग्ध है।[१९६] दो अन्तो का परिवर्जन तथा मध्यमा प्रतिपद् की आश्रयणीयता, इतना ही मूल उपदेश का निश्चित शेष है।[१९७] किन्तु इस मध्यमाप्रतिपद् का अष्टाग मार्ग के साथ तादात्म्य स्थापित करना तथा उसके अनन्तर चार आर्य सत्यो का सविस्तार और रीतिबद्ध वर्णन उत्तरकालीन सन्निवेश प्रतीक होता है, जो कि मूल उपदेश के कुछ अश को लुप्त कर स्वय उसका स्थानापन्न हो गया है।

१९५–तु०—प्लेटो का 'कालाबासिस' (रिपब्लिक, ५२० सी)।

१९६–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० २२७–२८।

१९७–"द्वाविमौ भिक्षवः प्रव्रजितस्यान्तावकर्म्यौ। यश्च कामेषु कामसुखल्लिकायोगो हीनो ग्राम्यः पार्थजनिको नालमार्योऽनर्थोपसंहितो नायत्यां ब्रह्मचर्याय न निर्विदे न विरागाय न निरोधाय नाभिज्ञाय न सम्बोधये न निर्वाणाय संवर्तते। या चेयममध्यमा प्रतिपदा आत्मकायक्लमथानुयोगो दु.खोऽनर्थोपसंहितो दृष्टधर्मदु.खश्चायत्यां च दु.खविपाकः। एतौ च भिक्षवो द्वावन्तावनुपगम्य मध्यमयैव प्रतिपदा तथागतो धर्मं देशयति।" (ललित, पृ० ३०३)

बुद्ध की देशना से पचवर्गीय भिक्षुओ ने अर्हत्त्व प्राप्त किया और इस प्रकार लोक मे छ अर्हत् हुए। वाराणसी में यश नाम के श्रेष्ठिपुत्र की प्रव्रज्या का भी उसके अनतिचिर सम्पन्न होने का उल्लेख महावग्ग मे प्राप्त होता है। इसके पश्चात् यश के सम्बन्धियो और मित्रो ने नये धर्म को स्वीकार किया और वाराणसी मे अनेक बौद्ध उपासक और भिक्षु बन गये। इस प्रकार बुद्ध के अतिरिक्त साठ और अर्हत् उस समय थे। इनको बुद्ध ने नाना दिशाओ में धर्म-प्रचार के लिए भेज दिया और स्वय उरुवेला के सेनानिगम की ओर प्रस्थान किया। मार्ग मे उन्होने तीस भद्रवर्गीय कुमारो को धर्म-देशना दी। उरुवेला मे उन्होने तीन जटिल काश्यपो को और उनके एक सहस्र अनुयायियो को प्रातिहार्य तथा देशना के द्वारा सद्धर्म मे प्रवेशित किया। इसके अनन्तर बुद्ध राजगृह गये और वहाँ राजा बिम्बिसार को धर्म का उपदेश दिया। बिम्बिसार ने भिक्षु-सघ को वेणुवन उद्यान का उपहार दिया। राजगृह मे सजय नाम के परिव्राजक आचार्य के दो शिष्य थे जो पीछे शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। अश्वजित् से "ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतुं तथागतो आह। तेस च यो निरोधो एववादी महासमणो ॥"[१९८] यह सुनकर शारिपुत्र सद्धर्म मे श्रद्धावान् हुए। उनसे यह गाथा मौद्गल्यायन ने सुनी और दोनो ने बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया। महावग्ग में सम्बोधि के बाद की घटनाओ का क्रम-बद्ध विवरण यहाँ समाप्त हो जाता है।

बौद्ध परम्परा मे उन स्थानो के नाम गिनाये गये है जहाँ बुद्ध ने प्रतिवर्ष वर्षावास व्यतीत किये थे। उनकी सूची इस प्रकार है—पहला वर्षावास वाराणसी मे, दूसरा चौथा राजगृह मे, ५वाँ वैशाली में, ६वाँ मकुलगिरि में, ७वाँ तावतिंस लोक मे, ८वाँ सुंसुमार (शिशुमार) गिरि के निकट मर्ग प्रदेश मे, ९वाँ कौशाम्बी मे, १०वाँ पारिलेय्यक वन में, ११वाँ नालाग्राम में, १२वाँ वेरञ्ज में, १३वाँ चालियगिरि में, १४वाँ श्रावस्ती मे, १५वाँ कपिलवस्तु मे, १६वाँ आलवी मे, १७वाँ राजगृह मे, १८वाँ चालिय गिरि मे, १९वाँ राजगृह में। इसके अनन्तर श्रावस्ती मे ही बुद्ध ने वर्षावास व्यतीत किये। इस परम्परा में कल्पना ने हाथ बँटाया है, यह तो तावतिंस के उल्लेख से स्पष्ट है। शेष की प्रामाणिकता सम्भव होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में असमर्थित होने से अनिश्चित ही रहती है।

सम्बोधि-लाभ के पश्चात् ८० वर्ष की आयु तक बुद्ध सद्धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर प्रदेश और बिहार के जनपदो में घूमते रहे। सब से अधिक उनका निवास

१९८—अर्थात्, 'जो धर्म हेतुप्रभव है उनके हेतु एवं उनके निरोध का तथागत ने उपदेश दिया है।' यह गाथा बौद्धों में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

श्रावस्ती में हुआ और उसके बाद राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु मे। समाज के नाना वर्गों से उनके अनुयायी बने और उपासको और उपासिकाओं, भिक्षुओं और भिक्षुणियो में सद्धर्म का प्रभाव बढता गया। सद्धर्म के पहले अनुयायी काशी के पाँच ब्राह्मण तपस्वी थे और उनके बाद काशी का श्रेष्ठि-वर्ग। भिक्षुओ की विशेष संख्या-वृद्धि पहले मगध में हुई जब गया के एक सहस्र जटिल साधु भिक्षु बन गये और जब राजगृह में सजय परिव्राजक के चेलो ने सघ मे प्रवेश किया। मगध मे राजा बिम्बिसार का बुद्ध में श्रद्धालु होकर सघ को वेणुवन का उपहार देना सद्धर्म की प्रगति का एक नया चरण था। अजातशत्रु बुद्ध की ओर अनुकूल नही था, यद्यपि बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बहुत पीछे श्रामण्यफलसूत्र सुन कर उसका मन बदला था। मगध के ब्राह्मणो में बुद्ध को अधिक सफलता प्राप्त नही हुई ऐसा प्रतीत होता है। श्रेष्ठियो और गृहपतियो से अनेक उपासक बने। इस प्रसार मे बिम्बिसार की अनुकूलता एक प्रधान कारण थी।

कोशल मे राजा प्रसेजनजित् बुद्ध के अनुग थे और उनसे अधिक रानी मल्लिका बुद्ध मे श्रद्धा रखती थी।[११९] फलत. राजकुल में और भी सद्धर्म के अनुयायी बने। श्रेष्ठियो में कोटिपति अनाथपिण्डिक और विशाखा का उपासक बनना सद्धर्म की बहुत बडी विजय थी। अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती में भिक्षु सघ को जेतवन विहार का दान किया और विशाखा ने पुब्बाराम-मिगारमातुपासाद का। कोशल के अनेक प्रभावशाली और समृद्ध ब्राह्मणो ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। कोशल के इन ब्राह्मणो में अग्निक भारद्वाज, पुष्करसादी, धानञ्जनि आदि मुख्य थे। श्रावस्ती आजीवको का केन्द्र थी, पर वहाँ के परिव्राजको से भी कुछ ने सद्धर्म का अनुसरण किया।

शाक्यगण पहले बुद्ध के प्रति अनुकूल नही थे। पर कहा जाता है कि पीछे प्रातिहार्य-दर्शन से शाक्यो की दृष्टि बदली। राहुल की प्रव्रज्या का उल्लेख विनय मे प्राप्त होता है। जैसे श्रावस्ती आजीवको का केन्द्र थी, वैशाली निर्ग्रन्थो का। लिच्छवियो मे महावीर के प्रभाव के कारण बुद्ध का प्रभाव सीमित रहा। बुद्ध स्वय वैशाली के गण-राज्य के बहुत प्रशसक थे और यह सम्भव है कि उनके भिक्षु-सघ का सगठन इस गण-राज्य के आदर्श पर प्रतिष्ठित हुआ हो। निर्ग्रन्थ उपासक लिच्छवि सेनापति सिंह को अपना अनुयायी बनाना बुद्ध की बड़ी विजय थी। शिशुमार गिरि के भर्गो से अभय राजकुमार और नकुल के माता-पिता ने सद्धर्म का ग्रहण किया।

११९—तत्कालीन विशिष्ट व्यक्तियों के चरित पर द्र०—मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्ज़, २ जिल्द।

कोलियो मे से सुप्पावासा (सुप्रावासा ?) प्रसिद्ध उपासिका थी। मल्लो मे दर्व (दव्व) और चुन्द सुविदित है।

भगवान् बुद्ध ने धर्म की देशना कोशल, मगध और उनके पडोसी गण-राज्यो मे की और समाज के सभी वर्गों और जातियो से उनके अनुयायियो की सख्या बढी। महाप्रजापति गौतमी और आनन्द के कहने से उन्होने स्त्रियो को भी सघ मे स्थान दिया। मुख्यतया भिक्षुओ का धर्म होते हुए भी उनकी देशना और मार्ग मे उपासको का स्थान था। ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड, पशु-वध, बाहरी आचार, जातिवाद आदि का उन्होने विरोध किया और 'ब्राह्मण' की कर्मानुसारी नैतिक परिभाषा प्रस्तुत की। तथापि अनेक जिज्ञासु ब्राह्मणो ने उनका अनुसरण किया, यद्यपि एक कट्टरपन्थी पुरोहित-वर्ग उनके विरोध मे बना रहा। पर यह स्मरणीय है कि बुद्ध स्वय ब्राह्मणो का धन-मान, आदि उनसे छीन कर किसी और जाति अथवा सामाजिक वर्ग को नही देना चाहते थे। भिक्षुसघ चातुर्दिश था और कम से कम बुद्ध के समय में भिक्षु सोना-चाँदी आदि की भिक्षा भी ग्रहण नही कर सकते थे। और उनके विनय-विहित जीवन में भोग की सम्भावना प्रयत्नपूर्वक निराकृत की गयी है। समृद्ध श्रेष्ठियो, क्षत्रियों और राजाओ मे से सद्धर्म के अनेक उपासक बने। अन्य वर्गों से भी बुद्ध ने अनुयायी पाये जैसा कि पावा के चुन्द कर्मारपुत्र के उदाहरण से पता लगता है। डाकू अगुलिमार और गणिका आम्रपाली ने भी बुद्ध की शरण पकडी। भिक्षु-सघ मे किसी भी जाति के लोग, हीनजातीय भी, प्रवेश पा सकते थे। उस काल की अल्प-शेष सामग्री मे यदि दरिद्र और साधारण उपासको अथवा भिक्षुओ के नाम बहुत सख्या मे कीर्तित नही किये गये है तो अचम्भा न होना चाहिए। किन्तु धर्म तथा विनय किसी विशेष सामाजिक वर्ग का पक्षपात नही करते, यद्यपि समाज के विशिष्ट समर्थ तथा धनी व्यक्तियो के साहाय्य का स्मरण अवश्य करते है। यह स्मरणीय है कि ज्ञान की पुरानी ब्राह्मणपरम्परा मे भी जाति-निरपेक्षता थी, यथा 'किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।" (काठकसंहिता)[200]

परिनिर्वाण—महापरिनिब्बान सुत्त, जिसमे परवर्ती प्रक्षेप, परि[illegible] [illegible] परिवर्तन पर्याप्त है, बुद्ध के परिनिर्वाण की कथा का वर्णन करता है।[201] [illegible]

२००—अर्थात् "ब्राह्मण के पिता या माता को क्या पूछते हो, यदि उसमें श्रुति या ज्ञान है, तो वही पिता है, वही पितामह है।"
२०१—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ९८–१०६ [illegible] पूर्व।

गृह मे थे जब अजातशत्रु वज्जियो पर अभियान करना चाहता था। मगध के महामात्र ब्राह्मण वर्षकार ने बुद्ध से इस विषय पर पूछा। बुद्ध ने वज्जियो के सात 'अपरिहाणीय धर्म' बताये जिनके रहते वे अपराजेय थे। राजगृह से बुद्ध पाटलिग्राम होते गगा पार कर वैशाली पहुँचे। इस समय परिनिर्वाण के तीन मास शेष थे। वैशाली मे आम्रपाली गणिका ने उनको भिक्षु-सघ के साथ भोजन कराया। भगवान् ने वर्षावास समीप के वेलुवग्राम मे व्यतीत किया। यहाँ वे अत्यधिक रुग्ण हुए और आनन्द की इस आशका पर कि कही भिक्षु-सघ से बिना कुछ कहे ही भगवान् का परिनिर्वाण न हो जाये, उन्होने कहा "किं पनानन्द भिक्खुसघो मयि पच्चासी सति ? देसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तर अबाहिर करित्वा। नत्थानन्द तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि। यस्स नून आनन्द स्वमस्स—'अहं भिक्खुसघ परिहरिस्सामीति वा ममुद्देसिको भिक्खुसघो ति वा सो नून आनन्द भिक्खुसघ आरम्भ किञ्चिदेव उदाहरेय्य। तथागतस्स खो आनन्द न एव होति ··अह खो ··एतरहि जिण्णो वुद्धो · असीतिको मे वयो वत्तति। सेय्य थापि आनन्द जज्जरसकट ·तस्मातिहानन्द अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्जसरणा, धम्म दीपा धम्मसरणा अनञ्जसरणा।"[२०२] इस अत्यन्त मार्मिक भाषण मे बुद्ध का व्यक्तित्व अद्भुत् रूप मे सजीव हो उठता है।

वैशाली से वे भण्डग्राम और भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे जहाँ उन्होने चुन्द कम्मारपुत्त का आतिथ्य स्वीकार किया और उसके 'सूकरमद्दव' खाने से उन्हे यन्त्रणामय रक्तातिसार उत्पन्न हो गया। ऐसी ही अवस्था में उन्होने कुशीनगर को प्रस्थान किया और हिरण्यवती नदी पार कर वे शालवन मे दो शाल वृक्षो के बीच लेट गये। सुभद्र नाम के परिव्राजक को उन्होने उपदेश किया और भिक्षुओ से कहा कि उनके बाद धर्म ही शास्ता रहेगा। क्षुद्र शिक्षापदो मे परिवर्तन की अनुमति उन्होने भिक्षुसघ को दी। छन्न पर ब्रह्मदण्ड का विधान किया। और पालि परम्परा

२०२—अर्थात् "आनन्द, भिक्षुसंघ, मुझसे अब और क्या चाहता है? मैंने धर्म अनन्तर-अबाह्य कर (निःशेष) उपदेश किया है। तथागत को धर्म में आचार्यमुष्टि नहीं है। जिसके मन में हो 'मैं संघ का नेतृत्व करूँ, संघ मेरी ओर समुद्दिष्ट हो,' वह संघ के लिए कुछ प्रकाशित करे। तथागत के मन में ऐसा नहीं है··मैं अब जीर्ण वृद्ध हूँ···८० वर्ष की मेरी आयु है· जैसे जर्जर शकट हो··अतएव आनन्द, आत्मदीप बनकर आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्यशरण बनकर तुम लोग विहरो।"

के अनुसार 'वयधम्मा सखारा अप्पमादेन सम्पादेथा' यह कहकर परिनिर्वाण मे प्रवेश किया।

सुमगलविलासिनी (बुद्ध घोष-कृत दीघनिकाय की अट्ठकथा) मे बुद्ध भगवान् की दिनचर्या इस प्रकार दी हुई है—प्रात वे स्वय उठकर मुख-प्रक्षालन आदि शरीर परिकर्म कर के भिक्षाचार के समय तक एकान्त आसन मे बैठते थे। फिर चीवर पहिन कर कभी अकेले, कभी भिक्षुसघ के साथ, भिक्षा के लिए ग्राम अथवा नगर मे प्रवेश करते थे। श्रद्धालु उनको निमन्त्रित करते तथा भोजन कराते थे जिसके अनन्तर बुद्ध उन्हे उपदेश देते और गन्धकुटी लौटते थे। यहाँ भिक्षु सघ को अप्रमाद के लिए वे प्रेरित करते और उनकी चर्या के अनुरूप उन्हे कर्मस्थान का उपदेश देते। फिर स्वय गन्धकुटी मे प्रवेश कर मुहूर्त भर आराम करते और पीछे दर्शन के लिए आये हुए लोगो को उपदेश देते। शाम को वे स्नान और ध्यान करते और फिर भिक्षुओ की कठिनाइयाँ सुलझाते। इस प्रकार रात्रि का पहला याम बीतता। रात्रि के मध्यम याम मे वे देवताओ के प्रश्नो के उत्तर देते और अन्तिम याम मे पहले कुछ चक्रमण करते, फिर कुछ आराम, और फिर उठकर बुद्धचक्षु से लोक का अवलोकन करते थे।

इस वर्णन के उत्तरकालीन होने से इसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है किन्तु यह परम्परामूलक है और सम्भावना के अनुकूल है। बुद्ध की जीवन-चर्या एकान्त ध्यान तथा जनता को उपदेश देने मे बीतती थी। उनको बहुधा ध्यायी अथवा ध्यानशील कहा गया है। वे मौन के प्रेमी थे। परिव्राजक उनको 'अप्पसद्द-काम' कहते थे। उनकी परिषदो मे कोलाहल बहिष्कृत रहता था। और भिक्षुओ के लिए उन्होने "अरियो तुण्हीभावो" ("आर्य मौन") का उपदेश किया था। वे एकान्त भी बहुत पसन्द करते थे। उनके कुछ विरोधी यहाँ तक कहते थे "सुञ्ञागारहता समणस्स गोतमस्स पञ्ञा, अपरिसावचरो समणो गोतमो, नाल सल्लापाय, सो अन्तमन्तानेव सेवति।"[२०३] बुद्ध की करुणा और अनुकम्पा सुविदित है। उनका स्वभाव अत्यन्त स्वतन्त्र था और अन्धश्रद्धा के प्रतिकूल। वे प्रत्येक को आत्मविश्वास की शिक्षा देते थे और स्वय सत्य का साक्षात्कार करने का उपदेश करते थे।

२०३—"श्रमण गौतम की प्रज्ञा शून्यागारहत है, श्रमण गौतम परिषद् मे अयोग्य है, सल्लाप के अयोग्य है, वह एकान्त वास ही करता है।'

अध्याय २

बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक रूप और मूल तत्त्व

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

बौद्ध धर्म नाना सम्प्रदायो में विभक्त रहा है, प्राचीन और अर्वाचीन। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को बुद्ध भगवान् की आध्यात्मिक विरासत का सच्चा उत्तराधिकारी मानता है, किन्तु प्रत्येक की निष्ठा औरो से भेद रखती है और प्रतिविशिष्ट है। ऐसी स्थिति मे यह मीमास्य हो जाता है कि भगवान् बुद्ध ने यथार्थ में क्या उपदेश किया, और इस प्रश्न की सूक्ष्मता और जटिलता के कारण उसकी मीमासा सावधानी से करनी होगी।

एक बहुधा स्वीकृत विकल्प यह है कि इन सम्प्रदायो मे जो व्यापक और समान तत्त्व है उनको बुद्ध का मूल उपदेश मानना चाहिए। इस दृष्टि से अनात्मवाद को सद्धर्म का प्राण समझा गया है। रोजेनबर्ग ने इसका विस्तार से प्रतिपादन करना चाहा है कि एक ही मूल और अखण्डित तत्त्व का नाना सम्प्रदायो मे विकास हुआ है।[1] 'धर्म' को ही वे यह तत्त्व मानते हैं। किन्तु इस प्रसग में पहले यह स्मरणीय है कि किसी तत्त्व का अनेक अथवा सारे सम्प्रदायो के द्वारा समान अभ्युपगम उसकी मौलिकता न सिद्ध कर केवल इतना ही दरसाता है कि उस तत्त्व को सभवत 'निकाय-भेद' से प्राचीनतर अर्थात् प्रथम बुद्ध शताब्दी का मानना होगा।[2] दूसरे, अनात्मवाद का भी पुद्गलवादी सम्प्रदाय में विरोध देखा जाता है। और फिर चिन्तन के इतिहास मे केवल शब्द पकडने से कार्य सिद्ध नही हो सकता। नाना सम्प्रदायो के वस्तुत अभीष्ट और प्रधान सिद्धान्तो की परीक्षा से यदि उनमें व्यापक और मार्मिक साम्य प्रतीत हो तथा ऐसे मर्मभूत सिद्धान्तो को मूल-सिद्धान्त मानने से सम्प्रदाय-भेद समझने मे आसानी

१—द्र०—ओ० रोजेनबर्ग, दी प्राबलेमे देर बुद्धिस्तिशेन फिलोजोफी (१९२४)।
२—'निकायभेद' पर द्र०—नीचे, अध्याय १।

हो तथा ये सिद्धान्त प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य से समर्थित हो, तो ऐसी परिस्थिति मे इन परवर्ती अनुगत सिद्धान्तो से मूल सिद्धान्त के विषय मे अनुमान अनुचित न होगा। यह भी स्मरणीय है कि कोई सिद्धान्त जो कि चिर काल से अनुवर्तमान हो अपरिवर्तित नही रहता और इतिहास यदि परवर्ती सिद्धान्तो से मूल-सिद्धान्त की अनुगति प्रतीत भी हो तो भी यह उसका मूल रूप न होकर उसकी एक विकसित तथा रूपान्तरित अभिव्यक्ति होगी। सच तो यह है कि परवर्ती सिद्धान्तो के पर्यालोचन से उनका मूल रूप विश्वास्य तौर से नही जाना जा सकता। केवल प्राचीन और मूल वाङमय मे ही प्राचीन और मूल सिद्धान्तो का प्रामाणिक परिचय सम्भव है, यद्यपि यह सच है कि इन प्राचीन सिद्धान्तों के सम्यक् बोध मे इनके परिणत रूप और परवर्ती इतिहास का ज्ञान विशेष सहायता प्रदान कर सकता है। इसलिए मूल सद्धर्म के ज्ञान के लिए उत्तरकालीन व्याख्याएँ तथा शास्त्र सीमित साहाय्य देते हुए भी, मूल ग्रन्थो से असमर्थित होने पर अप्रयोजक ही नही, भ्रामक भी हो सकते है।

बौद्धो की एक परम्परागत दृष्टि यह है कि समस्त त्रिपिटक बुद्धवचन है और उसमे मूल धर्म सरक्षित है[3]। इसके विपरीत महायानियो की धारणा है कि महायान-सूत्रो को प्रामाणिक मानना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि बुद्ध ने विभिन्न अवसरो पर विभिन्न शिष्यो के आध्यात्मिक स्तर के अनुरूप विभिन्न उपदेश दिये[4]। त्रिपिटक के स्कन्ध, धातु, आयतन आदि सिद्धान्त हीन कोटि के शिष्यो के लिए थे, महायान ग्रन्थो की शून्यता उत्तम कोटि के शिष्यो के लिए। इस प्रकार शिष्यो के अधिकारभेद से मूल सद्धर्म भी अनेकविध था। देशना-भेद की सम्भावना स्वीकार करते हुए भी महायानसूत्रो की प्रामाणिकता उनकी ऐतिहासिक अर्वाचीनता से खण्डित हो जाती है[5]। हीनयानी साहित्य मे प्राचीनतम पालि त्रिपिटक है, किन्तु वह समस्त स्पष्ट ही बुद्ध-वचन न होकर अनेक शताब्दियो के विकास की उपज है। इसलिए यदि समस्त त्रिपिटक को एक इकाई मानकर धर्मनिरूपण किया जायगा तो वह बहुमत के प्रतिपादन के सदृश होगा और मूल-धर्म से बहुत दूर। त्रिपिटक प्राचीन और

३—उदा० अट्ठसालिनी (पूना, १९४२), निदानकथा।

४—तु० बोधिचित्तविवरण—"देशना लोकनाथाना सत्त्वाशयवशानुगा।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभि पुन॥" (भामती और सर्वदर्शनसग्रह से उद्धृत)।

५—महायान सूत्रो पर द्र०—नीचे, अध्याय।

उत्तरकालीन परम्पराओ की राशि है जिसमे ऐतिहासिक आलोचन को 'विभज्यवादी' बन कर न केवल स्पष्टत. परवर्ती सदर्भों को पृथक करना होगा अपितु प्राचीन सन्दर्भों मे भी उत्तरकालीन सस्करण तथा परिष्कार को दृष्टि मे रखना होगा। इस प्रकार पालि त्रिपिटक की सम्यक् ऐतिहासिक आलोचना से उसके अन्तर्गत सन्दर्भों और उनमे व्यक्त सिद्धान्तो का पौर्वापर्यविनिर्णय और उसके द्वारा मूल देशना का आविष्कार करना होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाले जिज्ञासुओ को गवेपणा का यह मार्ग अनायास ही स्वीकार्य होगा, तथापि इसका सविस्तर उल्लेख इसलिए अपेक्षित है कि सद्धर्म के अनेक सुविदित आधुनिक निरूपण इसकी पूर्णत. अथवा अशत अवहेलना करते है। श्रीमती राइज डेविड्स ने सद्धर्म के निरूपण मे ऐतिहासिक आलोचना के उपयोग का प्रवल समर्थन किया है और उत्तरकाल मे प्रचलित पालि बौद्ध धर्म को मूल सद्धर्म से बहुत भिन्न तथा अप्रामाणिक बताया है।[६] इस दृष्टि से महायान आदि और भी अर्वाचीन होने से सुतराम् अप्रामाणिक ठहरते हैं। श्रीमती राइज़ डेविड्स के प्रयास की दिशा सही और बौद्ध धर्म सम्बन्धी गवेषणा मे युग-प्रवर्तक होते हुए भी अनेक पूर्वाभिनिवेशो मे से कण्टकित होने के कारण अन्य विद्वानो को यथेष्ट आकृष्ट न कर सकी। इसको एक आगन्तुक दुर्भाग्य ही माना जा सकता है। क्योकि मूल ग्रन्थो के ऐतिहासिक विश्लेपण की आवश्यकता निर्विवाद है।

फलत यह कहना होगा कि मूल सद्धर्म का निर्णय पालि साहित्य के पौर्वापर्य विचार तथा ऐतिहासिक पर्यालोचन के द्वारा करना चाहिए। इस प्रसग मे दो शकाएँ समाधेय है। पहली तो यह कि पालि त्रिपिटक मे ओल्डेनवर्ग, टी० डब्ल्यू० राइज डेवि-ड्स, अथवा विन्टरनित्स आदि के द्वारा किये स्थूल ऐतिहासिक विभाजन के अतिरिक्त और अधिक सूक्ष्म विभाजन असभव है[७]। इस प्रश्न की विस्तृत मीमासा अन्यत्र की

६—द्र०—श्रीमती सी० ए० एफ० राइज डेविड्स, 'वट वॉज दि ऑरिजिनल गॉस्पेल इन बुद्धिज्म,' 'शाक्य' (१९३१), बुद्धिज्म (होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), आदि।

७—द्र०—एच० ओल्देनवर्ग, बुद्ध जाइन लेबन जाइन लेर, जाइन गेमाइन्द (९वॉ संस्करण), टी० डब्ल्यू० राइज़ डेविड्स, हिब्बर्ट लेक्चर्स, अमेरिकन लेक्चर्स; कैंब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया, जि० १, बुद्धिस्ट इण्डिया; एम० विन्टरनित्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० २ (कलकत्ता, १९३३), तु०—नलि-नाक्षदत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, प्राक्कथन।

गयी है[८]। यहाँ पर इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि सम्भव और असम्भव की विभाजक-रेखा गवेषणा के पश्चात् वह नहीं रहती जो गवेषणा के पूर्व, और उस विषय में अन्तिम निर्णय भविष्य के विद्वानों के ही हाथों में रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निकायों के अन्दर सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग और परायण० सदृश प्राचीन अंशों को दीघनिकाय के महापदानसुत्त सदृश अपेक्षया उत्तरकालीन अंशों से विभक्त किये बिना मूल सद्धर्म की उपलब्धि असम्भव है।

ऐतिहासिक दृष्टि के प्रति एक आपत्ति यह है कि गंभीर आध्यात्मिक तत्त्वों के सम्यक् बोध और निरूपण के लिए निरा ऐतिहासिक आलोचन अपर्याप्त है[९]। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि अपनी लौकिक लीला के संवरण के पश्चात् भी सिद्ध लोग विशिष्ट अधिकारी को आध्यात्मिक प्रेरणा देने में समर्थ हैं, तथा ज्ञान की आध्यात्मिक परम्परा सदैव इतिहासगम्य संसार में प्रत्यक्ष नहीं होती[१०]। इस प्रकार इतिहास में जो आध्यात्मिक घटनाएँ अथवा परम्पराएँ परस्पर असम्बद्ध या विच्छिन्न प्रतीत होती हैं वे वस्तुतः एक अखण्ड आध्यात्मिक इकाई में बँधी रह सकती हैं। महायान तथा वज्रयान की प्रामाणिकता के प्रसंग में यह दृष्टि विशेष रूप से सामने आती है क्योंकि परवर्ती बौद्ध परम्परा का यह अभ्युपगम है कि भगवान् बुद्ध ने एक नहीं तीन धर्म-चक्र-प्रवर्तन किये थे। सारनाथ का प्रवर्तन सुविदित है। दूसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन गृध्रकूट पर्वत पर माना जाता है जहाँ का उपदेश प्रज्ञापारमिताशास्त्र में निबद्ध है। एक मत से तीसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन धान्यकटक में हुआ था और यही बौद्ध तन्त्रशास्त्र का उद्‌गम था। दूसरे और तीसरे प्रवर्तन का सिद्धान्त आध्यात्मिक अध्यवेत्ता और रहस्य से संवलित होते हुए भी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि कदाचित् अपर्याप्त है और अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिबोध नहीं कर सकती, किन्तु वह सर्व-साधारण से बोध्य युक्ति और तर्क की दृष्टि है। उसको यदि किसी विशिष्ट रहस्यवाद के संमुख त्याग दिया जाये तो अतीत के विषय में धारणाओं को केवल श्रद्धा पर आधारित करना होगा। दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टि के समक्ष यह खतरा रहा है कि उसके नाम पर एक अध्यात्मविरोधी जड़वादी दर्शन स्वीकार कर लिया जाय। किसी भी धर्म के सच्चे इतिहास के लिए आध्यात्मिक तत्त्वों का पहचानना

८—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, ना० १।

९—उदा०, म० म० गोपीनाथ कविराज का यही मत है।

१०—दे०—नीचे।

तथा उनका निरूपण आवश्यक रहेंगे। इतिहासकार को श्रद्धारहित तथा आध्यात्मिक जगत् की ओर प्रज्ञा-चक्षु होने की आवश्यकता नही है, किन्तु उसे उदार श्रद्धा और दृष्टि अपनाने के साथ अन्ध श्रद्धा से बचना है।

त्रिपिटक का विकास--भगवान् बुद्ध ने कोई ग्रन्थ नही लिखा और न अपने शिष्यो को अपने उपदेश किसी विशिष्ट, प्रमाणभूत भाषा मे स्मरण रखने के लिए कहा। उन्होने प्रचलित मागधी भाषा मे उपदेश किया और भिक्षुओ को अनुमति दी कि वे अपनी-अपनी बोलियो मे उनके उपदेशो को स्मरण करे[११]। उनके उपदेशो का पहला सग्रह उनके परिनिर्वाण के अनन्तर राजगृह की सगीति मे हुआ। किन्तु उसके बाद के सदर्भ बुद्ध-वचन मे जोडे जाते रहे और पालि-त्रिपिटक सिंहल मे राजा वट्टगामणि के शासन काल मे परिनिर्वाण से चार शताब्दी पीछे अपने वर्तमान रूप मे लिखा गया। इस प्रकार पालि त्रिपिटक का रचना काल ई० पू० १ ली शताब्दी तक स्थिर होता है[१२]। तीन पिटको मे अभिधर्म पिटक स्पष्ट ही प्राचीन अथवा बुद्ध-वचन नही है[१३]। क्योकि वह साम्प्रदायिक सग्रह प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए सर्वास्तिवादियो का अभिधर्म पालि अभिधर्म से भिन्न है। सम्भवत प्राचीन मातृकाओ अथवा धर्म-सूचियो से साम्प्रदायिक भेद के अनुसार इन विभिन्न अभिधर्मो का विकास हुआ, जिसे वैशाली की सगीति से उत्तरकालीन मानना चाहिए। पालि परम्परा के अनुसार अभिधर्म का अन्तिम ग्रन्थ कथावत्थु अशोक के समय पाटलिपुत्र की सगीति मे निबद्ध हुआ। किन्तु वर्तमान कथावत्थु को तृतीय शताब्दी ई० पू० मे एक साथ पूरा रचा हुआ नही माना जा सकता[१४]। इस प्रकार अभिधर्म का रचनाकाल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से लेकर ई० पू० दूसरी शताब्दी तक मानना चाहिए। फलत शेष दो पिटको का रचना-काल इससे पूर्व अर्थात् पाँचवी और चतुर्थ शताब्दी ई० पू० मानना चाहिए। इस ग्रन्थ-राशि मे अशोक का अनुल्लेख भी इसी अनुमान को दृढ करता है। विनय-पिटक का मूल प्रतिमोक्ष मे था और विभिन्न सम्प्रदायो के प्रतिमोक्षो का व्यापक साम्य उनकी प्राचीनता बतलाता

११–विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० २२८–२९।

१२–त्रिपिटक के विवरण के लिए दे०—नीचे।

१३–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, अध्याय १; तु०—जे० तकाकुसु, जे० पी० टी० एस, १९०५।

१४–द्र०—श्रीमती राइज डेविड्स, पॉइन्ट्स ऑव् कान्ट्रोवर्सी, भूमिका।

है।[१५] विभग और खन्धक के विभिन्न साम्प्रदायिक सस्करणो मे भी पर्याप्त साम्य है[१६]। चुल्लवग्ग मे पहली दो सगीतियो का उल्लेख है, तीसरी का नही। फलत यह मानना सत्य से दूर न होगा कि विनय के प्राचीन अश, उदाहरणार्थ, प्रातिमोक्ष पाचवी शताब्दी के है तथा अर्वाचीन अश पाचवी एव चौथी शताब्दी के। सूत्रपिटक का पाँचवाँ निकाय वस्तुत प्रकीर्ण-सग्रह है और इसके अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थो मे उदान, इतिवृत्तक, सुत्तनिपात, थेरगाथा एव थेरी गाथाओ मे अनेक प्राचीन और कुछ अर्वाचीन अश है। पहले चार निकायो की चीनी भाषा मे उपलब्ध आगमो से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विभिन्न सप्रदायो के इन चार सग्रहो मे सूत्रो का विभाजन सर्व-सम्मत नही था[१७]। किन्तु इन निकायो अथवा आगमो को साम्प्रदायिक रचना नही माना जाता था। अतएव मुख्यतया इनका रचना-काल वैशाली की सगीति के पूर्व मानना चाहिए। पर बुद्ध के निर्वाण के बाद की पहली शताब्दी मे सद्धर्म का पर्याप्त विकास हुआ जिसके कारण उस युग के अन्त मे नाना सम्प्रदायो का जन्म हो गया। सघभेद के पूर्व का यह समस्त विकास निकायो मे सरक्षित है और बुद्ध के मूल उपदेशो को आच्छादित किये हुए है। यहा पर पूर्वापर-विवेक दुष्कर, किन्तु आवश्यक है[१८]। इस विवेक की एक बडी कसौटी यह है कि प्राचीनतर अशो की शैली और भाव उपनिषदो के निकट है जब कि अर्वाचीनतर अश अभिधर्म की याद दिलाते है। बुद्ध को सिद्ध मानव के रूप मे न देखकर लोकावतीर्ण भगवान् के रूप में देखने की प्रवृत्ति, तथा रीतिबद्ध, सूचीबद्ध और परिगणित-रूप मे धर्म का प्रतिपादन, एव 'मूर्धाभिषिक्त' और पारिभाषिक पदावली के द्वारा उसके परिष्कृत व्याख्यान की प्रवृत्ति बुद्ध से परवर्ती काल की ओर सकेत करती है। मूल बुद्ध देशना की प्राप्ति के लिए अभिव्यक्ति, भाव और विचार मे परिवर्तन की इन प्रवृत्तियो को बुद्धिस्थ कर निकायो मे खोजना आवश्यक है[१९]।

१५–द्र०—डब्ल्यू० पा-चाउ, ए कॉम्परेटिव स्टडी ऑव् दि प्रतिमोक्ष।

१६–द्र०—फ्राउवाल्नर, दि अर्लियेस्ट विनय एण्ड दि बिगिनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट लिटरेचर।

१७–द्र०—अकानुमा, दि कॉम्परेटिव कैटेलाग ऑव् चाइनीज आगमज एण्ड पालि निकायज; आनेसाकि, जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८९५।

१८–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, जहाँ उसका विस्तृत विवेचन है।

१९–श्रीमती राइज डेविड्स ने इस दिशा मे प्रयास किया था। वर्तमान लेखक के "ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म" मे उसके परिष्कार एवं विस्तार का यत्न देखा जा सकता है।

'मूल देशना'—बुद्धदेशना के उचित अवधारण के लिए तद्विपयक दो प्रचलित 'अन्तो' मे बचते हुए मध्यमा प्रतिपद् का सहारा लेना आवश्यक है। एक मतान्त के अनुसार बुद्ध ने एक नवीन दर्शन-शास्त्र (मेटाफिजिकल सिस्टम) का प्रतिपादन किया, दूसरे के अनुमार वुद्ध ने दार्शनिक तत्त्वो का शास्त्रीय निरूपण न कर, केवल दु ख-निवृत्ति के लिए आचरणीय मार्ग का उपदेश किया। इनमे पहला मत परवर्ती बौद्ध आचार्यो के द्वारा परिष्कृत एव आविष्कृत तत्त्वो को ही मूल-देशना ममझ लेता है। ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक परम्परा के प्रतिकूल बुद्धदेशना मे मूल शब्दो पर आग्रह न था और इस कारण यह अनिवार्य था कि बुद्धाब्द की प्रथम शती मे ही उसके मूलत अभिप्रेत अर्थो का यथास्मृत रूप उनके उत्तरकालीन यथामत रूप मे असकीर्ण न रहना। फलत इस युग के साहित्य मे मूल ओर व्याख्या के मिले-जुले होने के कारण, और व्याख्यागत अशो के प्रचुरतर तथा विशदतर होने के कारण परवर्ती तत्त्वो को ही मूल तत्त्व समझ लेने की भ्रान्ति अनायास ही उत्पन्न हो जाती है, और उसका समर्थन होता हे सद्धर्म के अनेक आधुनिक व्याख्याताओ की प्रवृत्ति मे जो कि इतिहास की ओर तटस्थ तथा दर्शन-शास्त्र की ओर प्रवण होने के कारण बुद्धघोष का अनुकूल नेतृत्व अविलम्ब स्वीकार कर लेते है और 'विसुद्धिमग्गो' को वह ऐन्द्रजालिक दर्पण मान लेते है जो परिनिर्वाण से लगभग एक हजार साल बाद रचित होने पर भी बुद्ध के आशय को यथार्थ प्रतिबिम्बित करने मे समर्थ है।

वुद्ध कोरे पण्डितवाद के पक्ष मे नही थे और अपने समय की अनेक बहु-मीमासित दार्शनिक समस्याओ पर तार्किक अभियान को अपार्थक मानते थे। लोक शाश्वत है कि अशाश्वत, अन्तवान् हे कि अनन्त, जीव और शरीर एक हे अथवा भिन्न, तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते है अथवा नही, इन प्रश्नो को वुद्ध ने 'अव्याकृत' स्थापित किया था। मालुक्य पुत्र के सशय निवारण के प्रसग मे कहा गया है कि जैसे विष-दिग्ध शर से विद्ध पुरुष की चिकित्सा के लिए उसे घायल करने वाले धानुष्क और धनु की खोज-खबर या जिरह अप्रासागिक है वैसे ही जन्म-मरण से पर्याकुल ससारियो की आर्ति के उपशम के लिए ब्रह्मचर्यावास इन दार्शनिक समस्याओ के सुलझाव की अपेक्षा नही रखता[२०]। वत्सगोत्र परिव्राजक से वुद्ध कहते है कि लोक को शाश्वत अथवा अशाश्वत मानना एव इतर अव्याकृत प्रश्नो पर अन्यतर पक्ष का समर्थन दृष्टि-सयोजन से बाँधना हे। तथागत सब दृष्टियो से मुक्त है। "अत्थि पन भो तो गोतमस्स किचि

२०—मज्झिम ना०, जि० २, पृ० १०७–१२।

दिट्ठिगत ति ? दिट्ठिगत ति खो वच्छ अपनीत तथागतस्स।[२१] प्रोष्ठपाद के पूछने पर कि "कस्मा पनेत भगवता अव्याकत ति" ? उन्होने उत्तर दिया "न हैं' त पोट्ठपाद अत्थसहित, न धम्मसहित, न आदिब्रह्मचरियक, न निब्बिदाय न विरागाय न निरोधाय न उपसमाय न अभिञ्जाय न सबोधाय न निब्बाणाय सवत्तति। तस्मा त मया अव्याकत ति।[२२] बुद्ध ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश करना चाहते थे जिससे वासना का क्षय हो। केवल बौद्धिक विलास की ओर वे तटस्थ थे। अन्य उदात्त धर्मो के प्रवर्त्तक भी प्राय ऐसी ही दृष्टि रखते रहे हैं। वे अपने उपदेशो मे सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य की समर्थ और प्राय काव्योचित अभिव्यक्ति करते रहे हैं, न कि उनकी विकल्प और वितर्क से परिगत, सूक्ष्म एव जटिल व्याख्याएँ। वे द्रष्टा रहे हैं, न कि व्याख्याता।

ऊपर आलोचित मत के विपरीत कुछ विद्वान् भगवान् बुद्ध को केवल एक प्रकार के शील अथवा नैतिक आचार का प्रचारक अवधारित करते हैं। इस प्रसग मे पहले यह विचारणीय है कि बुद्ध भगवान् के द्वारा अवतारित शील को उनके समकालीन अन्य सम्प्रदायो मे अविदित शील से साराश मे कितनी दूर तक विशेषित किया जा सकता है। तारतम्य और विस्तर मे अनिवार्य भेद होते हुए भी त्याग और सयम का अनेकविध प्रयास सभी निवृत्तिपरक ब्रह्मचर्यावासो मे लगभग समान था। शील के आगे शमथ-भावना अथवा समाधि के अभ्यास मे अधिक भेद दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यहाँ भी 'आर्य शमथ-भावना' निष्ठा-विशेष की ही अपेक्षा रखती है। वस्तुत आध्यात्मिक साधन सिद्धान्त-निरपेक्ष नही होता और बुद्धोपदिष्ट मार्ग का वैशिष्ट्य आवश्यक रूप से तत्त्व-ज्ञान के वैशिष्ट्य का आक्षेप करता है। दृष्टियो के प्रति अनास्था प्रकट करते हुए भी बुद्ध का धर्म स्वय एक 'सम्यक् दृष्टि' का प्रतिपादन करता था। इस प्रकार का विरोधाभास मध्यमा प्रतिपद् में बहुत दूर तक देखा जा सकता है।

२१—वहीं, पृ० १७९, "क्या आप की कोई दृष्टि है ? वत्स, तथागत से दृष्टि अपसारित है।"

२२—"भगवान् ने इसे अव्याकृत क्यों रखा है ? प्रोष्ठपाद, यह न अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न ब्रह्मचर्योपयोगी, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न सम्बोधि के लिए, और न निर्वाण के लिए है। इसलिए मैंने उसे व्याकृत नहीं किया है।"—दीघ० ना०, जि० १, पृ० १५७।

बुद्ध को केवल आचारवादी मानने में यह भी समझाना होगा कि यदि उन्होंने तत्त्व-ज्ञान के उपदेश की उपेक्षा की तो आखिर क्यो ? एक उत्तर यह दिया गया है कि सम्भवत बुद्ध ने स्वय पारमार्थिक तत्त्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त न किया हो और अनेक आधुनिक विचारको की भाँति अज्ञान-जन्य सशय की अवस्था मे मौन को ही श्रेष्ठ समझा हो[२३]। यह भी कहा गया है कि वास्तविक ज्ञान के अभाव मे बुद्ध ने एक प्रकार की 'पृथग्जनोचित' जादूगरी प्रचारित की[२४]। अधिक श्रद्धालु अन्य विद्वानो ने तत्त्व की अज्ञेयता अथवा अनुपयोगिता को ही बुद्ध के 'मौन' का कारण बताया है। तत्त्व की अज्ञेयता का सिद्धान्त सञ्जय बेलट्ठिपुत्त का था और इस मत को बुद्ध के द्वारा ग्राह्य मानना प्रमाण-विरुद्ध है। सम्बोधि और ब्रह्मयाचन के सन्दर्भो से स्पष्ट है कि बुद्ध अपने को तत्त्वाभिज्ञ मानते थे और स्वय उपलब्ध तत्त्व तक औरो को पहुँचाना चाहते थे। गम्भीर तत्त्व को समझने के लिए अनेक अनधिकारी हैं, इसलिए उनका सकोच था, किन्तु करुणा से प्रेरित होकर एव बुद्ध-चक्षु से लोक को देखकर उन्हे भरोसा हुआ कि कुछ लोग समझने वाले अवश्य होगे। और यह मानना स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस धर्म का लाभ किया था उसका उपदेश किया। यदि परमार्थ-तत्त्व अज्ञेय है तो बुद्ध अथवा सम्बोधि अर्थहीन हो जाते है और साथ ही सजय बेलट्ठिपुत्त के चेलो का उसे छोड बुद्ध शासन मे प्रविष्ट होना भी। तत्त्व-ज्ञान की अनुपयोगिता का अभ्युपगम तो सर्व-तन्त्र-विरुद्ध है। शुष्क तार्किक ज्ञान की अनुपयोगिता अवश्य ही अनेक साधन मार्गो मे स्वीकृत होती है, और बुद्ध का अनेक दार्शनिक समस्याओ को 'अव्याकृत' स्थापित करना ऐसी दृष्टि मे उनकी आशिक सहमति सूचित करता है। किन्तु इससे यह अनुमेय नही है कि बुद्ध न परमार्थ का निर्देश न कर केवल एक प्रकार की चर्या का उपदेश किया।

वस्तुत उन्होंने मार्ग और गन्तव्य दोनो का निरूपण किया, किन्तु यथासम्भव। वे न शुष्क तर्कवादी थे कि परमार्थ को लक्षण-प्रमाणावली मे परिच्छिन्न करने का प्रयास करते, न ज्ञान-रहित व्यवहारवादी कि सुपरिष्कृत समीचीन दृष्टि को समस्त साधना का मूल न मानते। वे जानते थे कि परमार्थ तर्क और अतएव वाणी का अगोचर है। किन्तु इस अगोचरता का अर्थ 'विशेषत अनवधारणीयता' मानना चाहिए, न कि सर्वथा 'अविषयता।' बुद्धि और वाक् की सर्वथा अविषयता अर्थात् सर्वथा अबोध्यता तथा अनभिधेयता कल्पनातीत और स्वय अबोध्य तथा अनभिधेय है। परमार्थ की अतर्क्यता

२३–द्र०—कीथ, बुद्धिस्ट फिलॉसफी।

२४–पूसे, द्र०—श्चेरबात्स्की, दिकन्सेप्शन ऑव् निर्वाण (लेनिनग्राड, १९२७)।

और अवाच्यता का अभिधान स्वय एक महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। 'गुरोस्तु मौन व्याख्यान' की उक्ति बुद्ध के मौन पर चरितार्थ होती है,[25]। जो कि सीमित जगत् के अन्तर्गत परस्पर विरोधो और व्यावृत्तियो को परम समझनेवाले तर्क और वाक् की अपर्याप्तता और परमार्थ की अनन्तता के निर्देश मे पर्यवसित होती है। जिस प्रकार उपनिषदो मे अवाङमनसगोचर सत्य को जतलाने के लिए अतद्व्यावृत्ति-रूप अपोह और उपमान का सहारा लिया गया है वैसे ही बुद्ध-देशना मे पाया जाता है। यो तो प्रत्येक अभिधान मे अपोह का व्यापार सनिहित है किन्तु परमार्थ के निर्देश मे वस्तुत. 'अपोह का अपोह' होता है और इस प्रकार परमार्थ की भावाभाव-विलक्षणता द्योतित होती है। यही बुद्धोपदिष्ट 'मध्यमा प्रतिपद्' अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद का वास्तविक अर्थ है। परिच्छेद-कुण्डलित प्रपञ्च के उपशम के रूप मे ही परिच्छेद-रहित परमार्थ की देशना सम्भव है। और प्रपञ्चोपशम ही 'निर्वाण' है। सम्वोधि मे अधिगत धर्म को इन्ही दो शब्दो से सूचित किया गया है—प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण। यह धर्म का पारमार्थिक रूप है, पर इसकी प्राप्ति के लिए अनित्य, व्यावहारिक—साक्लेशिक अथवा वैयवदानिक—धर्मों का विवेकपूर्वक आससार हान अथवा उपादान अपेक्षित है और इसलिए इनका भी देशना मे स्थान है।

बुद्ध के मौन और उनकी देशना-विधि का यह रहस्य परवर्ती माध्यमिक आचार्यो ने बहुत मार्मिकता से समझाया है। उनका कहना है कि बुद्ध ने दो सत्यो का उपदेश किया था—सवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। परमार्थ सत्य अनभिलाप्य और उपेय है, सवृति-सत्य उसकी देशना के लिए सहारा और उपाय है। 'अनक्षर धर्म का क्या श्रवण, क्या उपदेश? समारोप के द्वारा अनक्षर अर्थ का श्रवण और उपदेश होता है।' "दु:ख समुदय, और मार्गसत्य सवृत्ति-स्वभाव होने के कारण सवृति के अन्तर्गत है, निरोधसत्य

२५–तु०—"या च रात्रिं शान्तमते तथागतोऽनुत्तरा सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धो या च रात्रिमनुपादाय परिनिर्वास्यति अत्रान्तरे तथागतेनैकमप्यक्षरं नोदाहृतं, न व्याहृतं, नापि प्रव्याहरति, नापि प्रव्याहरिष्यति। अथ च यथाधिमुक्ता सर्वसत्त्वा नानाधात्वाशयास्तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं सजानन्ति।" चन्द्रकीर्ति के द्वारा प्रसन्नपदा (पूसें द्वारा सम्पादित मध्यमक०, पृ० ३६६) में उद्धृत 'आर्यतथागतगुह्यसूत्र'); "न क्वचित्कस्यचित्कश्चिद्धर्मो बुद्धेन देशित ॥" (नागार्जुन, मध्यमक०)।

परमार्थ सत्य के।[२६] लौकिक व्यवहार का स्वीकार न होने पर परमार्थ की देशना नही हो सकती, उपदिष्ट न होने पर परमार्थ पाया नही जा सकता, और परमार्थ की प्राप्ति न होने पर निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती[२७]। यह सच है कि मूल बुद्ध देशना में सवृति और परमार्थ के विभाग का शब्दश और लक्षण-परिष्कृत उल्लेख नही है। और न साक्लेशिक और वैयवदानिक धर्मो का विनयानुरूप विभिन्न उपदेश होते हुए भी सवृति-नाम्ना सग्रह अभिप्रेत है। किन्तु निर्वाण की पारमार्थिकता और वैयवदानिक धर्मो की कुल्योपमता मे, तथा 'असस्कृत' और 'सस्कृत' के विभेद मे इस प्रकार का आशय अर्थत आक्षिप्त है, जिसका कि परवर्ती काल मे बहुधा परिष्कार हुआ। राजगृह मे अश्वजित् के द्वारा शारिपुत्र को सुनाये हुए सुप्रसिद्ध धर्म-सक्षेप मे भी ये दोनो पक्ष देखे जा सकते है—"तथागत ने हेतु-समुत्पन्न धर्मो के हेतु का उपदेश किया। और उनके निरोध को भी महाश्रमण ने बताया।" कार्य-कारण परम्पराओ मे ससार अथवा व्यवहार सग्रथित है, उनका निरोध निर्वाण अथवा परमार्थ है। कार्य-कारण परम्पराओ का एक वर्ग अविद्या से प्रारम्भ होकर दु.ख मे पर्यवसित होता है, दूसरा सम्यग्दृष्टि से प्रारम्भ होकर निर्वाण को ले जाता है। पहला विभाग साक्लैशिक धर्मों की आस्था पाता है, दूसरा वैयवदानिक धर्मो की अथवा निरोध मार्ग की।

धर्म का वैदिक प्रयोग प्राय शीलपरक था। कुछ स्थलो मे शील के शाश्वत आधार को धर्म कहा है, यथा, "जहाँ से सूर्य उदित होता है,और जहाँ अस्त, उसे देवताओ ने धर्म बताया। वही आज है, वही कल।[२८]" उसने कल्याणरूप धर्म को रचा, धर्म ही शासक का शासक है, अत धर्म के ऊपर कोई नही है, धर्म के द्वारा ही निर्बल बलवान् की बराबरी करता है जैसे राजा के द्वारा, जो धर्म है वही सत्य है .[२९]। इन सन्दर्भो मे धर्म को वह शाश्वत नियामक माना गया है जिस पर प्रकृति के व्यापार तथा सामाजिक कल्याण एव न्याय आश्रित है। बौद्ध साहित्य मे धर्म शब्द का अनेक अर्थो मे उल्लेख मिलता है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि 'धर्मशब्दोऽय प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापित

२६—शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार (९.२) पर पजिका (बिब्लियोथेका इण्डिका में सम्पादित)।

२७—नागार्जुन, मध्यमक० २४.१०।

२८—बृ० उप० १.५.२३।

२९—वही, १.४.१४।

स्वलक्षणधारणार्थेन कुगतिगमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकससारगमनविधारणार्थेन।।[३०] पहले अर्थ मे धर्म शव्द 'तत्त्व' अथवा 'पदार्थ' के सदृश है। दूसरे में कल्याण-शील द्योतित करता है, तीसरे मे परमार्थ। इनमे दूसरा अर्थ वैदिक अर्थ के सदृश है और सभी सम्प्रदायो मे सुलभ होने के कारण सुप्रसिद्ध है। पहला अर्थ बौद्धो मे ही प्रसिद्ध है और अन्य दर्शनो मे धर्म शव्द की गुण-वाचकता से विवेचनीय है। कुछ विद्वान् धर्म शव्द के इस अर्थ को ही बौद्धो के लिए सवसे महत्त्वशाली और मौलिक अर्थ मानते है[३१]। किन्तु यह मत सर्वास्तिवाद और स्थविरवाद के अभिधर्मो पर ही पूरा-पूरा लागू होता है। धर्म शव्द की परमार्थवाचकता निर्वाण एव 'प्रतीत्यसमुत्पाद' मे गृहीत होती है। औपनिषद साहित्य मे 'ब्रह्म' शव्द परमार्थवाची था और इस कारण बौद्धो का कुछ स्थलो मे धर्म शव्द का प्रयोग औपनिषद ब्रह्म शव्द की याद दिलाता है[३२]।

अत्यन्त प्राचीन बौद्ध साहित्य में 'धर्म' की पदार्थवाचकता या तत्त्व० केवल सामान्यत अभिप्रेत है, उसमे धर्म का कोई लक्षणविशेष या परिभाषा बुद्धिस्थ नही है। "सब्बे धम्मा ना ल अभिनिवेसाय" 'धम्मान उप्पादो वयो', इत्यादि प्रयोगो मे उस प्रकार का सामान्य अपरिभाषित अर्थ ही समझना चाहिए[३३]। वहुधा ऐसे स्थलो में 'धम्म' का स्थान 'ससार' ले लेता है, जिससे सूचित होता है कि धर्म प्राय सस्कृत-वस्तु का पर्यायवाची है। दूसरी ओर जव सम्वोधि मे अधिगत धम्म को 'अतक्कावचर' कहा गया है, अथवा जव पटिच्चसमुप्पाद और धम्म का तादात्म्य स्थापित किया गया है, या जव 'धम्माभिसमय' और 'धम्मनियामता' की चर्चा है, तव निश्चय ही 'धम्म' परमार्थवाची है। वस्तुत. प्रारम्भ मे धर्म के दो अर्थ ही मुख्य थे जिन्हें 'निरोध-प्रतियोगिक' और 'प्रपञ्च-प्रतियोगिक' कहा जा सकता है। तीसरे 'अधर्मप्रतियोगिक' अर्थ का इन्ही में अन्तर्भाव हो जाता है क्योकि बौद्ध दृष्टि मे धर्म और अधर्म दोनो ही अन्तत चित्त की अवस्थाएँ है। 'धर्म' के इस अर्थ-विश्लेषण से पूर्व-प्रतिपादित मत समर्थित होता है कि बुद्ध-देशित

३०—"प्रवचन में धर्म शव्द का अर्थ त्रिविध निश्चित किया गया है—स्वलक्षणधारण, कुगति-गमन-विधारण, पाञ्चगतिक-ससार-गमन-विधारण।" (प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ३०४)।

३१—द्र०—रोजेनवर्ग, पूर्व, श्चेर्वात्स्की, दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिज्म।

३२—डब्ल्यू० गाइगे, 'धम्म उन्द ब्रह्म'।

३३—'सव धर्म अभिनिवेश के अयोग्य है', 'धर्मों का उत्पाद और व्यय', (द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, प० ४७०)।

धर्म मे सत्य का द्विधा विभाजन विदित था। सद्धर्म न कोरी दार्शनिक मीमासा थी, न कोरी साधन-चर्या, अपितु यथाकथचित् व्यवहार के सहारे परमार्थ की ओर सकेत था।

आर्य-सत्य—वुद्ध स्वय ससार से विरक्त होकर शान्ति की खोज मे घर से निकले थे और सम्वोधि के अनन्तर शोकावतीर्ण जनता के अवलोकन से करुणार्द्र होकर उन्होंने सम्बोधि मे अधिगत धर्म की देशना का भार अपनाया था। ससार के तट से निर्वाण के तट तक ले जाने वाला उनका धर्म करुणा का एक सेतु था। जीवन के अपरिहार्य दु ख के दर्शन से उनके धर्म का प्रारम्भ होता है। दु'ख की प्रवृत्ति समझ कर उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न ही धर्म-चर्या है, जो कि सम्वोधि मे चरमता को प्राप्त होती है, और अनुत्तर शान्ति-पद की परमार्थ है। इस प्रकार दु ख, समुदाय, निरोध, और निरोध-गामिनी प्रतिपद्, इन चार विभागो मे वुद्ध-देशना का विचार अनायास हो सकता है। बौद्धो मे यह सर्वसम्मत है कि इन चार आर्य-सत्यो का शास्ता ने उपदेश किया। आधुनिक लेखक भी इस मत को प्राय स्वीकार करते है। किन्तु यह सदेह के व्यतीत नही है कि तथागत ने ठीक इसी रूप मे धर्म को विभजित और परिगणित कर आर्य-सत्य की आख्या दी हो।

इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि चार आर्य-सत्यो का आर्यत्व अथवा सद्धर्म-सम्बन्व दु खादि पद-चतुष्टय के प्रयोग से नही, किन्तु उनमे अभीष्ट अर्थविशेप की अवतारणा से सिद्ध होता है। सत्य-चतुष्टमी का निर्देश-मात्र धर्म की देगना अथवा विचार मे केवल शीर्षक-सूची अथवा प्रतीक-पाठ मात्र है। न्यायवार्तिककार का कहना है—'ये चार अर्थ-पद सव अध्यात्मविद्याओ मे सब आचार्यो से वर्णित होते है'[३४]। योगभाष्य-कार की सदृश उक्ति है—"जैसे चिकित्सा-शास्त्र चतुर्व्यूह है, रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य, ऐसे ही यह शास्त्र भी चतुर्व्यूह है, यथा—ससार, ससार-हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय।"[३५] साख्य-प्रवचन-भाष्य मे भी चतुर्व्यूह चिकित्साशास्त्र से मोक्ष-शास्त्र की समानता वतायी गयी है—रोग, आरोग्य, रोगनिदान, और भैंपज्य के समान ही मोक्ष-शास्त्र के चार व्यह है—हेय, हान, हेय-हेतु, और हानोपाय[३६]। अभिधर्मकोशव्याख्या मे एक 'व्याधि-सूत्र' उद्धृत किया गया है जिसमे तथागत की भिषक् से तुलना की गयी

३४—न्यायवार्तिक, पृ० १२, (चौखम्बा, १९१५)।
३५—योगभाष्य, पृ० १८५ (चौखम्बा, १९३४)।
३६—सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ६ (चौखम्बा, १९२८)।

है और आर्य-सत्यो की वैद्यक के चार अंगो से[37]। अयन्त्र भी तथागत को वैद्यराज, भिषक् एव 'अनुत्तर भिषक्' कहा गया हे। 'धातु और 'निदान' शब्दो का प्रयोग विशेषत उल्लेखनीय है। इस प्रकार यह सभव है कि चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूहो का मोक्ष-शास्त्र मे अनुकरण किया गया। मोक्ष-शास्त्रो मे इस चतुष्टयी का रूपान्तरित उपयोग सबसे पहले सद्धर्म मे देखा जाता है। अतएव यह सम्भव हे कि तथागत ने ही अध्यात्म-विद्या मे इस परम्परा का प्रवर्तन किया और उनकी देखादेखी अन्य आध्यात्मिक प्रस्थानो मे भी वह अपनायी गयी। किन्तु यह स्मरणीय है कि कही भी इन 'चार सत्यो' को वह महत्त्व नही प्राप्त हुआ जो कि प्राचीन सद्धर्म मे।

आर्य-सत्यो मे कौन-से-धर्म अन्तर्भूत है, इसपर परवर्ती काल मे अभिधर्म के आचार्यों ने अनेक धारधारणाएँ और व्याख्याएँ प्रस्तुत की। विभाषा के अनुसार दार्ष्टान्तिक सम्प्रदाय मे दु खसत्य के अन्तर्गत नामरूप, समुदयसत्य के कर्म और क्लेश, निरोधसत्य के अन्तर्गत इनका क्षय एव मार्गसत्य के अन्तर्गत शमथ और विपश्यना परिगणित होती है। विभज्यवादी पहले सत्य से दु ख के आठ लक्षणो से युक्त सास्रव धर्मों को छोड़कर शेष को दु ख मानते थे न कि दु खसत्य। पौनर्भविकी तृष्णा को वे समुदय मानते थे, शेष अन्य तृष्णाओ को केवल सास्रव हेतु। तृष्णा के क्षय को वे निरोधसत्य मानते थे, अन्य क्षयो को केवल निरोध, एव अष्टाग मार्ग को ही मार्ग सत्य, अन्य शैक्ष धर्मों को और सब अशैक्ष धर्मो को केवल मार्ग। 'अभिधर्माचार्य' प्रथम सत्य मे उपादान स्कन्ध, दूसरे मे सास्रव हेतु, तीसरे मे प्रतिसख्या-निरोध, और चौथे मे अर्हत्त्व-प्रापक समस्त शैक्ष और अशैक्ष धर्म गिनते थे[38]।

दु ख सत्य—विनय और निकायो मे पहले सत्य के अन्दर दु ख को व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया गया है, दूसरे सत्य मे प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निदानो का उल्लेख किया गया है, तीसरे सत्य मे निर्वाण अथवा निरोध का और चौथे में नाना बोधिपाक्षिक धर्मों का, विशेषत अष्टागमार्ग का। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल देशना में आर्यसत्यो के अन्दर धर्मों के चतुर्धा व्यवस्थापन की कोई सूक्ष्म परिभाषा अभिप्रेत न थी। कभी-कभी उपदेशसौकर्य के लिए इस विभाजन का सामान्यत उपयोग किया जाता था। यह बात दूसरी है कि दु ख आदि सत्य नाना स्थलो पर विविध रूप से अर्थत आविष्कृत हैं।

दु ख की सत्ता सर्वविदित है और उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु

३७—तु०—जे० आर० ए० एस० १९०३, पृ० ५७८—८०।
३८—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ३९९—४००।

लौकिक दृष्टि से दु ख भी जीवन के अनेक तत्वो में एक है। साधारण जीवन दु ख को आगन्तुक मानकर ही चलता है। नाना दृष्ट उपायो से हम दु ख को परिहरणीय मानते हैं। रोग सामने आता है तो चिकित्सक खोजते हैं, इष्ट वस्तु से वियोग होता है तो मन को समझाते हैं। यदि जरा-मरण आदि अपरिहार्य रूप से घटते हैं तो तितिक्षा का सहारा लेते हैं और विस्मरण का यथाशक्य प्रयास उचित मानते है। मृत्यु जीवन का अपरिहार्य अन्त है और जरा उसका स्वाभाविक और अनिवार्य उपसर्पण। किन्तु भोग जीवन इनकी ओर गज-निमीलिका वरतता है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से आगन्तुक दु ख दृष्ट उपायो से परिहार्य है एव जरा-मरण आदि अपरिहार्य दु ख असमीक्ष्य हैं। पृथग्जन और लौकिक पडित सभी दु ख को जीवन मे एक सीमित तत्त्व मानकर प्रवृत्त होते हैं। पुरानी ग्रीक सभ्यता मे जीवन के अपरिहार्य दु ख के समक्ष मनुष्य सर्वथा असहाय माना जाता था और धैर्य का उपदेश दिया जाता था। यही समस्त बुद्धिवाद (रैशनलिज्म) की चरम परिणति हे। मनुष्य केवल इतना ही कर सकता है कि आगन्तुक दु ख को प्रयत्नपूर्वक हटाये और लभ्य सुखो को अपनी खोज का लक्ष्य वनाये। आधुनिक जीवन मे भी एक ओर सुख की खोज का आदर्श है, दूसरी ओर दृष्ट उपायो से रोग, दारिद्रय, असुरक्षा आदि आगन्तुक दु ख की निवृत्ति का। इस दृष्टि से दु ख सत्य होते हुए भी ससार को हेय नही सिद्ध करता।

पर यह लोक-दृष्टि दु ख के केवल वामन रूप को देखती है, उसका वास्तविक विराट् रूप आर्य-चक्षु के लिए ही प्रकट होता है। गयाशीश पर उपदिष्ट सुप्रसिद्ध आदीप्त-पर्याय के शब्दो मे, 'सभी जल रहा है—जरा से, मरण से, शोक, विलाप, दु.ख दौर्मनस्य और उपायास से सब कुछ जल रहा है।' आदीप्त-पर्याय अपने वर्तमान रूप मे मूल वुद्धवचन न होते हुए भी, इस प्रकार का आशय नाना रूपो मे वौद्ध साहित्य मे प्रकट होता है। राग और भोग का समस्त लौकिक जीवन अस्थिर और अनाश्वास्य है एव सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दु ख का अनादि प्रवाह मात्र है।

दु ख को इस प्रकार जीवनव्यापी और अपरिहार्य मानकर मुक्ति और शांति की खोज प्राय सभी निवृत्तिपरक आध्यात्मिक प्रस्थानो मे रही है। सांख्य और योग, निर्ग्रन्थ और वौद्ध सभी इसमे एकमत है। प्राचीन वौद्ध साहित्य मे प्रतिकूल-सवेदन रूप दु ख के मुख्य अर्थ के ग्रहण के साथ दु ख-वहुल ससार को भी दु ख माना गया है, किन्तु वहाँ दु ख के इस व्यापक महत्त्व-स्वीकार के अनेक उदाहरण होते हुए भी उसका अधिक सूक्ष्म विवेचन तथा विस्तृत निरूपण नही प्राप्त होता। उत्तरकाल मे दु ख की परिभाषा पर प्रभूत विमर्श किया गया। पहले तो यह स्वीकार किया गया कि 'सर्व

दु ख' उस उक्ति मे दु ख और दु ख-सवेदन मे स्पष्टत भेद है क्योंकि मवेदन को द्विविध—दु खात्मक अथवा सुखात्मक—या, अदु खा–सुखात्मक सवेदन को जोडकर, त्रिविध मानना अनिवार्य है। स्पष्ट ही दु ख-सवेदन वेदना-स्कन्ध के अन्दर तृतीयाश मात्र है जबकि पाँचो उपादान-स्कन्ध दु खात्मक हैं। विभज्यवादियो के अनुसार दु ख के इस विराट् रूप का वह अश जो कि पुनर्जन्म तथा उसके निरोध से मम्बद्ध है दु खसत्य मानना चाहिए, शेष केवल दु ख[३९]। दु ख की विभुता अन्य दर्शनो मे भी स्वीकार की गयी है। न्यायवार्तिक मे दु ख को 'एकविशतिप्रभेदभिन्न' बताया गया है[४०]। न्याय-मजरी मे कहा गया है कि केवल बाधना-स्वभाव मुख्य दु ख का ही परामर्श नही किया जाता, किन्तु उसका साधन और उससे अनुपक्त सब कुछ का[४१]। पर यह शका हो हो सकती है कि सुख-दु ख से असबद्ध नाना चित्तविप्रयुक्त पदार्थों के होते हुए सब कुछ को कैसे दु खात्मक कहा जा सकता है। इसके उत्तर मे परवर्ती आचार्यो ने न केवल पीडा-सवेदन रूप दु ख को दु ख के अन्तर्गत रखा है, किन्तु परिणाम और सस्कार को भी दु ख माना है[४२]। सुख अस्थिर है और अन्त मे असुख बन जाता है। उस कारण उसे भी दु ख मे गिनना चाहिए। समस्त वस्तुएँ अनित्य और परिवर्तनशील हैं एव एक प्रकार के निरन्तर अव्युपशम मे पडी हुई है। इस कारण सभी कुछ दु ख मे गिना जाना चाहिए। इस व्यापक दृष्टि से समस्त अनित्य जगत् दु खात्मक है। यह कहा जा सकता है कि यह मत प्रत्यक्ष-विरुद्ध है क्योकि हम लोग निरन्तर अनित्य अनुभव-प्रवाह मे रहते हुए भी उसे निरन्तर दु ख-प्रवाह नही देख पाते। इसका उत्तर अक्षिपात्र-न्याय मे दिया जाता है। जिस प्रकार आँख मे पडा हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म रज-कण भी विकलता उत्पन्न करता है, अन्यत्र देह मे नही, वैसे ही सूक्ष्मवेदी आर्यो को समस्त अनुभव मे दु ख बोध होता है, स्थूलग्राही पृथग्जनो को नही[४३]। दु खका सर्व-विदित स्थूल रूप है प्रतिकूल-सवेदन, पर उसका आर्य-विदित, सूक्ष्म और सर्व-गत रूप है अव्युपशम।

प्रतीत्यसमुत्पाद—ऊपर कहा जा चुका है कि ई० पू० छठी शताब्दी मे ससार से दु ख से मुक्ति की खोज ने बहुतो को घर से बाहर मौन परिव्राजक बना दिया था

३९—दे०—नीचे।

४०—न्यायवार्तिक, पृ० २।

४१—न्यायमजरी, पृ० ५०७ (विजयनगरम्)।

४२—अभिधर्मकोश (पूसें द्वारा फ्रेंच में अनूदित), तु०—योगसूत्र, २ १५, जि० ४, पृ० १२५।

४३—तु०—योगभाष्य, पृ० १८१–८२।

और नाना परिव्राजक-सम्प्रदायो मे दुःखमय संसार की समस्या नाना प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया गया था। बुद्ध-देशना मे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा दुःख-समुदाय के प्रश्न का समाधान हुआ है, यह प्रायः सभी स्वीकार कर लेंगे, यद्यपि प्रतीत्य-समुत्पाद की अनेकानेक व्याख्याएँ की गयी है। आदेर और फ्रांके ने उसे मूल-देशना में उत्तरकालीन प्रक्षेप ठहराया है[४४]। श्रीमती राज़ डेविड्स ने तो कार्य-कारण सिद्धान्त के मूल उपदेशक का नाम भी खोज निकाला है। उनका कहना है कि तथागत नही, कप्पिन इसके आविष्कारक थे[४५]। पर यह निस्सन्देह है कि यदि नाम से अथवा विस्तार से नही, तो कम-से-कम बीजरूप मे प्रतीत्यसमुत्पाद अवश्य ही मूल-देशना का अग था। प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्बोधि मे अधिगत धर्म बताया गया है और यह कहा गया है कि "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है।" सभी सम्प्रदाय इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं और इसे सर्वथा छोड देने पर सद्धर्म की रीढ ही टूट जाती है। यह अवश्य है कि इसका प्राचीनतम निर्देश कदाचित् "मध्यम धर्म" अथवा "मध्यमा प्रतिपद्" के नाम से हुआ था। यह निश्चित है कि मूल-देशना मे इसका प्रतिपादन अपारिभाषिक और विविध था। किन्तु इन विविध उपदेशो के सग्रह, वर्गीकरण, और परिष्कार के द्वारा परिनिर्वाण की प्रथम शती मे ही प्रतीत्यसमुत्पाद ने अपना विकसित और सुविदित रूप धारण कर लिया जिसमे ससार अविद्या से प्रारम्भ होकर दुःख मे अन्त होने वाली एक कार्य-कारण शृखला है। इस शृखला की बारह प्रधान कड़ियाँ है जिन्हे "द्वादश निदान" कहा जाता है। अभिधर्म मे प्रतीत्यसमुत्पाद के इस रूप की विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या की गयी। किन्तु माध्यमिक दर्शन मे फिर से प्रतीत्यसमुत्पाद के वास्तविक, गभीर और व्यापक रूप का प्रतिपादन किया गया जो कि मुख्य अभिप्राय मे मूल-देशना के निकट होते हुए भी परवर्ती काल के दार्शनिक परिष्कार से अलकृत था।

और सांख्यदर्शन—अनेक विद्वानो ने प्रतीत्यसमुत्पाद को साख्य-दर्शन के प्रसिद्ध तत्त्व-परिणाम से निकला हुआ माना है[४६]। इसके प्रतिकूल यह निर्विवाद है कि साख्य का परिणामवाद वस्तुत शाश्वतवाद है जिसका प्रतीत्य-समुत्पाद निराकरण करता है।

४४—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४०६।

४५—द्र०—शाक्य, पृ० १३८–४८।

४६—द्र०—याकोबी, जेड० डी० एम० जी०, जि० ५२, पृ० १ प्र०, कीथ, बुद्धिस्ट फिलॉसोफी, पृ० १०६ प्र०।

और न निदानो को "तत्वो" के सदृश माना जा सकता है। यह सच है कि साख्य-योग मे दु ख की उत्पत्ति का कारण अविद्या, क्लेश और कर्म को माना जाता है, किन्तु इस प्रकार की धारणा प्राय समस्त निवृत्तिपरक सम्प्रदायो मे समान थी। उपनिषदो मे भी इसकी अभिव्यक्ति पायी जाती है[४७]। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल इतना ही था तो उसके स्वीकार से सद्धर्म मे अन्य सम्प्रदायो से पृथक् मौलिकता नही आती। जिस प्रकार से चार आर्य-सत्य सभी अध्यात्म-शास्त्रो मे अनुगत थे, उसी प्रकार दु ख का अज्ञान, काम और कर्म से सम्बन्ध भी सर्व-सम्मत था। वस्तुत जैसे आर्यसत्यो मे सद्धर्म का वैशिष्ट्य प्रत्येक सत्य के विशिष्ट प्रतिपादन के द्वारा व्यक्त होता है ऐसे ही दु ख-समुदाय के इस प्रचलित गुर के विषय मे भी समझना चाहिए। दु ख के कारण अज्ञान, इच्छा और कर्म है, इसको सभी जानते और मानते थे, किन्तु इनकी कारणता का क्या स्वरूप है एव इनका स्वय क्या स्वरूप है, इस विषय मे एक विलक्षण दृष्टिकोण प्रतीत्यसमुत्पाद मे अन्तर्भूत है।

प्रतीत्यसमुत्पाद और कार्य-कारणभाव—प्रतीत्यसमुत्पाद का मुख्य अभिप्राय दु ख की उत्पत्ति समझाना था, अथवा कार्यकारण-नियम का सामान्यत प्रतिपादन था, इसपर भी मतभेद है। यह अक्सर माना गया है कि चिन्तन के इतिहास मे प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य-कारण-भाव का व्यापक रूप मे सर्वप्रथम प्रतिपादन है और उसका महत्त्व इसी पर अवलबित है[४८]। किन्तु यह मानना कठिन प्रतीत होता है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध का बुद्ध के समय म अथवा उससे पहले प्रतिपादन नही हुआ था। यदि यह सच है कि चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूह का अध्यात्म-विद्या मे अनुकरण किया गया तो स्पष्ट ही कार्य-कारण-सम्बन्ध का नियम चिकित्सा-शास्त्र मे सुविदित मानना होगा। इसके अतिरिक्त यह सुबोध नही है कि कार्यकारण-नियम का ज्ञान आध्यात्मिक जगत् मे किस प्रकार परम आविष्कार माना जा सकता है। यह सच है कि शारीरिक और मानसिक व्यापार कार्यकारण के नियम मे जकड़े हुए है, किन्तु केवल इतने मात्र के अनुगमन से अध्यात्म-विद्या का कार्य सम्पन्न नही होता क्योकि इतना स्वीकार तो आगनिक जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान मे भी किया जाता है। आध्यात्मिक सत्य होने के लिए

४७—बृ० उप० ४ ४.५—"स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।"

४८—राइज़ डेविड्स, डाइलॉग्स ऑव् दि बुद्ध, जि० २, पृ० ४२ प्र०, अमेरिकन लेक्चर्स, पृ० ८५ प्र० (प्र० सुशील गुप्त)।

कार्य-कारण-नियम को किमी अन्य वृहत्तर सत्य की भूमिका मानना होगा। यह कहा गया है कि कारण-नियत व्यवहारिक जगत्, के ज्ञान का नैतिक और धार्मिक प्रगति मे उपयोग किया जा सकता है, और ऐमे ही प्रतीत्यसमुत्पाद मे भी दु ख के कारण वताकर उनसे मुक्ति का उपाय सुझाया गया है[४९]। वस्तुत यद्यपि समस्त कर्म-जगत् कार्य-कारण-नियम के परतन्त्र है और उसमे सत्कर्म मे मुख और असत्कर्म से दु ख प्राप्त होता है, तथापि कार्य-कारण-नियम के आश्रित कर्म-पात्र से, चाहे सत्कर्म हो, परमार्थलाभ नही हो सकना। यही अध्यात्म के क्षेत्र मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सीमा हे।

यह भी कहा गया है कि कारण-परतन्त्र व्यावहारिक जगत् को ही यथावत् समझ लेने से हम अपने को उससे विलक्षण एव स्वतन्त्र ममझ पाते है और इस प्रकार कार्य-कारण-नियम की व्यापकता का वोध अनात्म-तत्त्व का साक्षात्, और आत्म-तत्त्व का परम्परया, वोध प्रदान करने मे समर्थ है[५०]। अतएव प्रतीत्यसमुत्पाद केवल कार्य-कारण-नियम की सर्वत्र व्याप्ति का उपदेश है। किन्तु यदि इस उपदेश का प्रयोजन सत्कर्म मे साहाय्य अथवा नैरात्म्य का वोध कराना था तो यह समझ मे नही आता कि मुविदित कार्य-कारण-नियम की आवृत्तिमात्र पर इतना ध्यान क्यो दिया गया और उसके द्वारा यथार्थ मे प्रतिपादनीय अभीष्ट अर्थ पर इतना कम क्यो। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है, वुरे कर्म का वुरा, इच्छा से कर्म होता है, कर्म से पुनर्जन्म। यह उपनिपदो मे कहा गया है। इतना समझाने के लिए कार्य-कारण-नियम का व्यापक और पारिभाषिक अभिधान अनावश्यक है, और यह नही कहा जा सकता कि तथागत अनपेक्षित चर्चा करते थे।

प्रतीत्यसमुत्पाद के दो पक्ष—वस्तुत. दु ख के अर्थ मे द्वैत है। एक ओर दु ख का अर्थ है दु खात्मक अनुभव, दूसरी ओर उसका हेतुभूत अनित्य जगत्। दु ख के इन दोनो मुख्य और गौण अर्थो के अनुरूप ही प्रतीत्यसमुत्पाद के भी दो रूप है—एक व्यापक रूप, जिसमे कि दु ख की परमकारणता उभर आती है, और एक दूसरा सीमित रूप जो कि पुनर्जन्म और दु ख-सवेदन के आसन्न-कारणो का निर्देश करते हुए पहले का एक विशिष्ट उपयोग है। एक ओर प्रतीत्यसमुत्पाद दु खमय ससार को परमार्थ की भूमि से निरूपित करता है, दूसरी ओर व्यवहार की अन्तर्गत कार्यप्रणाली की ओर इगित।

दु ख का मूल आवार अविद्या हे और प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुत अविद्या का स्वरूप प्रकट करता हुआ परमार्थ की ओर सकेत करता है। अविद्यावष्टम्भ जगत् के अन्दर ही

४९–द्र०—श्रीमती राइज़ डेविड्स, शाक्य, पृ० १४८–६२।
५०–द्र०—कुमारस्वामी, हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म, पृ० ८०।

कार्य-कारण-नियम का व्यापार रहता है और प्रतीत्यसमुत्पाद का गौण रूप अविद्या-कुडलित जीवन के अन्दर दु ख का चक्राकार विकास प्रदर्शित करता है। यह स्मरणीय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रचलित बोध मे एक बडी भ्राति यह है कि वह अविद्या को भी ठीक उसी प्रकार कारण मानता है जैसे कि अन्य निदानो को, और इस प्रकार कार्य-कारण-नियम को अविद्या-परिगत मानने के स्थान पर स्वय अविद्या को तृष्णा आदि के साथ कार्य-कारण-नियम से परिगत मानता है अर्थात् कार्य-कारण-नियम अविद्यापरतन्त्र, और व्यावहारिक होने के स्थान पर स्वय पारमार्थिक बन जाता है।

मूल 'धर्म सकेत'—सम्बोधि और ब्रह्मयाचन के सदर्भो मे यह कहा गया है कि बुद्ध ने निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद रूप गम्भीर, दुर्दर्श, दुरनुबोध, शान्त, प्रणीत और अतर्कावचर धर्म की प्राप्ति की[51]। यह स्मरणीय है कि ललित-विस्तर मे पालि संदर्भ का सादृश्य होते हुए भी प्रतीत्यसमुत्पाद के स्थान पर निर्वाण का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु साथ ही निर्वाण का एक और अधिक विशेषण "शून्यतानुपलम्भ" दिया गया है[52]। अर्थत यहा पर महायान के मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण को भिन्न नही माना गया है और प्रतीत्यसमुत्पाद को तत्त्वशून्यता मे सगृहीत किया गया है। पालि सदर्भ मे भी स्पष्ट द्वैत विवक्षित नही है। हमें ऐसा लगता है कि निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद का सम्बन्ध कुछ ऐसा था जैसे कि शाकर दर्शन में ब्रह्म और माया का। परवर्ती काल मे महीशासक और पूर्वशैलीय प्रतीत्यसमुत्पाद को असस्कृत मानते थे[53], जबकि स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी प्रतीत्यसमुत्पाद को सस्कृत धर्मों से अभिन्न मानते थे[54]। माध्यमिक आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्वृति की सावृतता और परमार्थ, दोनो का ही सकेत स्वीकार करते थे[55]। इस विविध विकास से मूल सिद्धान्त की जटिलता और सूक्ष्मता उन्नेय है।

उपर्युक्त सदर्भो मे प्रतीत्यसमुत्पाद के विशेषणभूत 'अतर्कावचर' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का वास्तविक रहस्य तर्कगम्य न होकर साक्षात्प्रज्ञा

५१—मज्झिम, सुत्त, २६, ८५, संयुत्त (रो०) जि० १, पृ० १३६, दीघ (ना०) जि० २, पृ० ३०, इत्यादि।

५२—ललित, पृ० २८६।

५३—कथावत्थु, ६ २।

५४—तु०—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७७, पादटि० १।

५५—दे०—नीचे।

के द्वारा साक्षात्करणीय है। इससे पता चलता है कि यह वास्तविक अर्थ केवल कार्य-कारण-नियम नही हो सकता क्योंकि कार्य-कारण-नियम मे तर्क की अगोचरता नही है। अतर्क्य होने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद का सही प्रतिपादन अतद्व्यावृत्ति के द्वारा ही सम्भव है। दूसरी ओर प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रसिद्ध धर्मसकेत एक नियम का निरूपण करता है कि "इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नही होता, इसके निरोध से यह निरुद्ध होता है"[५६]। इस धर्मसकेत का वास्तविक तात्पर्य अपोहात्मक समझना चाहिए और वह प्रत्येक सासारिक वस्तु की परतन्त्रता और सापेक्षता द्योतित करने मे है। साधारण बुद्धि ससार की सब परिच्छिन्न वस्तुओ को अखडित स्वभाव और सत्ता से युक्त मानती है, किन्तु वस्तुत परिच्छिन्न स्वभाव और सत्ता पदार्थान्तर के स्वभाव और सत्ता की अपेक्षा रखती है[५७]। कार्य-कारण-नियम से केवल पदार्थो की सत्ता के प्रारम्भ अथवा अभिव्यक्ति की परतन्त्रता सूचित होती है, पदार्थो के पृथक्-पृथक् स्वभावो की अकल्पनीयता नही। किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद मे पूर्ण पारतन्त्र्य अभीप्सित है। न पदार्थो का अपना अस्तित्व है, न अपना स्वरूप। सर्वत्र परापेक्षा है। इसीलिए उपर्युक्त धर्मसकेत मे भी द्विविध निर्देश किया गया है। एक वस्तु के होने पर दूसरी वस्तु होती है अर्थात् यदि एक का स्वरूप निर्धारित है तो दूसरे को निर्धारित किया जा सकता है। एक वस्तु के उत्पन्न होने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है अर्थात् एक वस्तु सत्तावान् है तो दूसरी सत्तावान् हो सकती है। स्वभाव-पारतन्त्र्य का पक्ष माध्यमिको की शून्यता का बीज है। सत्तापारतन्त्र्य का पक्ष परवर्ती बौद्धाचार्यो के द्वारा कार्य-कारण-सम्बन्ध और क्षणिकत्व की विशिष्ट और विविध विश्लेषणा का विषय बना। वस्तुत प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित सत्तापारतन्त्र्य के सिद्धान्त को प्रचलित अर्थ मे कार्य-कारण-नियम मानना उतना उचित नही है जितना कि उसे कारित्रपारतन्त्र्य का नियम मानना[५८]। बौद्धाचार्य सत्ता को कारित्र से व्यतिरिक्त धर्म नही स्वीकार करते।

५६—"इमस्मि सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मि असति इद न होति, इमस्स निरोधा इद निरुज्झति"—मूल सन्दर्भ अनेक है, द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४१६।

५७—दे०—ऊपर।

५८—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४१७–१८, तु०—श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक, जि० १, पृ० ११९–२४।

'मध्यमा प्रतिपद्'—प्रतीत्यसमुत्पाद का सुस्पष्ट अतद्व्यावृत्त्या निरूपण 'मध्यम-धर्म' के रूप मे प्राप्त होता है और सयुत्त-निकाय के कुछ सूत्रो मे प्रतीत्यसमुत्पाद का मध्यम धर्म (मज्झेन धम्मो) के रूप मे अतिप्राचीन वर्णन है। सयुत्त २ १ १५ मे बुद्ध ने कात्यायन से कहा है कि मध्यमा प्रतिपद् अस्तिता और नास्तिता के दोनो छोरो (अन्तो) से वचती है, जिनमे कि लोक आसक्त है। इसके अनन्तर मध्यमा प्रतिपद को उत्तरकाल मे प्रचलित गुर के अनुसार निरूपित किया गया है, जो प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। नागार्जुन ने इस कात्यायनाववाद का उल्लेख किया है और इसको शून्यता के सिद्धान्त का प्राचीन आकर माना है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यह सूत्र सव सम्प्रदायो मे पढा जाता है। "दोनो अन्तो का मध्य है, अरुच्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनायास, अनिकेतन, और अविज्ञप्तिक। इसीको, कास्यप, मध्यमा प्रतिपदा कहा जाता है"। सयुक्त २ १ १७ मे बुद्ध नागा (अचेल) काश्यप को वताते है कि दु ख न स्वयकृत न परकृत है, न अधीत्यसमुत्पन्न, किन्तु शाश्वत और उच्छेद के अन्तो से वचने के लिए मध्यमा प्रतिपद् का सहारा लेना चाहिए और वही प्रतीत्यसमुत्पाद है। अगले सूत्र मे इसी प्रकार का अर्थ विवक्षित है। तिवरुक परिव्राजक से कहा गया है कि सुख और दु ख के सवेदन न तो सवेदक से भिन्न है न अभिन्न, क्योकि भिन्न होने पर वे परकृत (अर्थात् आगन्तुक और नैतिक उत्तरदायित्वहीन) हो जाते है एव अभिन्न होने पर स्वयकृत (अथवा अनिवार्य); प्रतीत्यसमुत्पाद मे सवेदन को न स्वतन्त्र माना जाता है न परतन्त्र। वही ३५ वें सूत्र में कहा गया है कि कि वुद्ध का धर्म जीव और शरीर के भेद और अभेद के विषय मे अन्तपरिवर्जन करता है। ३७ वे सूत्र मे कहा गया है कि "न यह शरीर तुम्हारा है न औरो का"। ४६ वे सूत्र मे कर्म के कर्त्ता को उसके फल के अनुभविता मे न भिन्न, न अभिन्न कहा गया है। ४७ वे सूत्र मे 'सव है', 'सव नही है' इन दोनो की मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश किया गया है। ४८ वे सूत्र मे एकत्व और वहुत्व के मध्य का उपदेश है।

कुछ विद्वान् मध्यमा प्रतिपद् को अनित्यता और परिवर्तन का वैसा उपदेश मानते है जिस प्रकार हेगेल ने अस्ति और नास्ति का 'भवन' (होना) अथवा परिणाम मे में समन्वय माना था[६०]। उनके अनुसार तथागत ने भी शाश्वत और उच्छेद मे समन्वय

५९—प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० २६९।

६०—श्रीमती राइज डेविड्स, वुद्धिज्म, (होम यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी), पृ० ९४ प्र० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसोफी, जि०१, पृ० ३६८—६९, तु०—हेगेल्स लॉजिक (वॉलेस का अनुवाद), पृ० १५८—६८।

से बचकर जीवन की सतत परिणामिता और प्रवाहशीलता का उपदेश किया था। किन्तु यह मत ग्राह्य नही प्रतीत होता। तथागत का यह कहना नही है कि ससार के प्रवाह मे पदार्थ है भी और नही भी है। उनका कहना है कि इस प्रवाह को न सत् कहा जा सकता है न असत्। मध्यमा प्रतिपद् अस्ति और नास्ति का समन्वय नही, अतिक्रम करती है। वस्तुत परिणामवाद तो साख्यो का सिद्धान्त है।

उपनिषदो मे असद्वाद का निराकरण और सद्वाद का प्रतिपादन मिलता है और इस तरह से उत्तरकालीन विवर्तवाद का बीज भी उपनिषदो मे देखा जा सकता है[६१]। एक स्थल मे कहा कहा गया है 'न सत् है, न असत् है, केवल शिव है'[६२]। यही दृष्टि प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा मध्यमा प्रतिपदा मे विकसित पायी जाती है। यह वर्तमान में अनित्यता और परिणाम स्वीकार करती हुई भी उसे पारमार्थिक नही मानती। व्यावहारिक जगत के परतन्त्र और सापेक्ष होने के कारण उसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। व्यावहारिक जीवन परिच्छेद अथवा सीमा से बनता है और अतएव दु खात्मक और अतिक्रमणीय है। उपनिषदो मे कहा जा चुका है कि केवल भूमा ही परमार्थ है[६३]। अनित्य और सान्त वस्तुओ का जगत् परमार्थत सत्य नही हो सकता, किन्तु व्यवहारत अवश्य सत्य है। व्यवहार मे कार्य-कारण-नियम का निरपवाद व्यापार है।

सस्कृत जगत् के विषय मे प्रतीत्यसमुत्पाद से वस्तुओ का अहेतुत्व एव एकहेतुत्व, विषमहेतुत्व, अथवा स्वपरोभयकृतत्व का निराकरण होता है। इस दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद सस्कृत धर्मो से अभिन्न है। सस्कृत धर्म के तीन लक्षण कहे गये है—उत्पत्ति, व्यय और स्थित्यन्यथात्व। समस्त सस्कृत धर्म हेतुप्रत्यय-सापेक्ष अनादि प्रवाह मे पड हुए है। प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यावहारिक पक्ष इसी की ओर सकेत करता है। वैदिक साहित्य के पुरुषकारणवाद का इससे निराकरण हो जाता है और साथ ही साख्य आदि सम्मत किसी तत्त्व का स्थायी उपादानकारण के रूप मे स्वीकार भी खण्डित हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद मे न कार्य को कारण का परिणाम माना जाता है, न असत् से उत्पन्न। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भक, किन्तु कारण की सत्ता और कार्य की सत्ता मे सापेक्षता है। यही परिणामवाद, आरम्भवाद आदि से विलक्षण बौद्ध हेतुवाद का सिद्धान्त है।

६१—छा० उप० ६.२.१.२; वही ६.१.४; बृ० उप० ४.५.१५; कठ, २.४.१०—११।

६२—श्वेताश्वतर, ४.१८।

६३—छा० उप० ७.२४.१।

फलितार्थ यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो परमार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यावहारिक पक्ष है जो ससार मे कार्य-कारण-नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दु ख का मूल कारण ससार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्याग्रस्त चित्त के लिए दु खात्मक ससारचक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है।

दुःखसमुदय—प्राचीन पालि सदर्भो मे दु ख के समुदय पर विविध छोटी-बडी सूचियो मे कारण निर्देश किये गये है[६४]। प्राचीनतम निर्देश अल्पाकार है और उनमे तृष्णा, कर्म, अहकार दृष्टि अथवा उपादान को दु ख का कारण बताया गया है।[६५] इन निर्देशो मे पारिभाषिक एकरसता नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न उपदेशो मे उल्लिखित कुछ सदृश और कुछ विसदृश कारणोका उत्तरकाल मे सग्रह और परिष्कार तथा उनके नामो मे समानरूपता का आपादन किया गया और इस प्रकार दु ख के नाना निदानो से एक बारह निदानो की परिष्कृत शृ खला का विकास हुआ।

कर्म—बुद्ध के समय मे दु ख की उत्पत्ति का प्रधान कारण कर्म माना जाता था और यह निर्विवाद है कि ससार-मीमासा मे कर्म की प्रमुखता पीछे भी सर्वसम्मत रही। निकायो की बार-बार दुहरायी गयी एक पक्ति मे कहा गया है[६६] कि 'कर्म ही जीवो का अपना है, कर्म ही उनकी विरासत है, कर्म उनका प्रभव है, कर्म उनका बन्धु और कर्म ही उनका सहारा है'। 'कर्म ही जीवो को बाँटता है, उन्हें हीन और उत्तम बनाता है।"

"मै चेतनापूर्वक किये हुए और सचित कर्मो के फल का प्रतिसवेदन किये बिना उनके और दु ख का अन्त नही बताता हूँ। प्रत्येक के लिए दु ख का अन्त बोधपूर्वक किये गये कर्मो के क्षीण होने पर ही सम्भव है।"

इस प्रकार प्राचीन बौद्धो मे भी कर्म ही ससार का आसन्न कारण स्पष्टत स्वीकार किया गया था, यद्यपि कुछ स्थलो मे कर्म के अतिरिक्त दु ख के सात और कारणो का भी निर्देश मिलता है, यथा पित्त, श्लेष्म, वात, सन्निपात, ऋतु, विषम-उपक्रम और

६४—तु०—"तेऽविद्यादय ···क्वचित् सक्षिप्ता निर्दिष्टा· क्वचित् प्रपञ्चिता" (ब्र० सू० २ २.१९ पर शकराचार्य), तु०—विसुद्धिमग्गो, पृ० ३६६–६७।

६५—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४३४–३५।

६६—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४२८–२९।

कर्मविपाक[६७]। कुछ स्थलो मे कर्म के चार विभाग किये गये हैं—कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल। यह स्मरणीय है कि अभिधर्म मे प्राय तीन प्रकार के कर्मो का उल्लेख है—कुशल, अकुशल एव अव्याकृत। योग-सूत्रो मे भी कर्म का यह चतुर्धा विभाजन पाया जाता है। आजीवक और जैन कर्म की अनेक अभिजातियाँ अथवा लेश्याएँ स्वीकार करते थे। सम्भवत प्रारम्भ मे केवल दो ही प्रकार के कर्मो की चर्चा थी—कृष्ण और शुक्ल। पीछे अधिक वर्गीकरण किया गया।

बुद्ध भगवान् कर्म का सार मानसिक सकल्प अथवा कर्म करने का मानसिक निर्णय मानते थे जिसे "चेतना" कहा जाता था। "भिक्षुओ, मैने चेतना को कर्म कहा है, चेतना-पूर्वक कर्म किया जाता है, शरीर से, वाणी से, मन से)[६८]। अभिधर्म कोश मे भी कर्म की परिभाषा 'चेतना' और 'चेतयित्वाकरण' दी गयी है[६९]। नागार्जुन ने भी कहा है—

> "चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा ।
> तस्यानेकविधो भेदः कर्मणः परिकीर्तित. ॥
> तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानस स्मृतम् ।
> चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत्तु कायिकवाचिकम् ॥"

(मध्यमक० १७.२–३)

इस प्रसग मे चेतना का अर्थ सकल्प अथवा कर्म का मानसिक निर्णय लेना चाहिए। स्पष्ट ही कर्म के विषय मे तथागत का मत निर्ग्रन्थ मत से नितान्त भिन्न था क्योकि निर्ग्रन्थ कर्म को पौद्गलिक मानते थे।"

न केवल निर्ग्रन्थ मत से, किन्तु वेदानुसारी मत से भी इस विषय मे बौद्धो का भेद है। वैदिक मत मे कर्म को जीवरूपी कर्त्ता का व्यापार और उससे उत्पन्न अदृष्ट शक्ति माना जाता है, किन्तु प्राचीन बौद्धसदर्भो मे कर्म को किसी अनुवर्तमान कर्त्ता का धर्म नही माना गया है। सयुत्त० के ये वाक्य इस प्रसग मे स्मरणीय है—'कर्म अनात्मकृत है'। 'न यह शरीर तुम्हारा है, न औरो का है। केवल पुराना कर्म है।' 'जीव और शरीर को एक मानने से ब्रह्मचर्यवास नही होता, न भिन्न मानने से'। 'न यह आत्मकृत

६७–अंगुत्तर (रो०) जि० ३, पृ० १८६, संयुत्त (रो०) जि० ४, पृ० १३२–३३, २३०–३१।

६८–संयुत्त (रो०) जि० २, पृ० ३९, ४०, अंगुत्तर (रो०) जि० २, पृ० १५७–५८।

६९–अभिधर्मकोश, ४.१।

है, न परकृत। हेतु के सहारे उत्पन्न हुआ है, हेतु न रहने पर निरुद्ध हो जायेगा[70]। यह स्पष्ट है कि बुद्ध भगवान् के अनुसार कर्म और कर्मफल की एक अनादि और अविच्छिन्न परम्परा है जिसमें कर्म का करना और उसके फल का भोग, दोनों समान प्रवाह में पतित घटनामात्र हैं। इस मत में किसी अनुगत और स्थायी कर्त्ता और भोक्ता का स्वीकार नही है।

कर्म का मूल है तृष्णा, और तृष्णा एक ओर अविद्या पर आश्रित है, दूसरी ओर सुख के अनुभव पर। एक प्रसिद्ध सदर्भ मे कहा गया है 'भिक्षुओ, ससार अनादि है। अविद्या से आच्छन्न और तृष्णा से बँधे हुए एक जन्म से दूसरे जन्म को दौडते हुए जीवो की पूर्व कोटि पता नही चलती'[71]। नागार्जुन ने इसी की ओर उल्लेख किया है—

"पूर्वा प्रज्ञायते कोटिर्नेत्युवाच महामुनिः।
संसारोऽनवराग्रो हि नास्यादिर्नापि पश्चिमम्॥"

(मध्यमक० ११.१)

चन्द्रकीर्ति ने भी इस सूत्र का उद्धरण दिया है। अभिधर्मकोश मे स्पष्ट कहा गया है कि 'अविद्यायुक्त स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है, अविद्यायुक्त वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है'[72]। इस परवर्ती परिष्कृत निरूपण का प्राचीनतम बीज सुत्तनिपात के अट्ठक-वग्ग मे प्राप्त होता है। यहाँ दुःख के कारण को इच्छा, मान (गुण), काम, तृष्णा, ममकार, छन्द (सकल्प), स्पर्श और सज्ञा कहा गया है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास की पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था मे विभिन्न दुःख के निदानो को जोडकर कारण शृखलाएँ प्रस्तुत की गयी है। निदानसयुत्त के अनेक सूत्रों मे यह अवस्था देखी जा सकती है। परवर्ती बौद्धाचार्यों ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद के ये अधूरे (वस्तुत, अविकसित पूर्वरूप) देखे थे। अभिधर्म कोश मे कहा गया है कि सूत्रों मे कही बारह निदानो का वर्णन है, कही ग्यारह का, कही दस का, कही नव का और कही आठ का[73]। सघभद्र ने इस आधार पर यह स्थापना की थी कि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल द्वादशाग नही है। बुद्धघोष ने कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का भगवान् बुद्ध ने कही सविस्तर वर्णन किया है,

७०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४३१, पादटिप्पणी, १५३।
७१—अनमतग्ग, सयुत्त, संयुत्त (रो०) जि० २, पृ० १७८–९३।
७२—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७१–७२।
७३—वही, पृ० ६०–६१।

कही विस्तृत। इसी मत का अनुवाद शकराचार्य ने शारीरकभाष्य मे किया है[७४]। प्रतीत्यसमुत्पाद की इसी अवस्था का महाभारत मे भी कदाचित् उल्लेख है—'कुछ लोग पुनर्जन्म का कारण अविद्या, कर्म और चेप्टा मानते है और उनके साथ लोभ, मोह और दोषो के सेवन को। अविद्या को क्षेत्र मानते है, कर्म को वीज और तृष्णा को उसका पोषक 'खाद-पानी'। यही उनका पुनर्जन्म है[७५]। प्रतीत्यसमुत्पाद की तीसरी अवस्था उसके द्वादश निदानो की श्रृखला के रूप मे परिनिष्ठित होने पर सम्पन्न हुई।

'द्वादश निदान'—प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत द्वादश निदान इस प्रकार है—अविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दु ख-दौर्मनस्य-उपायास। अविद्या को एक प्राचीन सन्दर्भ मे मोह और तम स्कन्ध कहा गया है[७६]। अविद्या का अर्थ प्राय चार आर्य सत्यो का अज्ञान वताया गया है। वस्तुत अविद्या वुद्धि का भ्रान्त विकल्प अथवा मिथ्या अध्यवसाय मात्र नही है, प्रत्युत् अयथाभूत दर्शन का अनादि अभ्यास है। अनित्य, दु खात्मक और अनात्मभूत चेतसिक और भौतिक जगत् मे अहकार-ममकार-पूर्वक सुख की खोज मे विवश लगे रहने के हमारे अभिनिवेश के मूल मे एक आवरण है जो कि चित्त की स्वाभाविक प्रभास्वरता को ढके रहता है। यही अविद्या है और इसकी निवृत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के विना नही हो सकती। परवर्ती आचार्य भदन्त श्रीलाभ का मत यहाँ पर उल्लेखनीय है कि 'अविद्या सव क्लेशो की सामान्य-सज्ञा है, रागादि क्लेशो से व्यतिरिक्त कोई अविद्या नही है[७७]। 'सस्कार' का अनेक अर्थो मे प्रयोग मिलता है, पर प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रसग मे 'सस्कार' से चैतसिक सकल्प अथवा छन्द ही अभिप्रेत लगता है और इस अर्थ मे सस्कार कर्म का ही सूक्ष्म मानसिक रूप है। नागार्जुन की उक्ति से इसका समर्थन होता है ..

"पुनर्भवाय संस्कारानविद्या निवृतस्तथा।
अभिसस्कुरुते यांस्तैर्गति गच्छति कर्मभिः॥"

(मध्यमक० २६।१)

७४—द्र०—ऊपर।

७५—महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना), शान्तिपर्व, २१८, ३२—३४।

७६—तु०—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७१०, चन्द्रकीर्ति, मध्यमक०१७, २८ पर।

७७—तु०—मिनयेफ, रिशर्श सूर ल वुद्धीज्म, पृ० २२६।

अनेक सदर्भो मे प्रतीत्यसमुत्पाद का निरूपण विज्ञान और नामरूप को अन्योन्याश्रित एव आदिम निदान मान कर हुआ है। कुछ स्थलो मे ऐसा प्रतीत होता है मानो विज्ञान ससारी हो, यद्यपि इसका प्रतिषेध भी किया गया है।[७८] नामरूप से प्राय "पाँच स्कन्ध" लिये गये है। यह उल्लेखनीय है कि महानिदान सुत्त मे षडायतन का उल्लेख नही है एव स्पर्श को नामरूप पर आश्रित कहा गया है। 'स्पर्श' का साधारण अर्थ इन्द्रिय अथवा मन का अपने विषय के साथ 'सनिकर्ष' है। वेदना उसमे उत्पन्न होने वाला सुख-दु ख का अनुभव है। कही वेदना द्विविध कही गयी है, कही त्रिविध। अनेक प्रकार से वेदनाओ का विभाजन और वर्गीकरण पाया जाता है। तृष्णा को 'पौनर्भविकी, नन्दिराग-सहगता, तथा तत्राभिनन्दिनी' कहा गया है और उसके तीन प्रकार अक्सर बनाये गये है,—कामतृष्णा, भवतृष्णा एव विभवतृष्णा। तृष्णा मूलत. सुख की खोज और उसमे आसक्ति है। उसका जन्म प्रियरूप अथवा शातरूप मे बताया गया है। तृष्णा मे बँधे होने के कारण मनुष्य ससार के पार नही जा पाता। इस प्रसग मे बृहदारण्यक के वाक्य स्मरणीय है—'इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य काममय ही है, तो जैसी कामना होती है, जैसा सकल्प होता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही बनता है।[७९] बुद्धघोष का कहना है कि अविद्या अथवा तृष्णा को मूल मानकर बुद्ध भगवान् ससार की उत्पत्ति बताते है[८०]। दोनो ही अनादि है, यद्यपि दोनो ही कारण परतन्त्र है। अविद्या और तृष्णा की सहकारिता से ही दु ख की उत्पत्ति होती है। तृष्णा के साथ छन्द का सम्बन्ध भी विचारणीय है। तृष्णा केवल इच्छा नही है। छन्द का अर्थ व्यापक है और उसमे समस्त सकल्प और एषणाएँ सगृहीत है, धर्मच्छन्द भी और कामच्छन्द भी। तृष्णा वस्तुत केवल कामच्छन्द को कहना चाहिए। पूर्वशैलीय सम्प्रदाय मे यह माना जाता था कि धर्मतृष्णा अव्याकृत है और दु ख का कारण नही है[८१]। मज्झिमनिकाय मे भी धर्मराग एव धर्मनन्दी का उल्लेख मिलता है[८२]। नागार्जुन ने धर्मच्छन्द का भी निषेध किया है। प्राय प्राचीन सदर्भो मे तृष्णा को राग, छन्द, प्रेम, पिपासा और परिदाह के साथ समानार्थक माना है।

७८—दीघ० सुत्त १५; संयुत्त, निदानसंयुत्त, सुत्त, ३८, ६४, तु०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४३८।

७९—बृ० उप० ४.४.५—६।

८०—विसुद्धिमग्गो, पृ० ३६८।

८१—कथावत्थु, १३.९—१०।

८२—मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० ३५२।

उपादान तृष्णा के विषय का अभिनिवेशपूर्वक ग्रहण और समासक्ति है। भव को प्राय तीन वर्गो मे बाँटा गया है—कामभव, रूपभव एव अरूपभव। भव से ससरण एव लोक दोनो के अर्थ सूचित होते हैं।

फलितार्थ यह है कि द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद के क्रमिक निष्पादन में अनेक कारणशृखलाओ का सयोग हुआ है। प्राचीन सन्दर्भो में कहा गया था कि दु ख का कारण अविद्या है, अथवा सस्कार है, अथवा नामरूप को ही दु ख का कारण बता दिया गया था। सुखसवेदन, तृष्णा अथवा उपादान अलग-अलग भी दु ख के कारण कहे गये एव इनमें से कुछ को जोड़ कर भी दु खसमुदाय समझाया गया था। इस प्रकार दु खसमुदाय से सम्बन्ध रखनेवाले सदर्भो में प्रतिपादित नाना निदानो के संग्रह और परिष्कार के द्वारा द्वादशार प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र का निर्माण हुआ।

उत्तरकालीन व्याख्याएँ—उत्तरकाल में प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी। स्थविरवादी अभिधर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत कारणतासम्बन्ध के विमर्श के द्वारा एक नवीन और सूक्ष्मतर हेतुप्रत्ययवाद का प्रतिपादन हुआ। प्रतीत्य-समुत्पाद के विभिन्न निदानो के परस्पर प्रत्यय-सम्बन्ध समान नही हैं। उदाहरणार्थ, विज्ञान का नामरूप से अन्योन्यसम्बन्ध है जबकि जाति का जरामरण से पूर्वजात और उपनिश्रय सबध है। परवर्ती अभिधम्मत्थ सग्रह (पृ० १४०) के शब्दो मे 'प्रतीत्यसमु-त्पाद-नय तद्भाव-भावि-भावाकार-मात्रोपलक्षित है। जबकि प्रस्थाननय प्रत्यस्थिति को दृष्टि में रखकर प्रवृत्त होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के विषय मे यह निर्धारित किया गया कि अविद्या, तृष्णा, उपादान संस्कार और कर्म कर्मभव के अन्तर्गत है जबकि विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना उपपत्तिभव के अन्तर्गत हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य यही है कि एक जन्म का कर्मभव दूसरे जन्म के उपपत्तिभाव को व्यवस्थित करता है। पूर्वजन्म के कर्मभव के केवल दो अंग बारह निदानो मे कहे गये है। वर्तमान जन्म के कर्मभव के पाँचो अग कहे गये हैं। अगले जन्म के उपपत्तिभव की सूचना केवल जाति और जरामरण के उल्लेख से मिलती हैं। अविद्या को सम्यग्दृष्टि का आवरण बताया गया। सँस्कार को 'चेतना' अथवा सकल्प, विज्ञान को इन्द्रियो से और मन से उत्पन्न तत्त्द्विषय का ज्ञान एव नामरूप को शेष चार स्कन्ध। भव को द्विविध कहा गया-कर्मभव और उपपत्तिभव (द्र० विसुद्धिमग्गो)।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म में अविद्या को पूर्वक्लेश-दशा समझाया गया है और सस्कार को पूर्वकर्म। उस प्रकार पूर्व जन्म के क्लेश और कर्म के कारण उत्पन्न नयी चेतना विज्ञान कही गयी है। अगले ७ अग गर्भ से प्रारम्भ करके व्यक्ति के पूर्ण विकास तक

सृजिन करते हैं। तृष्णा यौवन-प्राप्ति की अवस्था को इगित करती है, अन्तिम दो अग अगले जीवन के हैं। बारहो अग बराबर उपस्थित रहते है, केवल विभिन्न अवस्थाओ मे उनमे प्राधान्य भेद होता है (द्र०-अभिधर्मकोश)।

सर्वास्तिवाद के अभिधर्म मे भी प्रतीत्यसमुत्पाद का विलेवेचन हेतु प्रत्यय-विवेचन से पृथक् किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के चार प्रकार बताये गये है—क्षणिक, प्राकर्षिक, साम्बन्धिक और आवस्थिक। पहले प्रकार मे यह निर्देश है कि प्रत्येक क्लिष्ट कर्म मे ये समस्त अंग निष्पन्न होते हैं—मोह (अविद्या), चेतना (सस्कार), विज्ञान, उसके साथ सयुक्त अन्य स्कन्ध, इन्द्रियाँ, उनका विषयसम्पर्क, सवेदन, राग (तृष्णा), पर्यवस्थान (यथा अह्री आदि, अर्थात् उपादान), कर्म (भव), इन सब धर्मों का जन्म (जाति), उनका परिपाक (जरा), और उनका भग (मरण)। इस व्याख्या के द्वारा समस्त क्लेशजीवन मे प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याप्ति सूचित होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रबन्धयुक्त होने के कारण प्राकर्षिक कहा जाता है और हेतुफल-सम्बन्धयुक्त होने के कारण साम्बधिक। पाँच स्कन्धो की अवस्थाओ की परम्परा होने के कारण उसे आवस्थिक कहा जाता है। सघभद्र के अनुसार अभिधर्म के आचार्यो का मत था कि बुद्ध भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद का इस अन्तिम रूप मे ही उपदेश किया था।

महायान में प्रतीत्यसमुत्पाद का विकास दूसरी दिशा मे हुआ। हीनयान अभिधर्म मे प्रतीत्यसमुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण हुआ और एक नवीन हेतु—प्रत्ययवाद ने क्रमश उसको स्थानच्युत कर दिया। महायान मे प्रतीत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक पक्ष को प्राधान्य दिया गया। शालिस्तम्ब सूत्र मे इस द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद की विस्तृत आलोचना की गयी हे, किन्तु साथ ही महायान की दृष्टि का समावेश है। इस विवेचन को प्रतीत्यसमुत्पाद के महायानिक विकास का पूर्वरूप मानना चाहिए। नागार्जुन के मध्यमक-शास्त्र मे इस विकास का पूर्ण रूप देखने मे आता है जहाँ कि प्रतीत्यसमुत्पाद का शून्यता के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। आर्यशालिस्तम्ब सूत्र मे प्रतीत्यसमुत्पाद को धर्म और अनुत्तर धर्म-शरीर बुद्ध से अभिन्न माना है और प्रतीत्यसमुत्पाद को 'सतत-समित, निर्जीव, अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत, अप्रतिघ अनालम्बन, शिव, अभय, अनाहार्य, अव्यय एव अव्युपशम-स्वभाव कहा गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद को द्विविध बताया गया है—बाह्य और आध्यात्मिक। एक अन्य विभाग भी प्रस्तुत किया गया है—हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध। हेतूपनिबन्ध बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद इस प्रकार है—'जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गण्ड, गण्ड से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुष्प, पुष्प से फल। [illegible]

न होने पर अकुर नही होता, यहाँ तक कि फूल न होने पर फल नही होता। वीज के होने पर अकुर की अभिनिवृत्ति होती है—ऐसे ही फूल के रहने पर फल की। वीज यह नही सोचता कि मै अकुर को उत्पन्न करता हू, अकुर भी यह नही सोचता कि मै वीज से उत्पन्न हुआ हूँ, किन्तु वीज के होने पर अकुर का प्रादुर्भाव होता है, फूल के रहने पर फल का।' प्रत्ययोपनिवन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद छ धातुओ के समवाय से सिद्ध होता है। ये छ धातुएँ है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और ऋतु। "पृथ्वी-धातु वीज का सधारणकृत्य करती है, जल-धातु वीज को गीला करती है। तेजो धातु वीज को पचाती है, वायु वीज को वाहर निकालती है, आकाश वीज को अनावरण करता हे, ऋतु भी वीज को परिपक्व करती है। इन प्रत्ययो के न रहने पर वीज से अकुर उत्पन्न नही होता।" जब ये सव धातुएँ अविकल होती है तो उनके समवाय से वीज के निरुद्ध होते हुए अकुर की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी धातु को भी नही होता कि मै वीज को सधारण करती हूँ, न अकुर को कि मैं इन प्रत्ययो से जनित हूँ, किन्तु इन प्रत्ययो के रहते हुए वीज के निरुद्ध होते अकुर की उत्पत्ति होती है। यह अकुर न स्वयकृत है, है न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वर-निर्मित, न कालपरिणामित, न प्रकृतिसभूत, न एककारणाधीन, और न अहेतु-समुत्पन्न। इस वाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद को पाच कारणो से देखना चाहिए, अकुर अन्य है, वीज अन्य है, अतएव यह शाश्वत नही है। वीज के विरुद्ध हो चुकने पर अकुर की उत्पत्ति होती ही, ऐसा भी नही है। अतएव उच्छेद भी अनवकाश है। वस्तुत जिस समय वीज निरुद्ध होता है उसी समय अकुर उत्पन्न होता है। जिस प्रकार तराज के पलड़ो मे एक का झुकना और दूसरे का उठना समकालीन है। सक्रान्ति भी नही समझनी चाहिए क्योकि वीज से अकुर विसदृश है। थोडा वीज वोया जाता है और विपुल फल उत्पन्न होते है, इसको अल्पहेतु से विपुल फल की उत्पत्ति मानना चाहिए। जैसा वीज वोया जाता है वैसा फल उत्पन्न होता है, यह तत्सदृशानुप्रवन्ध है।

हेतुपनिवन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्यादि जरामरणान्त द्वादश-निदान-परम्परा है। यहाँ पर भी कोई कोई निदान दूसरे को वोधपूर्वक उत्पन्न नही करता, किन्तु एक-दूसरे की उत्पत्ति का कारण मात्र सिद्ध होता है। प्रत्ययोपनिवन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छ धातुओ के समवाय से सिद्ध होता है। जो शरीर के कठिन भाव को उत्पन्न करती है वह पृथ्वी है, जो शरीर के अनुपरिग्रहकृत्य का ससाधन करती है वह जलधातु है, जो खाये-पीये को पचाती है वह तेजोधातु है, आश्वास-प्रश्वास का कृत्य वायुधातु से होता है। शरीर के अन्दर की सुपिरता आकाश से उत्पन्न होती है। जो पॉच विज्ञानो मे सयुक्त नाम्नव

मनोविज्ञान और नामरूप को उत्पन्न करती है वह विज्ञान -धातु कहलाती है। इन प्रत्ययो के न रहने पर शरीर की उत्पत्ति नही होती किन्तु इनके अविकल समवाय से होती है। पृथ्वीधातु न आत्मा है, न सत्व, न जीव, न जन्तु, न मनुज, न मानव, न स्त्री, न पुरुष, न नपुँसक, न मै, न मेरा, न और किसी का। ऐसे ही शेष धातुओं मे भी छ धातुओ की ऐक्य सज्ञा, पिडसज्ञा, नित्यसज्ञा, ध्रुवसज्ञा, शाश्वतसज्ञा, सुखसज्ञा, आत्म-सज्ञा, सत्वसज्ञा, जीव०, पुद्गलसज्ञा, मनुजसज्ञा, मानवसज्ञा, अहकारसज्ञा, ममकारसज्ञा तथा ऐसा ही विविध अज्ञान अविद्या कहलाता है। इस प्रकार अविद्या के रहने पर विषयो मे राग, द्वेष, मोह प्रवृत्त होते हैं। यही ससार कहलाता है। वस्तु-प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान कहलाता है। विज्ञान के साथ उत्पन्न होनेवाले चार अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते है। चार महाभूत रूप है और उनका सहारा लेकर उत्पन्न होनेवाले रूप भी रूप है। दोनो मिलकर नामरूप कहलाते हैं। नामरूप मे सनिश्रित इन्द्रियाँ षडायतन है। तीनो धर्मो का सन्निपात स्पर्श है। स्पर्श का अनुभव वेदना, वेदना का अध्यवसान तृष्णा, तृष्णा का वैपुल्य उपादान है। उपादान से उत्पन्न पुनर्जन्म का उत्पादक कर्म-भव है, भवहेतुक स्कन्धो का प्रादुर्भाव जाति है। उत्पन्न का स्कन्ध-परिपाक जरा, जीर्ण-स्कन्धो का विनाश मरण है, म्रियमाण सम्मूढ का अन्तर्दाह शोक है, शोक से उत्पन्न विलाप परिदेवन है। पाँच विज्ञान-कार्यो मे सयुक्त असुख का अनुभव दुख है। मानस दुख दौर्मनस्य है। शेष उपक्लेश उपायास है। अथवा, तत्त्वो की अप्रतिपत्ति या मिथ्या प्रतिपत्ति अज्ञान या अविद्या है। अविद्या के रहने पर पुण्य, अपुण्य और आनेञ्ज्य गामी त्रिविध सस्कार उत्पन्न होते है। इनके अनुकूल विज्ञान होता है। नाम और रूप पाँच स्कन्ध है। नामरूप के बढने से छ आयतनद्वारो से नाना क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं और जानी जाती है। यही षडायतन है। इन आयतनो से छ स्पर्शवर्ग उत्पन्न होते हैं। जैसा स्पर्श होता है वैसी ही वेदना उत्पन्न होती है। वेदना का विशेषरूप से आस्वादन, अभिनन्दन, अध्यवसान तृष्णा है। सुख मे वियोग न हो, वे बने रहें यह प्रार्थना उपादान है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मभाव है और उनसे स्कन्धो की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न स्कन्धो का अन्तत विनाश जरामरण है।

इस प्रकार यह द्वादशाग प्रतीत्यसमुत्पाद अन्योन्यहेतुक, अन्योन्यप्रत्यय न अनित्य, न नित्य, न सस्कृत, न असस्कृत, न अहेतुक, न अप्रत्यय न वेदयिता, न [illegible], न [illegible]-समुत्पन्न, न अप्रतीत्यसमुत्पन्न, न क्षयधर्म, न अक्षयधर्म, न विनाशधर्म, न [illegible]धर्म, न निरुद्धधर्म, न अनिरुद्धधर्म, अनादि काल से प्रवृत्त नदी की धारा [illegible] जाता है। यद्यपि यह नदी की धारा के समान [illegible]

विशेप रूप से हेतु वनते हैं। वे चार ये हैं—अविद्या, तृष्णा, कर्म और विज्ञान। विज्ञान बीजस्वभाव से हेतु होता है, कर्म क्षेत्र-स्वभाव से, अविद्या और तृष्णा क्लेश-स्वभाव से। कर्म और क्लेश विज्ञान के वीज को उत्पन्न करते है। कर्म विज्ञान के बीज के लिए क्षेत्र का कार्य करता है, तृष्णा विज्ञान के वीज को गीला करती है, अविद्या विज्ञान के बीज का अविकिरण करती है। इस प्रकार विज्ञानवीज कर्मक्षेत्र मे प्रतिष्ठित, तृष्णास्नेह से अभिष्यदित, एव अविद्या से अवकीर्ण होकर वढता है। विभिन्न उपपत्यायतन-प्रतिसधि मे मातृगर्भ मे विज्ञान-वीज से नामरूप का अकुर उत्पन्न होता है। यह नामरूपाकुर न स्वयकृत है, न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वरकृत, न कालपरिणामित, न एक कारणाधीन और न अहेतुसमुत्पन्न, प्रत्युत माता-पिता के सयोग से, ऋतु-समवाय से, अन्य प्रत्ययो के समवाय से, आस्वादानुविद्ध विज्ञानवीज मातृगर्भ मे • • • अस्वामिक, अपरिग्रह, अमम, आकाशसम मायिक धर्मो मे हेतुप्रत्ययो के अवैकल्य के कारण नारूपाकुर को उत्पन्न करता है।

पाँच कारणो से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। चक्षु, रूप, आलोक, आकाश एव तज्जन्य मनोविकार। इन पाँच प्रत्ययो मे चक्षु आश्रयकृत्य करती है, रूप आलम्बन, आलोक अवभास, आकाश अनावरण और तज्जन्य मनोविकार समन्वाहरण। ऐसे ही अन्य इद्रियो के लिए भी विचारणीय है। कोई धर्म इस लोक से परलोक को सक्रमण नही करता, केवल हेतुप्रत्ययो के अवैकल्य के कारण कर्म फल की प्रतिविज्ञप्ति होती है—जैसे सुपरिशुद्ध दर्पण मे मुख का प्रतिविम्व देखते है, किन्तु मुख उसमे सक्रमण नही करता, केवल हेतुप्रत्ययो के अवैकल्य के कारण मुख की प्रतिविज्ञप्ति होती है। ऐसे ही इस लोक मे मरा कही और उत्पन्न नही होता, केवल कर्मफल का भोग होता है। जैसे वहुत दूर से चन्द्रमा का विम्व अल्प-उदक पात्र मे प्रतिविम्वित होता है, ऊपर से नीचे गिरता नही है, ऐसे ही।

आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद मे भी अशाश्वत, अनुच्छेद, असक्राति, अल्पहेतु से विपुल फल की उत्पत्ति और तत्सदृशअनुप्रवन्ध देखना चाहिए। इस प्रकार जो प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है वह पूर्वान्त और अपरान्त का अन्वेपण नही करता और लोकप्रचलित समस्त आत्मवाद-प्रतिसयुक्त जीववाद-प्रतिसयुक्त, कौतुक-मगल-प्रतिसयुक्त समस्त दृष्टियाँ उसकी क्षीण हो जाती है[८३]।

८३—शालिस्तम्बसूत्र से विपुल उद्धरण, चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा तथा शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में उपलब्ध होते हैं।

नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता के साथ अभिन्न बताया। 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसे ही हम शून्यता कहते है, वही उपाय है, वही प्रज्ञप्ति है, वही मध्यमा प्रतिपद् है।'[८४] शून्यता स्वभावानुत्पत्ति-लक्षण है। गौडपाद ने इसी सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया है 'जैसे मायिक बीज से मायिक अकुर उत्पन्न होता है, जो न नित्य है, न उच्छेद-धर्मा, ऐसे ही सब धर्मो को समझना चाहिए। सब धर्मो के अज होने पर उनके शाश्वत अथवा अशाश्वत होने की बात नही कही जा सकती। जहाँ शब्दो की प्रवृत्ति नही है, वहाँ विभेद नही किया जा सकता'[८५]।

निर्वाण

प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण—भगवान् बुद्ध ने अनुत्तर-शान्ति-पद की खोज मे घर-बार छोडा और उनकी खोज तब पूरी हुई जब उन्होने सम्बोधि मे गम्भीर, शान्त, उत्तम और अतर्कावचर धर्म प्राप्त किया। इस धर्म को द्विविध वर्णित किया गया है—प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण[८६]। प्रतीत्यसमुत्पाद, इदम्प्रत्ययता अथवा मध्यमा प्रतिपद् अनित्य सस्कारो के प्रवाहरूप ससार को परतन्त्र और सापेक्ष सूचित करती है तथा परमार्थ को अन्त-विवर्जित एव अनिर्वचनीय। निर्वाण अर्थात् 'बुझ जाने' से ससार का निरोध एव सत्य की प्राप्ति सूचित होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद 'धर्म' को नियम और सीमा के रूप मे सकेतित करता है, निर्वाण विमुक्ति और भूमा के रूप मे। प्रतीत्यसमुत्पाद मे ससार का गभीरतम 'लक्षण' (और परमार्थ की 'अलक्षणता') प्रतिफलित होती है, निर्वाण मे आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य।

निर्वाण—अतर्क्य और नित्यसत्य—सम्बोधि के सन्दर्भ मे निर्वाण को अतर्क्य धर्म कहा गया है और उसका वर्णन किया गया है—"सर्व-सस्कार-शमथ, सर्वोपधि-प्रति-निस्सर्ग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध।" ससार जात, भूत, समुत्पन्न, कृत, सस्कृत और अध्रुव है।" उसका "निस्सरण है शान्त, अतर्कावचर, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, अशोक, विरज पद।"[८७]। ये विशेषण उपनिषदो के आत्म-वर्णन की प्रतिध्वनि सुनाते है, यथा

८४—तु०—वैद्य, बौद्धागमार्थ संग्रह, पृ० ११४ प्र० मध्यमक० २४ १८।

८५—गौडपाद, माण्डूक्यकारिका, ४ ५९–६०।

८६—उदा०, संयुत्त (रो०) जि० २, पृ० १०५–६।

८७—इतिवुत्तक, सुत्त ४३।

'विरज पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुव'[८८] अथवा, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[८९]। ससार अनित्य होने के कारण मिथ्या है, निर्वाण नित्य और सत्य है। "तहि मुमा य मोसधम्म त सच्च य अमोसधम्म निब्बान।"[९०] इसी वचन को नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने उद्धृत किया है—'तन्मृपा मोषधर्म यद्भगवानित्यभाषत। सर्वे च मोषधर्माण सस्कारास्तेन ते मृपा'[९१]। 'एतद्धि खलु भिक्षव परम सत्य यदिदममोपधर्म निर्वाण सर्वसस्काराश्च मृपा मोपधर्माण इति[९२]। यह स्मरणीय है कि शाकरवेदान्त मे भी निर्विकारता सत्य का लक्षण है[९३]। निर्वाण परम-सत्य है, अनन्यथाभावि, अच्युत, अमृत, अत्यन्त, अप्रमाण, अचिन्त्य। अनन्त और अचिन्त्य अमृत पद उपनिषदो मे सुपरिचित है। यो वैभूमा तदमृत यदल्प तन्मर्त्यम्[९४]।

निर्वाण–प्रपञ्चोपशम—अनेक प्राचीन सन्दर्भो मे निर्वाण को अप्रपञ्च, निष्प्रपञ्च, प्रपञ्चनिरोध, अथवा प्रपञ्चव्युपशम कहा गया है[९५]। प्रपञ्च शब्द उपनिषदो मे मिलता है, किन्तु विरल है[९६]। इसके अर्थ प्राय नाम-रूप के सदृश थे। निर्वाण मे समस्त प्रपञ्च का अतिक्रमण हो जाता है। 'यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति॥ न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो न प्पकासति॥ न तत्थ चन्दिमा भाति नमो तत्थ न विज्जति॥ यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो॥ अथ रूपा अरूपा च सुख-दु क्खा

८८–बृ० उप० ७.२.२३—आत्मा निर्मल, आकाश से परे, अज, महान्, ध्रुव है।"

८९–कठ० १.२.९—"यह ज्ञान तर्क-सुलभ नहीं है।"

९०–मज्झिम (रो०) जि० ३, पृ० २४५—"जो नश्वर है वह मिथ्या है, अनश्वर निर्वाण ही सत्य है।"

९१–मध्यमक० १३.१—"भगवान् ने कहा है कि जो विनश्वर है वह मिथ्या है, संस्कार एक विनश्वर है, अतः वे मिथ्या है।"

९२–"भिक्षुओ, यह अविनाशी निर्वाण ही परम सत्य है, सब संस्कार विनाशी मिथ्या है।" (चन्द्रकीर्ति का उद्धरण)।

९३–द्र०—शांकरभाष्य, ब्र० सू० २.१.११ पर तथा गीता, २ १६ पर।

९४–छा० उप० ७.२४।

९५–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४७४, पाद टि० १६०।

९६–श्वेताश्वतर, ६.६, माण्डूक्य ,७.१२।

पमुच्चति' ॥[९७] यह समस्त लोक से निराली 'अपने से जानने' की अवस्था उपनिषदों में वर्णित आत्मज्ञान अथवा 'अपने को जानने' से तुलनीय है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः'[९८]। यह अवस्था अनिर्वचनीय है—

'यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति ।
अतो सरा निवत्तन्ति एत्थ वट्टं न वट्टति ।

एत्थ नाम च रूप च असेसमुपरुज्झति ।'[९९] इसमें तुलनीय है तै० उप० (२ ९) की उक्ति—'यतो वाचो निवर्तन्ते'—अर्थात् जहां से वाणी निवृत्त हो जाती है'।

निर्वाण—परम निःश्रेयस—निर्वाण अशेष साधना का लक्ष्य है। 'अमतोगाधा सब्बेधम्मा', 'निब्बानोगाध ब्रह्मचरिय।' निर्वाण को 'प्राप्तव्य', साक्षात्कर्तव्य कहा गया है। वह अनुत्तर, उत्तम, परम है। वस्तुतः वही एषणीय है, वही वास्तविक प्रयोजन है। इसीलिए निर्वाण को अर्थ, निपुणार्थ, परमार्थ, उत्तमार्थ कहा गया है। यह स्मरणीय है कि उपनिषदों में भी निःश्रेयस के लिए अर्थ शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा 'हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते' (कठ०) 'कृतार्थो भवते वीतशोकः' (श्वेत०)। निर्वाण को अनुत्तर योग-क्षेम भी कहा गया है (मज्झिम (रो०) १ १६३ इत्यादि)। उपनिषदों में उस 'पार' की उपमा अनेक बार आयी है—'शोकस्य पार—' (छा० ७ १३), तमस पार—', 'अभयस्य पार—', 'अभय तितीर्षतां पार—'(मुण्डक०२ २ ६)। निर्वाण को भी बहुधा संसार का 'वह पार' कहा गया है, यथा सयुत्त० (रो०) ४ १७५ इत्यादि।

निर्वाण—परम-सुख—निर्वाण में निःशेष सस्कारों का उपशम हो जाता है और इस कारण उसे शान्त अथवा शान्ति-पद कहा गया है। यही नहीं, इस उपशम को

९७—उदान, सुत्त १०, "जहाँ जल, पृथ्वी, तेज, वायु की पहुँच नहीं है, वहाँ तारकादि द्योतित नहीं होते, न आदित्य प्रकाशित होता है, न वहाँ चन्द्रमा चमकता है, वहाँ अन्धेरा नहीं है, जब मुनि स्वयं अपने से जानता है, वह रूप और अरूप, सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है।"

९८—कठ० २ ५ १५—"न वहाँ सूर्य चमकता है, न चांद-तारे, ये बिजलियां नहीं चमकती, यह अग्नि कहाँ से (चमकेगी) ?"

९९—सयुत्त (रो०) जि० १, पृ० १५—"जहाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु की पहुँच नहीं है, वहां से शब्द निवृत्त हो जाते हैं, जहाँ 'गति' नहीं है, वहाँ अशेष नाम-रूप निरुद्ध हो जाते हैं।'

सुख कहा गया है। निर्वाण को साक्षात् भी परम अथवा अचल सुख कहा गया है।[100]। 'एत खो परम ञाण एत सुखमनुत्तमम्—'[101]। विभाषा मे सूत्र उद्धृत किया गया है—"मार्ग-मुख से निर्वाण सुख प्राप्त होता हे।"[102]। महायानी आचार्यो ने भी निर्वाण को सुख-रूप माना है,—'अनपायसुखैकरस शिवम्'[103]। किन्तु इस सुख को सुख-सवेदन न समझना चाहिए।' भगवान् ने केवल सुख वेदना को ही सुख मे नही बताया हे, अपितु जहाँ-जहाँ सुख उपलब्ध होता है सबको सुख में बताया है[104]। इस विलक्षण सुख की चर्चा उपनिषदो मे भी है, यथा 'तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परम सुख—' (कठ० २ ५. १४)। पूसे महोदय ने कहा है कि यह निराला सुख जो कि सवेदन-व्यतीत है, कम-से-कम पाश्चात्य जिज्ञासुओ के लिए नितान्त दुर्बोध है। किन्तु पश्चिम मे भी "बोधातीत शान्ति" की बात सुविदित रही है।

निर्वाण-मुक्ति—प्रज्ञा के द्वारा चेतोविमुक्ति का लाभ होता है। 'चित्त विमुक्त होता है, विमुक्त होने पर 'विमुक्त हुआ' यह बोध होता है, "जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, कर्तव्य कर लिया अब और ससार शेष नही है," यह समझ लेता है[105]। ज्ञान के द्वारा आस्रवो के क्षीण होने पर अकुप्पा, अनुत्तरा विमुक्ति प्राप्त होती है। यही अर्हत्व का लाभ है। आस्रवो का पहला वर्गीकरण कदाचित् त्रिविध था—कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव। शीघ्र ही इनके अतिरिक्त एक चौथा दृष्ट्यास्रव भी जोडा गया। विमुक्ति की अवस्था राग, द्वेष और मोह के क्षय की है और इसे अमृतत्व कहा गया है[106]। यहाँ सब गाँठे खुल जाती है, एषणाओ का क्षय हो जाता है, बन्धन टूट जाते है। इस विराग और विसयोग, निरोध और विमुक्ति की दशा को निर्वाण-स्थानीय माना गया है। विमुक्ति को विद्या का प्रतिभाग कहा गया है, और निर्वाण को विमुक्ति

१००—मज्झिम (रो०) जि० १,५०८, दीघ (रो०) जि० २, पृ० ९४ ?
१०१—अगुत्तर (रो०) जि० ३, पृ० ३५४—("यहाँ परमज्ञान है, यही अनुत्तम सुख है।
१०२—अभिधर्मकोश, जि० ४, पृ० १२७, पाद टि० ३।
१०३—चन्द्रकीर्ति, मेम० एशियाटिक सोसायटी, ३.४७६।
१०४—मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० ४००।
१०५—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४५९—६०।
१०६—सयुत्त० (रो०) जि० ५, पृ० ८।

का प्रतिसरण[१०७]। अन्यत्र विमुक्ति को स्मृति का प्रतिसरण कहा गया है और निर्वाण को विमुक्ति का[१०८]। ऊपर निर्दिष्ट वर्णन उपनिषदो के मोक्षपरक वाक्यो का स्मरण दिलाता है—

'सर्वगुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति'[१०९]। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते। कामा येऽस्य हृदि स्थिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥'[११०]। 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामा परागता'[१११]।

निर्वाण मे आस्रव, एषणाएँ, राग-द्वेष-मोह, सयोजन, तृष्णा, कर्म, भव, नाम-रूप, सस्कार, उपधि, आदि अशेष का निरोध हो जाता है। समासत जन्म-मरण की परम्परा अविद्या, क्लेश और कर्म पर आश्रित है। विद्या से क्लेश क्षीण हो जाता है। इस प्रकार ससार-चक्र का निरोध हो जाता है। साधारणत इसे ही निर्वाण कहा गया है। चन्द्रकीर्ति के शब्दो मे "तथागत का शासन और उसके धर्मानुधर्म की प्रतिपत्तिपूर्वक जिन पुरुषो ने ब्रह्मचर्यवास किया है उनको भगवान् ने दो प्रकार का निर्वाण बताया है, सोपधिशेष और निरुपधिशेष। निरवशेष अविद्या, राग आदि क्लेश-गण के प्रहाण से सोपधिशेष निर्वाण होता है।—उपधिशब्द से आत्म-प्रज्ञप्ति के निमित्त पांच उपादान-स्कन्ध कहे जाते है। जिस निर्वाण मे स्कन्ध मात्र भी शेष नही रहते वह निरुपधिशेष निर्वाण है"[११२]।

निर्वाण और निरोध—प्रश्नोपनिषद् मे (१.१०) निरोध अपुनरावृत्ति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य मे (८ ६) कहा गया है कि अज्ञानियो के लिए जो निरोध है वही ज्ञानी के लिए प्रपदन है। वस्तुत निरोध अथवा निर्वाण केवल विनाश को सूचित नही करता। प्राचीन सदर्भ में आग का बुझना आग का नाश नहीं, किन्तु उसका अपने मूल-प्रभव मे फिर से लय माना जाता था। श्वेताश्वतर में (१ १३) कहा गया है कि "जैसे अपने जन्मस्थान मे लीन वह्नि का मूर्तरूप नही देखा जाता,

१०७—मज्झिम (रो०) १.३०४।

१०८—संयुत्त० (रो०) ५.२१८।

१०९—मुण्डक० ३.२.९—"सब बुद्धि की गांठो से मुक्त, अमर हो जाता है।"

११०—कठ० ६.१४—"जब मर्त्य की हृदयस्थित सब कामनाएँ छूट जाती हैं तो वह अमर हो जाता है, यहां ब्रह्मप्राप्ति करता है।"

१११—शतपथ० जि० २, ११११, (अच्युतग्रन्थमाला)।

११२—प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ५१९।

किन्तु साथ ही उसके सूक्ष्मरूप का नाश नही होता—इत्यादि।" मैत्रायणीय आरण्यक (६.३४ १) मे कहा गया है कि "जैसे ईंधन के अभाव मे अग्नि अपनी योनि मे उपशान्त हो जाती है, ऐसे ही वृत्तियो के क्षय से चित्त अपनी योनि मे उपशान्त हो जाता है।" कठोपनिपद् मे (२ ५ ९) कहा गया है जैसे एक ही अग्नि विश्व मे प्रविष्ट नाना रूपो मे प्रकट होती है ऐसे ही एक ही अन्तरात्मा सव जीवो मे विभिन्न रूप से प्रकट होती है। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि उपनिपदो मे यह माना जाता था कि अग्नि का एक सूक्ष्म, व्यापक रूप है जो अदृश्य है और एक जाज्वल्यमान प्रकट रूप है, जो वुझने पर सहृत हो जाता है और अग्नि फिर से अपने मूल मे लीन हो जाती है। आत्मा और चैतन्य के विपय मे भी ऐसी ही धारणा थी कि इनकी ससार मे नाना अभिव्यक्ति होती है। जब इस नानात्व और वाह्य अभिव्यक्ति के कारणभूत अज्ञान एव काम और कर्म समाप्त हो जाते है तो आत्मा अथवा चैतन्य की ज्योति भी अपना ससार मे प्रकट रूप छोडकर मूल परमरूप धारण कर लेती है। इस प्रसग मे निरोध अथवा निर्वाण नाश का सूचक नही है, किन्तु व्यक्तरूप छोडकर मूलरूप धारण करना द्योतित करता है। वस्तुत आग के वुझने का दृष्टान्त इस प्रसग मे आधुनिक दृष्टिभेद के कारण प्राय ठीक नही समझा गया है। वत्सगोत्र नाम के परिव्राजक ने भगवान् बुद्ध से पूछा था—"गौतम, विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ जन्म ग्रहण करते है ?" "वत्स, जन्म ग्रहण करते है यह नही कहा जा सकता।" "तो क्या गौतम, जन्म नही ग्रहण करते।" "जन्म नही ग्रहण करते, वत्स, यह भी नही कहा जा सकता।"[११३] इस सलाप से वत्सगोत्र के चित्त मे व्यामोह उत्पन्न हुआ और उसका निवारण करते हुए तथागत ने कहा, "जो यह हमारे सामने आग वुझती है यह आग यहाँ से किस दिशा को गयी ·। ऐसे ही जिस रूप से तथागत को सकेतिक किया जा सके, वह रूप तथागत का प्रहीण हो गया और उनके विषय मे यह नही कहा जा सकता कि उनका जन्म होगा अथवा नही।" उपसीवमाणवपृच्छा मे यह कहा गया है "जैसे आग की लपट वायुवेग से विखरने पर अस्तगत हो जाती है और उसका पता नही चलता ऐसे ही नामकाय से (=नाम-रूप मे) विमुक्त होने पर मुनि भी अस्तगत हो जाता है और उसका पता नही चलता।" "अस्तगत होने पर वह रहता है या नही रहता यह ठीक समझाइये", यह पूछे जाने पर तथागत ने कहा, "अस्तगत का कोई प्रमाण (नाम, सीमा) नही है। जिससे उसके वारे मे कहा जाय, वह नही है। सव धर्मो के निराकृत

११३—मज्झिम ना०, जि० २, पृ०, १८०।

होने पर समस्त वचनपथ भी निराकृत हो जाते है ।"[114] इन सदर्भो से स्पष्ट है कि अग्नि के बुझने की प्राचीन बौद्ध धारणा उपनिषदो के समान थी[115] और अतएव यह मानना उचित होगा कि निरोध अथवा निर्वाण का निरन्वय विनाश के अर्थ मे तथागत ने प्रयोग नही किया था अपितु ससार के अवसान और एक मूल अनिर्वचनीय पद की प्राप्ति की सूचना के लिए किया था । इस प्रसग मे बुद्ध के द्वारा उच्छेदवाद का प्रसिद्ध निराकरण स्मरणीय है । यदि निर्वाण की प्राप्ति मे औपनिषद शाश्वतवाद नही देखना चाहिए तो साथ ही उसमे प्रचलित उच्छेदवाद भी नही देखना चाहिए । निर्वाण की प्राप्ति के बाद शाश्वत बना रहना इसलिए नही कहा जाता क्योकि बने रहने का जागतिक अर्थ नामरूप से सीमित है । नामरूप ससार के साथ निवृत्त हो जाता है, अतएव जैसी सत्ता को हम ससार मे प्रचलित मानते है वैसी सविशेष सत्ता निर्वाण मे नही रहती । दूसरी ओर परिनिर्वृत्त तथागत का उच्छेद सर्वथा निराकृत है । शाश्वत और उच्छेद, सत् और असत् मे न समाता हुआ निर्वाण अनिर्वचनीय पद है जिसे समझने के लिए अन्य अन्तग्राहिणी दृष्टियो को छोड मध्यमा प्रतिपत् का स्वीकार आवश्यक है । श्री रामकृष्ण परमहस ने इस विषय पर कहा था कि बुद्ध भगवान् स्वरूप-बोध की अवस्था मे पहुँचे थे जहाँ सत् और असत् शब्दो का प्रयोग नही किया जा सकता, क्योकि अस्तित्व और नास्तित्व प्रकृति के गुण है और स्वरूपबोध प्रकृति के परे ।[116] इस प्रसग मे महाभारत के शान्तिपर्व मे भरद्वाज और भृगु मे आग बुझने पर विवाद स्मरणीय है । उच्छेदवादी दृष्टि से भारद्वाज की उक्ति थी कि अनिन्धन, शान्त अग्नि को मै नष्ट हुआ ही मानता हूँ क्योकि उसकी गति, प्रमाण अथवा सस्थान कही नही उपलब्ध होते," किन्तु भृगु उन्हे समझाते है कि अग्नि बनी रहती है यद्यपि उसका रूप अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म हो जाता है ।[117]

वस्तुत निर्वाण को केवल विनाश अथवा अभाव मानने का दुराग्रह इस विश्वास पर आधारित है कि बुद्ध भगवान् ने आत्मा का सर्वथा निराकरण किया एव अनित्य

११४—खुद्द ना०, सुत्त निपात, जि० १, पृ० ४३० ।

११५—तुलनीय—"यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥"
(मुण्डक, ३ २.८)

११६—रामकृष्णवचनामृत, ३ ७८० ।

११७—महाभारत, शान्तिपर्व, १८७ ३–६ ।

सस्कार-प्रवाह के अतिरिक्त जीवन मे और कोई स्थिर सत्य स्वीकार नही किया। यदि ऐसा है तो अवश्य ही ससार के प्रवाह का निरोध सर्वथा उच्छेद से अविभाज्य है और यह मानना होगा कि समस्त अनुभव और जगत् केवल एक दु ख-प्रवाह है जो कि निर्वाण मे वन्द हो जाता हे। किन्तु यदि यही अशेष सत्य है तो शाश्वत के साथ-ही-साथ उच्छेद का निराकरण क्यो किया गया, और निर्वाण मे, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, नित्य, अनन्त और अनिर्वचनीय शान्ति एव सुख क्यो कहा गया? सच यह है कि निर्वाण मे प्रपच का उपशम हो जाता है और उसके साथ वाणी की शक्ति का। किन्तु यह नही समझना चाहिए कि समस्त आध्यात्मिक साधना उच्छेद में समाप्त हो जाती है। निर्वाण का स्वरूप तर्कगम्य न होते हुए भी उसकी परमार्थता निर्विवाद है। निर्वाण मे दु ख का अन्त हो जाता है, किन्तु सब कुछ का अन्त नही होता। उपनिषदो के ब्रह्मवाद से यहाँ एक मुख्य भेद यह है कि ब्रह्म को उपनिषदो मे प्राय सद्रूप कहा है। दूसरी ओर निर्वाण अभावरूप न होते हुए भी भावरूप नही कहा जाना चाहिए। किन्तु यह भेद वस्तुत प्रतिपादन की शैली का भेद है, क्योकि उपनिपदो मे भी ब्रह्म अथवा आत्मा की सत्ता निर्विशेप है एव नामरूप से मुक्त हे और इस कारण द्वैत-विदित साधारण सत्ता से नितान्त भिन्न है। इससे अधिक महत्त्वशाली भेद यह है कि उपनिषदो मे ब्रह्म को जगत् का कारण वताया गया है। निर्वाण को केवल साधना के लक्ष्य के रूप मे ही सकेतित किया गया है, किन्तु यहाँ पर भी यह स्मरणीय है कि पिछले शाकर वेदान्त मे ब्रह्म का जगत्-कारणत्व केवल तटस्थ लक्षण रह गया है और इस प्रकार वेदान्त एवं सद्धर्म मे विभाजक-रेखा प्रतनु हो गयी है। गौडपाद के आगम-शास्त्र मे देखने से इन दोनो का सादृश्य अनिवार्य रूप से प्रकट हो जाता है। किन्तु प्राचीन उपनिषदो एव बौद्ध सदर्भों मे जगत् का मिथ्यात्व बीजरूप से सूचित होने पर भी स्पष्ट प्रतिपादित नही है, और इसलिए उपनिषदो के ब्रह्म का जगत्-कारणत्व उसे केवल प्रपचोपशम-रूप निर्वाण से विभाजित करता है।

आत्मा—निर्वाण का विचार आत्मा, पुरुष अथवा पुद्गल के विचार के विना पूरा नही हो सकता। आपातत नाना पुरुष ससरण करते हुए दु ख अनुभव कर रहे है एव निर्वाण की खोज करते हैं। इन ससारियो का स्वरूप क्या है, एव कौन निर्वाण को प्राप्त करता है और निर्वाण की प्राप्ति के पश्चात् उसका क्या होता है, इन प्रश्नो का उत्तर देना आवश्यक है। अनेक विद्वानो ने यह कहा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने समय मे प्रचलित आत्मवाद का खडन किया एव ससारी को संसरण प्रवाह मे निमग्न कर

दिया ।[118] इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि इस प्रकार का नैरात्म्य-वाद परवर्ती भिक्षुओ और आचार्यो की बुद्धि की उपज है। तथागत ने केवल अनात्मभूत तत्त्वो मे आत्मा के न देखने का उपदेश दिया था, आत्मा का सर्वथा तिरस्कार नही ।[119] नागार्जुन का कहना है कि विशेष अभिप्राय से तथागत ने आत्म-वाद अथवा अनात्मवाद दोनो का उपदेश किया, किन्तु उनका वास्तविक अभिप्रेत यह था कि न आत्मवाद तात्त्विक है, न अनात्मवाद । दोनो ही कोटियों से परे अनिर्वचनीय रूप से सत्य प्रतिष्ठित है ।[120]

प्राचीन पालि साहित्य मे अज्झत्त, पच्चत्त, अत्तभाव, पहितत्त, भावितत्त आदि शब्दो मे अत्ता का विशिष्ट उपयोग मिलता है । "अज्झत्त" परवर्ती काल मे 'बाह्य' का प्रतियोगी मात्र रह गया था, किन्तु प्राचीनतर कुछ स्थलो मे अज्झत्त के साथ उपा-देयता और कल्याण की भावना सम्बद्ध थी । अज्झत्त-चिन्ती, अज्झत्तरतो, अज्झ-त्तचित्त, इन प्रयोगो मे स्पष्ट ही बाह्य जगत् से एक अन्तस्तर को आत्मा कहा गया है । 'अज्झत्त सुख अनुयुञ्जेय्य'[121] अथवा "अज्झत्त कल्याणि ..."[122] इन प्रयोगो मे भी आध्यात्मिकता केवल आन्तरिकता नही है । ऐसे ही "पच्चत्तमेव ञाण", "पच्चत्तवेदनीय" आदि प्रयोगो में साधारण लौकिक चित्त के द्वारा ज्ञात वस्तुओ के ज्ञान से परे का ज्ञान विवक्षित है । यह सच है कि 'पहितत्त' और 'भावि-तत्त' मे अत्ता चित्त के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है । पर 'अत्तभाव' का प्रयोग व्यक्तिविशेष के रूप मे उपपत्तिलाभ सूचित करता है । 'अत्तभाव' पिछले कर्म का फल था और व्यक्तित्व का भौतिक रूप उसमे सगृहीत था । 'अत्तभाव' स्वयं ही आत्मा नही है, प्रत्युत आत्मा का योनि-विशेष में देहाश्रित रूप है ।[123] इसके विप-रीत संयुक्त-निकाय के कोसल-संयुत्त मे अत्ता को प्रियतम कहा गया है और यह

११८—उदा०, राइजडेविड्स, अमेरिकन लेक्चर्स, पृ० ३९—४१, श्चेरबात्स्की, सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ७३, इत्यादि ।

११९—श्रीमती राइजडेविड्स, "शाक्य", "बुद्धिज्म", "ह्वाट वॉज दि ओरिजिनल गॉस्पेल" इत्यादि ।

१२०—मध्यमका०, १८.६ ।

१२१—मज्झिम (रो०) ३,२३० ।

१२२—संयुत्त (रो०) १.१६९ ।

१२३—'अत्तभाव' पर द्र०—ओरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म पृ० ४८०—८१ ।

कहा है कि 'अत्तकाम' हिसा नही करता। आत्मा की प्रेष्ठता और आत्मकामता की श्रेष्ठता का रानी मल्लिका के द्वारा अभिधान और तथागत के द्वारा उसका समर्थन बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-सवाद की याद दिलाता है, जहाँ यह कहा गया है 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति।" याज्ञवल्क्य का इससे निष्कर्ष यह था, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य"। तथागत ने भी विनय मे भद्रवर्गीय तरुणो का उपदेश दिया "अत्तान गवेसेप्याथ।"[१२४] ऐसे ही 'धम्मपद' मे कहा गया है कि 'अन्धकारेण ओनद्धा प्रदीप न गवेस्सथ।"[१२५] एव अनेक स्थलो पर 'अत्तदीपाविहरथ', यह उपदेश पाया जाता है। इसके साथ बृहदारण्यक का वाक्य तुलनीय है—"आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतोत्यात्मनैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति।"[१२६] ऐसे ही "ब्रह्मभूतेन अत्तना" एव "पहाय वो गमिस्सामी कतम्मे-सरणमत्तनो",[१२७] इन वाक्यो मे भी आत्मा का ओपनिपद्-अर्थ देखा जा सकता है। इस प्रसग में महाभारत (शान्तिपर्व, १९९ २३) का यह श्लोक भी तुलनीय है—

"अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः॥"

यह श्लोक मानो बौद्ध सन्दर्भ से उद्धृत हो। यहाँ "निरात्मवान्" आत्मा का नही, अहकार का निषेध करता है। कुछ स्थलो पर आत्मा को विवेक-बुद्धि के अर्थ मे भी प्रयुक्त किया गया है। धम्मपद मे अत्ता शब्द जीव की ससार दशा को घोपित करता है। परवर्ती बौद्ध आचार्यो ने इन प्रयोगो मे अत्ता को अहकारयुक्त चित्त का वाचक माना, किन्तु कुछ अन्य स्थलो मे स्पष्ट ही अत्ता शब्द अर्थान्तर का द्योतक है, जैसे उदान की ऊपर निर्दिष्ट, "यदा च अत्तना वेदि मुनि मोनेन ब्राह्मणो", इस उक्ति मे। ऐसे ही सुत्तनिपात के द्वैतानुपस्सन सुत्त मे नामरूप को अनात्मा कहा गया है और अर्थत निर्वाण मे ही पारमार्थिक स्वरूपबोध उपदिष्ट है—

१२४—विनय, ना० महावग्ग, पृ० २५।

१२५—धम्मपद,—"अन्धकार से अवनद्ध (तुम) प्रदीप क्यो नहीं खोजते?"

१२६—"आत्मा ही उसको ज्योति होती है, आत्मा की ज्योति से वह आता-जाता एव कर्म करता है"—(बृ० उप० ४.३.६)।

१२७—दीघ, "तुम्हें छोड़कर चला जाऊँगा, मैने आत्मा की शरण ले ली है," "अमृत से अमृत को प्राप्त वह शान्तिभूत, निरात्मवान्, ब्रह्मभूत, सुखी, निरामय है।"

"अनत्तनि अत्तमानं पस्स लोकं सदेवकं ।
निविट्ठं नामरूपस्मि इद सच्चं ति मञ्जति ।
तं हि तस्स मुसा होति मोसधम्मं हि इत्तर ॥
अमोसधम्मं निब्बाण तदरिया सच्चतोविदू ।
ते वे सच्चाभिसमया निच्छाता परिनिब्बुता ति ॥"[१२८]

उपनिषदो के समान ही एक स्थान पर हृदय को ज्योतिस्थान और अत्ता को पुरुष की ज्योति कहा है ।[१२९] हृदय की अनुप्राप्ति को लक्ष्य भी बताया गया है, किन्तु यह मन है कि जहाँ उपनिषदो मे पुरुष शब्द का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है पालि ग्रन्थों में उसके स्थान पर पुरुष-पुद्गल अथवा पुद्गल शब्द प्राय प्रयुक्त होते हैं ।

इन उद्धरणो से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि प्राचीनतम बौद्ध-सन्दर्भों और उपनिषदो मे एक अविच्छिन्न अर्थपरम्परा विद्यमान है, यद्यपि शीघ्र ही सद्धर्म के परवर्ती विकास ने इस परम्परा को नवीन शब्दो के प्रयोग से और नवीन सिद्धान्तों से खडित कर दिया । किन्तु यह स्पष्ट है कि त्रिपिटक मे बाहुल्य से प्राप्त सैद्धान्तिक वातावरण को बुद्धकालीन वातावरण नही माना जा सकता । प्रत्युत जो अपवाद रूप विरल स्थल ऊपर निर्दिष्ट किये गये हैं उनका ही इस प्रसग में अधिक महत्त्व समझना चाहिए । यह सच है कि इन सदर्भों के आधार पर श्रीमती राइजडेविड्स और श्री कुमारस्वामी का यह मत स्वीकार्य नही प्रतीत होता कि तथागत आत्मवादी थे । उनसे इतना ही ज्ञात होता है कि आत्मा का तथागत ने सर्वथा निराकरण नहीं किया । यह निश्चित है कि उनके समय में आत्म-सम्बन्धी नाना धारणाएँ प्रचलित थी जिनका उपनिषदो में आत्म-सम्बन्धी नाना धारणाएँ प्रचलित थी जिनका उप-निषदो से, ब्रह्मजाल, सामञ्ञफल आदि बौद्धसूत्रो से, एव प्राचीन जैनसूत्रों से ज्ञान होता है । इन विभिन्न मतो का विस्तार देहात्मवाद से लेकर ब्रह्मात्मवाद तक था । प्राय इनमे आत्मा भौतिक अथवा चैतसिक सत्ता मानी जाती थी । मज्झिम निकाय मे कहा गया है कि आत्मा वक्ता, संवेदक, पुण्यापुण्य कर्मों का भोक्ता, नित्य, ध्रुव,

१२८—"अनात्मा में आत्मदर्शी देवताओ तक के लोक को देखो । नामरूप में निविष्ट यह समझता है "यही सत्य है" । किन्तु उसका यह नश्वर और नश्वर रूप मिथ्या होता है । निर्वाण अविनाशी है । आर्य उसको सत्य मानते हैं । वे सत्य के साक्षात्कार से परिनिर्वृत होते हैं ।

१२९—सयुत्त० (रो०) जि० १, पृ० १२५, १६९ ।

शाश्वत, अविपरिणामी और कूटस्थ है।[१३०] अन्यत्र आत्मा के तीन प्रकार कहे गये है—औदारिक, अथवा स्थूल जो कि रूपी और भौतिक है, मनोमय, जो कि रूपी, मनोमय, सर्वांगप्रत्यगी एव अहीनेंद्रिय है, और तीसरे अरूप जो कि अरूपी, और सज्ञामय है।[१३१] अन्य स्थलो मे आत्मवादियो को किसी-न-किसी स्कन्ध के साथ, विशेषत विज्ञान-स्कन्ध के साथ, आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते बताया गया है। इन सभी आत्मवादो को शाश्वतवाद एव उच्छेदवाद के अन्दर रख दिया गया है और इन सभी का तथागत द्वारा खडन मिलता है, किन्तु यह स्मरणीय है कि इनमे कही भी उपनिषदो मे मूर्धन्यभूत अनिर्वचनीय ब्रह्मात्मवाद का उल्लेख अथवा खडन नही पाया जाता।

प्रत्युत उपनिषदो के नेति-नेति एव साख्यो के 'नास्मि न मे नाह' की प्रतिध्वनि "नेत मम नेसोहमस्मि नमेसो अत्ताति", इस बौद्ध उपदेश मे पायी जाती है।[१३२] समस्त दैहिक और चैतसिक सस्कृत तत्त्वो मे आत्मा का प्रतिषेध त्रिपिटक मे बार-बार उपलब्ध होता है। समस्त स्कन्ध, धातु और आयतन, समासत सभी भूत और भौतिक, चित्त और चैत्त धर्मो मे अनित्यता, दु खात्मता और परतन्त्रता व्यापक है। इन सभी मे अनित्य, दु ख और अनात्म के लक्षण देखने चाहिए। ऐसे स्थलो मे यह मान लिया गया है कि किसी वस्तु के आत्मा होने के लिए उसे नित्य, सुखात्मक और स्वतन्त्र होना चाहिए। ये ही आत्मा के वास्तविक लक्षण है, किन्तु इनके विपरीत लक्षण व्यावहारिक जगत् मे उपलब्ध होते है। अतएव उसको सर्वथा अनात्मभूत मानना चाहिए। इस प्रकार का नैरात्म्य का उपदेश आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं है, केवल अनात्म वस्तुओ को अनात्मता का उपदेश है। वस्तुत आत्मा की सत्ता का सामान्यत निषेध अकल्पनीय है, केवल उसके स्वरूप के विशेष-निरूपण मे ही विवाद होता है। विज्ञानभिक्षु के शब्दो मे, 'पुरुष की सत्ता के लिए साधन अपेक्षित नहीं है। चैतन्य अथवा पुरुष के अपलाप करने पर जगदान्ध्य प्रसक्त हो जायेगा। अतएव भोक्ता अहम् पदार्थ मे सामान्य रूप से बौद्धो का भी विवाद नही है'।[१३३] पोट्ठपाद सुत्त मे आत्मा का प्रत्याख्यान करने के स्थान पर तथागत पूछते है—"लेकिन पोट्ठ-

१३०–मज्झिम० (ना०), जि० १, पृ० १३।

१३१–उदा०, दीघ० पोट्ठपाद सुत्त।

१३२–तु०—श्रादेर, जे० पी० टी० एस०, १९०४।

१३३–सांख्यसूत्र, १.१३८ पर।

पाद तुम आत्मा को क्या समझते हो ?" और आत्मा के रूपी, मनोमय, और अरूपी भेदो को वे विशिष्ट 'अत्त-पटिलाभ' वताते है जो कि केवल व्यावहारिक दृष्टि मे सत्य है। इसी प्रकार महानिदान सुत्त मे यह कहा गया है कि जो आत्मा का व्याख्यान करते हैं वे उसे रूपी या अरूपी वताते है, और आत्मा का वेदनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करते है, अथवा आत्मा को अप्रतिसवेदन कहते है, अथवा आत्मा को वेदयिता एव वेदन-धर्म कहते हैं। किन्तु वेदनाएँ विविध और अनित्य होने से आत्मा नही हो सकती। ऐसे ही यदि आत्मा अप्रतिसवेदन है तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि "मै हूँ", और यदि आत्मा वेदनधर्मा है तो वेदनाओं के निरोध होने पर आत्मा का भी निरोध हो जायगा। इस विमर्श से यह स्पष्ट है कि आत्मा का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नही था, केवल शरीर और चित्तप्रवाह के साथ आत्मा के भ्रान्त तादात्म्य का निराकरण अभीप्सित था। सयुत्त-निकाय मे यह पूछा जाने पर कि आत्मा है अथवा नही, तथागत ने दोनो ही विकल्पो को अस्वीकार किया।[124] यही अन्तपरिवर्जन निर्वाण के अनन्तर तथागत की सत्ता के विषय में भी किया गया। सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग मे अनेक स्थलो पर यह कहा गया है कि दृष्टियाँ छोड़ देने पर एव उपशान्त होने पर आत्मा एवं नैरात्म्य दोनो ही नही रह जाते। नैरात्म्य-परिपृच्छा मे भी यही कहा गया है और इसको मध्यमा प्रतिपद् बताया है। काश्यप-परिवर्त मे आता है . "काश्यप, आत्मा एक छोर है, नैरात्म्य दूसरा। आत्मा और नैरात्म्य का मध्य अरूप्य एव अनिदर्शन है।" इस प्रकार के अन्तवर्जन का कारण यह था कि जबतक सविशेष एव तर्कगम्य बोध रहता है तभी तक "एव" अथवा 'अनेव' इस प्रकार से लक्षण और विभाजन सम्भव है। इसीलिए सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग मे सञ्ञा और दिट्ठि को हेय कहा गया है। यह स्मरणीय है कि [illegible] का उपनिषदो में भी सविशेष ज्ञान के लिए प्रयोग हुआ है। ऐसे ही परमट्ठक सुत्त में सञा को परिकल्पित कहा गया है। चूळव्यूह सुत्त में कहा गया है 'सञा से [illegible] देने पर नाना सत्य नही रहते। लोक में, दृष्टियों से नाना को परिकल्पित करके 'सत्य और मिथ्या', इस प्रकार का पदार्थों में द्वैत स्थापित किया जाता है। किन्तु [illegible] ज्ञान एव निर्वाण में 'अणुमात्र भी सञा नही रहती,' प्राण स्थिर हो जाते है, [illegible] के गोचर का अतिक्रम हो जाता है। इस अवस्था में 'मुनि [illegible] मौन आत्मा से बोध करते है।' इस 'मौन आत्मा' की तुलना शांकराचार्य के द्वारा उद्धृत '[illegible]-

१२४—सयुत्त नि० जि० ४. पृ० ४००।

मात्मा' से की जानी चाहिए ।[१३५] तथागत ने आर्यमौन से वही उपदेश दिया जो कि वाध्व ने वाष्कलि को अपने तूष्णीम्भाव से ।

सुविख्यात दार्शनिक देकार्त ने कहा है कि ज्ञान ही आत्मा की सत्ता प्रमाणित करता है ।[१३६] वस्तुत ज्ञान की सत्ता का अपलाप नही किया जा सकता क्योकि यह अपलाप स्वय ज्ञान के अन्तर्गत होगा । आत्मा की सामान्यत प्रतीति प्रत्येक ज्ञान मे होती है । उपनिषदो मे बहुत खोज के बाद यही निश्चित किया गया कि आत्मा विज्ञानरूप ही है । अतएव आत्मा की सत्ता अनपोह्य है, किन्तु ज्ञान अपनी सत्ता को सामान्यत प्रत्येक अनुभव मे अनिवार्यत स्थापित करते हुए भी प्रकाश के समान अपने स्थान पर अपने विपयो को प्रदर्शित करता है । परिणाम यह है कि आत्मा अनिवार्य होते हुए भी अनिर्देश्य एव अग्राह्य है ।[१३७] समस्त विषयो के ग्रहण मे आत्मा की सत्ता पूर्ववर्ती, किन्तु अविपय है । इसी कारण आत्मा का निर्देश अतद्व्यावृत्ति अथवा नेति-नेति के द्वारा ही सम्भव है । ससारदशा मे आत्मा विपय-ज्ञान मे खोयी रहती है, किन्तु मुक्ति की अवस्था मे वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है । यह अवस्था अनिर्वचनीय है क्योकि न तो द्वैतमिश्रित ज्ञान यहाँ रह सकता है और न स्वरूपभूत ज्ञान का लोप अथवा उच्छेद सम्भव है । ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनिवार्यता एव अनिर्वचनीयता याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी के साथ सवाद मे सुस्पष्ट प्रतिपादित है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का मत तथागत को अग्राह्य न था ।

विषयो के आवरण के द्वारा ज्ञान के अपने को प्रकाशित करने के कारण ज्ञान की खोज प्राय उसके विषयवर्ग की ओर दिङ्मूढ हो जाती है । इस व्यामोह की दो प्रधान दिशाएँ है : विषयो मे चैतन्य को खोजते हुए किसी विषय को चैतन्य समझ लेना, अथवा विषयो मे चैतन्य को न पाकर इस अनुपलब्धि से उसकी असत्ता घोषित करना । पहली भ्रान्ति नाना प्रकार के विषयात्मवादो मे प्रकट होती है, दूसरी बौद्धो के परवर्ती अनात्मवाद मे । तथागत ने इन दोनो भ्रान्तियो का विवर्जन किया था । 'आत्मा है' कहने पर किसी-न-किसी दैहिक अथवा चैतसिक अनात्म-विषय का आत्मा मे अध्यास समर्थित होता है, क्योकि ये विषय ही लोक मे अस्तित्वेन प्रतीत है । 'आत्मा नही है' कहने पर उच्छेदवाद का समर्थन होता है जोकि समस्त आध्यात्मिक

१३५—ब्र० सू० ३.२.१७ पर ।

१३६—तु०—धर्मकीर्ति, "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति ।"

१३७—तु०—बृ० उप० में (३.४) याज्ञवल्क्य का उषस्त चाक्रायण में सवाद ।

जीवन का विरोधी है । इसलिए तथागत ने आत्मा को न अग्नि कहा है न नाग्नि । मध्यमा प्रतिपद् का यह स्वीकार एव आर्य मौन वस्तुत अद्वैतसम्मत आत्मा की निर्वचनीयता से विभक्त नही कहा जा सकता । यही कारण है कि परवर्ती माध्यमिक दर्शन और शाकर दर्शन अत्यन्त समीप है । यहा तक कि शकराचार्य के कुछ आलोचको ने उन्हे प्रच्छन्न बौद्ध कह डाला ।

तथागत ने अनेक प्रकार के प्रचलित आत्मवाद का खण्डन किया जोकि वस्तुत विपयात्मकवाद अथवा मूल अविद्या या अध्यास का निराकरण है । इसी प्रयोजन से उन्होने देह और मन एव उनके समस्त प्रपच को बार-बार अनात्मभूत और हेय कहा, किन्तु साथ ही उन्होने उच्छेदवाद का खण्डन किया । उनके मत मे समस्त दु खात्मक जगत् के प्रहाण के लिए ब्रह्मचर्यावास निरन्वय उच्छेद का निरर्थक, आत्मघाती आयास नही है । तथागत की देशना सूक्ष्म और गम्भीर एव उपाय-कौशल के कारण विविध थी । उनके समय मे भी उनका दुर्बोध मत अन्य तीर्थिको मे और उनके कुछ शिष्यो मे भी सम्मोह और भ्रान्ति उत्पन्न कर देता था । अतएव यह स्वाभाविक था कि उनके परिनिर्वाण के पश्चात् शीघ्र ही उनका 'मतापेक्षी' वास्तविक अभिप्राय नाना मतवादो के अभ्युदय मे खो जाय । इसका परिणाम यह हुआ कि निकायो मे ही विज्ञानवाद और पुद्गलवाद के बीज मिलते है और नैरात्म्यवाद का प्रसार विरल है । क्यो बौद्ध आचार्यो ने नैरात्म्यवाद के पक्ष का इतना पोपण और पल्लवन किया, यह समझना कठिन नही है । मनुष्यमात्र अनादि सम्मोह के कारण स्वरूपत मिथ्या आत्मवाद मे ग्रस्त है । साधारण लोकबुद्धि के अनुसार प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मो से विशिष्ट अहम्प्रत्यय का गोचर एक चेतन शरीरी समस्त अनुभव और कर्म का अधिष्ठान है । स्थूल बुद्धि से यह प्रतीति समञ्जस है और इस चेतन देही को ही ससारी, जीव, आत्मा अथवा पुरुष माना जाता है । यह धारणा व्यवहार का आधार होते हुए भी साक्षात् अविद्या, दु ख का कारण, एव मुक्ति की परिपन्थी है । शकराचार्य ने कहा है कि जीवकल्पना ही समस्त कल्पना का मूल है ।'[१३८] जीव-कल्पना का लक्षण है जीव मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आरोप कर [illegible] स्वरूपात्मक मानना । यही बौद्धो की आत्म-कल्पना अथवा सत्काय-दृष्टि है । [illegible] पदार्थों एव उनके भोक्ता आत्मा मे [illegible], तृष्णा और कर्म [illegible] । [illegible]

१३८—गौडपादीय आगमशास्त्र, २ १७ पर ।

उस तत्त्व का सकेत करते है जिसे साख्य एव वेदान्त मे 'अहकार' कहा गया है, किन्तु इस प्रकार का मिथ्या आत्मवाद हम सबके पास स्वारसिक प्रवृत्ति से ही उपस्थित हो जाता है और उसका नाना दर्शनो से और लोक-बुद्धि से पोषण होता है। इसीलिए निवृत्तिपरक बौद्ध आचार्यो ने उसके विरोध मे नैरात्म्यवाद का समर्थन किया। बिना 'अहम्' और 'मम', 'भोक्ष्ये' एव 'करिष्ये' से छुटकारा पाये विराग दृढभूमि नही होता।

पञ्चस्कन्ध-वाद—नैरात्म्यवाद का निकायो मे पचस्कन्धवाद के रूप मे विकास हुआ। विज्ञान, सज्ञा, वेदना, सस्कार और रूप, ये पाँच स्कन्ध है। रूप स्कन्ध देह-वाची है और अपने व्यापक अर्थ मे समस्त भूत और भौतिक पदार्थो को अपने अन्दर सगृहीत कर लेता है। बाकी चार अरूपी अथवा अभौतिक स्कन्ध समष्टि रूप से चित्त कहे जाते है। इसमे वेदना सुख, दुख आदि की उपलब्धि की आख्या थी। 'सज्ञा' शब्द विशिष्ट अवधारण के लिए प्रयुक्त होता था। विज्ञान सामान्यत चैतन्य-वाची था। सस्कार के अन्तर्गत इच्छा, सकल्प आदि थे। पीछे अभिधर्म मे सस्कार का प्रयोग व्यापक हो गया और सस्कार केवल चैतसिक नही रहा। साथ ही विज्ञान का अर्थ सकुचित हो गया। निकायो मे अक्सर इस पचस्कन्धो को ही एकमात्र सत्ता कहा गया और आत्मा को इनमे प्रतीत एक भ्रान्ति। जैसे दर्पण मे मुख का प्रतिबिम्ब देखते है, किन्तु वस्तुत वहाँ कुछ नही रहता, ऐसे ही स्कन्धो के सहारे अहकार की उपलब्धि होती है।[१३९] स्कन्धो के न रहने पर यह उपलब्धि नष्ट हो जाती है। आत्मा की सत्ता स्कन्धवाद की दृष्टि से एक अनादि भ्रम है जो कि चित्तप्रवाह मे आससार बना रहता है।

स्कन्धवाद की कठिनाइयाँ प्रारम्भ से ही स्पष्ट थी। यदि चित्त-प्रवाह मे कोई स्थिर आत्मा नही है तो जन्मान्तर किसका होता है? कर्म के फल का भोग कौन करता है? एव मोक्ष ही किसका होता है? और फिर, आत्मा की अनादिभ्रान्ति उत्पन्न ही कैसे हो जाती है? मुख होने पर ही उसका प्रतिबिम्ब दर्पण मे पडता है। बिम्ब के अभाव मे आत्म-प्रतीति को प्रतिबिम्बवत् कैसे माना जाय? यह स्मरणीय है कि साख्यदर्शन मे भी चित्त मे पुरुष का प्रतिबिम्ब माना जाता है और इस प्रतिबिम्ब को भ्रान्ति ही समझते है, किन्तु इस भ्रान्ति के लिए किसी मूल की आवश्यकता है। स्कन्धवादी इनमे से कुछ प्रश्नो का उत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद एव मध्यमा प्रतिपद् के द्वारा दे देते थे, किन्तु इस उत्तर से सबकी शकाओ का समाधान होना कठिन है।

१३९–तु०—प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ३४५।

'विज्ञानवाद'—अतएव बुद्ध के समय मे भी यह शका प्रस्तुत हुई कि क्यो न चित्त, मन अथवा विज्ञान को ही आत्मा मान लिया जाय। उपनिषदो मे आत्मा को प्रायः ही विज्ञान-स्वभाव कहा गया है और औपनिषद् प्रभाव के कारण एक प्रकार का मूल विज्ञानवाद प्राचीन बौद्ध सन्दर्भो मे देखा जा सकता है। विज्ञान का निकायो मे विविध प्रयोग मिलता है।[१४०] पहले विज्ञान अथवा चित्त को रूपी-देह का प्रतियोगी अरूपी धर्म-विशेष माना जाता था जो कि व्यक्तिविशेष की देह के साथ सम्बद्ध रहता था। इस अवस्था मे मनुष्य को देह एव चित्त अथवा विज्ञान की समष्टि समझा जाता था। कही-कही पुरुष को छ धातुओ से निर्मित भी कहा गया है। इन स्थलो मे विज्ञान छठी धातु है। विज्ञान की दो अवस्थाएं है—एक प्रतीत्यसमुत्पन्न, प्रतिष्ठित, निष्ठित एव सोपादान। यह विज्ञान की ससारावस्था है, किन्तु इसके साथ ही विज्ञान की एक अप्रतिष्ठित, प्रभास्वर, अक्लिष्ट एव विमुक्त या अप्रमाण अवस्था का भी उल्लेख मिलता है। चित्त अथवा विज्ञान का ही ससरण होता है, इस धारणा का भी सकेत मिलता है एव इसका तथागत ने सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया। उन्होने केवल इतना ही कहा कि यह ससार-गत चित्त निरन्तर परिणामी है, नित्य और अनन्य नही। चित्त का प्रवाह ही जन्मान्तर मे चलता रहता है। इस जन्म मे भी चित्त एकरस और ध्रुव नही है, जन्मान्तर मे क्या होगा। किन्तु चित्त का एक प्रवाह-गत अविच्छेद अवश्य रहता है। परवर्ती व्याख्याओ के अनुसार सद्धर्म-सम्मत चित्त-सन्तति का साख्यादि-सम्मत वृत्ति-प्रवाह से भेद करने पर भी नाना प्रतिविशिष्ट चित्त-प्रवाह स्वीकार करने होगे जिन्हे कर्म के सेतु परस्पर निबद्ध रखते है। कर्म की उत्पत्ति मूलत चित्त के व्यापार से ही होती है एव एक चित्त का कर्म जिस चित्तान्तर की विरासत बन कर उसके सुख-दुःखादि अथवा उसकी सामग्री में प्रतिष्ठा का निर्धारण करता है, उस चित्त को पहले से सर्वथा अन्य कहना तार्किक दृष्टि से सम्भव होते हुए भी वस्तुत. शब्दो का खेल ही होगा। इस प्रकार कर्म से फल अथवा ससार की देशना मे निरन्तर परिणामी चित्त ही ससारी है। इस मत मे ससारी एक अनन्त ध्रुव पदार्थ न होकर अनुभव की चपल धारा है जिसका व्यक्तित्व कर्मों पर आश्रित है। इस प्रसग मे बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित याज्ञवल्क्य का यह मत स्मरणीय है कि मृत्यु के पश्चात् केवल कर्म शेष रहता है एव कर्म ही सार भूत है जिससे पुरुष का पुनर्जन्म होता है।

१४०—द्र०—ओरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४९३-९५।

उस तत्त्व का संकेत करते हैं जिसे सांख्य एवं वेदान्त में 'अहंकार' कहा गया है, किन्तु इस प्रकार का मिथ्या आत्मवाद हम सबके पास स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही उपस्थित हो जाता है और उसका नाना दर्शनों से और लोक-बुद्धि से पोषण होता है। इसीलिए निवृत्तिपरक बौद्ध आचार्यों ने उसके विरोध में नैरात्म्यवाद का समर्थन किया। बिना 'अहम्' और 'मम', 'भोक्ष्ये' एवं 'करिष्ये' से छुटकारा पाये विराग दृढ़मूल नहीं होता।

पञ्चस्कन्ध-वाद—नैरात्म्यवाद का निकायों में पञ्चस्कन्धवाद के रूप में विकास हुआ। विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार और रूप, ये पांच स्कन्ध हैं। रूप स्कन्ध देह-वाची है और अपने व्यापक अर्थ में समस्त भूत और भौतिक पदार्थों को अपने अन्दर संगृहीत कर लेता है। बाकी चार अरूपी अथवा अभौतिक स्कन्ध समष्टि रूप से नाम कहे जाते हैं। उनमें वेदना सुख, दुःख आदि की उपलब्धि की आख्या थी। 'संज्ञा' शब्द विशिष्ट अवधारण के लिए प्रयुक्त होता था। विज्ञान सामान्यतः चैतन्य-वाची था। संस्कार के अन्तर्गत इच्छा, संकल्प आदि थे। पीछे अभिधर्म में संस्कार का प्रयोग व्यापक हो गया और संस्कार केवल चैतसिक नहीं रहा। साथ ही विज्ञान का अर्थ संकुचित हो गया। निकायों में अक्सर इन पञ्चस्कन्धों को ही एकमात्र सत्ता कहा गया और आत्मा को इनमें प्रतीत एक भ्रान्ति। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिविम्ब देखते हैं, किन्तु वस्तुतः वहां कुछ नहीं रहता, ऐसे ही स्कन्धों के सहारे अहंकार की उपलब्धि होती है।[139] स्कन्धों के न रहने पर यह उपलब्धि नष्ट हो जाती है। आत्मा की सत्ता स्कन्धवाद की दृष्टि से एक अनादि भ्रम है जो कि चित्तप्रवाह मे आससार बना रहता है।

स्कन्धवाद की कठिनाइयां प्रारम्भ से ही स्पष्ट थी। यदि चित्त-प्रवाह में कोई स्थिर आत्मा नही है तो जन्मान्तर किसका होता हे ? कर्म के फल का भोग कौन करता हे ? एव मोक्ष ही किसका होता है ? और फिर, आत्मा की अनादिभ्रान्ति उत्पन्न ही कैसे हो जाती है ? मुख होने पर ही उसका प्रतिविम्ब दर्पण मे पडता हे। विम्ब के अभाव मे आत्म-प्रतीति को प्रतिविम्बवत् कैसे माना जाय ? यह स्मरणीय है कि साख्यदर्शन मे भी चित्त मे पुरुप का प्रतिविम्ब माना जाता है और इस प्रतिविम्ब को भ्रान्ति ही समझते है, किन्तु इस भ्रान्ति के लिए किसी मूल की आवश्यकता हे। स्कन्धवादी इनमे से कुछ प्रश्नो का उत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद एव मध्यमा प्रतिपद् के द्वारा दे देते थे, किन्तु इस उत्तर से सबकी शकाओ का समाधान होना कठिन है।

१३९–तु०—प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ३४५।

'विज्ञानवाद'—अतएव बुद्ध के समय मे भी यह शका प्रस्तुत हुई कि क्यो न चित्त, मन अथवा विज्ञान को ही आत्मा मान लिया जाय । उपनिषदो मे आत्मा को प्राय. ही विज्ञान-स्वभाव कहा गया है और औपनिषद् प्रभाव के कारण एक प्रकार का मूल विज्ञानवाद प्राचीन बौद्ध सन्दर्भो मे देखा जा सकता है। विज्ञान का निकायो मे विविध प्रयोग मिलता है।[१४०] पहले विज्ञान अथवा चित्त को रूपी-देह का प्रतियोगी अरूपी धर्म-विशेष माना जाता था जो कि व्यक्तिविशेष की देह के साथ सम्बद्ध रहता था। इस अवस्था मे मनुष्य को देह एव चित्त अथवा विज्ञान की समष्टि समझा जाता था। कही-कही पुरुष को छ धातुओ से निर्मित भी कहा गया है। इन स्थलो मे विज्ञान छठी धातु है। विज्ञान की दो अवस्थाएँ है—एक प्रतीत्यसमुत्पन्न, प्रतिष्ठित, निष्ठित एव सोपादान। यह विज्ञान की ससारावस्था है, किन्तु इसके साथ ही विज्ञान की एक अप्रतिष्ठित, प्रभास्वर, अक्लिष्ट एव विमुक्त या अप्रमाण अवस्था का भी उल्लेख मिलता है। चित्त अथवा विज्ञान का ही ससरण होता है, इस धारणा का भी सकेत मिलता है एव इसका तथागत ने सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया। उन्होने केवल इतना ही कहा कि यह ससार-गत चित्त निरन्तर परिणामी है, नित्य और अनन्य नही। चित्त का प्रवाह ही जन्मान्तर मे चलता रहता है। इस जन्म मे भी चित्त एकरस और ध्रुव नही है, जन्मान्तर में क्या होगा। किन्तु चित्त का एक प्रवाह-गत अविच्छेद अवश्य रहता है। परवर्ती व्याख्याओ के अनुसार सद्धर्म-सम्मत चित्त-सन्तति का साख्यादि-सम्मत वृत्ति-प्रवाह से भेद करने पर भी नाना प्रतिविशिष्ट चित्त-प्रवाह स्वीकार करने होगे जिन्हे कर्म के सेतु परस्पर विभक्त रखते है। कर्म की उत्पत्ति मूलत. चित्त के व्यापार से ही होती है एव एक चित्त का कर्म जिस चित्तान्तर की विरासत बन कर उसके सुख-दु खादि अथवा उसकी नामरूप मे प्रतिष्ठा का निर्धारण करता है, उस चित्त को पहले से सर्वथा अन्य कहना तार्किक दाँव-पेच से सम्भव होते हुए भी वस्तुत शब्दो का खेल ही होगा। इस प्रकार कम से कम अर्थत तथागत की देशना मे निरन्तर परिणामी चित्त ही ससारी है। इस मत मे ससारी एक अनन्य ध्रुव पदार्थ न होकर अनुभव की चपल धारा है जिसका व्यक्तित्व कर्मभेद पर आश्रित है। इस प्रसग मे बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित याज्ञवल्क्य का यह मत स्मरणीय है कि मृत्यु के पश्चात् केवल कर्म शेष रहता है एव कर्म ही वह मूल है जिससे पुरुष का पुनर्जन्म होता है।

१४०—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४९३—९७।

क्लेशों के आगन्तुक मल से छूटने पर चित्त प्रभास्वर हो जाता है एवं उनमें सम्बोधि-रूप प्रातिभ ज्ञान की स्फूर्ति होती है। इस सम्बुद्ध और 'विसंस्कारगत' चित्त में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। कर्म के सर्वथा अन्त एवं देह-त्याग होने पर चित्त की स्थिति अनिर्वचनीय है। यह प्रसंग वैसा ही है जैसा कि बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में 'प्रज्ञानघन' आत्मा का जहाँ द्वैत-लोप के कारण यह कहा गया है कि 'न प्रेत्य संज्ञास्तीति' किन्तु जहाँ उच्छेदवाद वस्तुतः अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार की अद्वैत एवं अनिर्वचनीय विज्ञानावस्था का स्पष्ट व्याख्यान शान्तिपर्व की इन पंक्तियों में उपलब्ध होता है—
'यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च। नदाश्च तानि यच्छन्ति तादृश सत्वसंक्षय ॥ एवं सति कुत संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्। जीवे च प्रतिसंयुक्ते गृह्यमाणे च सर्वत ॥'[१४१] इससे तुलनीय है—'वि ञ्ञाणमनिदस्सन अनन्त सब्बतोपभम्', 'पभस्सरमिद चित्त त च आगन्तुकेहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठं', 'अत्थङ्गतो सो न पमाणमेति, अमोहयि मच्चुराजति ब्रूमि', 'विसङ्खारगत चित्त तण्हान खयमज्झगा'।[१४२] विज्ञान की इस विशुद्ध एवं असीम अवस्था को ही पीछे विज्ञप्तिमात्रता का पद दिया गया। विज्ञप्तिमात्रता का वर्णन इस प्रसंग में स्मरणीय है—'अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञान लोकोत्तर च तत्। आश्रयस्य परावृत्तिर्द्वेधा दौष्ठुल्यहानित ॥ स एवानास्रवो धातुरचिन्त्य कुशलोध्रुव। सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽय महामुने.।'[१४३] ग्राह्य-ग्राहक-भेद न रहने के कारण 'अचित्त' और 'अनुपलम्भ' कहा गया है।

पुद्गलवाद—पुद्गलवाद का बीज संयुत्त-निकाय के प्रसिद्ध भारहारसूत्र में पाया जाता है। इस सूत्र में स्कन्धों को पुद्गल के लिए भारवत् आगन्तुक और पृथक् सूचित किया गया है। परवर्ती पुद्गलवादियों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण

१४१—"जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से मिलने पर नाम और पार्थक्य छोड़ देती है, ऐसा ही सत्वसंक्षय है। जीव के फिर से जुड़ जाने पर तथा सर्वत्र व्याप्त होने पर मृत्यु के अनन्तर 'संज्ञा' कैसे होगी ?"

१४२—"विज्ञान अदृश्य, अनन्त, ज्योतिर्मय है," "यह चित्त प्रभास्वर है, आगन्तुक उपक्लेशो से उपक्लिष्ट है", "वह अस्तंगत होकर परिच्छिन्न नहीं होता, मृत्यु को उसने वंचित कर दिया ?" "विसंस्कार चित्त तृष्णाक्षय को प्राप्त हुआ' (द्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ४९४–९५)।

१४३—द्र०—नीचे।

कर पुद्गल को स्कन्धो से न भिन्न और न अभिन्न कहा एव स्कन्धो के साथ पुद्गल का सम्बन्ध 'अवक्तव्य' वताया। उनके मत से अनात्मख्यापक देशना का तात्पर्य अनात्म तत्त्वो मे आत्मा का निषेध है, आत्मा का सर्वथा निषेध नही। पुद्गल की सत्ता स्वीकार न करने से पुनर्जन्म, स्मृति, सर्वज्ञता आदि सभी निरर्थक हो जाते है। यदि तथागत को जीव की सत्ता मान्य नही थी तो वे स्पष्ट उसका प्रत्याख्यान कर सकते थे जबकि इसके विपरीत उन्होने आत्मा के नास्तित्ववाद को दृष्टि-स्थान कहा है। इस प्रकार सूत्र ओर तर्क दोनो के ही आधार पर पुद्गलवाद का विकास हुआ।[१४४]

तथागत के अनुसार अज्ञान के कारण हम अपने को देह और चित्त से अभिन्न समझते है और ससार के दु ख म पडे रहते है। देह और चित्त अनित्य और प्रतीत्य-समुत्पन्न है। उनमे अहकार छोड़कर अपने को खोजना चाहिए एव प्रत्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। किन्तु जहाँ ससारावस्था का देह-चित्त-सघात के रूप मे वर्णन सुकर है, पारमार्थिक बोध अनिर्वचनीय है एव आत्मा और अनात्मा, अस्ति और नास्ति के प्रापचिक भेदो का अतिक्रम करता है। परमार्थ की अग्राह्यता एव निश्शेष-दृष्टि-प्रहाण का यह सिद्धान्त अत्यन्त गभीर और दुर्बोध है। इसी देशना के विविध अन्तराल से तर्क-सुलभ एकागिता के द्वारा नाना मतो का आविर्भाव हुआ। व्यवहार के अनात्म-भूत धर्मो के विश्लेषण से स्कन्धवाद एव 'अभिधर्म' का जन्म हुआ। शाश्वत और उच्छेद के मध्य को पकडने से पुद्गलवाद का विकास हुआ। 'विज्ञान' अथवा 'चित्त' के अनिवार्य महत्त्व के आविष्कार से एव औपनिषद् प्रभाव से 'विज्ञानवाद' की अवतारणा हुई। प्रतीत्यसमुत्पाद के मध्यम धर्म के रूप मे व्यापक बोध ने शून्यवाद को जन्म दिया।

परवर्ती व्याख्याएँ—परवर्ती क़ाल मे निर्वाण की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी। स्थविरवादियो ने असस्कृत धातु को अव्याकृत, अप्रमाण, अहेतु, अप्रतिघ, अदृश्य, अरूप, लोकोत्तर, विचार और वुद्धि से परे, सुख-दु ख आदि के अतीत, एव अनुत्तर कहा है।[१४५] कथावस्तु मे निर्वाण को ध्रुव, शाश्वत, अविपरिणामधर्म, अना-लम्वन एव चित्तविप्रयुक्त कहा गया है।[१४६] मिलिन्दपञ्हो मे निर्वाण को भावरूप,

१४४–दे०—नीचे।

१४५–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४४४।

१४६–कथावत्थु, १ ६; वही, ९ ५; वही, १४.६।

अकालिक, शाश्वत एवं अनुत्तम बताया गया है।[१४७] अनुभवगोचर होते हुए भी निर्वाण अवर्णनीय है। बुद्धघोष ने निर्वाण को शान्तिलक्षण, एवं अच्युतिरस अथवा आश्वासकरणरस, तथा अनिमित्त-प्रत्युपस्थान एवं निष्प्रपञ्च-प्रत्युपस्थान कहा है। निर्वाण की अभावरूपता, असत्ता अथवा उच्छेदरूपता का उन्होंने खण्डन किया है एवं उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि निर्वाण का स्वरूप अनुभवगोचर होते हुए भी वर्णनातीत है।[१४८] उसका सोपाधिशेष और अनुपाधिशेष में विभाजन वस्तुतः उपादाय प्रज्ञप्ति अथवा औपाधिक भेद पर आश्रित है। इस प्रकार स्थविरवाद में निर्वाण को असंस्कृत, शान्त, अनुभवगोचर, अवर्णनीय, अनुत्तम एवं भावरूप स्वीकार किया है।

वैभाषिकों के अनुसार तीन प्रकार के निरोध हैं, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध एवं अनित्यतानिरोध। इनमें पहले दोनों असंस्कृत हैं, तीसरा संस्कृत। प्रतिसंख्यानिरोध को ही निर्वाण कहा गया है। निर्वाण असाधारण एवं सभाग, कुशल एवं नित्य है। वह न स्कन्धमात्र है, न स्कन्धाभावमात्र, किन्तु केवल सास्रव स्कन्धों की अपेक्षा उसका स्वभाव प्रतिष्ठित होता है। निर्वाण परम, प्रतिवेध, पन्ति-क्रमणीय, प्रणीत और निस्सरण है। उसको उपलब्ध करनेवाली प्रतिसंख्या अथवा प्रज्ञा अनास्रवस्वभाव और साक्षात्कारात्मक है। निरुपाधि निर्वाण में केवल धर्मता शेष रहती है। इस मत में निर्वाण शाश्वत और वास्तविक है।[१४९]

सौत्रान्तिक मत के अनुसार निर्वाण निरोध मात्र है यद्यपि कुछ सौत्रान्तिक भी निर्वाण में एक सूक्ष्म, किन्तु सर्वथा उपशान्त चेतना की अनुवृत्ति स्वीकार करते थे।[१५०] विज्ञानवादियों के अनुसार बोधिसत्त्व परावृत्ति के द्वारा महापरिनिर्वाण की प्राप्ति करता है। निर्वाण स्वभावतः विशुद्ध है, किन्तु अविद्यामल से उसका अनावरण मार्ग

१४७–मिलिन्दपञ्हो, (बम्बई, १९४०), पृ० २६५, ३१६–१७।

१४८–विसुद्धिमग्गो, पृ० ३५५–५६।

१४९–द्र०—बुलैते दलेकोल फासेज देवसत्रेम ओरियाँ, १९३०, पृ० १ प्र०, अभिधर्म-कोश, जि० १, पृ० ८–१०।

१५०–ओबेरमिलर, आई० एच० क्यू०, जि० १०, पृ० २३५, काश्मीरक वैभाषिक तथा आगमानुसारी सौत्रान्तिक निर्वाण को अभावमात्र मानते थे। कोशानुसारी वैभाषिक तथा न्यायानुसारी सौत्रान्तिक निर्वाण में लोकोत्तर चैतन्य मानते थे। द्र०—बुदोन, जि० २, पृ० ६७ पर ओबरमिलर की पादटिप्पणी।

के द्वारा ही सम्भव है । **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि** मे चार प्रकार के निर्वाण कहे गये है ।[१५१] अनादिकालिक-प्रकृतिबुद्ध-निर्वाण, सोपधिशेष-निर्वाण, निरुपधिशेष-निर्वाण, अप्रतिष्ठित-निर्वाण । इनमे पहला निर्वाण प्रकृतिशान्त तथता ही है । शेष तीन आध्यात्मिक विकास मे तथता के क्रमिक प्रकाश है । निर्वाण परमार्थ और परिनिष्पन्न-लक्षण है, वही सुविशुद्ध धर्मधातु है । निर्वाण और ससार मे कोई आत्यतिक भेद नही है। वही अविद्याके द्वारा अध्यारोपित परतन्त्र-लक्षण ससार है एव प्रज्ञा के द्वारा उन्मीलित उपशान्त-लक्षण निर्वाण है । ससार से निर्वाण मे गति परावृत्ति द्वारा सिद्ध होती है एव वही धर्मसत्ता पारतन्त्र्य से विमुक्त होकर धर्मकाय मे परिणत हो जाती है । वह चतुष्कोटि-निर्मुक्त, सर्वधर्म-परमात्मभूत, प्रपचोपशम है । माध्यमिको मे भी निर्वाण और संसार मे भेद नही माना जाता । निर्वाण को वे भावाभाव-निर्मुक्त शून्य-स्वरूप कहते है ।[१५२] समस्त परिच्छिन्न धर्म वस्तुत पृथक्-पृथक् स्वभावो से शून्य है । यह स्वभाव-शून्यता अथवा पारमार्थिक अद्वैत ही निर्वाण है ।

यह स्पष्ट है कि सभी परवर्ती व्याख्याओ मे निर्वाण को नित्य और शान्त माना गया है । निर्वाण कार्य-करण-परिधि के बाहर है एव निर्विशेष होने के कारण वाणी का अगोचर है । उसका केवल साक्षात्कार सम्भव है । इस प्रकार अवर्णनीय होते हुए भी निर्वाण जीवन का परम लक्ष्य है । निर्वाण का साक्षात्कार सम्बोधि मे होता है और उसकी प्राप्ति के साथ ही क्लेश, कर्म और दु ख से मुक्ति हो जाती है । अहकार नष्ट हो जाता है और मृत्यु उतनी ही निरर्थक जितना जन्म । निर्वाण में ससारी का परम अनन्त सत्ता मे वैसे ही उपशम हो जाता हे जैसे अग्निशिखा का अपने मूल मे ।

परिच्छिन्न लौकिक चेतना के परिचित शब्दो मे निर्वाण का वर्णन नही किया जा सकता । उसकी अनन्तता का सर्वोत्तम सकेत मौन के द्वारा हो सकता है । श्री अरविन्द ने ऐसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है "एक असग परमार्थ ने समस्त का निषेध कर दिया, सम्मूढ जगत् को अपने अद्वैत से मिटा दिया, और आत्मा को अपनी शाश्वत शान्ति मे डुबा दिया ।"[१५३]

मार्ग—तथागत ने दु ख का कारण अविद्या मे पाया जिसकी शक्ति से हम अपने लिए नाना स्थिर पदार्थो के आश्वास्य जगत् की भ्रान्त कल्पना कर लेते है और उसमे

१५१–सिद्धि, जि० २, पृ० ६७० प्र० ।
१५२–दे०—नीचे ।
१५३–द्र०—सावित्री, २.७.६ ।

भोगतृष्णा से व्याकुल होकर विचरते है। हमारे आयासजनित कर्म ही वरवस हमे एक जन्म से दूसरे जन्म तक ले जाने का सेतु बन जाते है। इस दु ख की शृखला से छुटकारा कर्म, तृष्णा एव अविद्या के छूटने पर ही सम्भव है और वह प्रज्ञा अथवा सम्बोधि से ही हो सकता है। इस प्रकार वस्तुन निरोधगामिनी प्रतिपद् सम्बोधि-गामिनी प्रतिपद् है। नियम के रूप मे जो धर्म ससार मे व्यापक है एव अविद्यादि-क्रम से दु ख का कारण वनता है, वही विलोमक्रम से दु ख-निरोध की ओर ले जाता है। इस प्रकार मार्गरूपी धर्म एक निवृत्ति का क्रम है जोकि ससार के स्वाभाविक क्रम अथवा प्रवृत्ति को उलट देता है।' छान्दोग्य उपनिषद् (६ १४) मे अध्यात्म की खोज की तुलना मार्ग की खोज से की गयी है—"जैसे किसी पुरुष को आँखे वाँधकर गन्धार से ले जायँ और वहाँ से उसे दूर छोड दिया जाय—। उसके वन्धन को खोलकर कहा जाय, इस ओर गन्धार है, इस ओर जा। वह पडित और मेधावी गाँव-गाँव पूछते हुए गन्धार पहुँच जाय। ऐसे ही यहाँ आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। इस सदर्भ के साथ मज्झिम और सयुत्त के वे प्राचीन सदर्भ तुलनीय है जहाँ तथागत ने अपने को केवल मार्गदर्शक बताया है और धर्म को निर्वाण तक पहुँचाने वाला पुराना राजमार्ग[१५४] 'जैसे कोई अरण्य यात्री महावन मे चिर-अनुपात पुराना मार्ग देखे और उसके अनुसरण से पुरानी राजधानी तक पहुँचे। ऐसे ही मैने पूर्व-वुद्धो के द्वारा अनुगत प्राचीन मार्ग प्रत्यक्ष किया है।' (सपुत्त रो० २ १०५-६) "यह राजगृह का मार्ग है, इसका अनु-सरण करने पर एक गाँव मिलेगा, आगे एक निगम दीखेगा, और आगे रमणीय आराम, उद्यान, सरसी आदि से शोभित राजगृह। उस प्रकार उपदिष्ट होने पर भी यात्री पथभ्रष्ट हो सकता है—ऐसे ही, ब्राह्मण, निर्वाण हे, निर्वाणगामी मार्ग हे, मै उसका उपदेशक हूँ।" उपनिपदो में यद्यपि ज्ञान को मुक्ति का प्रधान साधन माना गया है तथापि शील और कर्म की परिशुद्धि तथा सासारिक एषणाओ और कामनाओ की हेयता का भी प्रतिपादन किया गया है। उपनिपदो में ही याज्ञिक कर्म के स्थान पर नैतिक सत्कर्म को प्रतिष्ठित कर दिया गया था, किन्तु ब्राह्मण-धर्म में उस समय उपनिपदो के द्वारा प्रतिपादित शील और ज्ञान का मार्ग अल्पसख्यक विचारको का मत था। साधारण तौर से वैदिक धर्म में द्रव्य-साध्य यज्ञादि के अनुष्ठान एव नाना गृह्य-कर्मो का प्राधान्य था। यह प्रचलित वैदिक धर्म प्रवृत्ति-मार्गी था। सद्धर्म मे इसके प्रतिकूल, किन्तु उपनिपदो की परम्परा के अनुकूल निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन

१५४—मज्झिम० रो० जि० ३, पृ० ४–६, संयुत्त० रो०, ४.२५९, वही, २.१०८।

मिलता है। उपनिषदो से इसका भेद अगतारतम्य एव विस्तार मे है। सद्धर्म मे शील पर वहुत जोर दिया गया है और उसकी विस्तरश व्याख्या की गयी है, किन्तु इस भेद का कारण तत्त्वभेद नही था। उपनिपदो मे सर्वजनश्राव्य अभिभापण नही है, प्रत्युत विशिप्ट अधिकारियो के लिए सूक्ष्म सकेत है। पालि त्रिपिटक मे प्रचुर विस्तार से सवको समझाने के लिए बरावर शील के विस्तर का व्याख्यान किया गया है। तथापि यह स्मरणीय है कि अहिसा, करुणा, अपरिग्रह, शान्ति और वैराग्य का जैसा महत्त्व सद्धर्म मे है वैसा उपनिपदो मे नही है। ध्यान और समाधि का भी प्राचीन बौद्ध सदर्भो मे अधिक परिप्कृत और विस्तृत वर्णन मिलता है जिसका उपनिषदो मे सकेत-मात्र उपलव्ध होता हे। कदाचित् सवसे महत्त्वपूर्ण भेद ज्ञान के स्वरूप के विषय मे है। उपनिषदो मे ज्ञान श्रुति या शव्द के द्वारा ही प्रधान रूप से प्राप्त होता है यद्यपि मनन और निदिध्यासन का भी उपदेश किया गया है, किन्तु यह उपदेश दूसरी श्रेणी के अधिकारियों के लिए है। सद्धर्म मे शव्दो के द्वारा केवल मार्ग ही प्रतिपाद्य है। चित्त के परिप्कार से ज्ञान स्वत उद्भूत होता है।

तीन अवस्थाएँ—निर्वाण का मार्ग स्वभावत त्रिधा विभक्त हो जाता है। पहली अवस्था मे असत्कर्म का न करना एव सत्कर्म का आचरण, दूसरी अवस्था मे ध्यान, एव तीसरी अवस्था मे साक्षात्कारात्मक ज्ञान, ये ही मार्ग के प्रधान अग अपने अनिवार्य क्रम मे है। ससार के वधन की उत्पत्ति मन के सूक्ष्म और आन्तरालिक स्तर से होकर क्रमश स्थूल देह के द्वारा वाह्य लोक मे व्यक्त होती है। निवृत्ति का क्रम इसका प्रतिलोम है एव पहले स्थूल देह और उसके कर्मो के सयमन के अनन्तर क्रमश चित्त के परिप्कार के द्वारा उसकी अन्तर्निहित अविद्या के क्षय की ओर वढता है। प्राचीन **श्रामण्यफल**-सूत्र मे भिक्षु की आध्यात्मिक प्रगति का क्रमिक वर्णन किया गया है तथा उसमे शील, समाधि और प्रज्ञा का त्रिविध भेद प्रकट होता है। और भी अनेक स्थलो पर यह भेद उल्लिखित है। कभी-कभी विमुक्ति अथवा विमुक्तिज्ञान-दर्शन के जोडने से त्रिविध मार्ग चतुर्विध अथवा पचविध कर दिया गया है। विसुद्धिमग्गो एव सर्वास्तिवाद के ग्रन्थो मे त्रिधा विभाजन ही प्रधान है। पर यह स्मरणीय है कि तथागत ने धर्म को अवसर के अनुकूल विविध रूपो मे उपदिष्ट किया था और उपमा आदि के सहारे उसका प्रतिपादन किया था, किसी गणितोपयोगी गुर का व्याख्यान नही। और सच वात यह है कि आध्यात्मिक मार्ग मे प्रतिव्यक्ति कुछ-न-कुछ भेद रहता ही है। विसुद्धिमग्गो मे बुद्धघोष का कहना है कि शील से काम-सुख मे आसक्ति वर्जित होती है एव दुर्गति के अतिक्रम का उपाय प्रकट होता है। जहाँ प्रज्ञा से दृष्टि-सक्लेश का विशोधन

होता है, और समाधि से तृष्णा-सक्लेश का, वहाँ शील से दुश्चरित सक्लेश का विशोधन होता है। पटिसम्भिदामग्ग के अनुसार, 'शील क्या है? शील चेतना है, शील चैतसिक है शील सवर है, शील अव्यतिक्रम है।' इस उक्ति मे शील के दो पक्ष निर्दिष्ट है—आभ्यन्तर और बाह्य। शील का सार है चित्त का कुशल धर्मों की ओर झुकाव और उसकी अभिव्यक्ति होती है कायिक और वाचिक सयम मे। उपासक और उपासिकाओ के लिए नित्य-शील के रूप में पचशील उपदिष्ट है। अनुपसम्पन्न श्रामणेरो के लिए दश-शील का विधान है। उपसम्पन्न भिक्षु के लिए नाना शिक्षापदो में प्राति-मोक्ष-सवर, इन्द्रिय-संवर, आजीव-परिशुद्धि, प्रत्ययसंनिश्रित शील आदि प्रज्ञप्त है।

उपासकधर्म—तथागत की धर्म-देशना प्रधानतया घर-बार छोड़कर ससार से निवृत्ति के लिए कमर कसे हुए भिक्षुओ के लिए थी, किन्तु अधिकांश जनता सहसा इतने त्याग के लिए सन्नद्ध नही थी। अतएव तथागत ने उन्हे उपासक के रूप मे ग्रहण किया एव उनके लिए धर्म का गृहस्थोपयोगी सस्करण प्रचारित किया जिसमें निष्कामता और नैष्कर्म्य के स्थान पर सयम, सन्तोष, एव शुभ-कर्मो पर जोर था। इस मार्ग के अनुसरण से प्रत्यक्ष जीवन में सुख और सौभाग्य एव और्ध्वदैहिक जीवन मे सद्गति का लाभ होता है। दीघनिकाय में सिगाल-सुत्त में उपासक-धर्म का विशेष निरूपण किया गया है। आर्य श्रावक को चार कर्म-क्लेशो को छोड़ना चाहिए, चार स्थानो से पाप न करना चाहिए एवं भोगो के ६ अपायमुखो का सेवन न करना चाहिए। इस प्रकार चौदह पापो से मुक्त होकर एवं छ. दिशाओ का वास्तविक सत्कार कर ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण का लाभ होता है। चार कर्म-क्लेश है—प्राणातिपात, अदत्तादान, काम-मिथ्याचार, मृषावाद। छन्द, दोष, भय और मोह, चार स्थान है, पाप-कर्म के लिए। भोगो के छ: अपायमुख हैं—मद्यपान, विकालचर्या, समज्याभिचरण, द्यूत, पापमित्रता, एव आलस्य। वस्तुत. सत्करणीय छ दिशाएँ है—माता-पिता, आचार्य, पुत्र-दार, मित्रामात्य, दास-कर्मकर, एवं श्रामण-ब्राह्मण। इनके लिए सम्यक् प्रतिपत्ति आवश्यक है। माता-पिता के लिए भरण, कृत्य-सम्पादन, कुल-वंश-स्थापन, दायाद्य-प्रतिपत्ति, एवं उनके देहान्त पर दक्षिणा-दान अपेक्षित है। आचार्य की सेवा के लिए उत्थान, उपस्थान, शुश्रूषा, परिचर्या एवं शिल्प-ग्रहण आवश्यक है। भार्या के लिए सम्मानन, अनवमानन, अनतिचर्या, ऐश्वर्यव्युत्सर्ग एव अलकारानुप्रदान कर्तव्य है। मित्रो के लिए दान, प्रियवाद, अर्थचर्या, समानात्मता एव अविसवादनता अपेक्षित है। दास-कर्मकरो के लिए यथाबल कर्मान्तसंविधान, भक्तवेतनानुप्रदान, ग्लानोपस्थान,

रससविभाग, एव समय मे व्युत्सर्ग आवश्यक है। श्रामण-ब्राह्मणो के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा मैत्री, विवृतद्वारता एव आमिषानुप्रदान अपेक्षित है।

द्रव्यमय यज्ञो का एव नाना देवताओ की पूजा का भगवान् बुद्ध ने विरोध किया। वास्तविक योग और पूजा को उन्होने आध्यात्मिक एव शील के आचरण से अभिन्न बताया है। ऐसे ही, कठोर तपश्चर्या का भी उन्होने विरोध किया। यह प्रसिद्ध है कि उन्होने अपने पहले ही उपदेश मे सुखानुसधान एव कठोर तप के मध्यवर्ती मार्ग को सराहा था। ध्यान का समर्थन उन्होने देव-लोको की प्राप्ति के लिए नही, प्रत्युत चित्त के परिष्कार के लिए एव ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति के लिए किया[१५५]।

बोधिपाक्षिकधर्म—महापरिनिर्वाण-सूत्र मे यह कहा गया है कि तथागत ने अपने अन्तिम समय मे ३७ बोधिपाक्षिक धर्मो को ही अपने शिष्यो के लिए विरासत की तरह छोडा था, किन्तु यह स्मरणीय है कि इस सूची मे इन बोधिपाक्षिक धर्मो को सख्यावृद्धि के क्रम से निर्दिष्ट किया गया है। पहले चतुष्क, फिर पचक, फिर सप्तक और फिर अष्टक। किन्तु सयुत्त निकाय मे इन्ही वर्गो का इतना क्रमिक सकेत नही है, यहाँ तक कि अष्टाग मार्ग का स्थान अन्तिम न होकर पहला है। इससे सूचित होता है कि कदाचित् महापरिनिर्वाण-सूत्र मे बोधिपाक्षिक धर्मो का उल्लेख अपेक्षया परवर्ती है जबकि उनका क्रम अधिक युक्तियुक्त हो गया था एव जब अष्टाग मार्ग का महत्त्व कुछ घट गया था।

प्राय यह माना जाता है कि अष्टाग-मार्ग तथागत की मूल देशना का अग था। इस मत का श्रीमती राइजडेविड्स ने सबल विरोध किया है[१५६]। मार्ग की उपमा अवश्य ही मूल देशना मे थी, किन्तु अगुत्तर-निकाय के अष्टक-निपात से एव दीघ-निकाय के सगीत-सूत्र से अष्टाग-मार्ग का तन्नामाकित अष्टक के रूप मे अनुल्लेख अभी भी सन्तोष-जनक रूप से समझाया नही जा सका है। यह भी स्मरणीय है कि अनेक स्थलो मे मार्ग का उल्लेख विना अष्टागो के उल्लेख के हुआ है। वस्तुत बोधिपाक्षिक धर्म की अन्तर्गत सूचियाँ विभिन्न दृष्टियो से मार्ग के अगो का उल्लेख करती है। अष्टाग-मार्ग मे ऐसी विशेपता नही है कि उसको शेष सूचियो से वैशिष्ट्य दिया जाय। कही-कही ब्रह्मचर्य की ७ अवस्थाएँ कही गयी है कही दशाग मार्ग का उल्लेख है[१५७]।

१५५–तु०—श्रीमती राइज़डेविड्स, शाक्य, पृ० १८०।

१५६–शाक्य, पृ० ८९ इत्यादि।

१५७–मज्झिम०, सुत्त, २४,१०७, अगुत्तर० १०.१३–१६।

अष्टाग मार्ग के अन्तर्गत सम्यग्-दृष्टि का अर्थ उसके प्रायिक अर्थ से भिन्न है। बौद्ध साहित्य मे दृष्टि शब्द का उपयोग अक्सर मिथ्या धारणाओ के लिए किया जाता है। सम्यग्-दृष्टि को प्राय चार आर्यसत्यों का ज्ञान बताया गया है। सम्यक्-सकल्प, सम्यग्वाक्, एव सम्यक्कर्मान्त—ये उपनिषदो मे विदित मन, वाणी और शरीर के कर्म है। सम्यक्-सकल्प को निष्काम-सकल्प, अव्यापाद-सकल्प एवं अविहिसा-सकल्प कहा गया है। अर्थत रागद्वेष-वर्जित सकल्प ही सम्यक्-सकल्प है। मृषावाद, पैशुन्य, परुषता, सम्प्रलाप—इनसे विरति सम्यग्वाक् है। प्राणातिपात, अदत्तादान, एव कामगतमिथ्याचार से विरति सम्यक्कर्मान्त है। सम्यग्-आजीव का ब्रह्मजाल-सूत्र मे विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति एव सम्यक्-समाधि प्रकारान्तर से सम्बोध्यगो, इन्द्रियो एव बलो मे भी गिने गये है।

व्यायाम, वीर्य, पराक्रम एवं उत्थान—इनका प्राचीन सद्धर्म मे बहुत महत्त्व था। इस दिशा मे सद्धर्म निर्ग्रन्थो के मत के सदृश था। एक ओर, आजीवको ने पुरुषार्थ को निष्फल घोषित किया था। उनका कहना था कि पुरुष-पराक्रम अथवा आत्म-स्वातन्त्र्य नाम की कोई शक्ति नही है। सब कुछ पूर्व-कर्म से व्यवस्थित है। दूसरी ओर, उस युग मे ईश्वरवाद के साथ-साथ अनुग्रहवाद की अवतारणा हुई थी। इस मत मे भी व्यक्ति के पराक्रम का आध्यात्मिक आकिंचन्य निश्चित था। इन दोनो प्रकारो के नियतिवाद का जैनो मे और बौद्धो मे तिरस्कार मिलता है। इनमे परस्पर भेद पहले तो इस पर आश्रित था कि जैनो के लिए क्रिया अथवा पुरुषार्थ कठोर तपोरूप होना चाहिए जबकि बुद्ध भगवान् ने मध्यमा प्रतिपद का उपदेश किया था, और दूसरे इस पर कि बौद्धो मे ज्ञान के लिए क्रिया परिकर्म एव पूर्वाग मात्र है। इस प्रसंग मे यह स्मरणीय है कि सम्यक्प्रधान से भी वहाँ प्राय वही अभिप्राय है जो सम्यग्व्यायाम से।

सम्यक्–प्रधान मे अकुशल-धर्मो से सवर और उनका प्रहाण एव कुशल धर्मो की भावना और उनका अनुरक्षण उपदिष्ट है। यह कहा गया हे कि प्रधान शील पर आश्रित है, सयोजनो को नष्ट करता है और निर्वाण तक ले जाता है।

पाँच इन्द्रियाँ और पाँच बल दोनो एक ही हैं। वस्तुत इन्द्रिय शब्द का भी मूल अर्थ बल ही है। ये पाँच है—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा। कुछ स्थलों में इन पाँच के स्थान पर केवल चार अथवा तीन का ही उल्लेख है[१५८]। कुछ अन्य स्थलो पर पाँच

१५८–अंगुत्तर० रो० जि० ४, पृ० ३६३; संयुत्त रो० जि० ५, पृ० २२४।

वलो की सूची प्रकारान्तर से दी हुई है, यथा स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, वीर्य और प्रज्ञा[१५९]। स्थानान्तर मे इन पाँच के साथ श्रद्धा और समाधि जोडकर सात वल हो गये है[१६०]। इन्द्रिय शब्द का निकायो मे नाना अर्थो में प्रयोग किया गया है। वल और इन्द्रियाँ उपशम और सम्वोधि की ओर ले जाती है तथा अनुशय और सयोजनो का क्षय करती है। योगदर्शन मे भी इन पाँच का सम्प्रज्ञात-समाधि के प्रसग मे उल्लेख है[१६१]।

तथागत ने अपने धर्म को प्रत्यात्मवेदनीय वताया था एव उन सव मतो का निराकरण किया था जो कि केवल श्रद्धा, रुचि, अनुश्रव, आकार, परिवितर्क एव दृष्टि-निध्यानक्षान्ति पर आश्रित है[१६२]। उन्होने ब्राह्मणो और निर्ग्रन्थो की अन्ध-श्रद्धा तथा परम्परावादिता का खण्डन किया और अपने धर्म को "सन्दिट्ठिको, अकालिको, एहिपस्सिको, ओपनयिको, पच्चत्त, वेदितब्वो, विञ्जूहि घोषित किया[१६३]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सद्धर्म मे जिस श्रद्धा का महत्त्व और शक्ति स्थापित की गयी है वह श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा न होकर दर्शन-मूलिका श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा ही मनुष्य का सनातन सहारा है। यह स्मरणीय है कि योगसूत्र (१ २०) के व्यास-भाष्य मे श्रद्धा की परिभाषा की गयी है चित्त का सम्प्रसाद। इस सम्प्रसाद को वाचस्पति मिश्र ने अभिरुचि तथा अतीच्छा कहा है एव वार्तिककार का कहना है सम्प्रसाद का अर्थ है, 'प्रीति, यह इच्छा कि 'मेरा योग सफल हो'। ऐसे ही अर्थ को वुद्धिस्थ रखकर उदान में कहा है—'श्रद्धा-करके मै घर से वेघर हुआ हूँ'। इस प्रकार श्रद्धा का अर्थ आध्यात्मिक उपायो में भरोसा और उत्साह है, न कि मत-विशेष में सुनने मात्र से युक्ति-निरपेक्ष आग्रह अथवा अभिनिवेश। श्रद्धा होने पर वीर्य अथवा साधन मे अथक पुरुषार्थ सम्भव होता है। श्रुति में कहा है 'नायमात्मा वलहीनेन लभ्य …'। साधन का निरन्तर और दीर्घकालीन अभ्यास विना परिश्रम और पराक्रम के सम्भव नही है। आलस्य, अवसाद, मन्दता, आदि से वीर्य ही वचा सकता है। योगशास्त्र मे कहा है 'तीव्र सवेगानामासन्न.'। समाधि की प्राप्ति अभीप्सा और प्रयत्न की तीव्रता पर निभर है।

१५९–अंगुत्तर० रो० जि० ३, पृ० १०।

१६०–अंगुत्तर० रो०, जि० ४, पृ० ३।

१६१–योगसूत्र, "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।" (१.२०)।

१६२–मज्झिम० रो०, जि० २, पृ० २१८, २३४ इत्यादि।

१६३–उदा०, दीघ० रो० २.२२२ इत्यादि।

स्मृति—स्मृति का महत्त्व इससे स्पष्ट है कि वोधिपाक्षिक-धर्मो की सात सूचियो मे से पाँच मे उसका उल्लेख है और एक केवल उसी का विस्तार है। स्मृति शब्द अपने प्रचलित अर्थ मे चित्त के सुविदित धर्म-विशेष का सकेत करता है। चित्त का यह स्वभाव है कि वह अनुभव के व्यतीत होने पर भी उसकी निशानी या सस्कार का सरक्षण करता है एव अनुभूत अर्थ का सस्कार के द्वारा फिर से ज्ञान स्मरण कहलाता है। आध्यात्मिक साधन के प्रसग में ध्येय विषय का निरन्तर स्मरण ही स्मृति शब्द से सूचित होता है। योगदर्शन के "श्रद्धावीर्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि स्मृत्युपस्थान सिद्ध होने पर चित्त समाहित हो जाता है। तत्ववैशारदी, पातजलरहस्य एव योगवार्तिक मे स्मृति शब्द का अर्थ यहाँ ध्यान किया है क्योंकि वही समाधि का साक्षात् द्वार है। 'कायगता स्मृति' अथवा 'आनापान-स्मृति' के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि यही अर्थ वौद्धो का भी अभिप्रेत है। चतुर्थ-ध्यान के वर्णन मे स्मृतिपरिशुद्धि की उपलब्धि कही गयी है। निरन्तर स्मृति का महत्व उपनिषदो मे विदित है। छान्दोग्य (७ २६ २) मे कहा गया है 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि सत्वशुद्धा ध्रुवा स्मृति स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष.'[१६४]। अप्रमाद का उपदेश भी इस प्रसग मे स्मरणीय है, यथा 'नायमात्मा वलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्—'[१६५] 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं—'[१६६]। सद्धर्म मे अप्रमाद पर वार-वार जोर दिया गया है। तथा-गत के अन्तिम शब्द यही कहे गये हैं—"अप्रमाद से सम्पन्न करना—'। सामान्यत चित्त मोह एव विक्षेप में पडा रहता है। उसे समाहित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रयत्नपूर्वक स्मृतिसाधन के द्वारा प्रत्यग्-जागरूक एव एकाग्रभूमिक वनाया जाय। स्मृति की अनिवार्यता द्योतित करने के लिए उसे "एकायन मार्ग' कहा गया है। स्मृति का अभ्यास निरन्तर आध्यात्मिक जागरूकता का अभ्यास है। स्मृति चित्त को असत्सम्पर्क और असत्प्रचार से वचाती है। अतएव उसे चित्त का 'आरक्षक' अथवा 'दौवारिक' कहा गया है।

१६४—"आहार शुद्ध होने पर चित्त शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होने पर निरन्तर स्मृति होती है, स्मृति प्राप्त होने पर सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।"

१६५—मुण्डक० ३.२.४ "यह आत्मा वलहीन से लभ्य नहीं है, और न प्रमाद से (लभ्य है)।"

१६६—मुण्डक० २. २.४, "अप्रमत्त होकर वेध करना चाहिए।"

निकायो में स्मृति-साधन के अनेक प्रकार निर्दिष्ट है[१६७]। उनमे कायगता स्मृति, आनापान स्मृति, एव चार स्मृति-प्रस्थान मुख्य है। कायगता स्मृति शरीर के ध्यान का ही नाम है। शरीर के अग-प्रत्यगो के रग, आकार, स्थिति आदि का एक निश्चित क्रम में निरन्तर चिन्तन करने से काय-स्मृति उपस्थित होती है। इस स्मृति के सिद्ध होने से अपने एव औरो के शरीर निरे हाड-मास के पुतले प्रतीत होते है तथा कायिक जीवन की ओर वितृष्णा उत्पन्न होती है। आनापान-स्मृति मे साँस पर ध्यान दिया जाता है। जितना महत्त्व योग मे प्राणायाम का है उतना ही बौद्ध साधन में आनापान-स्मृति का। वस्तुत. यह स्मृति एक प्रकार का बौद्ध प्राणायाम ही है। जहाँ प्राणायाम मे साँस का प्रयत्नपूर्वक नियमन और निरोध किया जाता है, आनापान स्मृति मे केवल साँस की गति को निरन्तर लक्ष्य किया जाता है। किन्तु इस प्रकार साँस की ओर ध्यान देने से उसकी गति सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते हुए प्रकर्ष मे निरुद्धवत् हो जाती है। यह अवस्था केवल-कुम्भक की अवस्था से तुलनीय है। आनापान-स्मृति की प्रक्रिया अजपा-जाप की विधि से भी सादृश्य रखती है, किन्तु उसमें किसी प्रकार के मन्त्र अथवा नाद के अनुसन्धान का कही उल्लेख प्राप्त नही होता।

चार स्मृति-प्रस्थानो मे पहला कायानुपश्यना है, दूसरा वेदनानुपश्यना, तीसरा चित्तानुपश्यना और चौथा धर्मानुपश्यना। कायानुपश्यना मे कायिक धर्मो का यथास्थित अनुसन्धान विहित है। वेदनानुपश्यना मे सुख-दु ख आदि वेदनाओ का यथार्थ बोध किया जाता है। चित्तानुपश्यना समस्त-चित्त-विषयक जागरूकता है। धर्मानुपश्यना नीवरण, स्कन्ध, आयतन, सयोजन, बोध्यग एव चार आर्यसत्यो के बोध और स्मरण से सम्पन्न होती है। सक्षेप मे स्मृति का साधन 'तन, मन, पवन' की गतिस्थिति के अनुसन्धान के द्वारा किया जाता है।

बोध्यगो को सम्बोधि के उपयोगी तत्त्व माना जाता हैं और प्राय वे सात गिनाये गये हैं—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि एव उपेक्षा। नीवरणो के प्रतिकार के लिए बोध्यगो का विशेष रूप से उपदेश मिलता है। कामच्छन्द, अभिध्या-व्यापाद, स्त्यान-मृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, एव विचिकित्सा, ये पाँच नीवरण है[१६८]। चित्त को अभिभूत कर ये नीवरण उसे समाधि के अनुपयोगी न बना दे, इसलिए बोध्यगो की

१६७—मज्झिम०—सतिपट्ठानसुत्त; दीघ० महासतिपट्ठान०; संयुत्त० सति-पट्ठानसंयुत्त० प्रभृति स्थलों पर।

१६८—अर्थात् राग, द्वेष, आलस्य, उद्धतता, एवं सशय।

यथावसर भावना करनी चाहिए। स्मृति-प्रस्थानो से वोध्यग समर्पित होते है एव स्वय विद्या-विमुक्ति को समर्पित करते है[१६९]।

ऋद्धिपादो को ऋद्धि के अनुकूल साधन समझा जा सकता है। ऋद्धिपाद चार वताये गये है[१७०]।—छन्दसमाधिप्रधानसस्कार-समन्वागत-ऋद्धिपाद, वीर्य, चित्त०, एव मीमासा०। इनका स्पष्ट वर्णन प्राप्त नही होता। इस प्रसग मे स्मरणीय है कि तथागत ने चमत्कार अथवा प्रातिहार्य के तीन प्रकार वताये थे—ऋद्धि-प्रातिहार्य, आदेशना-प्रातिहार्य, एव अनुशासन-प्रातिहार्य। ये सभी मनुष्योत्तर धर्म है, किन्तु इनमे पहले दो गान्धारी विद्या अथवा मणिका विद्या से भी प्राप्त हो सकते है। ऐसे जादू के चमत्कार को भगवान् बुद्ध ने हेय वताया। उनके मत मे धर्माचरण से लव्ध आध्यात्मिक विशुद्धि और प्रगति ही वास्तविक चमत्कार है[१७१]।

वोधिपाक्षिक धर्मों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वुद्धोपदिष्ट मार्ग मे सयम, पुरुपार्थ, जागरूकता एव एकाग्रता का अत्यधिक महत्त्व था। तथागत ने शील-व्रत-परामर्श का खडन किया। वे कोरे वाहरी आचार के नियमो को महत्त्व नही देते थे। जिन शीलो का उन्होने उपदेश किया वे आपातत वर्जनात्मक होते हुए भी वस्तुत भावनात्मक है। ससारी एव साधक-गण स्वभावत. अतिमात्रता की ओर प्रवण होते है। अतएव वुद्ध ने सुख-भोग और घोर-तप, दोनो के मध्यवर्ती मार्ग का उपदेश किया।

प्रश्नोपनिपद् (१ १५-१६) मे कहा है—'तेषामेवैप ब्रह्मलोको येपा तपो ब्रह्मचर्य येपु सत्य प्रतिष्ठितम् ॥ तेपामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येपु जिह्ममनृत न माया चेति'[१७२]। मुण्डक के अनुसार 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येप आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'[१७३]। छान्दोग्य मे कहा गया है—'ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते'[१७४]। ज्ञान के लिए सत्य और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता वौद्धो में पूरी स्वीकृत है। अन्यत्र देवताओ, मनुष्यों

१६९—संयुत्त० रो०, ५.३२९ इत्यादि।

१७०—द्र०—दीघ० जनवसभसुत्तन्त; संयुत्त० रो० जि० ५, पृ० २६८ प्र०।

१७१—तु०—विसुद्धमग्गो, पृ० २६२ प्र०।

१७२—"उन्हीं का यह निर्मल ब्रह्मलोक है जो तपस्वी, ब्रह्मचारी एवं सत्यनिष्ठ हैं। यह ब्रह्मलोक उनका नहीं है जिनमें कुटिलता, झूठ या वंचना है।"

१७३—"यह आत्मा सत्य से लभ्य है, तप से, सम्यग्ज्ञान से, नित्य ब्रह्मचर्य से" (मुण्डक ३.१.५)।

१७४—"ब्रह्मचर्य से ही अभीष्ट आत्मा को प्राप्त करता है।" (छा० ८.५.१)।

एव असुरो को क्रमश' दम, दान एव दया का उपदेश दिया गया है[१७५]। सद्धर्म मे दम अथवा सयम सवके लिए आवश्यक है, दान उपासको के लिए महत्त्वपूर्ण है एव दया-"धर्म का मूल है"। वैदिक धर्म एव सद्धर्म के शील-विधान मे अनिवार्य सादृश्य होते हुए भी अगतारतम्य का भेद है।

अहिंसा—अहिंसा, मैत्री, करुणा, सहानुभूति एव सहिष्णुता का बौद्ध शील मे मूर्धन्य स्थान है। शतपथ ब्राह्मण मे ब्राह्मण को सबका मित्र तथा अहिंसक कहा गया है[१७६]। दीक्षित को अक्रोध वताया गया है, एव उत्तर-वैदिक-साहित्य मे याज्ञिक हिंसा के प्रति कही-कही आपत्ति प्रकट होती हे। इस प्रवृत्ति का बौद्ध साहित्य मे प्रचुर विकास देखा जा सकता है और इस विकास का कारण ससारवाद एव कर्मवाद का प्रचार माना जाना चाहिए। यह मानने पर कि एक ही जीव-सत्ता कर्म-भेद से नाना योनियो मे जन्म पाती है, समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियो का आध्यात्मिक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। लोक-जीवन हिंसा के विकट और जटिल जाल मे फँसा है। विना उस जाल को काटे निवृत्ति-मार्ग मे गति सम्भव नही हे। योगभाष्यकार ने कहा है कि शेष सव नियम अहिंसा को विशुद्ध करने के लिए ही स्वीकार किये जाते है। उन्होने इस प्रसग में एक प्राचीन उद्धरण दिया है जो उल्लेखनीय है—'स खल्वय ब्राह्मणो यथा-यथा व्रतानि वहूनि समादित्सते तथा-तथा प्रमाद-कृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यस्तामेवावदातरूपामहिंसा करोति[१७७]। वार्तिककार ने मोक्षधर्म से प्रासगिक उद्धरण दिया है—

"यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥
एव सर्वमहिंसाया धर्मार्थमपिधीयते[१७८]॥"

इसी कारण निर्ग्रन्थ मत मे हिंसा का सर्वथा वर्जन उपदिष्ट है। सद्धर्म मे कर्म को मूलत. मानसिक माना है और अतएव निर्ग्रन्थो से भेद है। बौद्ध अहिंसा न केवल पशु-

१७५–वृ० उप०, ५.२।

१७६–शतपथ० जि० १, पृ० २७९।

१७७–"जैसे-जैसे ब्राह्मण बहुत-से व्रतो को स्वीकार करना चाहता है, वैसे-वैसे वह प्रमादकृत हिंसामूलक (दोषो) से अहिंसा को ही विशुद्ध करता है।" (पृ० २७८)।

१७८–"जैसे हस्तिपद में अन्य जन्तुओ के पद विलीन हो जाते है, ऐसे ही अहिंसा में सब धर्म लीन हो जाते है।"

हिंसा अथवा पर-पीडन की वर्जना है, अपितु शान्ति, मैत्री एव सहानुभूति की भावना है। दूसरे से घोर क्लेश पाने पर भी अप्रतिकार और सहिष्णुता के आदर्श की मज्झिम-निकाय के 'ककचूपमोवाद' मे प्रसिद्ध अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। मैत्री की भावना का अनेक सूत्रो मे गुणगान प्राप्त होता है। इस प्रसग में चार ब्रह्म-विहारो का साधन विशेष रूप से उल्लेखनीय है[१७९]। यह कहा गया है कि ब्रह्म-विहारो का अभ्यास बौद्धेतर सम्प्रदायो मे पहले से विदित था और उन्ही से बौद्धो ने उसे सीखा। यह सम्भव है। कम-से-कम परवर्ती काल में योगसूत्रो मे ब्रह्म-विहारो का चित्तप्रसादन के लिए उपदेश पाया जाता है। मैत्रीभावना पहला ब्रह्मविहार था। अन्य व्यक्तियो की आत्मोपमता का स्मरण करने से मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और 'वे सुखी रहे, दु ख न पायें, उनका कल्याण हो', इस प्रकार की इच्छा मे साकार होता है। अधिकाधिक व्यक्तियो एव वर्गों की ओर इस भावना को प्रसारित करना चाहिए। पर-दु ख के स्मरण से करुणा का भाव उत्पन्न होता है, पर-सुख के स्मरण से मुदिता का, एव सर्वत्र कार्यकारण-नियम के अव्याहत व्यापार के स्मरण से उपेक्षा के भाव का जन्म होता है। पहले तीनो भाव सहानुभूति के विभिन्न रूप है और ध्यान के द्वारा उनकी वृद्धि ही पहले तीन ब्रह्म-विहार है। चौथे ब्रह्म-विहार में दार्शनिक उदासीनता अथवा मध्यस्थता का अभ्यास किया जाता है। योगशास्त्र में उपेक्षा का विषय दूसरो के अपुण्य बताये गये है और इस कारण इस ब्रह्म-विहार का कुछ भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म-विहार चित्त-शुद्धि के उत्तम उपाय है और साथ ही वे आदर्श सामाजिक भावनाओ को प्रस्तुत करते हैं। मैत्री आदि चित्त की उत्कृष्ट अवस्थाएँ है। जहाँ ये एक ओर आध्यात्मिक प्रसाद समर्पित करती है दूसरी ओर सामाजिक हित-सुख का भी इनसे साधन होता है। मैत्री का राग से विवेक करना चाहिए। दोनो ही अपने विषयो मे गुण-दर्शी होते है, किन्तु मैत्री में परार्थता का प्राधान्य होता है, राग में स्वार्थ का। करुणा को शोक से बचाना आवश्यक है। करुणा दूसरे के दु ख को हटाती है, शोक अपने को भी दु ख में निमग्न करता है। मुदिता लौकिक सौमनस्य से भिन्न है और ईर्ष्या का निरोध करती है। उपेक्षा सुख-दु ख की अनिवार्यता एव समस्त लौकिक अनुभवो की परतन्त्रता दिखाती हुई धीरता और निर्विकारता में पर्यवसित होती है।

ध्यान—तथागत की देशना में ध्यान ही मार्ग का प्रधान अंग था। ध्यान के द्वारा ही बोधि सत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया था। बचपन से ही वे ध्यानप्रवण थे और

१७९—तु०—जे० आर० ए० एस०, १९२८, २७१ प्र०।

उनको बराबर ध्यायी, ध्यानशीली, प्रतिसलयन-परायण, एव ध्यानोपदेशी वताया गया है। यहाँ तक कि वौद्धो का ध्यानरत होना एक उपहास का विषय वन जाता था। एक स्थल पर मार के द्वारा समत्सर कहा पाया जाता है—'जैसे नदी के किनारे सियार मछलियो को खोजता हुआ ध्यान करता है, प्रध्यान करता है, निध्यान करता है, अप्-ध्यान करता है, ऐसे ही मुडक, श्रमण, इभ्य, कृष्ण, वन्धुपादापत्य यह कहते हुए कि "हम ध्यायी है" कन्धे झुकाये, मुँह नीचा किये, जैसे नशे मे हो, ध्यान करते है, प्रध्यान करते है, निध्यान करते है, अपध्यान करते है[१८०]।" एक निर्ग्रन्थ सन्दर्भ मे भी कहा गया है कि "कुछ ऐसा ध्यान करतें है जैसे सारस मछलियो के लिए[१८१]।" यहाँ पर कदाचित् शाक्यपुत्रीयो की ओर निर्देश है। एक स्थान पर देवेन्द्र शक्र के द्वारा पचशिख से कहा गया है 'तात पंचशिख, मुझ जैसे के लिए ध्यायी, ध्यानरत, प्रतिसल्लीन तथागत दुरुपसक्रम है[१८२]।' अनेक सूत्रो के अन्त मे यह प्ररोचना पायी जाती है कि 'भिक्षुओ, ये वृक्ष-मूल है, ये शून्यागार है, ध्यान करो, प्रमाद मत करो, पीछे पश्चात्ताप न करना। यही हमारा अनुशासन है[१८३]। ध्यान का वलो, इन्द्रियो और सम्वोध्यगो मे प्रमुख स्थान है। तथागत के अनेक शिष्यो की ध्यानकुशलता की प्रशसा की गयी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वुद्ध भगवान् और उनके अनुयायी ध्यान को ही सम्वोधि का प्रधान उपाय मानते थे और उसका अभ्यास करते थे। अन्यत्र अविदित न होते हुए भी ध्यान का वौद्धो मे अपेक्षाकृत प्रचार अत्यधिक था।

उपनिपदो मे ध्यान का उल्लेख पाया जाता है। छान्दोग्य (७ ६ १) मे पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश, जल, पर्वत, देव, मनुष्य, सब को ध्यान करते हुए-से वताया गया है। वृहदारण्यक (२ ४ ५) मे कहा गया है कि आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एव निदि-ध्यासितव्य है। कठोपनिषद् (२ ४ १) मे कहा गया है कि अन्तरात्मा के दर्शन के लिए इन्द्रियो का प्रत्याहार आवश्यक है। सूक्ष्म और एकाग्र वुद्धि से निगूढ आत्मा का ज्ञान होता है। वाणी का मन में, मन का ज्ञानात्मा मे, ज्ञानात्मा का महान्-आत्मा मे एव महान्-आत्मा का शान्त आत्मा मे लय करना चाहिए[१८४]। इस प्रकार उस परम,

१८०—मज्झिम० रो० जि० १, पृ० ३३४।
१८१—सूयगडंग, १,११,२७।
१८२—दीघ० ना० जि० २, पृ० १९८।
१८३—यथा, संयुत्त० रो० ४.३५९ प्र०।
१८४—कठ० १.३.१२—१३।

अदृश्य पुरुष-तत्त्व का दर्शन सम्भव है। "जब पाँचो इन्द्रियो के ज्ञान मन के साथ अवस्थित हो जाते हैं और बुद्धि विचेष्टाहीन हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रिय धारण को योग कहते है। उस समय प्रमाद हट जाता है"[८५]। मुण्डकोपनिषद् (२.२) मे कहा गया है कि पुरुष बुद्धि अथवा गुहा मे निहित है। उसके ज्ञान के लिए भावगत चित्त से प्रणवरूप धनु को खीचकर उपासना के द्वारा निशित आत्म-रूप शर का ब्रह्मरूप लक्ष्य मे अप्रमत्त सन्धान करना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है कि आत्मा को प्रणवरूप ध्यान करना चाहिए और इस प्रकार उसके ज्ञान से हृदय-ग्रथि छिन्न हो जाती है एवं कर्म क्षीण हो जाते हैं। आत्मा अन्तस्थित ज्योति है जिसका दर्शन सत्त्व-शुद्धि होने पर ज्ञान के प्रसाद से एव निष्कल ध्यान से होता है। श्वेताश्वतर (१.३, २ ८-१५) में ध्यान योग का अधिक विस्तृत वर्णन है। यहाँ कहा गया है कि ध्यानयोग के अनुगत होकर अपने गुणो से निगूढ देवात्म-शक्ति का ब्रह्मवादियो ने दर्शन किया। क्षर और अक्षर के नियन्ता एकमात्र देव के अभिध्यान से, योग से, तादात्म्य से माया-निवृत्ति होती है। अपने शरीर को अरणि समझकर एवं प्रणव को उत्तरारणि समझकर ध्यान के निर्मथन के अभ्यास के द्वारा निगूढवत् देव का दर्शन करे। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि शरीर को सम एव त्रिधा उन्नत स्थापित करके एव हृदय, मन तथा इन्द्रियो का निरोध करके, प्राणायाम के अभ्यास से आत्म-तत्त्व को जानना चाहिए। योग में प्रकट होनेवाली ज्योति प्रवृत्ति का उल्लेख यहाँ किया गया है। यह भी कहा गया है कि पचतत्त्वात्मक योगगुणा के प्रवृत्त होने पर एव योगाग्निमय शरीर के प्राप्त होने पर न रोग होता है, न जरा, न मृत्यु।

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि कुछ उपनिषदो में ध्यान एवं योग का पर्याप्त परिचय उपलब्ध है। बाह्य विषयो से मन को हटाकर ज्योतिर्मय प्रत्यगात्मतत्व का ध्यान ही उपनिषदो में अभिप्रेत ध्यान है। अक्सर प्रणव को सहायक प्रतीक के रूप में लिया गया है एव हृदयप्रदेश में प्राण और मन की निश्चल धारणा का उपदेश किया गया है। सद्धर्म में उपदिष्ट ध्यान को आत्मध्यान नही कहा जा सकता और न प्रणव का उसमें कोई स्थान है। वस्तुत किसी भी प्रकार के मन्त्र का इस ध्यान की प्रक्रिया में उपदेश नही प्राप्त होता। प्राण-सम्बन्धी साधन का स्मृति-साधन के अन्तर्गत उपदेश होते हुए भी मन्त्र के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नही किया गया है।

१८५—वही, २.६.१०–११।

तथागत ने सब प्रकार के ध्यानो की प्रशसा नही की थी। विशेषतः नीवरणयुक्त चित्त को उन्होने ध्यान का अनधिकारी बताया है। प्राय ध्यान-चतुष्टय को सराहा गया है[१८६]। ध्यान समाधि का पूर्वपग है। समाधि को शमथ-निमित्त, अव्यग्र-निमित्त कहा गया है। सब धर्मों मे समाधि प्रमुख है। बुद्धघोष ने समाधि को कुशलचित्त की एकाग्रता कहा है[१८७]। इस प्रसग मे प्रणिधान शब्द भी विचारणीय है। एक परवर्ती ब्राह्मण व्याख्याकार[१८८] ने कहा है कि ध्यान दो प्रकार का है—भावना एव प्रणिधान। इनमें पहला सिद्ध अथवा कल्पित विपय को अधिकृत करके प्रवृत्त होता है, वस्तुतत्त्व की आवश्यक रूप से अपेक्षा नही करता। प्रणिधान मे वास्तविक विषय की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार का भेद निकायो मे प्राप्त नही होता, किन्तु प्रणिधान एव भावना दोनो ही शब्दो का प्रयोग मिलता है। समाधि की भावना अनेक प्रयोजनो के लिए की जा सकती है दृप्टधर्म सुख-विहार के लिए, ज्ञान-दर्शन—प्रतिलाभ के लिए, स्मृति-सप्र-जन्य के लिए, एव आस्रवक्षय के लिए। अन्य सम्प्रदायो मे इनके अतिरिक्त ध्यान का देव-लोक प्राप्ति के लिए अथवा सिद्धियो के लिए भी उपयोग विदित था। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनिपदो मे प्रत्यग्ज्ञान ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन था। तथागत ने स्वय ध्यान के द्वारा तीन विद्याओ एव सम्वोधि का लाभ किया। यह स्पष्ट है कि ध्यान लौकिक अथवा लोकोत्तर विषयो और प्रयोजनो से प्रवृत्त हो सकता है। तीन भूमियो मे कुशल चित्त की एकाग्रता लौकिक समाधि है। आर्य-मार्ग से सप्रयुक्त एकाग्रता लोकोत्तर समाधि है। प्रज्ञा के भावित होने से लोकोत्तर समाधि भावित होती है। तथागत ने जिस ध्यान का उपदेश किया वह लोकोत्तर समाधि का ही द्वार था। इस ध्यान का प्रयोजन नित्य शान्ति का लाभ एव इसका प्रारम्भ अनित्यादि लक्षणो के विचार तथा भावना मे है।

चित्त का स्वभाव विशुद्ध एव भास्वर है, किन्तु वह आगन्तुक मल से आवृत है। इन आगन्तुक मलो को उपक्लेश एव नीवरण कहा गया है। उपक्लेशो एव नीवरणो के हटाने से चित्त मृदु, कर्मण्य और प्रभास्वर हो उठता है और आस्रवक्षय के योग्य हो जाता है। ध्यान की क्रिया एक प्रकार से चित्त का परिष्कार अथवा परिशोधन है।

१८६—द्र० ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५३३ प्र०।
१८७—विसुद्धिमग्गो, पृ० ५७।
१८८—शान्तिपर्व, १९५.१५ पर नीलकण्ठ।

इस प्रसग मे स्वर्ण के विशोधन का उदाहरण दिया गया है। आस्रव चित्त के आन्तरालिक-दोप है जो कि अविद्या के साथ निवृत्त होते हैं।

ध्यान की चार अवस्थाओ का सुव्यवस्थित और रीतिबद्ध वर्णन अनेक स्थलो पर मिलता है[१८९]। पहले ध्यान मे काम एव अकुशल धर्मो से विविक्त होकर चित्त वितर्क, विचार, एव विवेकजन्य प्रीति-सुख से युक्त अनुभव मे निमग्न रहता है। वुद्धघोष ने वितर्क को विचार का प्रारम्भ एव विचार को वितर्क का अनुप्रबन्ध बताया है। प्रीति के उन्होंने पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। दूसरे ध्यान मे वितर्क और विचार उपशान्त हो जाते है। चित्त अपने अन्दर ही सम्प्रसाद एव एकाग्रता के साथ समाधिजन्य प्रीति-सुख का अनुभव करता है। यह निभालनीय है कि पहले ध्यान मे सुख विवेकजन्य हे, दूसरे ध्यान मे समाधिजन्य। तीसरे ध्यान मे प्रीति भी छूट जाती है, एव स्मृति और सप्रजन्य से युक्त शरीर से सुख का प्रतिसम्वेदन होता है। तीसरे ध्यान मे पहुँच कर ध्यायी उपेक्षक, स्मृतिमान् एव सुख-विहारी कहा जाता है। चौथे ध्यान मे सुख भी छूट जाता है। इस प्रकार सुख और दु ख, सौमनस्य एव दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से सुख-दु ख-विर्वाजित उपेक्षामयी स्मृति-परिशुद्धि का चतुर्थ ध्यान मे लाभ होता है। इस स्थिति मे साधक परिशुद्ध, पर्यवदात, अनगण, विगतोपक्लेश, मृदुभूत, कर्मण्य, आनेञ्ज्य-प्राप्त हो जाता है। चतुर्थ ध्यान में चित्त के आनेञ्ज्य अथवा निश्चलता का वहुत्र वर्णन हे।

इन चार ध्यानो का शान्तिपर्व (अध्याय १९५) मे भी उल्लेख मिलता है। वहा यह कहा गया है कि इस चतुर्विध ध्यानयोग से योगी निर्वाण प्राप्त करता है। योगसूत्रो (१ १७) मे भी सम्प्रज्ञात-समाधि का एक सदृश चतुर्धा विभाजन देखा जाता है जो कि स्पष्टतर है। इससे प्रतीत होता हे कि वितर्क और विचार की व्याख्या कदाचित् वुद्धघोप ने ठीक नही की है और प्रीति-सुख करण-गत सात्त्विक सुख है। ऐसे ही परवर्ती जैन ग्रन्थो मे भी ध्यान के भेद वर्णित है। अभिधर्म के ग्रन्थो मे चार ध्यानो को पाँच ध्यान कर दिया गया है।

यह स्पष्ट है कि ध्यान कल्पना-प्रवण स्वप्निल अवस्था नही है, अपितु ध्यान में चित्त सर्वथा निस्तन्द्र एव जागरूक रहता है। दूसरी ओर ध्यान विचार अथवा चिन्तन भी नही है। वस्तुत चिन्तन एव सवेदन का निरोध ध्यान का मर्म है। ध्यान में चित्त निश्चल एव उज्ज्वल हो उठता है। जैसे विशुद्ध दर्पण में अथवा स्थिर एव विमल जल में

१८९—विशद् और प्रामाणिक विवरण के लिए द्र०—विसुद्धिमग्गो, पृ० ९५ प्र०।

पदार्थ यथाभत प्रतिविम्बित होते है, ऐसे ही ध्यान के द्वारा समाहित चित्त मे परमार्थ का बोध स्वत उत्पन्न होता है। समाहित चित्त मे धर्म प्रादुर्भूत होता है[१९०]। स्थिर शुद्ध चित्त मे ज्ञान का उदय अनेक प्राचीन दर्शनो मे विशेपत योगदर्शन मे अभ्युपेत है।

अनेक स्थलो मे ध्यान-चतुप्टय को रूपलोक मे ही सीमित माना गया हे। उनके पहले कामलोक मानव चेतना की औसत अवस्था है एव उनके अनन्तर अरूपलोक-विषयक अनेक अरूप-ध्यान। इस क्रम मे ध्यान-चतुष्टय निर्वाण का मार्ग नही रह जाता, क्योकि निर्वाण रूप और अरूप दोनो के परे हे। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ध्यान-चतुष्टय सम्वोधि का उपयोगी समझा जाता था, किन्तु पीछे उसकी एक भिन्न व्याख्या भी प्रस्तुत हुई। कुछ स्थलो मे निर्वाण और निरोध-समापत्ति को प्राय एक समझा गया है। इस दृष्टि के अनुसार सज्ञा-वेदितनिरोध की अवस्था ही ध्यान का चरम विकास समझा जाना चाहिए। निरोध-समापत्ति योगदर्शन की असम्प्रज्ञात-समाधि के समान प्रतीत होती है। ध्यान और समाधि के रूप एव अरूप धातु से सवद्ध होने के कारण यह मन भी विकसित हुआ कि शमथ भावना का प्रयोग केवल आनुपूर्वी मे सस्कार निरोध ही है। विपश्यना अथवा ज्ञान-मार्ग सम्बोधि एव निर्वाण के लिए आवश्यक हे।

आध्यात्मिक प्रगति—आध्यात्मिक साधना के मार्ग मे प्रगति की विभिन्न अवस्थाओ के लिए आख्याभेद प्राचीनतम सदर्भो मे स्पप्टत उपलब्ध नही होता। प्रारम्भ मे कदाचित् पृथग्जन, आर्य एव अर्हत् की ही चर्चा थी। त्रिपिटक मे अनागामी शब्द के अपारिभाषिक प्रयोग की उपलब्धि इसे प्रमाणित करती है कि मार्ग-चतुप्टय का सिद्धान्त सर्वथा प्राचीन नही है। श्रामण्यफल-सूत्र मे भी मार्गो एव मार्गफलो के चतुष्टय की चर्चा प्राप्त नही होती। किन्तु पृथग्जन एव आर्य का भेद अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। मज्झिमनिकाय मे पृथग्जन उस पुरुष को कहा गया है जोकि अहकार तथा ममकार के मोह मे फँसा हो। इस मोह के कारण वह अनात्म पदार्थो मे आत्मग्राही रहता है एव काम, भव और अविद्या के आस्रवो से प्रेरित होकर कर्म करता हे[१९१]।

१९०–तु०—"यदाहवे पातुभवन्तिधम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्य।"—दे०—ऊपर।

१९१–पुग्गल-पञ्जत्ति में तीन संयोजनो को पृथग्जन का लक्षण माना है। तीन सयोजन हैं—सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा एव शीलव्रत-परामर्श। अन्यत्र सयोजन दस गिनाये गये हैं। इनके अन्तर्गत तीन सयोजनो के अतिरिक्त सात प्रायः ये माने जाते हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या।

अंगुत्तर-निकाय एवं पुग्गल-पञ्ञत्ति मे पृथग्जन के अनन्तर गोत्रभू की अवस्था भी कही गयी है। इन ग्रन्थो में गोत्रभू को आर्य नही माना है। कुछ अन्य परवर्ती ग्रन्थो मे, जैसे कि पटिसम्भिदामग्ग और अभिधम्मत्थसंगह मे, गोत्रभू को आर्य माना गया है। बुद्धघोष ने भी मार्ग-ज्ञान के बाद ही गोत्रभू-ज्ञान माना है[१९२]।

आर्यत्व अथवा स्रोतआपत्ति का अर्थ है कि पुरुष निवृत्ति की ऐसी आध्यात्मिक धारा मे पहुँच गया है जो उसे अनिवार्य रूप से सम्बोधि तक ले जायेगी। इसीलिए स्रोतआपन्न को अविनिपात-धर्म, नियत-सम्बोधिपरायण कहा गया है।

जैसे पृथग्जन संसार की बाढ में मृत्यु से मृत्यु की ओर बहते रहते हैं, ऐसे ही उनके विपरीत आर्य-गण विद्या के द्वारा विमुक्ति की ओर नियत प्रवाहित होते हैं। स्रोतआपन्न के लिए सात से अधिक जन्म शेष नही रहते।[१९३] जब केवल एक ही जन्म शेष रहता

१९२—आर्यत्व की प्राप्ति स्रोतआपत्ति से होती है, किन्तु गोत्रभू और स्रोतआपन्न के मध्य में श्रद्धानुसारी एवं धर्मानुसारी पुरुष माने जाते हैं। पुग्गलपञ्ञत्ति के अनुसार जिनमें श्रद्धेन्द्रिय का प्राधान्य है वे श्रद्धानुसारी हैं एवं जिनमें प्रज्ञेन्द्रिय का प्राधान्य है वे धर्मानुसारी हैं। स्रोतआपत्ति होने पर श्रद्धानुसारी श्रद्धाविमुक्त कहलाता है एवं धर्मानुसारी दृष्टिप्राप्त। इनमें से पहले के कुछ आस्रवों का क्षय होता है, दूसरे के अधिक।

निर्वाण की ओर जाने के लिए दो धुरियाँ हैं—श्रद्धा और प्रज्ञा, तथा दो अभिनिवेश हैं—शमथ और विपश्यना, एवं दो शीर्ष हैं—उभतोभाग-विमुक्त और प्रज्ञा-विमुक्त। इनमें प्रज्ञाधुर और शमथाभिनिवेश के अनुयायी स्रोतआपत्ति के मार्ग में धर्मानुसारी कहलाते हैं, अगली छः अवस्थाओं में काय-साक्षी, एवं अर्हत्व में उभतोभाग-विमुक्त। प्रज्ञाधुर एव विपश्यनाभिनिवेश के अनुयायी स्रोतआपत्ति-मार्ग में धर्मानुसारी कहलाते हैं, अगली छः अवस्थाओं में दृष्टि-प्राप्त एवं अर्हत्व की अवस्था में प्रज्ञाविमुक्त। श्रद्धाधुर और शमथाभिनिवेश के अनयायी स्रोतआपत्ति-मार्ग में श्रद्धानुसारी कहलाते हैं, अगले छः में श्रद्धा-विमुक्त एवं अर्हत्व में उभतोभाग विमुक्त। श्रद्धाधुर और विपश्यनाभिनिवेश के पथिक स्रोतआपत्तिमार्ग में श्रद्धानुसारी, अगली छः अवस्थाओं में श्रद्धाविमुक्त एवं अर्हत्व में प्रज्ञा-विमुक्त कहलाते हैं।

१९३—बौद्ध धर्म और संघ में दृढ श्रद्धा, अवेत्यप्रसाद, एवं शीलवत्व स्रोतआपत्ति के अंग हैं। स्रोतआपत्ति के अंगों से युक्त होने पर हिंसा, अदत्तादान, काम-

है तब वह सहृदागामी कहलाता है। स्रोतआपन्न एव सहृदागामी शील की परिपूर्ति करते है। जब इस लोक मे पुनरागमन शेष नही रहता तब वह अनागामी की अवस्था कहलाती है। अनागामी समाधि की परिपूर्ति करता है। प्रज्ञा के द्वारा सर्वथा आस्रव-क्षय होने पर अर्हत्व की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ मे अर्हत् और बुद्ध का भेद स्पष्ट नही था, पर पीछे न केवल यह भेद विशद हुआ अपितु कुछ सम्प्रदायो मे अर्हत् का पर्याप्त अपकर्ष घोषित किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुक्ति मार्ग मे प्रवेश और प्रगति की अवस्थाओ का विवेचन क्रमश सूक्ष्म और विस्तृत हुआ। पृथग्जन और आर्य का भेद प्राचीनतम था। पीछे इन दो के अन्तराल मे 'गोत्रभू' की स्थिति कल्पित की गयी तथा आर्यत्व के विकास मे स्रोतआपत्ति से अर्हत्व तक चार मार्ग एव उनके अनुरूप चार फल माने गये। उनमे भावना एव विपश्यना के तारतम्य से अवान्तरभेद भी स्वीकार किये गये। महायान में आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओ का और भी सूक्ष्म और विस्तृत चिन्तन हुआ।

मिथ्याचार, मृषावाद एवं मद्यपान से मुक्ति होती है। स्रोतआपत्ति के अंगों की प्राप्ति के पश्चात् प्रीति, प्रामोद्य, प्रश्रब्धि और समाधि की वृद्धि होनी चाहिए तथा छ विद्याभागीय धर्मो की भावना करनी चाहिए। ये छ धर्म इस प्रकार हैं—अनित्यानुपश्यना, दु.ख, अनात्म, प्रहाण, विराग, एवं निरोध। चार आर्यसत्यो के ज्ञान से स्रोतआपत्ति पूर्ण निष्पन्न होती है।

अध्याय ३

संघ का प्रारम्भिक रूप और विकास

आर्य संघ 'अविलष्ट समाज'—ऊपर कहा जा चुका है कि तथागत के समय मे नाना ब्राह्मण और श्रमण परिव्राजकगण विदित थे जिनमे अनेक अध्यात्मगवेषी कुल-पुत्र घरवार से प्रव्रजित होकर किसी शास्त्र अथवा आचार्य के अनुशासन मे ब्रह्मचर्य-वास करते थे। परिव्राजको के ये नेता 'सघी, गणी, गणाचार्य' कहे गये है और इनमे से कुछ के नाम तथा मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इन गणो के आकार की पुष्कलता इससे प्रकट है कि राजगृह के सजय परिव्राजक के २५० चेले वताये गये है और गया मे जटिलो की सख्या १००० कही गयी है। परिव्राजको मे कुछ व्यापक नियम और प्रथाएँ समान थी। विशुद्धि के प्रयास मे सभी ससार-त्याग पूर्वक ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करते थे और प्राय सभी के सगठन मे उपोसथ, वर्षावास आदि की प्रथाएँ विदित थी। किन्तु उनमें आहार-विहार, वेश-भूषा आदि के नियमन का विस्तर अलग-अलग गणो मे अलग-अलग था। इनमे केवल आजीवको एव निर्ग्रन्थो के गणो मे प्रचलित नियमो का कुछ विवरण मिलता है और पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एव सन्यास की जीवन-विधा भी अनुशासन-नियत थी। धर्म सूत्रो मे ऐसे नियमो का सग्रह है, किन्तु उपलब्ध धर्मसूत्र तथागत से पूर्वकालीन नही कहे जा सकते। इनके पहले वैखानस-शास्त्र एव भिक्षु-सूत्र अवश्य रचे गये थे, किन्तु उनका अब ठीक पता नही चलता। यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय मे यह धारणा अविदित न थी कि ससार छोडने पर भी परिव्राजको को एक सग-ठित समाज का अग बन कर अपनी चर्या सम्पादित करनी चाहिए। वस्तुत इन परिव्रा-जको की स्थिति 'विविदिषा-सन्यास' के समान थी और उसमे ब्रह्मचर्य और सन्यास, दोनो के ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्मचर्य शिष्यत्वपूर्वक और सयम-प्रधान है, सन्यास अपरिग्रहात्मक। सन्यास अथवा प्रव्रज्या में कुटुम्ब और सम्पत्ति के [illegible] ममत्वमूलक सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और प्रव्रजित विशिष्ट सामाजिकता के दायरे मे दाखिल हो जाता है। सन्यास समस्त उपाधि-त्याग का और आत्य

नैष्कर्म्य का द्योतक है। ब्रह्मचर्य मे गुरु-शिष्य के विद्यामूलक विशुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध का जन्म होता है ओर एक सयम तथा साधन की अवस्था का। परिव्राजक अविद्याश्रित अशुद्ध समाज मे निकल कर विद्या के विशुद्ध समाज मे प्रवेश करता है। इस अक्लिप्ट सामाजिकता का विकास एव उसका तात्त्विक वोध सर्वाधिक मात्रा मे तथागत के द्वारा स्थापित भिक्षु-सघ मे निप्पन्न हुआ।

उत्पत्ति और वृद्धि—विनय के महावग्ग से ज्ञात होता है कि सारनाथ मे तथागत की धर्मदेशना सुनकर सवसे पहले कौण्डिन्य नाम के पचवर्गीय भिक्षु ने विमल 'धर्म-चक्षु' प्राप्त कर उनके निकट प्रव्रज्या ली। कौण्डिन्य का नाम 'आज्ञात' कौण्डिन्य पडा। इसके अनन्तर वप्र (वप्प), भद्रिक (भद्दिय), महानाम और अश्वजित् नाम के अन्य पचवर्गीय भिक्षुओ ने भी 'धर्मचक्षु' और प्रव्रज्या का लाभ किया तथा इस प्रकार आर्य-भिक्षु सघ की नीव पडी। वाराणसेय श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके मित्र विमल, सुवाहु, पूर्णजित् और गवाम्पति तथा अन्य पचास मित्रो के प्रव्रज्या-ग्रहण करने पर सघ मे तथागत के अतिरिक्त साठ भिक्षु हो गये जो कि सव अर्हत् थे। इनको भगवान् वुद्ध ने नाना दिशाओ मे जाकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। यह स्मरणीय है कि धर्म-प्रचार की ओर जितनी प्रवणता आर्य सघ मे रही उतनी किसी अन्य भारत के धर्म-शासन मे नही। वाराणसी से गया जाते हुए तथागत ने तीस भद्रवर्गीय मित्रो को शासन मे प्रतिष्ठित किया ओर गया मे १००० जटिलो को सघ मे आकृष्ट किया। राजगृह मे मगधराज विम्बिसार ने उनकी शरण ली और वेणुवन उद्यान भिक्षु सघ को दिया। यह स्मरणीय है कि पहला उपासक यश का पिता वाराणसेय श्रेष्ठी था। राजगृह मे ही सञ्जय परिव्राजक के २५० शिष्यो ने सघ मे प्रवेश किया ओर इनमे कोलित और उपतिष्य भी थे जो कि मोद्गल्यायन और शारिपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुए। इस विवरण से स्पष्ट है कि सघ की वहुत शीघ्र ही आश्चर्यजनक वृद्धि ओर प्रचार हुआ। जहाँ एक ओर विभिन्न वर्णो और वर्गो से अनेक कुलपुत्रो ने प्रव्रज्या-ग्रहण कर सघ मे प्रवेश किया, दूसरी ओर प्रभावशाली ओर समृद्ध राजकुलो और श्रेष्ठियो की सहायता ने सघ की सम्पत्ति को वढाया। अपने परिनिर्वाण तक वुद्ध भगवान् ने ४४ वर्ष उत्तर प्रदेश और विहार मे धर्म का उपदेश किया और सहस्रो भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक ओर उपासिका उनके शिष्य वने तथा शाक्यपुत्रीय कहलाये।

शास्ता और गुरुवाद—तथागत के समय के अन्य परिव्राजक-गणो मे सचालक गुरु अथवा शास्ता अपने अनन्तर गण के नेतृत्व के लिए किसी उत्तराधिकारी को नियुक्त कर देते थे। इस प्रकार एक तरह का गुरुवाद अथवा महन्ताई उस समय के साधुओ

की जमात मे सुविदित थी, किन्तु बुद्ध भगवान् ने अपना उत्तराधिकारी किसी व्यक्ति-विशेष को न बनाकर धर्मानुशासन को ही भिक्षुओ के दिग्दर्शक के रूप मे छोडा[1]। परिनिर्वाण के पहले वेलुवग्राम मे वर्षावास करते हुए तथागत बहुत बीमार पडे थे। उस समय उन्होने आनन्द से कहा 'भिक्षुसघ मुझसे क्या चाहता है ? मैने धर्म का निरशेष उपदेश कर दिया है, कुछ अपने पास छिपाकर नही रखा है। मै यह नही सोचता कि मै भिक्षु सघ का नेतृत्व करूँ, भिक्षु सघ मेरे पीछे-पीछे चले। ···इसलिए तुम लोग आत्मदीप बनकर रहो, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्य-शरण ··।[2] परिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह मे गोपक मौद्गल्यायन के स्थान पर मगध महामात्र वर्षकार ने आनन्द से पूछा कि शास्ता के बाद सघ का प्रतिशरण कौन है। आनन्द ने इसके उत्तर मे धर्म को ही प्रतिशरण बताया[3]। यह स्पष्ट है कि प्रच-लित प्रथा के विरुद्ध शाक्यमुनि ने अपने शिष्यो का सगठन शास्तृमूलक न कर शासन-मूलक किया था।

उपनिषदो में आचार्य अथवा गुरु का अध्यात्मविद्या की अधिगति के लिए विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और गुरु के वचन सुनने को ही ज्ञान का प्रधान द्वार माना गया है। वस्तुत इस मत मे शब्द अथवा श्रुति ही गुरुस्थानीय है और वेद की अपौरुषेयता ही वेदान्त—सम्मत सिद्धान्त है। श्रुति के द्वारा प्रवृत्तिधर्म मे कर्म-विधान होने पर भी ज्ञान को कर्मसाध्य नही माना गया है। परम्परया कर्म का उपयोग होते हुए भी नित्यसिद्ध ज्ञान के अनावरण के लिए श्रवण ही साक्षात् मार्ग है। इस प्रकार वैदिक गुरु-शिष्य परम्परा श्रुति और तत्प्रकाश्य ज्ञान के सक्रमण की परम्परा है। उप-निषदो मे गुरु के निकट उपनयन, ब्रह्मचर्यवास, कर्म, धन आदि से गुरु की सेवा, परिप्रश्न, उपदेश एव गुरु (अथवा ईश्वर) की कृपा का विवरण प्राप्त होता है। इस उपनयन-रूप दीक्षा में प्रचलित उपचार के अतिरिक्त और किसी आध्यात्मिक रहस्य की सत्ता

१—विनय-साहित्य पर अर्वाचीन ग्रन्थो में फ्राउवाल्नर, अर्लियस्ट विनय एन्ड दि बिगिनिंग्स ऑव् बुधिस्ट लिटरेचर विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वैनयिक अनु-शासन पर आधुनिक ग्रन्थ-हार्डी, ईस्टर्न मोनेशिज्म; सुकुमार दत्त, अर्ली बुधिस्ट मोनेशिज्म, फाइव हन्ड्रेड ईयर्स ऑव् बुद्धिज्म; नलिनाक्ष दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म जि० १; ई० आर० ई० यथाप्रसंग।

२—दीघ०, सुत्तन्त १६।

३—मज्झिम०, गोपकमोग्गलान सु०।

अस्पष्ट है। परा विद्या के निमित्त गुरु-शिष्य सम्बन्ध और ब्रह्मचर्यवास अपरा विद्या के निमित्त प्रथम आश्रम के सदृश ही कल्पित किया गया है। ऐसी ही कल्पना तथागत-कालीन परिव्राजकगणो मे भी उपलब्ध होती है, यद्यपि उनमे ससार से मुक्ति बहुधा कर्म अथवा क्रिया के द्वारा मानी गयी है। ऐसी स्थिति मे गुरु क्रिया-कौशल का उपदेशक वन जाता है। भागवत धर्म अथवा ईसाई धर्म-जैसे प्रपत्ति मार्गो मे अवतार के रूप मे ईश्वर ही वास्तविक गुरु है और उसकी कृपा ही अध्यात्म-मार्ग का एक मात्र सम्वल है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि इन प्रस्थानो मे गुरु के उपदेश से अधिक गुरु का महत्त्व है क्योकि वस्तुत गुरु स्वय ही मार्ग है। तान्त्रिक अथवा सिद्धो के मार्ग मे गुरु की कृपा अथवा शक्तिपात से ही दीक्षा सम्पन्न होती है। दीक्षा से आध्यात्मिक साधन की योग्यता प्राप्त होती है। योग-मार्ग मे साधक के वैयक्तिक स्वभाव और पूर्व सस्कारो के अनुकूल क्रिया के उपदेश के लिए एव कर्म-जन्य अन्तरायों से बचाने के लिए सिद्ध गुरु की अपेक्षा है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आध्यात्मिक मार्ग मे गुरु का स्थान अनिवार्य है, किन्तु कार्य-भेद से उसके महत्त्व मे भेद है।

वुद्ध-शासन मे गुरु का रूप है कल्याणमित्र का और कार्य है मार्ग-प्रदर्शन। शाक्य मुनि के शिष्यो को अपने वल पर चलना और निर्भर रहना था[४]। इसीलिए उन्हे आत्मदीप अथवा आत्मशरण होने का उपदेश किया गया। इस यात्रा में धर्म ही उनका सहायक और नियामक है। ससार की घटनाएँ जिस कार्यकारण भाव से नियत है उसका एक पक्ष विद्या के द्वारा विमुक्ति की ओर ले जाता है। ठीक दिशा मे पग रखने से वस्तु-तत्त्व का अनुरोध ही आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर वढाता है। इसीलिए धर्म को यान अथवा मार्ग कहा गया है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काय है। धर्म को देखना बुद्ध को देखना है। उनके शिष्य को 'भगवतो पुत्तो ओरसो धम्मजो' धम्मनिम्मितो धम्मदायादो' कहा गया है। यह स्पष्ट है कि बुद्ध अपने अनुयायियो का ध्यान अपने पार्थिव व्यक्तित्व से परे अपनी शिक्षा मे सूचित अमृत पद और उस तक ले जाने वाले आध्यात्मिक नियमो और स्वभावगत प्रेरणा की ओर दिलाना चाहते थे और सच्चे शिक्षक की भाँति उनका अभीष्ट था कि उनके शिष्य अपने पैरो पर खडे हो। इसीलिए उन्होने सघ के सयोजक सूत्र को एक गुरु-परम्परा का रूप न देकर धर्म-विनय का रूप दिया। त्रिरत्न मे शरण लेने की प्रथा होते हुए भी इस प्रथा से अन्य सम्प्रदायो मे विदित शरणागति के मार्ग का अनुमान न करना चाहिए। अपने उपदेशो मे भी भगवान् बुद्ध ने शब्द को

४—द्र०—मज्झिम० (रो०), जि० ३, पृ० ४–६।

कम महत्त्व दिया, अर्थ को अधिक। उनकी वाणी को वेदवत् समझने एव स्मरण करने की अभिलाषा उनके कुछ शिष्यो ने प्रकट की थी, पर उन्होने उसका प्रत्याख्यान किया और कहा कि सबको अपनी-अपनी बोली मे उनकी शिक्षा का स्मरण करना चाहिए[५]। वैदिक परम्परा के प्रतिकूल उन्होने शब्द के स्थान पर अर्थ को ही प्रतिशरण बताया और कहा कि यह अर्थ अन्ततोगत्वा प्रत्यात्मवेदनीय है। इस प्रकार प्राचीन सद्धर्म मे शब्द-प्रमाण अथवा श्रुति, कृपा एवं भक्ति, तथा मन्त्र या शक्तिपातात्मक दीक्षा आदि का स्थान न होने से प्रचलित अर्थ मे गुरुवाद का भी महत्त्व न था। उसमे शास्ता के द्वारा आध्यात्मिक जीवन मे सहायता को एक गंभीर रहस्यमय प्रभाव न मानकर धर्म-विनय मे संगृहीत सिद्धान्त और साधन का प्रकट उपदेश ही माना जाता था। यह बात दूसरी है कि उस समय के सद्धर्म की यह प्रचलित धारणा, जिसका तथागत ने समर्थन किया प्रतीत होता है, वस्तुत भ्रान्त हो। ऐसी दशा में यह भी सम्भव है कि तथागत के द्वारा इस 'भ्रान्ति' का समर्थन केवल उपायकौशलजन्य अथवा साभिप्राय हो। बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने मात्र से अनेक उच्च अधिकारियो के चित्त आस्रव-विमुक्त हो गये एव कुछ शिष्यो की उन्होने अपनी अलौकिक शक्ति से सहायता की। यह निर्विवाद है कि शिष्यो को स्वावलम्बन का उपदेश देते हुए एवं अपने को केवल मार्गप्रदर्शक बताते हुए भी भगवान् बुद्ध के अलौकिक अनुभाव को कृपा अथवा शक्ति-पात से अन्य नही समझा जा सकता और न स्वयं उन्हे परमसिद्ध सद्गुरु से अन्य माना जा सकता है। इस दृष्टि से यह मानना होगा कि परिनिर्वाण के बाद भी शाक्यमुनि स्वय अलौकिक रूप से शास्तृपद मे आसीन हैं और उनकी अथवा धर्म की शरण लेना केवल उपचार, श्रद्धा-प्रकाशन अथवा सिद्धान्त-स्मरण न होकर एक जीवन्त आध्यात्मिक शक्ति की शरण लेना है। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के सिद्धान्त का प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में असन्दिग्ध प्रतिपादन नही मिलता यद्यपि परवर्ती बौद्ध साहित्य में यह अधिकाधिक महत्त्वशाली हुआ।

संघ और गण—कुछ विद्वानो का कहना है कि गण-तन्त्र के प्रशसक होने के कारण शाक्यमुनि ने अपने पश्चात् सघ का नेतृत्व किसी व्यक्तिविशेष को न सौंप कर उसमें 'धर्म-राज्य' एव 'गण-राज्य' स्थापित किया। यह सम्भावना भी प्रकट की गयी है कि कदाचित् विनय में उल्लिखित अनेक गणतन्त्रीय प्रक्रियाएँ एव पारिभाषिक शब्द बौद्ध सघ ने तत्कालीन गणराज्यों के प्रचलित व्यवहार से लिये हो और इस प्रसग में

५—द्र०—चुल्लवग्ग, ऊपर उद्धृत।

ईसाई-सघ के विकास मे रोमन साम्राज्य के प्रभाव का दृष्टान्त दिया गया[6]। ये सम्भावनाएँ उपपन्न होते हुए भी निश्चित नही है। मगध के महामात्र वर्षकार से तथागत ने परिनिर्वाण से कुछ पहले राजगृह में कहा था[7] कि उन्होने वज्जियो को वैशाली के सारन्दद चैत्य मे सात अपरिहाणीय धर्मो का उपदेश दिया था। जव तक वज्जी इन धर्मो का पालन करेगे उनकी वृद्धि ही होगी, परिहाणि नही। वर्षकार ने भी इसका अनुमोदन किया और कहा कि ऐसी स्थिति मे 'उपलायन' और 'मिथोमेद' को छोड़ कर राजा अजातशत्रु वज्जियो पर विजय प्राप्त न कर सकेगे। यहाँ उपदिष्ट वे सात अपरिहाणीय धर्म इस प्रकार है—अक्सर सम्मिलित होना, और समग्र सम्मिलित होकर गण-कार्य को निवाहना, यथाप्रज्ञप्त पुराने वज्जि-धर्म को वरतना, वडे-वूढो का सम्मान और अनुसरण करना, कुल-स्त्रियो और कुलकुमारियो का अनपहरण, चैत्यो की पूजा और यथापूर्व वलिहरण एव अर्हतो की रक्षावरणगुप्ति का सुसविधान। इन प्रथाओ मे एक एक परम्परावादी गणतन्त्रीय (कन्सर्वेटिव डेमोक्रेटिक) आदर्श झलकता है जिससे वर्क (Burke) का चित्त प्रसन्न हो जाता। दीघनिकाय के अग्गञ्ज सुत्तन्त मे राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है, यद्यपि यह सन्दर्भ दीघनिकाय के प्राचीनतम स्तर का नही कहा जा सकता। इसके अनुसार राजकीय अनुशासन अथवा दण्ड की आवश्यकता आदर्श-च्युत समाज मे ही होती है। अर्थ और काम ही समाज की इस च्युति के कारण है। परिग्रह और लिप्सा से विवाद और कलह जन्म लेते है और इनके निवारण और नियमन के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से राज्य की सत्ता मनुष्य के स्वभाव पर आश्रित न होकर उसके दोषो पर आश्रित है। पहले राजा को 'महासम्मत' कहा गया है क्योकि वह सारी प्रजा से चुना गया था। यहाँ पर भी राज्य का जनतान्त्रिक आदर्श स्वीकार किया गया है।

तथागत के लिए भिक्षुसघ का सगठन गण-राज्यो के सविधान से सर्वथा असम्वद्ध न था, यह इससे स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण सूत्र मे वज्जियो के सात अपरिहेय धर्मो का उल्लेख कर वे भिक्षु सघ को वैसे ही सात अपरिहेय धर्मो का उपदेश करते पाये जाते है जिनसे सघ की निरन्तर वृद्धि हो और हानि की सम्भावना न रहे। पहले चार धर्म सर्वथा अनुरूप है—सघ की सन्निपात-वहुलता, समग्रता, यथाप्रज्ञप्त शिक्षापदो का

६—द्र०—जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी; मजुमदार, कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शेन्ट इण्डिया, गोकुलदास डे, डेमॉक्रेसी इन दि बुधिस्ट संघ।

७—दीघ० सुत्त १६।

असमुच्छेद, और स्थविर भिक्षुओ का सत्कार। शेष तीन धर्म है—तृष्णा के दश में न होना, आरण्यक शयनासन में सापेक्ष होना और प्रत्यात्म-स्मृति को उपस्थापित करना। वर्तमान महापरिनिर्वाण सूत्र मे इन सात के अतिरिक्त अन्य अनेक अपरिहेय-धर्म-सप्तकों की सूचियाँ दी गयी है, किन्तु उनकी प्राचीनता अथवा प्रसगानुकूलता सन्दिग्ध है। पहले कहे हुए सात-धर्मो मे भिक्षु सघ को स्पष्ट ही गण-राज्य के अनुरूप माना गया है, और इस प्रकार के संगठन की सफलता का सूत्र यह बताया गया है कि सब लोग मिल-जुल कर और आपस में बातचीत कर निर्णय ले, परम्परा के अनुसार चलें और बड़े-बूढो का नेतृत्व स्वीकार करे।

'आवासिकता' की वृद्धि—इन 'अपरिहानिय धम्मो' में आरण्यक शयनासन का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है क्योकि इससे इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। तथागत के जीवन-काल में भिक्षुओ की चर्या में एक बडा परिवर्तन स्पष्ट हो गया था। भिक्षु सघ मे पहले एकान्तशीलता का प्राधान्य था, पीछे क्रमशः सवासशीलता का हुआ। अनेक प्राचीन स्थलो में भिक्षु के लिए खड्गविषाण (गैंडे) के समान एकाकी जीवन की प्रशसा की गयी है[८], साथ ही यह निर्विवाद है कि पीछे इस एकाकिता का स्थान आवासिकता ने अधिकाधिक ले लिया। देवदत्त ने भिक्षुओ के लिए कठोर चर्या के विधान का अनुरोध किया था[९]। और उसकी बात का तिरस्कार इसका द्योतक है कि भिक्षुओ के लिए आरण्यक चर्या विरल हो चली थी। इस परिवर्तन के स्पष्ट ही अनेक कारण थे। तथागत के साहचर्य का औत्सुक्य और भिक्षुओ की सख्या-वृद्धि उनकी एकान्त चर्या के पक्ष में न थी। पोषध में भिक्षुओं के लिए नियत रूप से सम्मिलित होना आवश्यक था और वर्षावास में उनके लिए चारिका का निषेध था। समृद्ध उपासकों ने सघ की सुविधा के लिए विहार बनवाये और दान दिये। 'अपरिहानिय धम्मो' में परिगणित गणतंत्रता का आग्रह था कि भिक्षु अक्सर समग्र रूप से सम्मिलित होकर सघ-कार्य सम्पन्न करें। इन सबका यह स्वाभाविक परिणाम था कि भिक्षुओं में एक सगठित आवासिक जीवन का विकास हुआ।

भिक्षुओ की संख्या एवं उनके विहारों की समृद्धि के साथ भिक्षुसंघ के सगठन में परिवर्तन होता गया। तथागत ने विभिन्न अवसरो पर भिक्षुओ के अनुशासन के लिए नाना नियमो की स्थापना की थी। उनके ये नियम-वाक्य शिक्षापद कहलाते थे और

८—द्र० सुत्तनिपात, खग्गविसाण सुत्त।
९—विनय, ना० चुल्लवग्ग, पृ० २९८–९९।

उनका सग्रह धर्म-विनय अथवा विनय। विनय के अर्थ अनुशासनार्थ शिक्षा होते हैं। यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायो मे उपलभ्य प्रस्तुत विनयो मे शिक्षापदो का एव तत्सम्बन्धी ऐतिह्य और कथाओ का सग्रह और सम्पादन प्रधानतया प्रथम बुद्ध-शताब्दी का कार्य[१०] तथापि उनके कुछ अश अत्यन्त प्राचीन हैं और उनसे बौद्ध सघ के मूल-रूप की कल्पना की जा सकती है।

संघ और गण—जहाँ एक ओर अपने सगठन की जनतन्त्रात्मकता के कारण बौद्ध भिक्षुसघ समकालीन राजकीय गणो की याद दिलाता है, दूसरी ओर उसमे वर्णभेद का तिरस्कार भी इन गणो से उसके सम्बन्ध का समर्थन करता माना गया है। किन्तु, यद्यपि इन गणो मे ब्राह्मणो का आपेक्षिक निरादर और क्षत्रियो का विशेष सम्मान होता था[११], यह नही कहा जा सकता कि इनमे वर्ण-भेद-निरपेक्ष समाज की 'आदिम-जन-गत' (प्रिमिटिव ट्राइबल) थाती अक्षुण्ण थी अथवा नवीन सुधारवादी कल्पना का विशेष स्थान था[१२]। वस्तुत भिक्षसघ का मूल मुनियो की परम्परा मे ही खोजना चाहिये। यह परम्परा अवैदिक थी और इसमे वर्ण-धर्म का प्रवेश सर्वथा दुर्बोध होता। तत्त्वत. भी वर्ण-भेद प्रवृत्तिमय जीवन की अपेक्षा रखता है और वर्ण-धर्म प्रवृत्ति-धर्म का अग है। लौकिक एषणाओ से निवृत्ति के प्रयास मे उसकी सार्थकता नही रहती। अतएव न केवल बौद्ध भिक्षुओ मे वर्ण एव जाति के भेद की उपेक्षा थी, ब्राह्मण सन्यासियो मे भी इस प्रकार का भेद स्वीकार नही होता था। यह अवश्य है कि जहाँ ब्राह्मणो के अनुसार सन्यास की व्यवस्था सब वर्णों के लिए नही है[१३], बौद्धो में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही माना जाता था। वस्तुत भगवान् बुद्ध ने वर्ण-भेद की न केवल सघ के अन्दर अथवा उसमें प्रवेश की दृष्टि से उपेक्षा की अपितु उन्होने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का ही खण्डन किया[१४]। उन्होने बताया कि तत्त्व-दृष्टि से चार वर्णो मे जाति-भेद न दीखकर केवल कर्म-भेद ही दीख सकता है। जन्म के स्थान पर कर्म के आधार को रख कर समाज के वर्ग-भेद को समझने का यह प्रयास प्राचीन ब्राह्मण साहित्य मे भी यत्र तत्र देखा जा सकता है, विशेषतया महाभारत मे। यह दृष्टि स्पष्ट ही तर्कमूलक और सुधारवादी है।

१०–द्र०—फ्राउवाल्नर, पूर्व०।

११–उदा० दीघ० अम्बट्ठसुत्त।

१२–तु० जे० बी० आर० एस०, १९५७, पृ० ३९८।

१३–द्र०—काणे, पूर्व, जि० २ भा० २, पृ० ९४२–४४।

१४–द्र०—मज्झिम, अस्सलायनसुत्त, वासेट्ठ०; सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त।

प्रव्रज्या—अपने पहले शिष्यो को भगवान् बुद्ध ने स्वय ही प्रव्रज्या दी थी। पंचवर्गीय भिक्षुओ ने सघ मे प्रवेश यह कह कर मागा था कि 'हम लोग भगवान् के निकट प्रव्रज्या पाएँ, उपसपदा पाएँ और शास्ता ने यह कह कर उनको दीक्षित किया था कि 'आओ, धर्म स्वाख्यात है, अच्छी तरह दु ख के नाश के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो'[१५]। जटिलो ने और राजगृह मे सजय के चेलो ने भी इसी प्रकार प्रव्रज्या प्राप्त की। जब से भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ को धर्म के प्रचार के लिए नाना दिशाओ मे भेजा उन्हें प्रव्रज्या एव उपसपदा देने की अनुमति प्रदान की। कपिलवस्तु मे राहुल-कुमार की प्रव्रज्या इस प्रकार शारिपुत्र के द्वारा सम्पन्न हुई। प्रवज्या के प्रार्थी को सिर और डाढी मुँड़वा कर, काषाय-वस्त्र पहन, उत्तरासग एक कन्धे मे कर, बैठ कर और हाथ जोड-कर तीन वार यह कहना पडता था—'बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, सघ की शरण जाता हूँ'[१६]।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था से कम के व्यक्ति को प्रव्रज्या नही दी जा सकती थी। शुद्धो-दन शाक्य के अनुरोध से तथागत ने यह भी स्वीकार किया कि माता-पिता की अनुमति विना पुत्र को प्रव्रज्या न दी जाए। कुष्ठ, गण्ड (फोडा), किलास (एक प्रकार का चर्म रोग), शोष (क्षय), एव अपस्मार (मृगी) इन पाँच रोगो से पीडित व्यक्तियो को प्रव्रज्या के अयोग्य माना जाता था। अगहीन अथवा विकृत अग वालो को प्रव्रज्या नही दी जा सकती थी और न हिजडो, उभयलिंगियो अथवा मनुष्यदेही पशुओ को। ऐसे ही राज-सैनिक, ध्वज बन्ध चोर (डाकू), काराभेदक चोर (जेल तोडने वाला), लिखितक चोर (नामदर्ज, 'जहाँ देखा जाय, वही मारा जाय'), कशाघात से दण्डनीय, लक्षणाहत (दागा हुआ), ऋणी, एव दास को भी प्रव्रज्या का अनधिकारी समझा जाता था'[१७]। इन निषेधो का तात्पर्य स्पष्ट है। सघ मे ऐसा कोई व्यक्ति प्रविष्ट न होना चाहिए जो पहले से ही कानून के शिकजे मे जकडा हो और जिसके कारण समस्त सघ राजकोप अथवा अपकीर्ति का भागी हो। उपर्युक्त रोगियो, अपराधियो और असमर्थों के अतिरिक्त मातृघातक, पितृघातक, अर्हद्घातक एव भिक्षुणीदूषक, इन घोर पापियों को भी प्रव्रज्या का निषेध था। तथागत के रुधिरोत्पादक, सघभेदक एवं चोरी से सघ में प्रविष्ट व्यक्ति भी प्रव्रज्या के अयोग्य थे।

१५—उद्धा० विनय ना०, महावग्ग, पृ० १६।
१६—वही, पृ० २४।
१७—वही, पृ० ७२-८२।

जो पहले से किसी बौद्धेतर परिव्राजकगण के अनुगत थे उनके लिए आवश्यक था कि वे सघ मे प्रवेश के अनन्तर चार महीने तक परिवास ('प्रोवेशन') व्यतीत करे और इस समय मे उनके आचरण को परखा जाता था। केवल जटिलो और शाक्यो के लिए अपवाद था क्योकि जटिल अथवा तृतीयाश्रमी कर्मवादी एव क्रियावादी थे तथा शाक्य लोग तथागत के सजाति थे[१८]। इन नियमो के अनुसार सघ मे प्रवेश सभी जातियो, वर्गो एव देशवासियो के लिए सम्भव था। जहाँ वैदिक धर्म एक विशिष्ट जाति और समाज के लिए ही अपने को वैध मानता था, बौद्ध धर्म और सघ परवर्ती ईसाई सघ के समान सार्वभौम था।

प्रारम्भ मे बौद्धो की सन्यासदीक्षा तथागत की शरण लेने से ही सम्पन्न हो जाती थी जैसा कि पचवर्गीय भिक्षु आदि के उदाहरण से स्पष्ट है। क्रमश तथागत के किसी योग्य शिष्य को अपना उपाध्याय बनाकर और उसके निकट त्रि-शरण गमन के द्वारा सन्यासदीक्षा सम्पन्न होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक अल्पवय एव अपरिपक्व भिक्षुओ के सघ मे प्रवेश के कारण और तथागत की व्यक्तिगत जानकारी के क्षेत्र मे उनके कम आ सकने के कारण प्रव्रज्या और उपसम्पदा का भेद स्थापित हुआ और साथ ही उपसम्पदा के नियम मे परिवर्तन हो गया[१९]। उपाध्याय के अतिरिक्त आचार्य का भी विधान हुआ। सघ मे प्रवेशार्थियो की सख्या बढने से और उनकी तथागत के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओ के द्वारा दीक्षा सम्पन्न होने से इन परिवर्तनो का विधान युक्तियुक्त प्रतीत होता है और इनकी आवश्यकता सम्भवत तथागत के जीवन-काल मे ही अनुभव गोचर हुई होगी।

उपाध्याय और आचार्य—प्रस्तुत विनय के अनुसार प्रव्रज्या प्राप्त करने पर पहले भिक्षु श्रामणेर कहलाता था और उसे एक उपाध्याय और एक आचार्य चुनकर उनके 'निश्रय' मे रहना पडता था। उपाध्याय मे शिष्य अथवा सार्धविहारी को पिता-बुद्धि और सार्ध-विहारी मे उपाध्याय को पुत्र-बुद्धि रखनी होती थी। श्रामणेर के लिए उपाध्याय की विविध सेवा विहित थी। वस्तुत उपाध्याय और श्रामणेर का सबध बहुत कुछ वैसा ही था जैसा कि वैदिक परम्परा मे गुरु और शिष्य का। आचार्य और उपाध्याय के कर्तव्यो मे भेद करना कठिन है। कदाचित् आचार्य अन्तेवासिक को ध्यान के लिए उपयुक्त कर्मस्थान का उपदेश देता था और उपाध्याय की अनुपस्थिति में

१८—वही, पृ० ७३—७६।
१९—वही, पृ० ५३—५४।

उसका स्थान ग्रहण करता था[20]। उपाध्याय एव आचार्य होने के लिए कम-से-कम दस वर्ष वाला भिक्षु होना आवश्यक था। श्रामणेर को दस शिक्षापदो के अनुसार शील का पालन करना चाहिये। कम-से-कम बीस वर्षो की अवस्था होने पर और उचित योग्यता प्राप्त करने पर श्रामणेर उपसम्पदा का अधिकारी होता था। पहले त्रि-शरण-गमन से और पीछे ज्ञप्तिचतुर्थ कर्म के द्वारा उपसम्पदा दी जाती थी।

शिक्षापद—श्रामणेरो के लिए विहित दस शिक्षापदो का आशय उनके लिए प्राय उस प्रकार के सयम के जीवन का विधान था जैसा कि वैदिक परम्परा मे ब्रह्मचारियो के लिए सुविदित है। दस शिक्षापदो मे दस विरतियाँ अथवा वर्जनाएँ सगृहीत है—प्राण-हिसा से विरति; चोरी से, अ-ब्रह्मचर्य से, झूठ बोलने से, शराब और नशीली चीजो से, दोपहर के बाद भोजन करने से; नाच, गाना-बजाना, और तमाशा देखने से, माला, गन्ध, विलेपन और अलकरण से, ऊँची शय्या और बहुमूल्य शय्या से, सोना-चांदी ग्रहण करने से। इन दस निषेधो से श्रामणेरो का शील परिभाषित होता था।

चार निश्रय—उपर्युक्त शील के अतिरिक्त श्रामणेरो को 'चार निश्रय' बताये जाते थे। इन 'निश्रयो' का विनय मे एक परिवर्धित रूप दीख पडता है जो कि प्रत्येक निश्रय के साथ अतिरेक लाभो के सयोजन से निष्पन्न हुआ है। विनय के कुछ स्थलो मे 'पाच भिक्षुओ के पिण्डपात, चीवर, शयनासन, एव ग्लानप्रत्ययभेषज्य के विषय में प्रश्न और तथागत के द्वारा उनके सक्षिप्त उत्तर दिये गये है जिनमे वस्तुत अतिरिक्त-लाभ-वर्जित निश्रय सगृहीत है[21]। यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि ये 'पाँच भिक्षु' कौण्डिन्य आदि पचवर्गीय भिक्षु ही थे और उनके लिए इस मूल-निश्रय-चतुष्टय का विधान कदाचित् तथागत का सबसे पहला वैनयिक अनुशासन था जो कि उस समय से एकान्त-चर्या-प्रधान एव आरण्यक-प्राप्त भिक्षु-जीवन के आदर्श का निरूपण करता है। इस अनुशासन में अतिरेक लाभो का समावेश परवर्ती सघारामो और विहारो के सवासप्रधान भिक्षुजीवन की सूचना देता है। किन्तु यह परिवर्तन तथागत के जीवन-काल मे ही स्पष्टत. प्रारम्भ हो गया था।

विनय मे चार निश्रयो का विवरण इस प्रकार मिलता है—भिक्षा में मिला हुआ भोजन प्रव्रज्या का पहला निश्रय है, फटे चिथड़ो का बनाया हुआ चीवर दूसरा निश्रय है, वृक्ष के नीचे निवास तीसरा निश्रय है, एवं गोमूत्र की भेषज चौथा निश्रय है।

२०—तु० दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० २८४।

२१—तु० फ्राउवाल्नर, पूर्वं० पृ० १३३–३५।

पहले निश्रय के साथ अतिरेक–लाभ के रूप मे सघभोज, निमन्त्रण, उपोसथ के दिन का भोज एव प्रतिपद् के दिन का भोज भी अनुमत थे। पसुकूल-चीवर (पाशु-कूल) के अतिरिक्त क्षौम, कार्पास, कौशेय, कम्बल, सन, एव भाग की छाल के वस्त्र भी अनुज्ञात थे। वृक्ष-फूल-वास के अतिरिक्त विहार, अड्ढयोग (आढ्यचयोग, अर्ध योग ?), प्रासाद, हर्म्य और गुहा भी विहित हैं। औषध मे अतिरेक-लाभ के रूप मे घी, मक्खन, तेल, मधु और खाड का प्रयोग भी किया जा सकता था। तीसरे निश्रय मे अनुमत अतिरेक-लाभ विशेष रूप से सघ की वृद्धि और समृद्धि सूचित करता है। यह भी स्मरणीय है कि बौद्धो के विरोधी उन्हे अक्सर आरामपसन्द और अतपस्वी कहते थे। स्वय भिक्षु-सघ के अन्दर देवदत्त ने यही बात कही और चाहा कि भगवान् बुद्ध अनुशासन को कडा बनाएँ तथा भिक्षुओ को आदेश दे कि वे यावज्जीवन आरण्यक पिण्डपातिक, पाशुकूलिक, एव वृक्षमूलिक रहे और मत्स्य-मास का कभी भक्षण न करे। तथागत इससे सहमत नही हुए। कालान्तर मे सघ के अन्दर कठोर तपस्वियो के वर्गो का विकास हुआ जो कि विभिन्न 'धुतगो' का आचरण करते थे।

उपोसथ—परिनिर्वाण के अनन्तर वर्षकार को समझाते हुए आनन्द ने कहा[22] कि एक ग्राम-क्षेत्र मे जितने भिक्षु रहते हैं सब उपोसथ के दिन एकत्र सम्मिलित होते हैं और तथागत के द्वारा उद्दिष्ट प्रातिमोक्ष का पाठ करते हैं तथा जिस भिक्षु को आपत्ति अथवा व्यतिक्रम होता है उसे यथाधर्म अनुशासित करते हैं। इसी प्रकार धर्म के द्वारा सघ का सचालन होता है। इस सुत्तन्त से स्पष्ट है कि प्रातिमोक्ष और उपोसथ भिक्षुसघ के अत्यन्त प्राचीन काल से लक्षण रहे हैं। वैदिक धर्म मे दर्श और पूर्णमास की पाक्षिक दृष्टियो का बहुत महत्त्व था। इनके लिए यज्ञ के पूर्व यजमान को दीक्षित होकर उपवास आदि विशेष नियमो से रहना पडता था और इस व्रत काल को उपवसथ कहा जाता था[23]। ब्राह्मणो के परवर्ती ग्रन्थो मे सन्यासियो के लिए आरण्यको अथवा उपनिषदो के आवर्तन का विधान पाया जाता है। विनय के अनुसार अन्य परिव्राजकगण चतुर्दशी, पूर्णमासी, और पक्ष की अष्टमी को एकत्र होकर धर्मोपदेश करते थे और उनके पास लोग धर्म सुनने के लिए जाया करते थे। मगधराज बिम्बिसार ने तथागत से प्रार्थना की कि वे भी बौद्धो मे इस प्रकार के उपोसथ का विधान करे जिसे कि तथागत ने स्वीकार किया[24]।

२२–मज्झिम० ना० जि० ३, पृ० ७१।

२३–यथा, शतपथ (अच्युत ग्रन्थमाला), जि० १, पृ० २।

२४–विनय, ना० महावग्ग, पृ० १०५।

इससे स्पष्ट है कि परिव्राजकों के प्रचलित व्यवहार को देखकर बौद्ध संघ में पक्ष की विशिष्ट तिथियों में एकत्र होकर धर्मोपदेश की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। महापदान सुत्तन्त के अनुसार विपश्यी बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रति ६ वर्ष में एक बार प्रातिमोक्ष पाठ के उद्देश्य से एकत्र होने का उपदेश दिया। विपश्यी बुद्ध ने प्रातिमोक्ष का इस प्रकार उपदेश किया था, जिसे भिक्षु संघ दुहराता था—

"खन्ती परमं तपो तितिक्खा
निब्बान परमं वदन्ति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती
समणो होति परं विहेठयन्तो॥

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥
अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं॥
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं॥"

(दीघ० ना० २, पृ० ३९)

अर्थात् 'शान्ति और तितिक्षा परम तप है, निर्वाण को बुद्धों ने परमार्थ कहा है, प्रव्रजित श्रमण दूसरों को दुख और हानि नहीं पहुँचाते। कोई पाप न करना, पुण्य सम्पादन करना और अपने चित्त को निर्मल रखना, यही बुद्धों का शासन है। दूसरों की न निन्दा करना, न हिंसा, प्रातिमोक्ष में संयमपालन करना, भोजन में मात्रा जानना, विविक्त शयनासन का सेवन करना और ध्यान में मन लगाना, यही बुद्धों का शासन है।' इस उल्लेख से कदाचित् यह सूचित होता है कि प्रारम्भ में उपोसथ के अवसर पर तथागत की प्रमुख शिक्षाएँ संक्षेप में दुहरायी जाती थीं और यही धर्मोपदेश का रूप था। इस अवसर पर प्रत्येक भिक्षु के लिए आवश्यक था कि वह परिशुद्ध-शील हो। अशुद्ध होने पर अपने अपराध की प्रतिदेशना अथवा स्वीकार किये बिना वह उपोसथ में सम्मिलित नहीं हो सकता था। क्रमशः उपोसथ का यही प्रधान कार्य हो गया। समग्र संघ की उपस्थिति में अपराधों की एक सूची पढ़ी जाती थी जिसे प्रातिमोक्ष की आवृत्ति कहा जाता था और दोषी भिक्षुओं को अपने अपराधों की प्रतिदेशना करनी होती थी। क्षुद्र अपराध आदेशना और चेतावनी से क्षालित हो जाते थे। गुरुतर अपराध के लिए दिनान्तर में कुछ भिक्षुओं की परिषद् बुलायी जाती थी।

उपोसथ के लिए आवास म एक विशिष्ट अगार निश्चित होता था और समय से पूर्व उसे झाड-बुहार कर वहाँ आसन, दीप तथा जल का प्रवन्ध करना आवश्यक था। इसे उपोसथ का पूर्व-करण कहा जाता था। सभी भिक्षुओ को स्वय अथवा प्रतिनिधि के द्वारा उपस्थित होना पडता था। रोगी भिक्षु अपना छन्द (मत) एव परिशुद्धि दूसरे के द्वारा सूचित करता था। ऋतु के अनुसार उपोसथ की एव उपस्थित भिक्षुओ की गणना आवश्यक थी। इन कार्यो को उपोसथ का पूर्वकृत्य कहा गया है। पहले, अववाद अथवा भिक्षुणियो को उपदेश भी इस पूर्व-कृत्य का अग माना जाता था।

आनन्द के द्वारा वर्षकार को दिये हुए उत्तर मे यह कहा गया है कि प्रातिमोक्ष पढने वाले भिक्षु को सघस्थविर, सघपिता अथवा सघपरिणायक माना जाता था। उसके लिए आवश्यक था कि वह स्वय प्रातिमोक्ष-सवर मे निष्णात, धर्मविद्, सन्तोषी, ध्यान-कुशल एव अभिज्ञाएँ प्राप्त किये हो।

उपोसथ मे सघ का समग्र रूप से सम्मिलित होना अभीप्सित था, अतएव सघ की सीमा-निर्धारण के लिए नियम वनाये गये। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि सघ शब्द कभी चातुर्दिश सघ के लिए प्रयुक्त होता है, कभी स्थानीय सघाराम अथवा आवास के लिए। स्थानीय सघ की ही सीमा बाँधी जाती थी और उसी के अन्दर समग्रता अपेक्षित थी। आनन्द के उत्तर म ग्रामक्षेत्र का उल्लेख स्थानीय सीमा का प्रायिक विस्तार बताता है। साधारण तौर से प्रातिमोक्ष-परिषद् मे भिक्षुओ के लिए तीन चीवर धारण कर आना विहित था। यदि सीमा के अन्दर कुछ आगन्तुक भिक्षु हो तो आवासिको के साथ उपोसथ मे उनकी उपस्थिति भी आवश्यक थी। चार से कम भिक्षु होने पर प्रातिमोक्ष की सभा नही की जा सकती थी।

प्रातिमोक्ष—पालि का पाटिमोक्ख अथवा पातिमोक्ख सस्कृत ग्रन्थो मे प्रातिमोक्ष के रूप मे प्राप्त होता है। वस्तुत पातिमोक्ख शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपूर्वक मुच् धातु से माननी चाहिए। और उसकी शुद्ध सस्कृत छाया प्रतिमोक्ष्य होनी चाहिए न कि प्रातिमोक्ष। प्रतिमोक्ष्य का अर्थ है 'जो (धर्मसवर) प्रतिमुक्त अथवा आवद्ध किया जाय। कवच, कुण्डल आदि 'प्रतिमुक्त' किये जाते है। धर्म के नियम भी एक प्रकार का कवच अथवा आभरण है जो भिक्षु से आबद्ध होने चाहिए। विनय मे पातिमोक्ख का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ कुशल धर्मो मे प्रमुख होना बताया गया है। यहाँ पातिमोक्ख को सस्कृत 'प्रातिमुख्य' का रूपान्तर माना गया है। एक प्राचीन टीका मे कहा गया है "यो त पाति रक्खति त मोक्खेति मोचेति तस्मा पाटिमोक्ख ति वुच्चति ।" यहाँ पर मूल शब्द मुच् से व्युत्पादित किया गया है। चीनी एव तिब्बती अनुवादो मे प्राति-

मोक्ष के अर्थ प्राय प्रतिविशिष्ट मोक्ष लिये गये है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वहाँ भी कुछ स्थलो मे पाटिमोक्ख को मुख्यार्थक माना गया है और कुछ स्थलो मे मोक्षार्थक[२५]।

अनेक सम्प्रदायो के प्रातिमोक्ष सूत्र उपलव्व होते है और उनकी व्यापक समानता उनकी प्राचीनता प्रदर्शित करती है।[२६] प्रातिमोक्ष के आठ विभाग है—पाराजिक, सघावशेप, अनियत, नैसर्गिक-पातयन्तिक, पातयन्तिक, प्रतिदेशनीय, शैक्ष, एव अधिकरण-शमथ। इनमे अभिहित धर्मो की सख्या सव सम्प्रदायो के प्रातिमोक्षो मे सर्वथा समान नही है। महासाघिको के प्रातिमोक्ष मे निर्दिष्ट धर्मो की सख्या २१८ और सव से कम है। सर्वास्तिवादियो के प्रातिमोक्ष मे सख्या सर्वाधिक, २६३ हे। पालि प्रातिमोक्ष मे २२७ है। किन्तु यह स्मरणीय है कि इस सख्याभेद का कारण मुख्यतया शैक्ष-धर्मो के परिगणन मे भेद है। शेप वर्गो में प्राय कोई भेद नही है और सख्याए इस प्रकार है—पाराजिक–४, सघावशेष–१३, अनिय्रत–२, नैसर्गिक–पातयन्तिक–३०, पातयन्तिक–९०, (महीशासको के अनुसार, ९१), प्रतिदेशनीय–४, अधिकरणशमथ–७, इनकी सख्या १५० होती है जो कि अगुत्तरनिकाय और मिलिन्दपञ्हो के 'दियड्ढ-सिक्खापदसत' से समञ्जस है। वस्तुत शैक्षधर्म प्रातिमोक्ष मे उद्दिष्ट अन्य धर्मो से भिन्न हे क्योंकि वे आध्यात्मिक शील (मौरेलिटी) के नियम न होकर सामाजिक शील (सिविलिटी) के नियम है। अतएव उनके परिगणन मे भेद सुवोध है। शैक्ष धर्म प्रारम्भ से नियतसख्यक नही थे। महाव्युत्पत्ति मे उनको 'सम्वहुला' कहा गया है। पालि प्रातिमोक्ष में भी शैक्ष धर्मो को नियत-सख्या निर्दिष्ट नही किया गया है। यह भी सम्भव है कि महापरिनिर्वाण के पहले क्षुद्रातिक्षुद्र शिक्षापदो को परिवर्तनीय वताते हुए तथागत का आशय कदाचित् शैक्ष धर्मो से ही रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे विभिन्न सम्प्रदायो मे विभिन्न परिवर्तन स्वीकृत हुए और इस प्रकार शैक्ष धर्मो का प्रस्तुत विभेद उत्पन्न हुआ। यह भी स्मरणीय है कि अधिकरण-शमथ प्रातिमोक्ष के शेष वर्गो से पृथक् है। इसमें अपराध एव दण्ड का विधान न होकर सघ के अन्तर्गत

२५–द्र०—डा० पा-चाऊ, पूर्व० पृ० ४–६।

२६–द्र०—पा-चाऊ०, वहीं, ऑरिजिन्स ऑव् वुद्धिज्म, पृ० ३, फ्राउवाल्नर, पूर्व० पृ० १४३, ओल्देनवर्ग (सं०) विनय, जि० १, भूमिका, पा-चाऊ (सं०) महासाघिक प्रातिमोक्ष, (जे० जी० आर० आइ० १०.१–४), मूल सर्वास्तिवाद प्रातिमोक्ष–आइ० एच० क्यू० १९५३।

विवादो की शान्ति के लिए वैधानिक उपाय निर्दिष्ट है। अनियत-वर्ग मे भी नवीन अपराध न गिन कर ऐसे दो का उल्लेख है जो कि पाराजिक, सघावशेष अथवा पातयन्तिक समझे जा सकते है। शेष वर्गों मे भी नियमो का क्रम विभिन्न सम्प्रदायो मे सर्वथा एक नही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल प्रातिमोक्ष अब उपलब्ध नही है। उसका एक रूप महासाघिक सम्प्रदाय मे सरक्षित हुआ, दूसरा मूलस्थविरवादियो से पालि-थेरवादियो ने एव सर्वास्तिवादियो ने प्राप्त कर सम्पादित किया। मूलत बौद्ध भिक्षुओ के लिए विहित शील पञ्चविध अथवा दशविध था। ब्राह्मण और जैन साधु भी इसके सदृश शील का पालन करते थे। वस्तुत जिन पाँच नियमो को योगदर्शन मे महाव्रत कहा गया है वे ही समस्त भिक्षुजीवन के आधार थे। इनके विभिन्न विस्तर ही प्रातिमोक्ष मे अनेकधा सगृहीत है। किन्तु इसमे समानविषयक अपराधो का एकत्र सग्रह नही है प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओ के प्रभाव से जैसे-जैसे व्रत-हानि प्रकट हुई वैसे-वैसे उस पर प्रतिषेध प्रातिमोक्ष मे जोड दिया गया। दूसरी ओर प्रातिमोक्ष के पाराजिक, सघावशेष आदि वर्गो का क्रम स्पष्ट ही अपराधगौरव के अनुसार है और अतएव कृत्रिम है। उदाहरणाथ, यह कहना अनुचित होगा कि ऐतिहासिक क्रम मे सब पाराजिक पहले प्रतिष्ठित हुए, सब शैक्ष धर्म पीछे।

प्रातिमोक्ष-सूत्रो को सामान्यत भिक्षु-शील-निर्देश से विकसित मानने पर उपोसथ के विकास का उपर्युक्त क्रम भी सगत हो जाता है। पहले उपोसथ मे सामान्यत धर्म-चर्या अथवा शील के आदर्श का स्मरण होता था। पीछे परिशुद्धि की आवश्यकता के द्वारा, एव शील-खण्डन के व्यावहारिक पक्ष के आग्रह से, उपोसथ एव प्रातिमोक्ष मे वैधानिकता और कानूनियत का समारोप हुआ जिसने उनका परवर्ती रूप सम्पादित किया।

प्रातिमोक्ष का प्रारम्भ 'निदान' से होता है जिसमे उपोसथ के लिए एकत्र भिक्षुओ को सूचित किया जाता है कि जिस भिक्षु से कोई दोष हुआ हो वह उसे प्रकट करे। दोष न रहने पर चुप रहना चाहिए। प्रातिमोक्ष के प्रत्येक वर्ग के पाठ के बाद तीन बार सबसे पूछा जाता था कि 'क्या आप लोग इन दोषो से शुद्ध है?' दोष को प्रकट न करना झूठ बोलना माना जाता था। प्रातिमोक्ष के प्रथम पाराजिक काण्ड मे ऐसे चार पातको का उल्लेख है जो भिक्षु को सघ मे रहने के अयोग्य बना देते है—अब्रह्मचर्य, चोरी, मनुष्य-वध, एव अलौकिक शक्ति का झूठा दावा। मनुष्यवध के अपराध मे दूसरे को आत्मघात के लिए प्रेरित करना भी गिना जाता है। सघावशेष (अथवा सघादिशेष)

काण्ड से ऐसे तेरह अपराध परिगणित है जिनके लिए अपराधी को कुछ समय के लिए परिवास अथवा पृथक्करण का दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड संघ की यथाविहित बैठक मे प्रस्तावित और निर्णीत होता था। परिवास के अन्त मे पुन सघ की बैठक ही भिक्षु को दण्डमुक्त कर सकती थी। जान बूझ कर शुक्र-विसृष्टि, काम-प्रेरणा से किसी स्त्री का काय-ससर्ग, किसी स्त्री के साथ काम-सम्भाषण, किसी स्त्री से कहना कि 'काम-सन्तर्पण द्वारा परिचर्या कर', सचरित्र (स्त्री और पुरुष के बीच मे मध्यस्थ बनना), अस्वामिक कुटी-निर्माण मे युक्त स्थान अथवा विहित प्रमाण का अतिक्रमण, सस्वामिक विहार-निर्माण मे ऐसा ही व्यतिक्रम, द्वेष से दूसरे भिक्षु पर निर्मूल पाराजिक दोष का आरोप करना, लेगमात्र पकड़कर दूसरे पर पाराजिक का अभियोग करना, सघ-भेद करना, संघ-भेदको का अनुवर्तन, कुल-दूषण, दौर्वचस्य (दूसरो की सलाह का जान बूझ कर निरादर करना)—ये तेरह सघादिशेष अपराध है। इनमे पहले ९ अपराध प्रथम बार में दोषावह है, शेष चार तीन बार दोहराने पर। किसी स्त्री के साथ ऐसे एकान्त मे बैठना जहाँ कि अनुचित ससर्ग अथवा सम्भाषण सम्भव है और उस बात का किसी श्रद्धालु उपासिका का आलोच्य विषय बनना, ये तो दो अनियत धर्मो मे सगृहीत है। नैसर्गिक पातयन्तिक (पालि निसग्गिय-पाचित्तिय) तीस गिने गये है। इनका प्रतिकार सघ, बहुत-से भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर उसे छोड देने से हो जाता है। इन नैसर्गिको में अतिरिक्त-लब्ध वस्तुओ का त्याग करना आवश्यक था। चीवर सम्बन्धी सोलह नियम दिये गये है, जिनके अनुसार भिक्षु को अतिरिक्त चीवर, अज्ञातिक (जिससे नाता नही है) भिक्षुणी से प्राप्त अथवा धोया हुआ चीवर, अपने आप मांगा अथवा बनवाया हुआ चीवर आदि का त्याग विहित है। सात नियम आसन के बनवाने और तैयार करने के बारे में है। कौशेय का अथवा काले भेड के ऊन का आसन निषिद्ध था। आसन शीघ्र नही बदलना चाहिए। नये आसन में पुराने आसन की छोर से बित्ता भर लेकर जोडना चाहिए। सोने चादी का ग्रहण (स्पर्श), रूपिय-व्यवहार, एव क्रय-विक्रय मे भाग लेना भिक्षुओ के लिए निषिद्ध था। रोगी भिक्षुओ के लिए घी, मक्खन, तेल, मधु, खाड आदि का अधिक-से-अधिक सप्ताह तक सग्रह करना चाहिए। अतिरिक्त पात्र वर्जित है। सघ के लिए प्राप्त लाभ को अपने लिए बदलवा लेना भी इन्ही अपराधो मे परिगणित है।

पाचित्तिय, प्रायश्चित्तिक अथवा पातयन्तिक धर्मो की गणना मे सम्प्रदाय-भेद उल्लेख्य रहा है। पालि प्रातिमोक्ष मे ९२ धर्म इस वर्ग मे उल्लिखित है, महाव्युत्पत्ति मे ९०। झूठ बोलना, चिढाना, चुगली, अनुपसम्पन्न के साथ अथवा स्त्री से

साथ लेटना, स्त्रियो को लम्बे उपदेश देना, चमत्कार की वाते करना, दुष्ठुलारोचन, जमीन खोदना या खुदवाना, वृक्ष आदि काटना, निन्दा करना, सघ की चीजो को लापरवाही से छोड देना, प्राणियुक्त जल से सिचन, विना सघ की अनुमति के अथवा सूर्यास्त के वाद भिक्षुणियो को उपदेश देना, भिक्षुणी के साथ एकान्त मे वैठना अथवा सलाह करके उसके साथ यात्रा, एक आवास मे एक से अधिक भोजन, कुछ विशेप अवस्थाओ को छोडकर गण के साथ भोजन, विकाल-भोजन, रखा हुआ भोजन खाना, नीरोग होते हुए माग कर घी, मक्खन, तेल, मधु, खाँड, मछली, मास, दूध, दही आदि उत्तम भोजन का सेवन, विना दिये हुए भोजन का सेवन, नागा साधुओ को हाथ से भोजन देना, गृहस्थी मे वैठकवाजी, सैनिक तमाशा या प्रदर्शन देखना, शराव पीना, ऊगली से गुदगुदाना, पानी मे खेल करना, डराना या तिरस्कार करना, आग तापना, गर्मी—वरसात एव अन्य विशेष अवस्थाओ के अतिरिक्त आधे महीने से पहले नहाना, प्राणि-हिसा, झगडा वढाना, दूसरे भिक्षु के पाराजिक अथवा सघादिशेष अपराधो को छिपाना, वीस वर्ष से कम उम्र वाले भिक्षु को जानते हुए उपसम्पदा देना, जानते हुए चोरो के काफिले मे जाना, धर्म के शिक्षापदो को सीखने मे आनाकानी अथवा धर्म के विरुद्ध भाषण, दूसरे भिक्षुओ को पीटना या धमकाना, सघादिशेष का आरोप करना, किसी भिक्षु को हैरान करना या और भिक्षुओ के झगडे मे कान लगाना, सघकार्य मे अपना मत न प्रकट करना अथवा प्रकट कर मुकर जाना, विना सूचना के राजा के शयनागार मे प्रवेश, वहुमूल्य वस्तु का हटाना, मध्याह्न के वाद विना अत्यन्त आवश्यक कार्य के गाँव मे प्रवेश करना, इत्यादि पाचित्तिय धर्मो मे सगृहीत है।

प्रतिदेशनीय धर्म चार है। इनके करने पर भिक्षु को दूसरे भिक्षुओ के सामने अपना अपराध स्वीकार करना होता है एव भविष्य मे वैसा न करने का वचन होता है। अज्ञातिक भिक्षुणी के हाथ खाद्य ग्रहण करना, भिक्षुओ के भोजन करते समय किसी भिक्षुणी को परोसने मे हाथ वँटाने देना, निर्धन और श्रद्धालु उपासको के घर भिक्षा ग्रहण करना, भय अथवा आशका से आरण्यक शयनासन के युक्त होने पर पहले से अप्रतिसविदित खाद्य-भोजन का स्वय ग्रहण करना—ये ही प्रतिदेशनीय धर्म है।

शैक्ष—काण्ड मे शिष्ट व्यवहार के नियमो का सग्रह है जिन्हे कि भिक्षुओ को सीखना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि इनके परिगणन मे वहुत सख्या-भेद है। उदाहरणार्थ, पालि-प्रातिमोक्ष मे ७५ धर्मो का उल्लेख है, महाव्युत्पत्ति मे १०६। अच्छी तरह कपडा पहनना, शऊर से उठना-वैठना, कहकहा न लगाना, सत्कारपूर्वक भिक्षा-ग्रहण करना, शऊर से खाना, ढग से उपस्थित व्यक्ति को ही धर्मोपदेश करना, खडे-खडे या

हरियाली या पानी मे मल-मूत्र का त्याग न करना इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षाए इस काण्ड मे सगृहीत है ।

अधिकरण-शमथ मे सघ के झगडे मिटाने के तरीको को बताया गया है—सम्मुख-विनय, स्मृति-विनय, अमूढ-विनय, प्रतिज्ञात-करण, यद्भूयसिक, यत्पापीयसिक और तृणप्रस्तारक—ये सात उपाय निर्दिष्ट किये गये है[२७] ।

भिक्षुणियाँ—यद्यपि स्त्रियो की प्रव्रज्या उस समय विदित थी तथापि भगवान् बुद्ध उसके लिए अपने सघ मे पहले अनुमति नही देना चाहते थे । महाप्रजापति गौतमी के इस विषय मे अनुरोध को उन्होने कपिलवस्तु मे अस्वीकार कर दिया था। पीछे गौतमी बहुत-सी शाक्य स्त्रियो के साथ केश कटाकर और काषाय वस्त्र धारण कर वैशाली पहुँची जहाँ कि तथागत महावन में विहार कर रहे थे । वहाँ द्वार पर उसके सूजे पैर, धूलि-धूसर गात्र और साश्रुमुख देखकर आनन्द के चित्त मे करुणा उपजी और उन्होने तथागत से स्त्री-प्रव्रज्या का अनुरोध किया और कहा कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक उन्नति कर सकती हैं और प्रजापति गौतमी तो भगवान् की मातृस्थानीया रही है। तथागत ने अनुरोध स्वीकार किया, किन्तु आठ शर्तो पर—भिक्षुणियाँ भिक्षुओ का आदर करेगी, अभिक्षु-कुल मे भिक्षुणियो का वर्षावास नही होगा, हर पखवारे भिक्षुणियाँ भिक्षु-सघ से उपोसथ—पृच्छा और अववादोपसक्रमण प्राप्त करेगी, वर्षावास के अनन्तर भिक्षुणियो को दोनो सघो मे दृष्ट, श्रुत एव परिशकित तीनो स्थानो से प्रवारणा करनी चाहिए, भिक्षुणी को दोनो सघो मे पक्षमानता करनी चाहिए, दो वर्ष ६ धर्मो में शिक्षित होकर भिक्षुणी को दोनो सघो में उपसपदा की प्रार्थना करनी चाहिए, भिक्षुणी को आक्रोश-परिभाषण नही करना चाहिए, भिक्षुणियो के लिए भिक्षुओ को कुछ कहने का मार्ग निरुद्ध है, भिक्षुओ के लिए निरुद्ध नही है । इन शर्तो के साथ भिक्षुणी-सघ को अनुमति देते हुए भी तथागत ने यह कहा कि 'यदि स्त्रियाँ इस धर्म-विनय मे प्रव्रज्या न पाती तो यह सहस्र वर्ष तक ठहरता, स्त्री-प्रव्रज्या के कारण सद्धर्म केवल पाँच सौ वर्ष ठहरेगा ।'

स्त्रियो के लिए प्रज्ञप्त ६ शिक्षापद (जो कि पाचित्तिय सख्या ६३ से ६८ तक है) हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, मृषावाद, मद्यपान और विकाल-भोजन का वर्जन करते हैं। इनके लिए उपदिष्ट प्रातिमोक्ष मे अनियत-काण्ड नही है। पाराजिक-काण्ड मे ८ अपराध गिनाये गये है जिनमें भिक्षु-प्रातिमोक्ष के चार अपराधो के साथ चार और

२७—दे०—नीचे ।

का सनिवेश है—कामासक्ति से पुरुष का घुटने के ऊपर पैर दबाना, कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श या एकान्त मे साथ, सघ से निकाले भिक्षु का अनुगमन, एव किसी और भिक्षुणी के पाराजिक अपराध को छिपाना। भिक्षुणियो के लिए १७ सघादिशेष अपराध बताये गये है—पुरुष के साथ घूमना, चोर को दीक्षा देना, अकेले घूमना, सघ से निकाली भिक्षुणी का अनुगमन, आसक्ति से पुरुष के हाथ से खाद्य लेना, अथवा दूसरी भिक्षुणी को इसके लिए उत्साहित करना, कुटनी बनना, निर्मूल या लेश मात्र से किसी पर पाराजिक का आरोप करना, त्रिरत्न का प्रत्याख्यान् करना, सघ की निन्दा, कुसग अथवा कुसग के लिए प्रेरित करना, सीख न लेना, और कुलो को बिगाडना। नैसर्गिको की सख्या भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष मे भी तीस है। पाचित्तियो की सख्या १६६ है जिनमे लहसुन खाना, कूडा-कचरा दीवार के पार फेकना, नाच-गाने मे जाना, दूसरे को सरापना, सूत कातना आदि सम्मिलित है। गर्भिणी, स्तन्यपायिनी, १२ वर्ष से कम की विवाहिता एव बीस वर्ष से कम की कुमारी को उपसम्पदा नही दी जा सकती और न उसे जिसने दो वर्ष से कम शिक्षा ग्रहण की है। भिक्षुणियो के लिए पाटिदेसनिय धम्म आठ है और भिक्षु-पाति-मोक्ख के ३९ वे पाचित्तिय से अभिन्न है। शैक्ष धर्म और अधिकरण शमथ भिक्षुओ के सदृश है।

वर्षावास—आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश एव उत्तर बिहार मे मार्गो और नदियो की अवस्था ऐसी है कि बरसात मे यातायात दुष्कर हो जाता है। नदियो की बाढ से और भूमि के असाधारण रूप से समतल होने के कारण अनेक स्थल द्वीपवत् बन जाते है। तथागत के समय मे इस प्रकार की कठिनाई आज से अधिक ही रही होगी। ऐसी स्थिति मे यदि उस समय के परिव्राजको मे वर्षाकाल के लिए चारिका को स्थगित रखने की प्रथा का विकास हुआ तो उसे विस्मयावह नही कहा जा सकता। ब्राह्मण भिक्षुओ के लिए भी वर्षा मे स्थिर रूप से रहने का विधान है। विनय मे कहा गया है कि पहले शाक्य-पुत्रीय भिक्षुओ को वर्षा मे भी विचरण करते देखकर लोग हैरान होते थे कि जब अन्य तीर्थिक एक जगह रहते है और चिडियाँ वृक्षो के ऊपर घोसले बनाकर रहती है शाक्य-पुत्रीय श्रमण कैसे हरे तृणो को रौदते हुए एकेन्द्रिय जीवो को पीडित करते हुए तथा छोटे-छोटे जन्तुओ को मारते हुए विचरते है[२८]। यह देखकर तथागत ने अपने अनुयायियो के लिए भी वर्षावास का विधान किया। आषाढी पूर्णिमा अथवा श्रावणी पूर्णिमा के दूसरे दिन से तीन महीने तक उनके लिए यात्रा का निषेध था और उन्हे एक आवास में

२८—विनय, ना० महावग्ग, पृ० १४४।

रहना पडता था। अत्यधिक आवश्यकता पडने पर जैसे बीमारी के आपत्ति-काल मे, या उपासको के विशेष हित के लिए, अथवा आत्ययिक सघ-कार्य के लिए, भिक्षु आवास को सात दिन तक छोड सकते थे। यदि आवास मे सुरक्षा-हानि, दुर्भिक्ष, रोग, शील-विपत्ति, अथवा सघ भेद की सम्भावना हो तो आवास छोडने मे दोष नहीं माना जाता था।

वर्षावास के अन्त मे सघ को सम्मिलित होकर अपने अपराध की आदेशना करना आवश्यक था। इसको 'प्रवारणा' कहा जाता है। जिस प्रकार से उपोसथ पाक्षिक परि-शुद्धि के लिए आवश्यक है ऐसे ही प्रवारणा एक प्रकार से वार्षिक परिशुद्धि है। वर्षान्त मे ही उपासको के द्वारा भिक्षु-सघ को दिये गये वस्त्रो से चीवर निर्माण कर भिक्षुओ को बाँटे जाते थे। इस प्रकार के चीवर को 'कठिन' कहा जाता है। कठिन के निर्माण के लिए सघ एक विशेष भिक्षु को चुनता है जिसे दर्जी के आवश्यक कार्य की अनुमति दी जाती है।

वैनयिक 'कर्म'—विनय मे अनुशासन के लिए अनेक विशिष्ट कर्मो का विधान पाया जाता है। यदि कोई भिक्षु विवादशील एव कलहप्रिय हो अथवा अपनी मूढता से अपराध करे अथवा गृहस्थो से अधिक सम्पर्क मे आये तो उसके लिए तर्जनीय कर्म विहित है। ऐसे ही यदि कोई भिक्षु शील के विषय मे उदासीन हो अथवा बुद्ध, धर्म एव सघ की निन्दा करता हो तो वह भी तर्जनीय कर्म से दण्डनीय है। ऐसे अपराधी भिक्षु को चेतावनी देनी चाहिए। प्रातिमोक्ष के उपयुक्त नियम का स्मरण दिलाना चाहिए और फिर उसके लिए किये हुए विशिष्ट अपराध के दण्ड का उसे भागी बनाना चाहिए। सघ के समक्ष उसके अपराध की तीन बार ज्ञप्ति प्रस्तुत होनी चाहिए तथा सघ से उस भिक्षु के लिए तर्जनीय कर्म के आदेश का निवेदन करना चाहिए। दोषी भिक्षु को भी उस सभा मे उपस्थित होना चाहिए तथा उसे इस बात का अवसर मिलना चाहिए कि वह अपना अपराध स्वीकार करे अथवा अपनी निर्दोषता का स्मरण करे। जिस भिक्षु के लिए तर्जनीय कर्म का आदेश होता है वह उपसम्पदा नही दे सकता और न निश्रय। वह अन्य भिक्षुओ को उपदेश भी नहीं कर सकता और न भिक्षुणियो को उपदेश दे सकता है। इस प्रकार के नियमण का समुचित पालन करने पर दोषी भिक्षु से दण्ड हटा लिया जाता है।

यदि कोई भिक्षु गृहस्थो के साथ अधिक सम्पर्क मे आता हो एव प्रातिमोक्ष का उल्लघन करता हो तो वह निश्रय कर्म का भागी होता है। उसके लिए एक भिक्षु आचार्य के रूप मे निर्दिष्ट किया जाता है और उसके आदेश का पालन दोषी भिक्षु के लिए आवश्यक होता है। यदि कोई भिक्षु कुल्दूषक हो अथवा पापसमाचार हो तो

वह प्रव्राजनीय कर्म का भागी होता है। उसे कुछ समय के लिए विहार छोडकर स्थानान्तर मे विशेष नियन्त्रणो की परिधि मे रहना होता है। यदि कोई शील अथवा धर्म के विषय मे विवादप्रिय हो अथवा आचरणहीन हो तो उसके लिए भी यही दड विहित है। यदि कोई भिक्षु किसी गृहस्थ को हानि पहुँचाता हो अथवा उसकी निन्दा करता हो तो वह प्रतिसारणीय कर्म का भागी होता है। इस प्रकार के भिक्षु को न केवल तर्जनीय कर्म से दडित भिक्षु के समान नियमो से रहना पडता है अपितु उस विशिष्ट गृहस्थ से क्षमा माँगनी पडती है। यदि कोई भिक्षु अपने अपराधो को स्वीकार नही करता अथवा कहे जाने पर धर्म-विरुद्ध सिद्धान्त को नही छोडता तो वह उत्क्षेपणीय कर्म का भागी वनता है। वह अन्य भिक्षुओ के साथ नही ठहर सकता और न उनके साथ आहार आदि कर सकता है।

कुछ गौण अपराधो के लिए प्रतिक्रोशना का विधान है। सघ से भिक्षु को निकालने के लिए निस्सारणा शब्द का प्रयोग मिलता है। परिवास के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं। अन्य सम्प्रदायो के सदस्य यदि वौद्ध सघ मे प्रवेशार्थी हो तो उनके लिए चार महीने का परिवास निर्दिष्ट है। यह एक प्रकार का 'प्रोबेशन' का समय है। सघादिशेष दोष के लिए अन्य तीन परिवासो का निर्देश है। जो भिक्षु परिवास मे रहता है उसे अपने को अन्य भिक्षुओ से अनेक वातो मे अलग रखना पडता है। उसके लिए सहावास, विप्रवास, एव अनारोचना के नियन्त्रणो से शुद्ध रहना आवश्यक है। सघादिशेप अपराधो के लिए परिवास के अतिरिक्त मानत्व का विधान है। मानत्व मे छ दिन के लिए भिक्षु को सघ की सदस्यता के सामान्य अधिकारो से वचित रखा जाता है।

विवाद-शमथ—प्रातिमोक्ष मे विवादो के सुलझाने के लिए अनेक प्रकार निर्दिष्ट है। इसमे पहला सम्मुख विनय कहलाता है। सघ के समक्ष, अथवा वादी और प्रतिवादी के आपस मे एक-दूसरे के सामने, विवाद सुलझाने को सम्मुख-विनय कहते हैं। दूसरा स्मृति-विनय कहलाता है। यदि किसी भिक्षु के ऊपर लगे हुए अभियोग को वह स्वीकार नही करता है और सघ के सामने आकर अपनी निर्दोषता को प्रकट करता है तो यह स्मृतिविनय कहलाता है। दर्भ मल्लपुत्र ने मेत्तिया भिक्षुणी के मिथ्या दोषारोपण का ऐसे ही प्रत्याख्यान किया था। तभी से इस स्मृति-विनय का प्रवर्तन हुआ। यदि किसी भिक्षु ने मूढ अवस्था मे अपराध किया हो और उसे अमूढ अवस्था मे उसका सचमुच स्मरण न हो और वह सघ के सामने यह प्रकट करे, तो उसे अमूढ-विनय दिया जा सकता हे। गर्ग भिक्षु के प्रसग से इसका प्रारम्भ वताया गया है। अपने ऊपर लगाये गये अपराध का स्वीकार किया जाय तो प्रतिज्ञातकरण शमथ होगा। यदि किसी विवाद

का उद्वाहिका के द्वारा सुलझाव न होता हो और शलाकाग्रहण के द्वारा सुलझाव आवश्यक हो तो ऐसी अवस्था मे यद्भूयसिकीय अथवा मताधिक्य का सहारा लिया जाता है। यदि कोई भिक्षु अपने अपराध को कभी स्वीकार करे और कभी अस्वीकार करे अथवा जिरह मे जान-बूझ कर झूठ बोले तब उसे सघ के सामने अपराध के अभियोग का स्मरण दिलाया जाता है और उसकी उपस्थिति मे उससे पूछने के बाद उस दड का भागी समझा जाता है। यह तत्पापीयसिक कर्म कहलाता है। यदि बहुत-से भिक्षु वर्गश किसी अपराध मे सम्मिलित हो तथा पीछे पश्चात्तापी हो तो उनके अपराध का सघ मे प्रकट-विमर्श ठीक नही समझा जाता था एव सामान्यत सघ मे आदेशना पर्याप्त मानी जाती थी। इसको ऊपर कहा जा चुका है कि सघ का कार्य गण-तन्त्रात्मक रीति से सम्पन्न होता था। आवास की परिपद् मे सभी भिक्षुओ का उपस्थित होना आवश्यक था। भिक्षु-सघ के सन्निपतित होने पर कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव अथवा 'ज्ञप्ति' को पेश किया जाता था, और उसकी तीन बार 'अनुश्रावणा' की जाती थी। सघ का मौन उसकी सम्मति मानी जाती थी और 'ज्ञप्ति' के आधार पर 'धारणा' प्रस्तुत होती थी। प्राय सर्वसम्मति से ही निर्णय होते थे। किसी विपय पर मतभेद एव विवाद उपस्थित होने पर उसे सुलझाने के लिए दो या अधिक भिक्षुओ के नाम सघ की सर्वसम्मति से चुने जाते थे। इस समिति को 'उद्वाहिका' कहा जाता है। यदि ये भिक्षु भी निर्णय नही कर पाते थे तो प्रस्तुत विपय फिर से सघ के सामने लौट आता था और मताधिक्य से ही उसका निर्णय किया जाता था। मतदान शलाकाग्रहण के द्वारा होता था और इस कार्य के लिए एक विशेप अधिकारी शलाका-ग्राहक के नाम से नियुक्त होता है। यह स्पष्ट है कि यद्यपि सघ के कार्य-व्यापार मे मतैक्य का प्राधान्य स्वीकृत था, तथापि आवश्यक होने पर मताधिक्य से भी निर्णय वैध था।

सम्पत्ति—सघ मे सपत्ति का अधिकार अतीतानागत चातुर्दिश सघ का माना जाता था। भिक्षु सभी अपरिग्रह का व्रत लिये होते है। अतएव भिक्षा मे प्राप्त सामग्री पर सघ का मुख्य अधिकार मानना चाहिए, किन्तु इस अधिकार का अनियन्त्रित प्रयोग नही किया जाता था। भिक्षु के मरने पर उनकी सपत्ति का सघ ही वितरण करता था। अन्न आदि दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सघ मे विशेप भिक्षुओ को अधिकारी नियुक्त किया जाता है। ऐसे कई अधिकारियो के नाम उपलब्ध होते है। भक्तोद्देशक अन्न बाँटता था, यागु-भाजक यागु आदि बाँटता था। शयनासन-ग्राहक भिक्षु सघ की ओर से विहार आदि का दान स्वीकार करता था। शयनासन-प्रज्ञापक विहार के अन्दर शयनासन आदि का वितरण करता था। भाण्डागारिक चीवर, अनिजका,

चीवर-भाजक, शाटी-ग्राहक, अल्पमात्रक-विसर्जक, पात्र-ग्राहक, नवकर्मिक, आरामिक, श्रामणेर-प्रेक्षक, आसन-प्रज्ञापक एव ऊपर निर्दिष्ट शलाका-ग्राहक आदि की नियुक्ति आवश्यकता के अनुसार होती थी। नियुक्ति सर्वसम्मति से की जाती थी।

पहली संगीति और धर्म-विनय का सग्रह

प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता—बौद्ध परम्परा के अनुसार विनय और सूत्र-पिटको का सग्रह बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर राजगृह की प्रथम सगीति मे हुआ था। प्रथम सगीति का उल्लेख अनेक सदर्भों से प्राप्त होता है। पालि विनय के चुल्लवग्ग मे इस सगीति का एक प्राचीन वर्णन उपलब्ध है। परवर्ती सिंहलीय ऐतिह्य तथा बुद्धघोष की व्याख्याओ मे यही से इस सम्बन्ध मे सामग्री ली गयी है। महावस्तु एव मजुश्रीमूलकल्प मे भी सक्षिप्त उल्लेख मिलते है। महीशासक, धर्मगुप्त, महासाघिक एव सर्वास्तिवाद के विनयो मे इस सगीति का उल्लेख है, किन्तु ये सब विनय चीनी अनुवादो मे ही उपलब्ध होते है। काश्यप-सगीति-सूत्र, अशोकावदान, महाप्रज्ञा-पारमिता-शास्त्र, एव परिनिर्वाणसूत्र मे भी उल्लेख है, किन्तु ये भी चीनी मे ही सुरक्षित है। चीनी मे एक अन्य ग्रथ की भी उपलब्धि होती है जिसमे काश्यप और आनन्द के द्वारा परिनिर्वाण के अनन्तर त्रिपिटक के सग्रह का विवरण दिया गया है[२९]। एकोत्तरागम के पहले अध्याय की चीनी व्याख्या मे भी प्रथम सगीति का उल्लेख है। तारानाथ एव बुदोन के बौद्धधर्म के तिब्बती इतिहासो मे भी इस सगीति का विवरण उल्लिखत है।

पहली सगीति की ऐतिहासिकता और कार्य पर प्रचुर विवाद ऐतिहासिको मे हो चुका है। मिनयेफ, ओल्डेन्बर्ग, फ्रान्के, प्रिलुस्की, दत्त, फ्राउवाल्नर, आदि ने समस्त सामग्री का मथन कर नाना मत प्रस्तुत किये है[३०]। ओल्डेन्बर्ग का विश्वास था कि पहली सगीति विशुद्ध कल्पना है। इस धारणा के समर्थन मे प्रधान युक्ति यह थी कि महापरिनिर्वाण सूत्र मे सगीति का उद्देश्य और अवसर दोनो प्रस्तुत है, किन्तु सगीति के विषय मे पूर्ण मौन स्वीकार किया गया है। फ्रान्के ने इसे स्वीकार कर यह सुझाव

२९—दत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० ३२६।

३०—द्र०—मिनयेफ, रेशर्श सूर ल बुद्धिजम, ओल्देनबर्ग, ज़ड्० डी० एम० जी०, १८९८, पृ० ६१३—९४, फ्रान्के, जे० पी० टी० एस० १९०८, पृ० १—८०, नलिनाक्षदत्त, अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, प्रिलुस्कि, लकौंसीय द राजगृह, फ्राउवाल्नर, पूर्व०।

प्रस्तुत किया कि चुल्लवग्ग के संगीति-सम्बन्धी अंग भी महापरिनिर्वाण-सूत्र पर ही आधारित रहे होंगे और अतएव उन्हें भी अप्रामाणिक मानना चाहिए। ओल्डेनबर्ग की युक्ति का याकोबी ने समीचीन उत्तर दे दिया है। महापरिनिर्वाण-सूत्र के लिए यह अनावश्यक था कि वह संगीति का विवरण दे। यह भी कहा गया है कि चुल्लवग्ग के एकादश और द्वादश स्कन्धक कदाचित् मूलतः महापरिनिर्वाण सूत्र के अंग रहे हों। यह तो निस्सन्देह है कि ये दो स्कन्धक चुल्लवग्ग के परिशिष्ट के रूप में हैं और मूलतः उसके अंग नहीं थे। चुल्लवग्ग का एकादश स्कन्धक उसके अन्य अंगों की अपेक्षा हठात् प्रारम्भ होता है, कुछ-कुछ वैसे ही जैसे कि महापरिनिर्वाण सूत्र, और उससे वस्तुसादृश्य भी रखता है। संयुक्त-वस्तु नाम के मूल सर्वास्तिवादियों के विनय में एक साथ ही परिनिर्वाण और संगीतियों का वर्णन दिया गया है। अतएव यह सम्भव है कि चुल्लवग्ग का एकादश स्कन्धक महापरिनिर्वाण सूत्र का अन्तिम अंग रहा हो, किन्तु ऐसा रहने पर यह सुबोध नहीं है कि स्थविरवादियों ने इन दो को पृथक् क्यों कर दिया। कदाचित् चुल्लवग्ग के द्वादश स्कन्धक के सादृश्य के कारण एकादश स्कन्धक को उसके साथ रखा गया हो। इस पर एक परिष्कृत मतान्तर फ्राउवाल्नर ने प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार महापरिनिर्वाण सूत्र और प्रथम संगीति का विवरण प्रारम्भ में साथ थे और विनय के अन्तिम अंग थे। दूसरी संगीति का विवरण प्रासंगिक परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया गया। यह मत सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है।

यद्यपि अब पहली संगीति को केवल कल्पना नहीं कहा जा सकता तथापि उसका कार्य संदिग्ध रहता है। पूसें ने इस संगीति को एक बड़ी प्रातिमोक्ष-परिषद् कहा है। मिनयेफ ने पहले ही कहा था कि धर्म और विनय के संग्रह की कथा कदाचित् मूल संदर्भ में न रही हो। नलिनाक्ष दत्त ने संगीति का प्रयोजन उन क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों का निर्णय बताया है जिनको परिवर्तित करने की अनुमति तथागत ने निर्वाण से पहले दी थी। इस दशा में आनन्द के द्वारा सूत्रों का संगायन बाद का प्रक्षेप है अर्थात् मूल में केवल आनन्द की परिशुद्धि का ही वर्णन रहा होगा। इतना तो स्पष्ट है कि उपलब्ध विनय और सुत्त पिटक अपने वर्तमान बृहद् कलेवर में परिनिर्वाण के तत्काल बाद संगृहीत नहीं किये जा सकते थे, किन्तु संग्रह का प्रयास तत्काल किया गया हो यह भी सर्वथा स्वाभाविक एवं युक्तियुक्त है। तथागत ने कहा था धम्मो को विनय [illegible] शास्ता एवं आनन्द ने परिनिर्वाण के अनन्तर [illegible] से यही दुहराया था कि धर्म ही उनका शास्ता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि तथागत के अनन्तर [illegible] शिष्यों ने 'धर्म-विनय' का संगायन किया हो। सम्भवतः [illegible] सूत्र में [illegible]

के लिए एव उसके दिग्दर्शन के लिए इस प्रकार का धर्म-सग्रह एव विनिर्णय आवश्यक था।

प्रथम संगीति—विनय मे सगीति का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—पाँच सौ भिक्षुओ के साथ महाकाश्यप पावा और कुसीनारा के वीच थे जव उन्होने एक आजीवक से सुना कि सप्ताह भर पूर्व तथागत का परिनिर्वाण हुआ है। यह सुनकर अवीतराग भिक्षु रोये, वीतराग भिक्षुओ ने अनित्यता का स्मरण कर दु ख सहा। किन्तु सुभद्र नाम के एक वृद्ध प्रव्रजित ने कहा कि अच्छा हुआ जो महाश्रमण के नाना विधि-निषेधो से छुट्टी मिली 'अव हम जो चाहेगे करेगे, जो न चाहेगे, न करेगे।' यह सुनकर महाकाश्यप ने कहा कि अधर्म और अविनय प्रकट हो रहा है, यह आवश्यक है कि धर्म और विनय का सगायन किया जाय।

सगीति के लिए महाकाश्यप ने एक कम पाँच सौ अर्हत् चुने। आनन्द के शैक्ष होने पर भी धर्म और विनय से उनके वहुत परिचित होने के कारण उन्हे भी चुन लिया गया। राजगृह मे वर्षावास करते हुए धर्म और विनय के सगायन का निश्चय किया गया। पहले महीने मे टूटे-फूटे की मरम्मत की गयी एव दूसरे महीने मे सगीति हुई। आयुष्मान् आनन्द भी सगीति के पहले अर्हत् वनाये गये। महाकाश्यप ने उपालि से विनय के सम्वन्ध मे प्रश्न किया। उन्होने पूछा कि प्रथम पाराजिक कहाँ प्रज्ञप्त किये गये थे, किसे लेकर, एव किस विषय मे। उपालि के उत्तर सुनकर महाकाश्यप ने प्रथम पाराजिक की वस्तु, निदान, पुद्गल, प्रज्ञप्ति, आपत्ति एव अनापत्ति भी पूछी। इसके अनन्तर दूसरे, तीसरे एव चौथे पाराजिक के सम्वन्ध मे प्रश्न किये गये। इस प्रश्नोत्तरी को कुछ विस्तार से दिया गया है। इसके अनन्तर कहा गया है कि इसी उपाय से दोनो विभगो (उभतो विभग) अर्थात् भिक्षु और भिक्षुणी विभगो, को पूछा गया और आयुष्मान् उपालि ने उनका उत्तर दिया। इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत. केवल प्रातिमोक्ष के सम्वन्ध मे ही प्रश्न किये गये थे।

इसके अनन्तर महाकाश्यप ने आनन्द से धर्म के सम्वन्ध मे प्रश्न किया। उन्होने पूछा कि ब्रह्मजाल-सूत्र कहाँ भाषित किया गया एव किसे लेकर। ब्रह्मजाल-सूत्र के निदान और पुद्गल को भी उन्होने पूछा। ऐसे ही फिर श्रामण्यफल के सम्वन्ध मे प्रश्न किया। इसी उपाय से पाँचो निकायो को पूछा और आयुष्मान् आनन्द ने पूछे का उत्तर दिया। इसके अनन्तर आनन्द ने स्थविर भिक्षुओ से कहा कि भगवान् ने परिनिर्वाण के समय कहा था 'आनन्द, मेरे अनन्तर सघ क्षुद्रकानुक्षुद्र शिक्षापदो को चाहने पर हटा सकता है।' इस पर आनन्द से प्रश्न पूछा गया कि क्या उन्होने इन शिक्षापदो के विषय मे तथागत से प्रश्न किया था। आनन्द के 'नही' कहने पर स्थविरो ने

नाना मत प्रस्तुत किये। कुछ ने कहा कि चार पाराजिकों को छोडकर शेष सब शिक्षापद तुच्छ है, कुछ ने कहा कि पाराजिको और सघादिशेषो को छोडकर शेष क्षुद्र है। इसी प्रकार अन्य स्थविरो ने प्रातिमोक्ष के विभिन्न भागो को क्षुद्रकानक्षुद्र बताया। इस प्रसग में यह स्मरणीय है कि अधिकाधिक पाराजिक, सघादिशेष, नैसर्गिक, प्रायश्चित्तिक एव प्रायश्चित्तिक धर्मो को महत्त्वपूर्ण माना गया। प्रतिदेशनीय धर्म सभी ने क्षुद्रानुक्षुद्र बताये। शैक्ष धर्मो का अथवा अधिकरण-शमथो का इस प्रसग मे उल्लेख नही मिलता। इस पर महाकाश्यप ने यह प्रस्ताव रखा कि सघ न तो अप्रज्ञप्त का प्रज्ञापन करे और न प्रज्ञप्त का समुच्छेद, अन्यथा शिक्षापदो से कुछ उस समय छोड देने पर उनके गृहस्थो मे भी विदित होने के कारण यदि उनमे सघ को लोकनिन्दा का भागी होना पडेगा। यह कहा जायगा कि शास्ता के परिनिर्वाण के अनन्तर शाक्यपुत्रीय अपने धर्म का यथावत् पालन न कर पाये। यह प्रस्ताव सघ को स्वीकृत हुआ। तब स्थविरो ने आनन्द पर क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदो के तथागत से न पूछने का दुष्कृत अपराध आरोपित किया। आनन्द ने अपराध की आदेशना की। इसके अनन्तर आनन्द के कुछ और अपराध प्रकाशित किये गये, यह कहा गया कि उन्होने भगवान् की वर्षाशाटी को पैर से दाब कर सिया। आनन्द ने कहा कि यह उन्होने अगौरव समझकर नही किया था एव इसको वे दुष्कृत नही समझते, तथापि उन्होंने स्थविरो के गौरव को सोच अपराध की देशना की। आनन्द पर अन्य अभियोग थे—उन्होने भगवान् के शरीर की वदना सबसे पहले स्त्रियो से करवाई जिनके आँसुओ से उनका शरीर लिप्त हुआ, उन्होंने तथागत के सकेत करने पर भी उनमे कल्प भर ठहरने की प्रार्थना नहीं की, एव उन्होने तथागत के बतलाये धर्मविनय में स्त्रियो की प्रव्रज्या के लिए उत्सुकता पैदा की। इन सब दुष्कृतो के लिए आनन्द से क्षमायाचन के लिए कहा गया। आनन्द ने अपराध स्वीकार नही किया और कहा कि विकाल न हो इसलिए उन्होने स्त्रियो से वदना करायी। मार से विभ्रान्त होने के कारण तथागत से वे ठहरने के लिए प्रार्थना नही कर पाये एव महाप्रजापति गौतमी के गौरव से उन्होने स्त्री-प्रव्रज्या के लिए अनुरोध किया। तथापि स्थविरो के गौरव से उन्होने क्षमा-प्रार्थना की।

उस समय आयुष्मान् पुराण दक्षिणागिरि मे पाँच सौ भिक्षुओ के साथ चारिका कर रहे थे। जब वे राजगृह लौटे उनसे स्थविर भिक्षुओ ने अपने धर्मविनय के सगायन का उल्लेख करते हुए कहा कि वे उस सगायन को माने किन्तु आयुष्मान् पुराण ने कहा, 'जैसा मैंने भगवान् से प्रत्यक्ष सुना है और [illegible] है, ऐसे ही मैं समझूँगा।'

इसके अनन्तर आनन्द ने स्थविरो से छन्न नाम के भिक्षु को ब्रह्मदण्ड देने की [illegible]

की आज्ञा का उल्लेख किया। 'ब्रह्मदड कैसे होगा' यह पूछे जाने पर आनन्द ने कहा—'छन्न भिक्षु जैसा चाहे, कोई भिक्षु छन्न से न बोले, न उपदेश करे, न अनुशासन करे।' आनन्द से कहा गया कि वे स्वय छन्न को ब्रह्मदड की आज्ञा दे। छन्न के क्रोधी और कटुभाषी होने के कारण आनन्द ने कुछ आशका प्रकट की। अतएव बहुत-से भिक्षुओ के साथ उन्हे नाव से कोशावी जाने की अनुमति दी गयी। कौशाम्वी मे पहुँच कर राजा उदयन के अन्त पुर की स्त्रियो से आयुष्मान् आनन्द की मुलाकात हुई। आनन्द ने उन्हे धर्म का उपदेश किया। स्त्रियो ने उन्हे पाँच सौ उत्तरासग प्रदान किये। जव राजा उदयन ने यह सुना उन्हे आकुलता हुई कि क्यो श्रमण आनन्द ने इतने अधिक चीवरो को लिया। 'क्या श्रमण आनन्द कपडे का व्यापार करेगे या दूकान खोलेगे ?" उन्होने आकर आनन्द से पूछा कि वे इतने अधिक चीवरो का क्या करेगे। आनन्द ने वताया कि जिनके चीवर फट गये है उन्हे बाँटेगे, पुराने चीवरो के विछौने, विछौनो की चादर, पुरानी चादरो के गिलाफ और पुराने गिलाफो के फर्श वनायेगे इत्यादि। यह सुनकर राजा उदयन ने आनन्द को पाँच सौ चादरें दी। इसके अनन्तर आनन्द घोषिताराम गये और छन्न को ब्रह्मदड दिया। यह सुनकर कि भिक्षुओ को उनसे नही बोलना होगा, छन्न मूर्छित हो गये, किन्तु शीघ्र ही उन्होने अप्रमाद और उद्योग से एव एकान्तचर्या से अर्हत्त्व प्राप्त किया। उनके अर्हत्त्व प्राप्त करने पर उनका ब्रह्मदड हट गया।

इस विनयसगीति मे पाँच सौ भिक्षु थे, इसलिए इसे पचशतिका कहा गया।

इस विवरण के विभिन्न अश सव एक सुदृढ सूत्र से बँधे हुए नही है, किन्तु वे सभी एक स्वाभाविक रीति से कही हुई कथा के अन्तरग है। ऐसा प्रतीत होता है कि आयुष्मान् आनन्द के तथागत के विशेप कृपापात्र होने के कारण अन्य भिक्षु उनसे कुछ असन्तुप्ट थे एव परिनिर्वाण के अवसर पर उनकी व्यवस्था से विशेष रूप से असन्तुष्ट हुए। यह अत्यन्त स्वाभाविक स्थिति है। यह भी स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण सूत्र से इस सगीति के वर्णन को यदि अनुसतत न माना जाय तो इसका वहुत-सा अश निरर्थक एव अप्रासगिक हो जाता है। सगीति की ओर पुराण का दृप्टिकोण यह सूचित करता है कि वह सर्वमान्य नही हुई थी। यह भी स्वाभाविक है कि परिनिर्वाण के वाद को पहली वर्षा मे समस्त सघ का एकत्र होना कठिन रहा होगा और जो भिक्षु वहाँ नही आ पाये थे एव जिन्होने स्वय तथागत से उपदेश ग्रहण किया था, उन्होने अपनी स्मृति को ही प्रधान माना हो। कदाचित् इस सगीति मे प्रातिमोक्ष-सदृश कुछ प्रधान विनय के नियमो का एव ब्रह्मजाल एव श्रामण्यफल सदृश कुछ प्रधान सूत्रो का सगायन हुआ था, किन्तु धर्म-विनय का कोई एक सर्वसम्मत अथवा सर्वग्राही सस्करण प्रस्तुत नही हो पाया।

विनय का संपादन

वर्तमान समय मे निम्नोक्त सम्प्रदायो के विनय उपलब्ध होते है—स्थविरवादियों का विनय पालि मे, सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक एव महासाघिको का चीनी मे, तथा मूलसर्वास्तिवादियो का चीनी और तिब्बती अनुवादो मे तथा अशत मूलसस्कृत मे। इनमे सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक और स्थविरवादियो के विनयो मे बहुत सादृश्य है। यदि क्रम, विस्तार एव कुछ अभिव्यक्ति–भेद को छोड दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इन विनयो मे वस्तुगत अभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी एक मूल विनय की विकसित शाखाएँ है। फ्राउवालनर महोदय ने यह मत प्रकट किया है कि सम्भवत अशोक ने जिन भिक्षुओ को विभिन्न प्रदेशो मे धर्म के प्रचार के लिए भेजा था और जिन्होने उन प्रदेशो मे सघ के आवास स्थापित किये थे, उन्ही मे इन सम्प्रदायो का उदय हुआ। अतएव सबको एक ही मूल की शाखाएँ मानना उचित होगा"।

सर्वास्तिवादियो का विनय चीनी भाषा मे कुमारजीव, पुण्यत्रात एव धर्मरुचि ने ईसवीय ४०४–४०५ मे अनूदित किया था। इस विनय के दो भाग है—विभग एव विनयवस्तु। विनयवस्तु भिक्षु-विभंग एव भिक्षुणी-विभग के बीच मे डाल दिया गया है, जैसा कि महासाघिको के विनय मे भी पाया जाता है। विनयवस्तु के भी दो भाग है—विनय-महावस्तु एव विनय-क्षुद्रकवस्तु। यह स्मरणीय है कि पालि विनय मे विनयवस्तु के स्थान पर स्कन्धक शब्द का प्रयोग किया गया है यद्यपि पालि विनय में विनयवस्तु नाम अज्ञात नही था। चुल्लवग्ग के बारहवे सप्तशतिकास्कन्धक मे चाम्पेयस्कन्धक के स्थान पर चाम्पेयक-विनयवस्तु का उल्लेख इस बात का प्रमाण है। विभग को तिब्बती अनुवाद मे प्रातिमोक्षभाष्य कहा गया है।

धर्मगुप्तको के विनय का काश्मीरक बुद्धयशस् एव चूफोनियन ने ईसवीय ४०८ मे चीनी भाषा मे अनुवाद किया। महीशासक विनय से उसका घनिष्ठ साम्य है। उदाहरण के लिए, इन्ही दोनो विनयो मे चीवरवस्तु के साथ विरूढक के द्वारा शाक्यो का विनाश वर्णित किया गया है। महीशासको का विनय फाहियन सिंहल से लाये थे और काश्मीरक बुद्धजीव ने उसका ४२३-४२४ ईसवीय मे चीनी अनुवाद किया था। इस विनय की अवस्था अपेक्षाकृत अपूर्ण और खंडित है। पालि विनय महेन्द्र एव संघमित्रा के साथ भारत से सिंहल पहुँचा था एव उस पर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के आधार पर आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवी शताब्दी के आरम्भ मे समन्तपासादिका नाम

३१–३०–पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, दि अलियेस्ट विनय इत्यादि।

की अट्ठकथा लिखी थी। इसमे प्रातिमोक्ष सूत्रो को पृथक् नही किया गया है, भिक्षु-विभग को महाविभग कहा गया है एव परिवार नाम से दोनो विभगो का एक आलोचनात्मक सक्षेप भी जोड़ दिया गया है। मूलसर्वास्तिवादियो के विनय का ई–चि ने ईसवीय ७०३-१० मे चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया, किन्तु यह अनुवाद अपूर्ण था। केवल इसी विनय का तिब्बती मे पूर्ण अनुवाद उपलब्ध होता है। 'गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स' नाम की ग्रन्थमाला मे मूलसर्वास्तिवादी विनय का वहुत-सा अश मूल सस्कृत मे प्रकाशित हुआ है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मूलसर्वास्तिवादी विनय मे बुद्ध के जीवन-चरित का वृत्तान्त एक साथ अन्त मे दिया गया है एव उनके प्रारम्भिक जीवन का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। महासघिको के विनय की पाडुलिपि फाशियन पाटलिपुत्र से चीन लाये थे एव वुद्धभद्र के साथ उन्होने स्वय उसका चीनी अनुवाद ४१६ ई० में प्रस्तुत किया था। अन्य विनयो से इसमें भेद अपेक्षाकृत अधिक है।

विनय की उत्पत्ति और विकास के विषय मे ओल्देन्वर्ग ने यह मत प्रकट किया था कि प्रातिमोक्ष, एव स्कन्धको मे उपलब्ध कुछ कर्मवाचाओ का उद्गम सबसे पहले मानना चाहिए। इसके अनन्तर निरुक्तिप्रधान प्रातिमोक्ष के विभग को मानना चाहिए। कथाएँ और इतिहास जो कि इस समय विभग मे उपलब्ध होते है और भी वाद मे विकसित हुए होगे। चुल्लवग्ग के अतिम दो स्कन्धक इनके पश्चात् माने जाने चाहिए एव सबसे वाद मे परिवार का सयोजन स्वीकार होना चाहिए। इस प्रकार विनय का विकास पाँच अवस्थाओ मे वताया गया है[३२]। इस विषय पर फ्राउवालनर महोदय ने अधिक विचार-पूर्वक मतान्तर प्रकट किया है[३३]। उनका कहना है कि न केवल प्रातिमोक्ष अपितु विभग मे आयी हुई अनेक कथाएँ तथा अर्थवर्गीय सूत्र आदि कुछ सन्दर्भ अत्यन्त प्राचीन थे एव इनके आधार पर परिनिर्वाण के प्राय सौ वर्ष वाद मूलक स्कन्ध का एक समग्र-रचना के रूप मे सपादन हुआ। इस मूल स्कन्धक के प्रणेता ने परम्परा प्राप्त वैनयिक नियम एव तत्सम्वन्धित कथाओ के आधार पर एक विशिष्ट क्रमयुक्त एव रीतिवद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस मूलस्कन्ध के प्रारम्भ एव अन्त मे तथागत के जीवनचरित के अश थे एव उनकी जीवनी के अन्तर्गत विभिन्न अवसरो का उल्लेख करते हुए वैनयिक नियमो का प्रतिपादन किया गया था। महापरिनिर्वाण सूत्र इस मूल स्कन्धक का अन्तिम भाग था

३२–ओल्देन्वर्ग (पी० टी० एस० में सं०) विनयपिटक, जि० १, भूमिका, एस० वी० ई० जि० १, भूमिका।

३३–पूर्व०।

एव उसके साथ प्रथम सगीति की कथा अनुसतत थी। द्वितीय सगीति का वर्णन समसामयिक घटना का वर्णन है एव उसे एक परिशिष्ट के रूप मे माना जाना चाहिए। निकायभेद के अनन्तर इसी मूल स्कन्धक के आधार पर साम्प्रदायिक विनयो की रचना हुई। इसी कारण उनमे मौलिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है विनय के दो मुख्य भाग हैं—विभग एव स्कन्धक स्कन्धक के प्रधान प्रकरण विभिन्न विनयो मे कुछ आख्याभेद, क्रमभेद एव विभाग-भेद के साथ उपलब्ध होते हैं। इससे भी उपर्युक्त सम्भावना पुष्ट होती है। यह स्मरणीय है कि ललितविस्तर मे तथा महावस्तु मे शाक्यमुनि की जीवनी, उनके जन्म से प्रारम्भ कर उनके प्रारम्भिक धर्म प्रचार तक दी गयी है। यह सम्भव है कि मूल स्कन्धक मे ऐसा रहा हो, किन्तु पालि विनय मे बुद्ध चरित सम्बोधि से धर्म-चक्र-प्रवर्तन तक दिया गया है। इस भूमिका के अनन्तर प्रव्रज्या, पोषध, वर्षावास एव प्रवारणा के सम्बन्ध मे स्कन्धको अथवा वस्तुओ की उपलब्धि होती है। ये चार प्रकरण सघ मे प्रवेश एव उसके प्रमुख सामूहिक कार्यो को नियमित करते हैं। इनके अनन्तर चर्मवस्तु, भैषज्यवस्तु, चीवरवस्तु एव कठिनवस्तु मे भिक्षुओ के उपयोगी जूते, कपडे, दवाइयो आदि का नियमन है[३४]। तदनन्तर कोशाम्बकवस्तु, कर्मवस्तु, पाडुलोहितक वस्तु, पुद्गलवस्तु, पारिवासिकवस्तु, पोषध स्थापनवस्तु, शमथवस्तु, सघभेदवस्तु, शयनासनवस्तु, आचारवस्तु, क्षुद्रकवस्तु एव अन्त मे भिक्षुणीवस्तु का स्थान है[३५]। इस प्रकार लगभग बीस प्रकरणो मे स्कन्धक निष्पन्न होता है। दोनो सगीतियो का विवरण इन बीस स्कन्धको अथवा वस्तुओ के अनन्तर रखना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पहली सगीति का विवरण महापरिनिर्वाण के वर्णन का अतिम भाग था।

'विनय' का युग—निर्वाण की प्रथम शताब्दी में संघ—उपलब्ध विनयपिटक में बुद्धाब्द की प्रथम शती मे सघ की अवस्था का सजीव चित्र उपलब्ध होता है। श्रोण कोटिकर्ण की कथा मे सद्धर्म की दृष्टि मे प्रत्यन्त जनपदो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—पूर्व मे कजंगल नाम का निगम जिसके बाद बडे साखू के जगल हैं, उसके परे प्रत्यन्त जनपद हैं। पूर्व-दक्षिण दिशा मे सलल्वती नाम की नदी है, दक्षिण दिशा में

३४—यह सर्वास्तिवादी विनय का क्रम है। महासांघिक और पालि विनयों में कुछ भेद है।

३५—विभिन्न सम्प्रदायों के विनयों में क्रमभेद के लिए द्र०—फाउवाल्नर, पूर्वो० पृ० ३, १७२ प्र०।

श्वेतकर्णिक नाम का निगम है, पश्चिम दिशा मे स्थूण नाम का ब्राह्मणग्राम है, उत्तर दिशा मे उशीरध्वज नाम का पर्वत है। इस वर्णन से सद्धर्म की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का सकेत मिलता है। विहार एव उत्तर प्रदेश मे सद्धर्म विकसित प्रतीत होता है। इनके बाहर के प्रत्यन्त जनपदो मे, जैसे कि अवत दक्षिणापथ मे, सघ के लिए कुछ विशेप नियम प्रवर्तित किये गये। इन प्रदेशो मे केवल पाँच भिक्षुओ के गण से उपसम्पदा करनी विहित थी एव भिक्षुओ को 'एकपलाशिका' उपानह् की अनुज्ञा थी[३६]। नित्य स्नान भी उनको अनुमत था। अवति-दक्षिणा-पथ मे मेपचर्म अजचर्म, एव मृगचर्म के आस्तरणो की अनुमति दी गयी थी। चीवर-पर्याय भी अनुमत था। कहा गया है कि श्रोण कोटि-कर्ण के द्वारा महाकात्यायन के अनुरोध पर तथागत ने ही इन अपवादो का प्रवर्त्तन किया था, किन्तु सम्भवत यह परिनिर्वाण के बाद की अवस्था का चित्र है। दूसरी सगीति के विवरण का विस्तृततर भूगोल इससे अनुमेय है कि वहाँ अवन्ति और मध्यम जनपदो का भेद विगलित हो गया है एव मध्यदेश के अन्दर भी सघ मे पूर्वदेशीय और पश्चिमदेशीय आवासो का भेद प्रकट हो गया है।

बौद्ध सघ अनेक सघारामो एव विहारो मे विभक्त था जिनकी अलग-अलग सीमाएँ थी। सीमाए प्राय तीन योजन से अधिक नही होती थी एव प्राकृतिक चिह्नो के द्वारा उनकी सूचना मानी जाती थी। प्रारम्भ मे भिक्षुओ के लिए कृत्रिम विहारो का निर्देश नही था और वे जगल, पहाड, गिरिकदरा, श्मशान एव खुले मैदान या खँडहरो या निर्जन स्थानो मे रहा करते थे, किन्तु उपासको की दानशीलता से एव वर्पावास के आग्रह से शीघ्र ही विविध आरामो एव विहारो का निर्माण प्रचलित हो गया। कहा जाता है कि पहले राजगृह के श्रेष्ठी ने संघ के लिए साठ विहार वनाये जिन्हे अतीता-नागत चातुर्दिश भिक्षु सघ के लिए प्रतिष्ठित किया गया। इस अवसर पर तथागत ने पाँच प्रकार के लयनो अथवा निवास-स्थानो की अनुमति सघ को दी—विहार, अड्ढ-योग (जिसे गरुड की तरह टेढा मकान बताया गया है), प्रासाद, हर्म्य एव गुहा। गुहा को चार प्रकार का कहा गया है—ईट की, पत्थर की, लकडी की, एव मिट्टी की। क्रमश विहारो का रूप और निर्माण अधिकाधिक परिष्कृत एव विकसित हो गया। प्रारम्भिक विहार कदाचित् वानप्रस्थो की पर्णशालाओ के सदृश थे, किन्तु पीछे इनका रूप परि-वर्तित हो गया। विहारो के चारो ओर आराम होते थे जोकि बाँस अथवा काँटो की वाड अथवा खाई से सीमित होते थे। इन वाडो मे फाटक और तोरण इत्यादि वनते

३६—द्र०—गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स, जि० ३, भा० ४, पृ० १८९।

थे। चारो तरफ की दीवार अथवा प्राकार का भी उल्लेख मिलता है। प्राकार के द्वार पर नौवतखाने की तरह मे कोष्ठक अथवा कोठा होता था। छोटे विहारो के एक ओर तथा वडे विहारो के बीच मे गर्भगृह अथवा कोठरियाँ बनती थी। ये कोठरियाँ तीन प्रकार की कही गयी है—शिविकागर्भ, नालिकागर्भ एव हर्म्यगर्भ। परिवेण अथवा आँगन मे वालू एव पत्थर का फर्श वनाया जाता था। भोजन के लिए पृथक् उपस्थानशाला होती थी, पानी के लिए, स्नान के लिए एव निवृत्त होने के लिए अलग शाखाएँ अथवा कुटियाँ बनती थी। पाँच प्रकार की छतो का उल्लेख है—ईटो की, शिला की, चूने की, तिनको की, एव पत्तो की। दीवारो पर और फर्श पर सफेद, काला और गेरुआ रग रहता था। स्त्री-पुरुष के चित्रो का निषेध था किन्तु माला, लता, मकरदन्त आदि की अनुमति थी। सीढियो, अलिन्द, प्रघण, प्रकुड्य आदि का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध भिक्षुओ के लिए नग्नता का निषेध था जोकि विशेष रूप से आजीवको का लक्षण था। ऐसे ही उनके लिए ब्राह्मणो के विदित कुश-चीर, वल्कल-चीर, एव मृग-छाल का निषेध था। अन्य तीर्थिको मे विदित फलक-चीर, केश-कम्बल, उल्लू के पख के अथवा अर्कनाल के कपडे भी वौद्ध भिक्षुओ को निषिद्ध थे। विनय की अट्ठकथा के अनुसार तथागत की वद्धत्व-प्राप्ति से वीस वर्ष तक सव भिक्षु पामुकुलिक रहे ओर किसी ने गृहपति-चीवर का धारण नही किया। चीवर-स्कन्धक के अन्तर्गत जीवक-चरित मे जीवक के द्वारा तथागत और भिक्षुसघ का पामुकुलिक के रूप मे वर्णन किया गया है। जीवक ने वुद्ध से राजा प्रद्योत के द्वारा भेजे गये शिवि के दुशाले के जोडे को स्वीकार करने के लिए तथा भिक्षु-सघ को गृहस्थो के दिये चीवरो के स्वीकार करने की अनुमति के लिए अनुरोध किया। वुद्ध भगवान् ने यह अनुरोध मान लिया और भिक्षुओ को अनुमति दी कि वे चाहे पासुकुलिक रहे, चाहे गृहपति, चीवर का धारण करे। पीछे देवदत्त के अनुरोध करने पर भी उन्होने सव भिक्षुओ को पामुकुलिक होने पर मजवूर नही किया। उन्हें पहिनने के लिए तीन चीवरो का विधान था जो कि उत्तरासग, अन्तर्वासक, एव सघाटी कहे जाते थे। छ प्रकार के वस्त्रो के चीवर वनाये जा सकते थे—क्षौम, कार्पास, कौशेय, कम्वल, सन ओर भग। प्रावरण की भी भिक्षुओ को अनुमति थी चाहे वे कौशेय अथवा कोजव के हो। कम्वल की भी अनुमति थी। चीवरो को उपासको से लेने, सम्हालने एव भिक्षुओ मे वाँटने के लिए चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर,निधायक, एव चीवर-भाजक नाम के पदो मे योग्य भिक्षुओ को चुना जाता था। चीवरो को रखने के लिए सघाराम मे एक भाण्डागार होता था और उससे सम्वन्धी एक भाण्डागारिक

उपासको से प्राप्त वस्त्र को भिक्षु-चीवर के रूप मे काटने, सीने और रगने का विधान उपलब्ध होता है। आसनो के लिए प्रत्यस्तरण, रोगियो के लिए कौपीन, वर्पिक-शाटिका, मुँह पोछने के लिए अँगोछा, एव थैला आदि आवश्यक परिष्कार-वस्त्र का भी विधान प्राप्त होता है। इन कपडो मे जोड, पैवन्द, रफू आदि भी विदित थे। वर्पावास की समाप्ति पर सारे सघ की सम्मति से किसी भिक्षु को जो चीवर दिया जाता हे, उसे 'कठिन' कहा जाता है। विनय के अनुसार प्रव्रजित हुए चम्पा के श्रेष्ठिपुत्र श्रोण कोटिविंश के क्षत-विक्षत पैरो को देखकर तथागत ने भिक्षुओ को एकतल्ले के जूते पहिनने की अनुमति दी। वहुत तल्लो का जूता भी पहिना जा सकता था यदि उसे किसी ने पहिन कर छोडा हो। तत्कालीन समाज मे प्रचलित नाना प्रकार के जूतो का भिक्षुओ के लिए उल्लेखपूर्वक निषेध किया गया हे। नीरोग अवस्था मे आराम के अन्दर भी जूते का निपेध था। किन्तु रात के समय आराम मे भी उल्का, प्रदीप और दण्ड के साथ जूते का उपयोग भी अनुमत था। काठ की पादुका अथवा नाना ताड, घास, मूँज तृण आदि से वनी पादुकाओ का व्यवहार भिक्षुओ को अनुज्ञात नही था। उनके लिए आरोग्य की अवस्था मे जूता पहिने गाँव मे प्रवेश करना मना था। यद्यपि गृहस्थो की चमडे से मढी चारपाइयो अथवा चौकियो मे भिक्षु वैठे सकते थे, वहाँ लेटना उनके लिए निषिद्ध था। चमड़े के लोभ से पशु-हिंसा प्रेरित करना भिक्षुओ के लिए वडा अपराध था चर्म का धारण, विशेप रूप से गाय के चर्म का धारण निषिद्ध था, किन्तु प्रत्यन्त जनपद मे चर्ममय आस्तरण का उपयोग अनुमत था।

भिक्षुओ को साधारणतया केवल भिक्षा मे प्राप्त अन्न से ही निर्वाह करना होता थे यद्यपि निमन्त्रण एव स्वय उपनत दान का भी वे स्वीकार कर सकते थे। आराम के भीतर रखे, भीतर पकाये और स्वय पकाये का खाना उनके लिए निपिद्ध था। दुर्भिक्ष मे इस नियम का अपवाद किया जा सकता था। निर्जन वन-प्रदेश मे फलो का स्वय ग्रहण किया जा सकता था। अरण्य और पुष्करिणी की उपज, यथा कमल-नाल, भोजन के अनन्तर भी खायी जा सकती थी। नये तिल और शहद की भी उसी प्रकार अनुमति थी। भिक्षुओ के लिए गुड मूँग और नमकीन सौवीरक या छाछ भी विहित थे। ऐसे मत्स्य और मास का खाना निपिद्ध था जिसमे अपने लिए की गयी हिंसा दृष्ट, श्रुत अथवा परिशकित हो। हाथी, घोड़ा, कुत्ता, साँप, सिंह, वाघ, भालू एव लकडवग्घे के मास का भक्षण सर्वथा निपिद्ध था। खिचडी न केवल अनुमत अपितु प्रशस्त थी। लड्डू (मधुगोलक) भी विहित था। विहार मे प्राप्त खाद्यो के रखने के लिए एक विशेप स्थान होता था जिसे कल्प्य-भूमि कहा जाता है। भिक्षुओ के लिए पाँच गोरसो

का ग्रहण अनुमत था—दूध, दही, मठा, मक्खन और घी। निर्जन मार्ग मे पाथेय का निषेध नही था। पाथेय के रूप मे तडुल, मूँग, उडद, नमक, गुड, तेल अथवा घी का ग्रहण किया जा सकता था। भिक्षु फलो के रस का विकाल मे भी पान कर सकते थे।

भैषज्य के रूप मे पहले केवल गोमूत्र का विधान था। पीछे घी, मक्खन, तेल, मधु, और खाड की भी अनुमति भिक्षुओ को दी गयी। इस रूप मे इनका ग्रहण पूर्वाह्ण और अपराह्ण दोनो मे ही किया जा सकता था। अनेक पशुओ की चर्बी का भी दवाई के रूप मे उपयोग किया जा सकता था। नाना मूल, कषाय, पर्ण, फल, गोद, और लवण की औषधो का प्रयोग अनुमत था। अनेक चर्म-रोगो मे चूर्ण-रूप औषधे विहित थी। दवा बनाने के लिए खरल-बट्टा, ओखली और मूसल, एव चलनी का उपयोग किया जा सकता था। भूत-प्रेत के द्वारा आवेश होने पर कच्चे मास और कच्चे खून का सेवन निषिद्ध नही था। आँख के रोग के लिए अजन, अजन पीसने की सामग्री, अजनदानी, सलाई, एव सलाईदानी का उपयोग होता था। सिर के दर्द के लिए अनेक उपाय विहित थे—सिर मे तेल मलना, नस लेना, एव धूम-नेत्र से दवाई का धुँआ पीना। वात-रोग मे तेल पकाना अनुमत था। तेल-पाक मे आवश्यक होने पर अल्प-मात्रा मे मद्य डाली जा सकती थी। तेल को ताँबे, काठ और फल के तूँबे मे रखा जा सकता था। वात में विहित अनेक चिकित्साओ का उल्लेख प्राप्त होता है—स्वेद-कर्म, सम्भार-स्वेद, महा-स्वेद, भगोदक, उदककोष्टक एव सीग से खून निकालना। फटे पैरो मे मालिश अनुमत थी। फोडो मे चीर-फाड और मलहम-पट्टी विहित थी। साँप के काटने पर चार महाविकट खिलाये जाते थे—मल, मूत्र, राख और मिट्टी। विष की भी ऐसी ही चिकित्सा थी। साँप से बचने के लिए एक 'रक्षा' का पाठ भी विहित है।

भिक्षुओ के लिए लम्बे केश रखने का एव वाली, लटकन, कर्णसूत्र, कटिसूत्र, खडूआ, केयूर, हस्ताभरण, अगूठी आदि आभूषणो का निषेध था। आरोग्य मे कघी अथवा दर्पण का प्रयोग नही किया जा सकता था। मुख पर लेप, मालिश या चूर्ण का प्रयोग, या मैनसिल से मुख का अकित करना अथवा अगराग या मुखराग का प्रयोग निषिद्ध था। भिक्षुओ को केवल लोहे एव मिट्टी के पात्रो की अनुज्ञा थी। चीवर बनाने के लिए कची, सूई और नमनक (वस्त्र) की अनुमति थी। सूई, कैची, दवाई आदि रखने के लिए थैली का उपयोग होता था एव पानी छानने के लिए परिस्रावण तथा गडुए (धर्मकरक) की अनुमति थी। मच्छरो से बचने के लिए मसहरी का उपयोग विहित था। घडा झाडू, पखा, छाता, छीका और डडा—इनका भी आवश्यकता के अनुसार उपयोग किया जा सकता था।

पाँच प्रकार के सघो का निर्देश प्राप्त होता है—चार व्यक्तियो का भिक्षु-सघ जिसे चतुर्वर्ग कहते है, पचवर्ग, दशवर्ग, विशतिवर्ग, एव अतिरेकविशति वर्ग। चतुर्वर्ग भिक्षु-सघ उपसम्पदा प्रवारणा एव आह्वान—इन तीन कर्मो को छोड़कर, धर्म से समग्र हो, सभी कर्मों के करने योग्य है। पचवर्ग भिक्षुसघ आह्वान और मध्यम जनपदो मे उपसम्पदा को छोडकर अन्य कर्मो मे समर्थ है। विशतिवर्ग एव अतिविशति वर्ग भिक्षु-सघ सभी कर्मों के करने मे समर्थ माने जाते है। वर्ग आधुनिक 'कोरम' के समान है। भिक्षुणी शिक्षमाणा, श्रामणेरी आदि से भी वर्गपूर्ति करना अपूर्ण वर्ग से श्रेयस्कर बताया गया है। कर्मो के सम्बन्ध मे अनेक नियम विहित थे। उदाहरण के लिए, कुछ कर्म ज्ञप्तिद्वितीय कहे जाते थे, इनमे ज्ञप्ति के अनन्तर कर्मवाक्य कहे जाते थे। कर्म के लिए समागत भिक्षु सम्मुख होने मे एव आए हुए भिक्षुओ से उनके छन्द (मत) प्राप्त होते थे। कुछ कर्म ज्ञप्तिचतुर्थ कहे जाते थे। इनमे ज्ञप्ति के अनन्तर तीन कर्मवाक्य आवश्यक थे। इन नियमो के उल्लघन होने पर कर्म विनयविरुद्ध समझा जाता था। यदि कर्म-प्राप्त भिक्षु सब न आये हो और न उनके छन्द प्राप्त हुए हो तो कर्म को वर्गकर्म कहा जाता था। इसके विपरीत सब की उपस्थिति में एव मत के ज्ञात होने पर समग्रकर्म कहा जाता है। वर्गकर्म निषिद्ध था। सघ की समग्रता पर बहुत जोर दिया गया है। दो प्रकार की सघसामग्री का उल्लेख है—अर्थरहित, किन्तु व्यजनयुक्त, एव अर्थयुक्त तथा व्यजनयुक्त। जिस वस्तु से सघ मे विवाद उत्पन्न होता है अथच वस्तु का विना निर्णय किये सघ सामग्री करता है, उसे अर्थरहित किन्तु व्यजनयुक्त सघसामग्री कहा गया है। जिस वस्तु से सघ मे झगड़ा होता है उसके निर्णय के अनन्तर सघसामग्री अर्थयुक्त तथा व्यजनयुक्त कही जाती है।

सघभेद की प्रवृत्ति शाक्यपुत्रीयो में विशेष रूप से विद्यमान थी और इसका पहला प्रकाश तथागत के जीवन काल मे ही उपलब्ध होता है। देवदत्त, शाक्य, राजा भद्रिक, अनिरुद्ध आदि के साथ प्रव्रजित हुआ एव तपश्चर्या के द्वारा उसने कुछ सिद्धि प्राप्त की। देवदत्त की इच्छा थी कि तथागत के स्थान पर वह स्वय भिक्षु सघ का नेता बने। उसने पहले बुद्ध भगवान् से यह अनुरोध किया कि वे बूढे हो गये है, उन्हे आराम करना चाहिए और भिक्षुसघ को देवदत्त को दे देना चाहिए। तथागत ने इसका अस्वीकार किया और राजगृह के सघ मे देवदत्त का प्रकाशनीय कर्म किया गया। अर्थात् यह घोपित किया गया कि देवदत्त पहले और प्रकार का था, अब और प्रकार का है, उसके कर्मो का जिम्मेदार सघ नही है। देवदत्त ने अजातशत्रु को चमत्कार दिखला कर अपने पक्ष मे लिया एव उसके बहकाने से अजातशत्रु ने अपने पिता मगधराज श्रेणिक बिम्बि-

सार के वध का प्रयत्न किया तथा देवदत्त ने स्वय बुद्ध भगवान् को मारने के लिए अनुचर भेजे, किन्तु वे असफल रहे। इस पर देवदत्त ने गृध्रकूट पर्वत की छाया मे टहलते हुए गौतम पर एक बहुत बडी शिला फेकी जिसके एक टुकडे से उनके पैर से रुधिर बह निकला। इस प्रयत्न के भी असफल होने पर देवदत्त ने नालागिरि नाम का मत्त हाथी राजगृह मे भगवान् बुद्ध पर छोड़ा, किन्तु बुद्ध के मैत्री-चित्त से हाथी उनके सामने झुक गया। इन सब प्रयत्नो मे विफल होकर देवदत्त ने सघ मे फूट डालने का प्रयास किया। उसने कोकालिक, कटमोर, तिस्सक और खडदेवी-पुत्र समुद्रदत्त से कहा कि तथागत से पाँच वस्तुएँ मागी जायँ जिन्हे वे स्वीकार न करेगे। उनके न मानने पर हम भिक्षुओ को समझाकर अपने साथ अलग ले जायँगे। ये पाँच वस्तुएँ थी—भिक्षु आजीवन आरण्यक रहे, पिण्डपातिक रहे, पासकुलिक रहे, वृक्षमूलि रहे एव मत्स्यमास न खाये। भगवान् बुद्ध ने इन बातो की अनुमति नही दी। तब देवदत्त ने राजगृह मे प्रवेश कर घूम-घूमकर कहा कि श्रमण गौतम ने तपस्विता के इन प्रत्यक्ष नियमो का विरोध किया है, इन पाँच बातो की श्रमण गौतम अनुमति नही देते। यह सुनकर बहुत-से लोगो न सोचा कि देवदत्त सचमुच तपस्वी है जबकि श्रमण गौतम केवल बटोरू है, और यह सोच कर देवदत्त का अनुसरण किया। अनुयायियो का सग्रह कर देवदत्त ने भिक्षुसंघ से अलग ही अपना उपोसथ किया। उपोसथ मे उसने इस बात पर शलाका पकडवायी कि जिन लोगो को उसकी पाँच बाते पसन्द है वे शलाकाग्रहण करे। वैशाली मे पॉच सौ वज्जि-पुत्तक नये भिक्षुओ ने शलाकाग्रहण किया। उसपर देवदत्त सघभेद कर उन्ही पाँच सौ भिक्षुओ के साथ गयाशीर्ष चल दिया और वहाँ स्वय धर्मदेशना करने लगा। पीछे शारिपुत्र और मोद्गल्यायन वहाँ जाकर उन भिक्षुओ को वापिस ले आये। इस पर कहा जाता है कि देवदत्त के मुख से गर्म खून निकला।

विनय के उपर्युक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि देवदत्त के द्वारा सघभेद का प्रयत्न सर्वथा असफल हुआ था, तथापि तथ्य ठीक ऐसा नही है। शताब्दियो पीछे भी देवदत्त के अनुयायियो का उल्लेख प्राप्त होने से जान पडता है कि देवदत्त ने बुद्ध के समय मे ही अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की थी जो कि किसी न किसी रूप मे बहुत दिन तक रहा[३७]। इस वास्तविकता से सूचित आशका से ही सघ मे फूट डालना बहुत बडा अपराध बताया गया है।

नवागन्तुक भिक्षु के लिए अनेक नियम कहे गये है। उन्हे आराम मे प्रवेश करते

३७—श्वान्च्वांग, दे०—नीचे।

समय जूता खोलकर और उसे झाडकर हाथ मे ले लेना चाहिए, छाते को उतार कर और शरीर के चीवर को कधे मे ठीक तरह से करने के पश्चात् आराम मे प्रवेश करना चाहिए। जहाँ आवासिक भिक्षु उपस्थानशाला, मण्डप या वृक्षछाया मे आ-जा रहे हो वहाँ जाकर एक ओर पात्र-चीवर रखकर बैठना चाहिए और आवश्यक पानी छिडककर हाथ-पैर धोना चाहिए और जूता पोछना चाहिए। आगन्तुक को आवासिक भिक्षुओ का उचित अभिवादन करना चाहिए और फिर उनसे शयनासन विषयक एव अन्य आवश्यक बाते पूछनी चाहिए। आवासिक भिक्षुओ के लिए भी यह आवश्यक था कि वे आगन्तुक भिक्षु को आसन-पादोदक आदि दे, उनका उचित स्वागत करे, शयनासन आदि का प्रज्ञापन करे। यात्रा पर जाने के पहले भिक्षु को काठ-मिट्टी के बरतनो से सम्भाल कर, खिडकी-दरवाजो को बन्द कर, शयनासन के लिए पूछकर जाना चाहिए। पिण्डचारिक भिक्षु को बिना ठीक से वस्त्र धारण किये गाँव मे नही जाना चाहिए। घर के अन्दर शीघ्र प्रवेश नही करना चाहिए और न देर तक खडा रहना चाहिए। भिक्षा देने वाली स्त्रियो के मुँह की ओर नही देखना चाहिए। आरण्यक भिक्षुओ को समय से उठकर पात्र को थैले मे रख, कन्धे पर लटका तथा चीवर को कन्धे पर रख, जूता पहन कर निकलना चाहिए।

दूसरी संगीति—दूसरी सगीति की सूचना जिन अनेक मूल ग्रन्थो से प्राप्त होती है उनमे पालिविनयपिटक के चुल्लवग्ग एव सर्वास्तिवादी विनयक्षुद्रकवस्तु का स्थान मुख्य है। चुल्लवग्ग से ही परवर्ती पालि परम्परा निकली है। दूसरी ओर बुदोन और तारानाथ का विवरण विनयक्षुद्रकवस्तु पर आधारित है। भव्य, वसुमित्र, विनीतदेव एव श्वाच्वाग ने भी द्वितीय सगीति का वर्णन किया है, किन्तु भव्य, वसुमित्र और विनीतदेव महासाघिको के विनय-विरुद्ध कार्यो का उल्लेख नही करते। वे सघभेद को केवल महादेव की 'पाँच प्रतिज्ञाओ' से प्रादुर्भूत मानते है। कुछ अन्य परवर्ती ग्रन्थो मे भी द्वितीय सगीति के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जैसे कि महावस्तु अथवा मजुश्रीमूल-कल्प मे[३८]।

३८—द्र०—दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० २, पृ० ३० प्र०; सर्वास्तिवादी परम्परा के लिए द्र०—रॉकहिल, लाइफ ऑव बुद्ध, पृ० १७१—८०; ओबर-मिलर आइ० एच० क्यू० १९३२; वसुमित्र के विवरण का अनुवाद—मसुदा, ऑरिजिन एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव दि अर्ली इण्डियन बुद्धिस्ट स्कूल्स; भव्य के लिए द्र०—वालेज़र, दी सेक्तेन देस आल्तेन बुद्धिसमुस; बुदोन के

ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवत विनयपिटक का स्कन्धक नाम का भाग दूसरी सगीति के आस-पास रचा गया होगा। वस्तुत मूल स्कन्धक की रचना स्थविर-परम्परा के उल्लेख के साथ समाप्त हो गयी थी। यह अश प्रस्तुत पालि विनय मे उपलब्ध नही होता, किन्तु मूल ग्रन्थ मे सम्भवत रहा होगा। इस प्रकार मुख्य ग्रन्थ के समाप्त होने पर दूसरी सगीति का विवरण एक प्रकार से परिशिष्ट का जोडना है और इस प्रकार के परिशिष्ट का सयोजन उसमे वर्णित वृत्तान्त की तत्कालीन ख्याति के कारण ही समझा जा सकता है।[३९]

चुल्लवग्ग के इस अश की आख्या सप्तशतिका स्कन्धक है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है—उस समय परिनिर्वाण के १०० वर्ष बीतने पर वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षु इन १० वस्तुओ का प्रचार करते थे—'भिक्षुओ, शृ गि-लवण-कल्प विहित है, द्व्यगुलकल्प विहित है, ग्रामान्तर कल्प०, आवास कल्प०, अनुमत कल्प०, आचीर्ण कल्प०, अमथित कल्प०, जलोगीपान कल्प०, अदशक कल्प०, जातरूपरजत कल्प०।' इन १० बातो के ठीक-ठीक अर्थ दुर्बोध है। शृगि-लवणे-कल्प के अर्थ अनेक प्रकार से बताये गये है—"सीग मे नमक रखना, अथवा नमक बचा रखना, अथवा नमक बराबर अपने साथ रखना, अथवा नमक और अदरक अलग रख लेना।" द्व्यगुल-कल्प का एक स्थान पर अर्थ मध्याह्न के बाद जब छाया दो अगुल हो जाय तो भोजन करना बताया गया है। अन्य व्याख्या के अनुसार भोजन के अनन्तर दो उँगलियो से ऐसे भोजन को उठा लेना जोकि जूँठा नही था—यही इसका अर्थ करना चाहिए। तीसरे, ग्रामान्तर कल्प का एक अर्थ है दुबारा खाने के इरादे से गाँव को जाना। गाँव जाकर भोजन लाना लेकिन बने हुए भोजन के नियम का पालन करना—यह भी अर्थ बताया गया है। विहार से योजन अथवा योजनार्ध दूर होने पर यात्रा के समय भोजन करना, यह एक तीसरी व्याख्या है। आवास-कल्प का एक अर्थ यह किया गया है कि एक ही सीमा के अन्दर दूसरा उपोसथ करना। अन्य व्याख्या के अनुसार यह एक ही विहार मे पृथक् कर्मवाचना का समर्थन है। अनुमतिकल्प को कार्य करने के बाद अनुमति लेना, अथवा

इतिहास का ओवरमिलर ने तथा तारानाथ का शीफनेर ने अनुवाद किया है। मिनयेफ (पूर्व) तथा वासिलियेफ, देर् बुद्धिस्मुत, अभी भी उपयोज्य हैं। नवीन कृतियों में द्र०—फ्राउवालनर पूर्व०; बारो, ले० सेक्तबुद्धीक द पेति वेहीकल लामॉन, इस्त्वार द्‌ बुद्धीज्म आंवां, पृ० १३८ प्र०।

३९—फ्राउवाल्नर, पूर्व०।

गलत काम पहले कर लेना और पीछे सघ की अनुमति मागना, अथवा वर्ग मे पहले सघ से पृथक कर्म कर लेना तथा पीछे औरो की अनुमति मागना वताया गया है। आचीर्णकल्प का तात्पर्य उपाध्याय के आचार का अनुकरण करना अथवा प्रचलित ढग मे आचरण करना, अथवा अपने पिछले गृहस्थ जीवन के आचार का अनुकरण करना वताया गया है। अमथित-कल्प को मध्याह्न भोजन के वाद दही खा लेना, अथवा विना उवला दूव, दही और मक्खन मिलाकर खा लेना, अथवा भोजन के पश्चात् घी, शहद, दही और मक्खन मिलाकर खाना अथवा इसी का विकाल मे खाना, अथवा आधे दूध, आधे दही को भोजन के पश्चात् पीना वताया गया है। जलोगी कल्प का अर्थ अभी न चुवाई हुई अप्राप्त-मद्य ताड़ी पीना, अथवा दरिद्र स्थिति मे मद्य पीना, अथवा जलोगी-मद्य पीना, अथवा जोक की तरह से चूसकर शराव पीना वताया गया है। अदशक कल्प के अर्थ वताये गये है—विना किनारी के आसन या चटाई का उपयोग, अथवा ऐसे नये आसन का उपयोग जिसमें पुराने आसन का कुछ भाग नये के किनारे के तौर पर नही लगाया गया है, आसन को विना जोड-जाड़ के वनाना, आसन वनाने मे नियत नाप न रखना। जातरूपरजत-कल्प के अर्थ सोना-चाँदी भिक्षा मे ग्रहण करना अथवा सोना-चाँदी और अन्य वहुमूल्य वस्तुओ का या द्रव्य का ग्रहण करना वताये गये है। तिव्वती विवरण मे इन दस वस्तुओ से भिन्न कुछ अन्य वस्तुएँ भी वतायी गयी है जैसे "अलल' का उच्चारण करना, भोजन मे अभिरति, एव जमीन को खोदना या दूसरे से खोदवाना। महीशासक-विनय मे एक और नयी वात का उल्लेख है—'वैठना और खाना", यद्यपि इसका ठीक-ठीक अर्थ नितान्त दुर्वोध है[४०]।

इन दस विनय-विरुद्ध वस्तुओ मे अधिकांश आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त गौण प्रतीत होती है, किन्तु अन्य धर्मो के इतिहास से भी यह सुविदित है कि धार्मिक विवाद और सगीतियाँ वहुधा ऐसे ही छोटे-वड़े आचार अथवा अभिव्यक्ति के भेद से उत्पन्न होते रहे है। श्रीमती रीज़डेविड्स का कहना है कि वैगाली के भिक्षुओ के इस विवाद मे वस्तुत एक प्रकार से प्रादेशिक आवासो एव व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का दावा अर्न्तनिहित है। उनका यह भी कहना है कि उस समय की आर्थिक स्थिति देखते हुए सोना-चाँदी के उपयोग को महत्त्वशाली नही माना जा सकता और अतएव उनका ग्रहण भी महत्त्व का न रहा होगा। कुछ अन्य विद्वानो ने भी इस विनय-विरोध का कारण

४०—तु०—मिनयेफ, पूर्व० पृ० ४३—५८, दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ३५—४०; पा-चाउ, पूर्व०, पृ० २४—२६।

वैशाली के भिक्षुओं की गणतन्त्रतात्मक दृष्टि को माना है एवं यह कहा है कि वज्जिपुत्तक भिक्षु अपने को अर्हन् कहने वाले बूढ़े भिक्षुओं की सर्वथा आज्ञाकारिता के लिए तत्पर नहीं थे । इतना तो स्पष्ट है कि स्थविर भिक्षु नियमों में अधिक कट्टर थे और वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षु आचार का अपेक्षाकृत कम संयत (दृष्टिभेद से, उदार) आदर्श उपस्थित करते थे । भोजन एवं भिक्षा सम्बन्धी शृ गिलवण-कल्प, द्वयंगुल०, ग्रामान्तर०, असथित०, जलोगी० एवं जातरूपरजत० से यह स्पष्ट है । अनुमतकल्प, एवं आचीर्ण-कल्प आचार में अत्यधिक स्वाधीनता एवं अनियम के कारण हो सकते थे ।

चुल्लवग्ग के अनुसार आयुष्मान् यश ने वैशाली में उपोसथ के दिन वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को उपासकों से संघ के लिए कार्षापण, अर्धकार्षापण, पादकार्षापण, अथवा माशक माँगते हुए देखा । आयुष्मान् यश के विरोध करने पर वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने उनका प्रतिसारणीय कर्म करने का निश्चय किया । यश ने नियमत- अनुदूत माँगा और उसके साथ वैशाली के उपासकों के समक्ष अपने पक्ष का प्राचीन सदर्भों से उद्धरण देते हुए समर्थन किया । इस पर वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने आयुष्मान् यश का उत्क्षेपणीय कर्म करना निश्चित किया । इस पर यश कौशाम्बी चले गये । वहाँ से उन्होंने पावा-निवासी एवं अवन्ति-दक्षिणापथ के निवासी भिक्षुओं के पास दूत भेजा कि वैशाली में अधर्म हो रहा है, उसका निवारण होना चाहिए । आयुष्मान् सम्भूत शाणवासी जो कि अहोगंग पर्वत पर वास करते थे इस विवाद-शमथ मे भाग ग्रहण करने के लिए राजी हुए । वहीं अहोगंग पर्वत पर पावा के भी छ भिक्षु एकत्र हुए और अवन्ति दक्षिणापथ के ८८ भिक्षु आये । सबने सोरेय्य में वास करने वाले आयुष्मान् रेवत को अपने पक्ष में संग्रह करने का संकल्प किया । आयुष्मान् रेवत इससे बचने के लिए सोरेय्य से संकाश्य चले गये, सकाश्य से कान्यकुब्ज, कान्यकुब्ज से उदुम्बर, , उदुम्बर से अर्गलपुर और वहाँ से सहजाति । सहजाति मे जाकर भिक्षु उन्हें पकड़ पाये ।

आयुष्मान् यश ने आयुष्मान् रेवत से वैशाली मे प्रचारित १० वस्तुओं का उल्लेख किया एवं पूछा कि वे विहित हैं अथवा नहीं । रेवत ने उन वस्तुओं के अर्थ की जिज्ञासा प्रकट की । आयुष्मान् यश ने उनको विवादास्पद १० वस्तुओं के अर्थ बताये । रेवत ने उन सब कल्पों को निषिद्ध ठहराया एवं इस बात के लिए सहमत हुए कि वैशाली में उनके प्रचार का विरोध किया जाय । दूसरी ओर वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने यह सुनकर कि यश काकंडकपुत्त अपने समर्थन के लिए पक्षसंग्रह कर रहे हैं, प्रतिपक्ष-

४१—तु०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५५९—६० ।

सग्रह का प्रयत्न किया। वे भी आयुष्मान् रेवत को अपनी ओर करने के लिए वहुत-से साज-सामान लेकर उनके पास गये। पात्र, चीवर, निपीदन, सूचीघर, कायबन्धन, परिश्रावण, धर्मकरक आदि लेकर नाव से वज्जिपुत्तक भिक्षु सहजाति पहुँचे। वज्जिपुत्तको के कहने पर भी आयुष्मान् रेवत ने उनसे श्रमण-परिष्कार का ग्रहण नही किया। आयुष्मान् रेवत का एक २० वर्ष का उत्तर नामक भिक्षु सेवक था। वज्जिपुत्तको के वहुत कहने पर उसने एक चीवर ग्रहण किया और इस वात पर राज़ी हुआ कि सघ के बीच मे यह कह दे कि पूर्वी जनपदो मे बुद्ध भगवान् उत्पन्न होते है, वहाँ के भिक्षु धर्मवादी है, पावा के अधर्मवादी। आयुष्मान् उत्तर ने आयुष्मान् रेवत से भी यह कहने के लिए निवेदन किया, किन्तु उन्होने स्वीकार नही किया। विवाद के निर्णय के लिए वैशाली प्रस्थान किया गया। उस समय आयुष्मान् आनन्द के शिष्य सर्वकामी नामक सघ-स्थविर १२० वर्ष की अवस्था के थे और वैशाली मे रहते थे। वे भी आयुष्मान् यश के पक्ष मे हो गये।

विवाद के निर्णय के लिए सघ के एकत्र होने पर वहुत समय तक वहस होती रही। अन्त मे विवाद के निर्णय के लिए आयुष्मान् रेवत ने एक उद्वाहिका के चुनाव के लिए ज्ञप्ति प्रस्तुत की। चार पूर्वी और चार पश्चिमी भिक्षु चुने गये। पूर्वी भिक्षुओ मे आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साढ, आयुष्मान् क्षुद्रशोभित और आयुष्मान् वार्षभग्रामिक एव पश्चिमी भिक्षुओ मे आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् सभूत शाणवासी, आयुष्मान् यश का कडक-पुत्त, और आयुष्मान् सुमन चुने गये। आयुष्मान् अजित आसन-प्रज्ञापक नियुक्त हुए, एव वालुकाराम मे विवाद के निर्णय के लिए उद्वाहिका की वैठक हुई। आयुष्मान् रेवत ने आयुष्मान् सर्वकामी से दसो वस्तुओ के विषय मे प्रश्न किया एव उन सवको अविहित एव विनयविरुद्ध ठहराया। यह निर्णय समस्त सघ ने अनुमोदित किया। कहा जाता है कि इस विनय सगीति मे ७०० भिक्षु उपस्थित थे।

निकाय भेद

उद्गम—दीपवस की परम्परा के अनुसार वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओ ने द्वितीय सगीति मे सघ के निर्णय को स्वीकार नही किया और उन्होने स्थविर अर्हतो के विना एक अन्य सभा की एव वहाँ अपने मत के अनुकूल दूसरा निर्णय किया। यह सभा महासघ अथवा महासगीति कही गयी। इसमे १०,००० भिक्षु एकत्र हुए। उन्होने विनय और पाँच निकायो मे सूत्रो का क्रम और अर्थ वदल दिये, कुछ सन्दर्भ निकाल दिये, एव कुछ अपने रचित सन्दर्भो का समावेश कर दिया। उन्होने परिवार, पटिसमिदामग्ग,

निद्देश, कुछ जातक, एव अभिधम्म के ६ ग्रन्थो का प्रामाण्य अस्वीकार किया। यहाँ पर स्मरणीय है कि ये ग्रन्थ वस्तुत परवर्ती और मूल सद्धर्म की दृष्टि से अप्रामाणिक है।

यह विचारणीय है कि दूसरी सगीति के विवरण मे महासघिको के अभ्युदय का उल्लेख किसी विनय मे उपलब्ध नही होता, न थेरवादियो के न महासघिको के। अत सघभेद को वैशाली की सगीति का परवर्ती मानना ठीक होगा। वैशाली की सगीति को सघभेद की आवश्यक भूमिका मानने पर महावस (५ ३-४) की भी सगति हो जाती है। महावस (४ ७) के अनुसार इस समय मगध का राजा कालाशोक था। एक अन्य परम्परा, जिसका वसुमित्र, भव्य और विनीतदेव ने सरक्षण किया है, यह बताती है कि पहला सघभेद विनय की इन १० वस्तुओ के कारण न होकर महादेव की पाँच वस्तुओ के कारण था[४२]। महादेव के सवध मे अभिधर्म-महाविभाषाशास्त्र मे यह सूचना उपलब्ध होती है कि वे मथुरा मे एक ब्राह्मण व्यापारी के लड़के थे। पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम-विहार मे उन्होने उपसम्पदा पायी थी। वहाँ वे आवास के प्रधान हो गये एव स्थानीय राजा उनका मित्र और समर्थक। उसकी ही सहायता से महादेव ने अपनी पाँच वस्तुएँ प्रचारित की[४३]। श्वाच्वाग का कहना है कि अशोक ने एक भिक्षु-सभा एकत्र की जिसमे '५०० अर्हत् तथा महादेव के नेतृत्व मे ५०० विरोधी भिक्षु निमन्त्रित थे। अन्यत्र उन्होने कहा है कि काश्यप की सगीति से वहिष्कृत १०००० भिक्षुओ ने एक महासघ रचा तथा उसमे त्रिपिटक के अतिरिक्त सयुक्त पिटक एव धारणीपिटक का भी सग्रह किया[४४]। तारानाथ के अनुसार इसी समय वत्स ब्राह्मण ने कश्मीर से आत्मवाद का प्रचार कर सघभेद किया[४५]। श्वाच्वाग ने दस वतुओ एव पाँच वस्तुओ, दोनो का ही उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भिक्षु सगठन और सिद्धान्त दोनो मे ही पुरानी कट्टर परम्परा से अलग चले गये थे एव वैशाली की विनयपरक दूसरी सगीति के वाद पाटलिपुत्र मे एक महासगीति हुई जिसके फलस्वरूप मूल शाखा से अलग महासाघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

महादेव के द्वारा प्रचारित पाँचो वस्तु अर्हद्विषयक है[४६]। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हतो की सगीति मे पराजित होकर महासघिको ने अर्हतो पर ही आक्रमण किया।

४२—तु०—नलिनाक्ष दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ३२।
४३—वाटर्स, जि० १, पृ० २६७—६८।
४४—बील, श्वाँच्वांग, पृ० १९०, ३८०—८१।
४५—तारानाथ (अनु० शीफनर) पृ० ५३—५५।
४६—द्र०—पूसें, जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० ४१३ प्र०।

इन 'वस्तुओ' मे पहली यह है कि अर्हतो के लिए भी राग सभव है, दूसरी, अर्हतो मे भी अज्ञान सम्भव है, तीसरी, अर्हतो मे भी सशय हो सकता हे, चौथी, अर्हत् भी दूसरे के द्वारा ज्ञान पा सकते है, पॉचवी, सहसा शब्दोच्चारण करके मार्ग की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हत् शब्द से यहाँ प्राचीन अर्थ मे वास्तविक अर्हत् अभिप्रेत न होकर वे व्यक्ति अभिप्रेत है जो कि अपने को अर्हत कहते थे, किन्तु जिनके विषय मे राग, अज्ञान, सशय आदि की सम्भावना का सब लोगो के लिए अभाव नही था। महादेव का आविर्भाव १३७ बुद्धाब्द मे नन्द और महापद्म के समय मे बताया गया है। इस सघभेद को अशोककालीन भी कहा गया है, किन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक प्रतीत होती है।[४७]

दूसरी सगीति के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय सद्धर्म अवन्ती से वैशाली और मथुरा से कौशाम्बी तक निश्चय ही फैला हुआ था। भिक्षुओ मे पूर्व और पश्चिम के सामान्य भौगोलिक भेद के साथ वैनयिक और सैद्धान्तिक भेद उत्पन्न हो गये थे। पूर्वी भिक्षुओ के केन्द्र वैशाली और पाटलिपुत्र थे। इसी वर्ग मे महासाघिको का प्रारम्भिक विकास निष्पन्न हुआ। यह स्मरणीय है कि वैशाली वज्जियोका प्रधान नगर था और वज्जियो की स्वातन्त्र्य-निष्ठा प्रसिद्ध है, तथा विनय के बन्धनो की ओर एव स्थविरो की ओर उनके आदर-शैथिल्य की सूचना पहले भी उपलब्ध होती है। पश्चिमी भिक्षुओ के केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एव अवन्ती थे। कालान्तर मे मथुरा एव उत्तरापथ, विशेषतया कश्मीर और गन्धार, मूल सर्वास्तिवादी तथा सर्वास्तिवादी सम्प्रदायो के विकास-क्षेत्र सिद्ध हुए। स्थविरवाद की कौशाम्बी से दक्षिणपश्चिम की ओर यात्रा सिहल जाकर पूरी हुई। अशोक के समय मे सद्धर्म का सुदूर प्रयत्न प्रदेशो मे प्रसार आरम्भ हुआ और उस समय तक सघ अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो चुका था।

विभिन्न परम्पराएँ—सम्प्रदाय-भेद (निकाय-भेद) का एक प्राचीन विवरण दीपवस से उपलब्ध होता है जिसकी सिहल मे ईसवीय चतुर्थ शताब्दी मे रचना हुई थी। इस परम्परा का आधार और प्राचीन रहा होगा। इसके अनुसार दूसरी और तीसरी सगीतियो के बीच मे, अर्थात् परिनिर्वाण से दूसरी शताब्दी मे, १८ सम्प्रदायो का आविर्भाव हो चुका था, एव स्थविरवाद के विरुद्ध उनके अभिमतो के खण्डन के लिए अशोक के समय मे मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्थुप्पकरण की रचना की। आचार्य बुद्धघोष

४७–पूर्से, वहीं, तु०—बुदोन (अनु० ओबरमिलर), जि० २, पृ० ७६।

ने कथावत्थु की अट्ठकथा मे अनेक नये सम्प्रदायो के नामो का उल्लेख किया है और उनके अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि समग्र कथावत्थु अशोककालीन नहीं हो सकती।

(क) दीपवंस के अनुसार निकाय-भेद का क्रम इस प्रकार था—
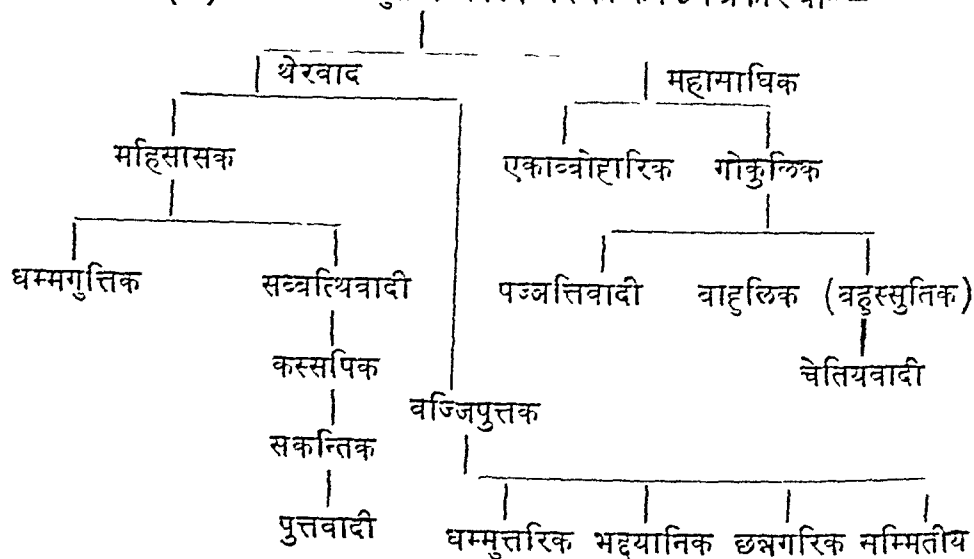
इन १८ नामो के अतिरिक्त कथावत्थु की अट्ठकथा मे उल्लिखित नाम है—राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, हेमवत, वज्जिरिय, उत्तरापथक, हेतुवादी, एव वेतुल्लक[48]। उनमे पहले चार सम्प्रदाय अन्धको अथवा अन्ध्रको की शाखाएँ थी और उनके नाम अन्ध्रापथ के अभिलेखो मे प्राप्त होते है।

निकाय-भेद-विषयक महासांघिको की परम्परा शारिपुत्रपरिपृच्छा सूत्र मे अवगत विदित होती है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ई० ३१७ और ४२० के अन्तराल मे हुआ था और उसका प्रणयन सम्भवत उड्डियान के प्रदेश मे हुआ था। तारानाथ के विवरण मे भव्य की दूसरी सूची[49] भी महासांघिको की परम्परा मे निक्षिप्त है, किन्तु इसमे वर्णित क्रम उपर्युक्त सूत्र मे वर्णित क्रम से भिन्न है जो कि अध प्रदर्शित विवरण से स्पष्ट हो जायेगा।

(ख) 'शारिपुत्रपरिपृच्छा सूत्र' के अनुसार परिनिर्वाण से दूसरी शताब्दी मे महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ एव उनमे एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी, कौक्कु-

४८—इनमें पहले छ नाम महावंस में भी उल्लिखित है—द्र०—महावंस (सं० एन० के० भागवत, द्वितीय संस्करण), पृ० २३।

४९—तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० २७१, तु०—वारो, पूर्व०, पृ० २२।

लिक, वहुश्रुतिक एव प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदाय निकले। निर्वाण से तीसरी शताब्दी मे वात्सीपुत्रीय एव सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय निकले। वात्सी पुत्रीयो से धर्मोपक, भद्रयानिक, सम्मतीय एव पण्णगरिक सम्प्रदायो का जन्म हुआ। सर्वास्तिवाद से महीशासक, धर्मगुप्तक एव सुवर्पक निकाय निकले। स्थविरो से ही काश्यपीय एव सूत्रवादियो का जन्म वताया गया है। सक्रान्तिको की उत्पत्ति स्थविरवाद के क्रोड से ही निर्वाण की चतुर्थ शताव्दी मे हुई[५०]।

(ख) शारिपुत्रपरिपृच्छा सूत्र के अनुसार
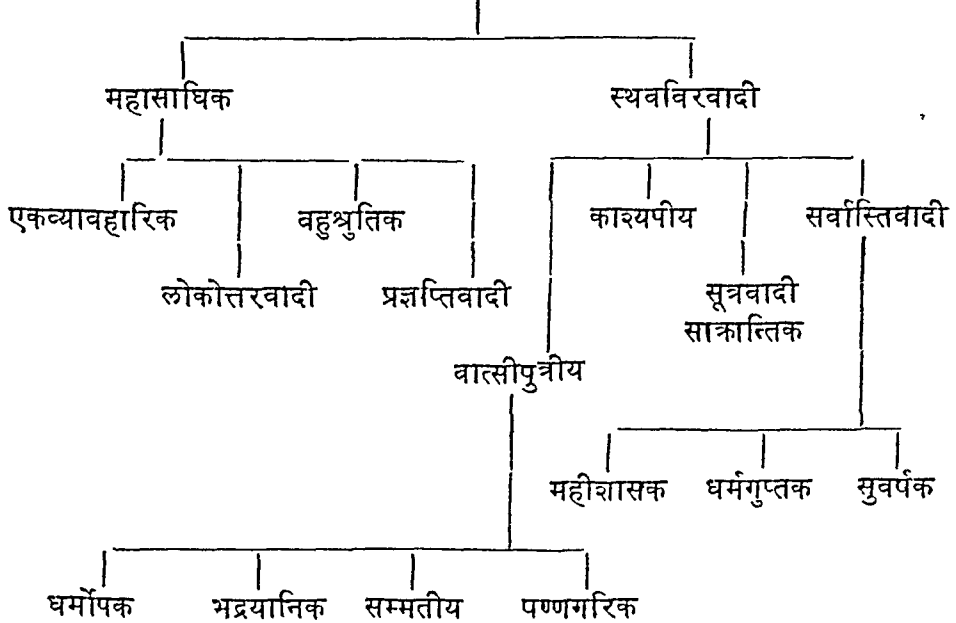
५०–मंजुश्रीपरिपृच्छासूत्र के अनुसार संघभेद प्रथम वुद्ध शताव्दी में ही परिनिष्ठित हो गया था। एक ओर महासाधिको से एकव्यावहारिक निकले, एकव्यावहारिक से लोकोत्तरवादी, लोकोत्तरवादियो से कौक्कुलिक, कोक्कुलिको से वहुश्रुतीय, वहुश्रुतियो से चैतिक, चैतिको से पूर्वशैल एवं पूर्वशैलो से उत्तरशल का जन्म हुआ। दूसरी ओर स्थविरो से सर्वास्तिवादी, उनसे सम्मितीय, उनसे षण्डगैरिक, उनसे महीशासक, उनसे धर्मगुप्तक, उनसे काश्यपीय एव उनसे सौत्रातिको के सम्प्रदाय का जन्म हुआ। यह परम्परा स्पष्ट ही वसुमित्र पर आधारित है। द्र०—वारो, पूर्व० पृ० १९।

(ग) भव्य (दूसरी सूची) के अनुसार[51]
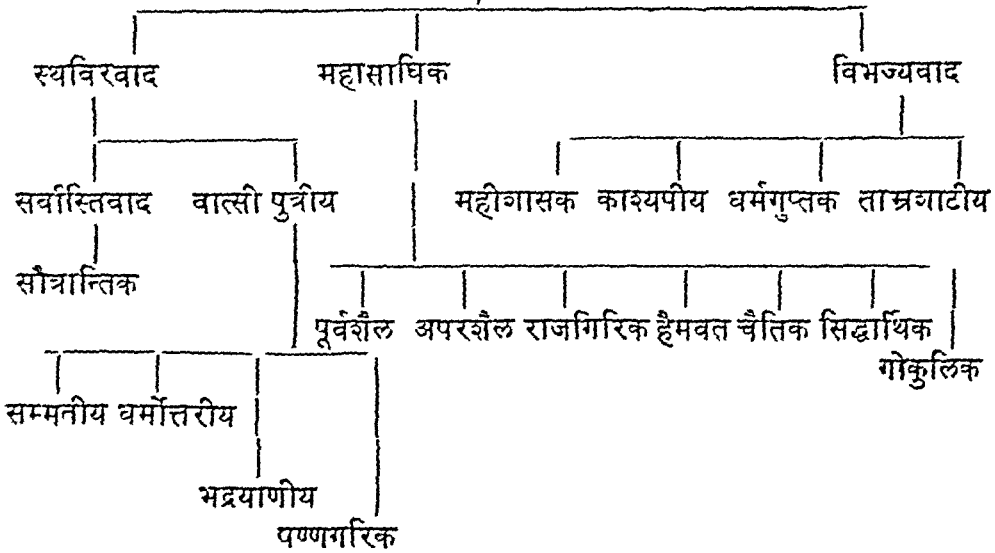
यह विचारणीय है कि जहाँ पहली सूची मे थेरवादी परम्परा से समञ्जस दो मूल शाखाएँ है, दूसरी सूची मे तीन मूल शाखाएँ बतायी गयी है। पालि विभज्यवादी अपने को ही मूल स्थविरवादी बताते है, भव्य की इस सूची मे दोनो को पृथक् माना गया है। वात्सीपुत्रीयो की स्थिति पूर्वोक्त तीनो सूचियो मे समान है, महीशासको की तीनो मे विभिन्न। (क) की अपेक्षा (ख) मे महासांघिको के अन्तर्गत लोकोत्तरवादियो का समावेश अधिक किया गया है। यह सभव है कि गोकुलिक और कौक्कुलिक एक ही सम्प्रदाय के नामान्तर है। (ग) मे महासांघिको की परवर्ती अवस्था का चित्रण है जब कि उनका केन्द्र अन्ध्रदेश मे अमरावती था। (क) मे मूल सूची की प्राचीनता के कारण एव (ख) में देशगत दूरी के कारण महासांघिको की इस विकसित एव परिवर्तित अवस्था का अपरिज्ञान है। यह स्मरणीय है कि शारिपुत्रपरिपृच्छासूत्र मे कहा गया है कि इन सम्प्रदायो के अनन्तर केवल पाँच सम्प्रदाय शेष रह गये—महासांघिक, धर्मगुप्तक, सर्वास्तिवादी, काश्यपीय एव महीशासक।[52]। श्वानच्वाङ के विवरण से इस उक्ति का कारण स्पष्ट होता है—उड्डियान मे केवल इन्ही निकायो का पता चलता था[53]।

५१–द्र०—वालेजेर, पूर्व०, पृ० ४९–५०।

५२–बारो, पूर्व पृ० २२।

५३–बील, श्वानच्वाग पृ० १६७।

सर्वास्तिवादियो की परम्परा वसुमित्र के **समयभेदोपरचनचक्र** मे सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के तिब्बती और चीनी मे अनुवाद उपलब्ध है[५४]। प्राचीनतम अनुवाद ३५१ और ४३१ ई० के बीच मे सम्पन्न हुआ था। चीनी परम्परा के अनुसार यह वही वसुमित्र था जिसने कनिष्ककालीन संगीति मे ख्याति पायी थी। वसुमित्र के अनुसार महासांघिक तीन शाखाओ मे बँटे—एक—व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी एव कौक्कुलिक। पीछे महासांघिको से बहुश्रुतीयो का जन्म हुआ तथा और भी पीछे प्रज्ञप्तवादियो का। बुद्धाब्द के दूसरे शतक के समाप्त होते ही चैत्यगिरिवासी दूसरे महादेव के विवाद के कारण चैत्यशैल, अपरशैल और उत्तरशैल शाखाए निकल पडी। स्थविरवादी निकाय सर्वास्तिवाद अथवा हेतुवाद, तथा मूलस्थविरवाद मे विभाजित हुआ। मूल-स्थविर का ही नाम हैमवत-निकाय पडा। उत्तरकाल मे सर्वास्तिवाद से वात्सीपुत्रीयो का आविर्भाव हुआ और स्वय वात्सीपुत्रीयो से धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मतीय एव छन्नगरिक अथवा पण्णगरिक सम्प्रदायो की उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर सर्वास्तिवादियो से महीशासक निकले, महीशासको से धर्मगुप्त और तीसरी बुद्ध-शताब्दी के अन्त मे सर्वास्तिवादियो से काश्यपीय अथवा सुवर्षको का आविर्भाव हुआ। चतुर्थ बौद्ध शताब्दी के प्रारम्भ मे सर्वास्तिवाद से सौत्रांतिक अथवा सक्रान्तिवादियो का जन्म हुआ।

भव्य अपनी सूचना के लिए स्पष्ट ही वसुमित्र के ऋणी है।[५५] उन्होने तीन-तीन परस्पर भिन्न सूचियाँ दी है। इनमे से पहली उनकी गुरु-परम्परा के अनुसार कही गयी है और इसे तारानाथ ने स्थविरसम्मत बताया है, किन्तु यह वस्तुत काश्मीरक सर्वास्ति-वादियो की परम्परा का ही अनुवाद करती है। यह सूची महासांघिको से आविर्भूत सम्प्रदायो मे गोकुलिको को छोड देती है। साथ ही इस सूची के अनुसार स्थविरो से निकले हुए सम्प्रदायो मे कुछ नये नाम भी उपलब्ध होते है जैसे मुरुन्तक, आवतिक और कुरु-कुल्लक। दूसरी सूची 'औरो के कहने के अनुसार' बतायी गयी है। तारानाथ से यह महासांघिको की परम्परा प्रतीत होती है। इसका ऊपर तालिका (ग) के रूप मे विवरण दिया गया है। स्मरणीय है कि इसमे ताम्रशाटीयो का नया नाम प्रस्तुत है और मूल संघ-भेद मे दो सम्प्रदायो के स्थान पर तीन का निर्देश किया गया है। तीसरी सूची मे सम्म-तीय परम्परा रक्षित है, जैसा कि तारानाथ एव मञ्जु, घोष वज्र के सिद्धान्त से विहित होता है[५६]। इसके अनुसार स्थविरवाद, मूल-स्थविरवाद और हैमवत-सम्प्रदाय मे बँट

५४—अंग्रेजी अनुवाद, मसुदा कृत, एशिया मेजर २, १९२५, पृ० १—७८।
५५—भव्य के विवरण के लिए, वालेजर, दी सेक्तेन देस आल्तेन बुद्धिस्मुस।
५६—तु०—पूसें, जे० आर० ए० एस० १९१०, पृ० ४१३।

जाता है। मूल स्थविरो से वात्सी पुत्रीयो एव सर्वास्तिवादियो का आविर्भाव हुआ, सर्वास्तिवादियो से विभज्यवादियो एव सक्रान्तिवादियो का तथा विभज्यवादियो से महीशासक, धर्मगुप्तक, ताम्रशाटीय, एव काश्यपीय सम्प्रदायो का। दूसरी ओर महासाघिको से एक व्यावहारिक तथा गोकुलिक निकले। गोकुलिको से वहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, एवं चैत्यक सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ।

महाव्युत्पत्ति के अनुसार चार मूल सम्प्रदाय थे—आय सर्वास्तिवादी, आर्य सम्मतीय, महासाघिक और आर्य स्थविर। आर्यसर्वास्तिवादी कालान्तर मे मूल सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्त, वहुश्रुतीय, ताम्रशाटीय और विभज्यवादी सम्प्रदायो मे वँट गये। दूसरे से कौरुकुल्ल, आवतक और वात्सीपुत्रीय निकले। तीसरे से पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी और प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदायो का जन्म हुआ। चौथे से महाविहारवासी, जेतवनीय और अभय-गिरिवासियो का आविर्भाव वताया गया है[५७]। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि इन नामो मे कुछ सम्भवत विकृत अनुवाद के कारण भ्रान्त हैं। जेतवनीय के स्थान मे चैतिक, अभयगिरि के स्थान पर पण्डगिरि (पण्णगिरि), एव आवन्तक के स्थान पर महीशासक का पाठ सुझाया गया है, जिसमे अन्तिम सुझाव विशेष रूप से सन्दिग्ध है[५८]।

इ-चिग एव विनितदेव मूलसर्वास्तिवाद की परम्परा का अनुसरण करते है[५९] इनके अनुसार चार मूल सम्प्रदाय थे—आर्यमहासाघिक, सर्वास्तिवादी स्थविरवादी एव सम्मतीय। इ-चिग के अनुसार आर्य महासाघिको के सात भेद थे, आर्य स्थविरो के तीन, एव आर्य मूलसर्वास्तिवादियो के चारमूलसर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक एव काश्यपीय। आर्य सम्मतीयो के भी चार भेद वताये गये है।

विनीतदेव की सहायता से ज्ञात होता है कि आर्य महासाघिको की पाच शाखाएँ इस प्रकार थी—पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी एव प्रज्ञप्तिवादी। सर्वास्तिवादियो की शाखाएँ थी—मूलसर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्तक, वहुश्रुतीय, ताम्राशाटीय एव विभज्यवादी। स्थविरो की तीन शाखाएँ थी—जेतवनीय, अभयगिरिवासी एव महाविहारवासी। सम्मतीयो की तीन शाखाएं वतायी गयी है—कोरकुल्लक, आवन्तक एव वात्सीपुत्रीय।

११वी शताब्दी मे तिब्वती मे अनूदित वर्षाग्रपृच्छासूत्र मे प्राय यही विभाजन और

५७–द्र०—महाव्युत्पत्ति, (वेगिहारा द्वारा सम्पादित), पृ० २३४।
५८–वारो, पूर्व० पृ० २०।
५९–इ-चिग, (अनु०—तकाकुस), पृ० ७–१४।

क्रम प्रतिपादित किये गये है, केवल ताम्रशाटीय और वहुश्रुतीयनिकाय सर्वास्तिवाद से हटाकर सम्मतीयो मे रख दिये गये है। वर्षाग्रपृच्छासूत्र के अनुसार आर्य सर्वास्तिवादियो के अन्तर्गत काश्यपीय महीशासक, धर्मगुप्तक एव मूलसर्वास्तिवादी थे। आर्य महासाघिको के अन्तर्गत पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, विभज्यवादी, प्रज्ञप्तिवादी एव लोकोत्तरवादी। आर्य सम्मतीयो की शाखाए थी—ताम्रशाटीय, आवन्तक, कुरुकुल्लक, वहुश्रुतीय एव वात्सीपुत्रीय। आर्य स्थविरो की तीन शाखाओ का उल्लेख है—जेतवनीय, अभयगिरिवासी एव महाविहारवासी।

इन विभिन्न सूचियो मे यदि **तारानाथ** के वताये हुए नाम-साम्य का सहारा लिया जाय तो परिस्थिति विशद होती है[६०]। तारानाथ के अनुसार काश्यपीय ओर सुवर्षक एक ही सप्रदाय के दो नाम थे। ऐसे ही सक्रान्तिवादी, उत्तरीय ओर ताम्रशाटीय वस्तुत अभिन्न थे। महादेव के शिष्यगण, पूर्वशैल, एव चैत्यक अभिन्न थे। लोकोत्तरवाद एव कौक्कुटिक, ये भी नामभेद से समान सम्प्रदायो को सूचित करते है। एक व्यावहारिक महासाघिको का ही नाम था। कौरुकुल्लक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय और छन्नगरिक भी अत्यन्त सदृश सिद्धान्तो मे विश्वास करते थे। उत्तरकालीन शाखाओ और प्रशाखाओ के भेद छोडकर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम और मुख्यतम निकाय थे—महासाघिक और वात्सीपुत्रीय, एव स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी।

महासाघिक धारा—उपर्युक्त विवरण से यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि वैशाली की सगीति मे विनय की दस वस्तुओ के कारण जो सघभेद प्रारम्भ हुआ वही सैद्धान्तिक वातो को लेकर कुछ वर्ष पीछे पाटलिपुत्र की सगीति मे परिपूर्ण हुआ। चूँकि वैशाली की सगीति के स्थविर भिक्षु जो अपने को अर्हत् मानते थे विनय की नयी वस्तुओ के विरुद्ध थे, अतएव कदाचित् इन स्थविर अर्हतो के ही विरोध मे महादेव की नयी पाँच वस्तुएँ प्रतिपादित हुई। इस प्रकार प्रथम सघभेद के अनन्तर सघ दो भागो मे विभक्त हो गया—एक ओर अधिकसख्यक, वैशाली और पाटलिपुत्र मे केन्द्रित, पूर्वी भिक्षु जिनमे कि वूढे और अर्हत् लोग कम थे, और जो विनय और धर्म के सम्वन्ध मे नयी वाते प्रचारित कर रहे थे, दूसरी ओर कौशाम्वी, मथुरा और अवन्ती मे केन्द्रित, पश्चिम के भिक्षु जिनमे कि स्थविर भिक्षुओ का प्राधान्य था। इस कारण पहला वर्ग महासाघिक कहालया, दूसरा स्थविर।

६०—द्र०—तारानाथ, पृ० २७०–७४।

यह प्राय सर्वसम्मत है कि महासाघिको का पहला विभाजन एकव्यावहारिक एव गोकुलिक अथवा कौक्कुटिक नाम के दो समुदायो मे हुआ। लोकोत्तरवादियो की शाखा का भी इस स्थल पर उल्लेख मिलता है। यह सम्भव है कि लोकोत्तरवादियो का अन्य महासाघिको से अपना सिद्धान्तकृत वैशिष्ट्य न हो कर आवासकृत अथवा भौगोलिक वैशिष्ट्य था। मूल महासाघिक मगधवासी थे, किन्तु लोकोत्तरवाद नाम की प्रख्या उत्तरापथ मे ही प्रचलित थी एव मध्य देश से उद्भूत परम्परा मे उसका अनुल्लेख है। श्वानच्वॉग से विदित होता है कि लोकोत्तरवादियो का केन्द्र बामियान मे था। दूसरी ओर सिद्धान्तपक्ष मे उनका पार्थक्य-निर्देश दुष्कर है। सम्मतीय परम्परा उनके सिद्धान्तो को एकव्यावहारिको से अभिन्न बताती है। वसुमित्र उनके सिद्धान्तो को महासाघिक, एकव्यावहारिक एव कौक्कुटिक सम्प्रदायो मे डालते है। दूसरी ओर विनीतदेव एकव्यावहारिको एव महासाघिको के बताये हुए सिद्धान्तो को भी लोकोत्तरवादियो के बताते है। ऐसी स्थिति मे तारानाथ की उपर्युक्त सूचना ही प्रकाश डालती है जिसके अनुसार लोकोत्तरवादी=कौक्कुटिक एव एकव्यावहारिकमहासाघिक। बारो ने लोकोत्तरवादियो का एकव्यावहारिको से अभेद प्रतिपादित किया है एव नलिनाक्ष दत्त ने चैत्यको से! वस्तुत यह मानना चाहिए कि महासाघिक सम्प्रदाय का ही नाम पीछे एकव्यावहारिक एव लोकोत्तरवादी भी पडा। ये दोनो नाम महासाघिको के विशिष्ट सिद्धान्तो को बुद्धिस्थ करके उन्हे दिये गये होगे। पिछली परम्परा के विशृखल हो जाने के कारण ही अनेक स्थलो पर एकव्यावहारिको एव लोकोत्तरवादियो को महासाघिको से एव परस्पर पृथक् बताया गया है, किन्तु इस प्रकार के विवरण मे सिद्धान्तमूलक सघभेद का स्पष्ट एव युक्तियुक्त प्रतिपादन दुष्कर है।

एकव्यावहारिको की उत्पत्ति के सबध मे परमार्थ की यह सूचना उल्लेखनीय है कि महायान-सूत्रो की प्रामाणिकता के विषय मे विवाद ही उनका जन्मदाता था[६१]। भव्य के अनुसार एकव्यावहारिको का नाम उनके द्वारा तथागत की एक-चित्त-क्षणिक सर्वज्ञता के सिद्धान्त को स्वीकार करने से पडा। वस्तुत परिनिर्वाण की दूसरी अथवा तीसरी शताव्दी मे महायान-सूत्रो की सत्ता ही स्वीकार नही की जा सकती। एकव्यावहारिको के नाम का भव्यकृत निर्वचन भी अत्यन्त सन्दिग्ध है। वस्तुत एकव्यावहारिक मे व्यवहार शब्द वाक्परक है एव एकव्यावहारिक का अर्थ है—एक अथवा एक ही, अथवा प्रत्येक शब्द से धर्म की अथवा सब धर्मो की प्रतिपाद्यता मानने

६१—बारो, पूर्व०, पृ० ७८।

वाला। यहाँ तथागत के आदेश का अनुभाव एव उनकी उपदेशविधि की ओर एक लोकोत्तर दृष्टि विवक्षित है।

पाटलिपुत्र का कुक्कुटाराम ही महासघिको का पहला प्रधान केन्द्र था। यह सम्भव है कि इसी कारण महासाघिक कौक्कुटिक भी कहलाये। पीछे कौक्कुटिक शब्द विकृत होने के कारण उनकी आख्या कुक्कुलिक अथवा कौक्कुलिक एव गोकुलिक भी वन गयी प्रतीत होती है। गोकुलिक नाम को मूल विशुद्ध नाम मानने पर उसका कौक्कुटिक से कोई सम्बन्ध समझाना कठिन है। यह उल्लेखनीय है कि कौक्कुटिको के विनय-शैथिल्य की सूचना दीपवस से उपलब्ध कुक्कुटाराम की अवस्था से सगत है। इस दृष्टि से 'कुक्कुल' शब्द का अन्यत्र सूचित अर्थविशेप यहाँ अप्रासगिक है। अथवा कौक्कुलिक सिद्धान्तपरक आख्या है, कौक्कुटिक आवासपरक।

महासाघिको का प्रारम्भ से ही वुद्ध एव वोधिसत्त्व की लोकोत्तरता तथा अर्हतो की परिहाणीयता के सिद्धान्तो पर जोर था। इस लोकोत्तरवादी दृष्टि के कारण यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि वौद्ध सूत्रो मे उपलब्ध वातो का आपातिक अक्षरार्थ जो कि वहुधा लोकोत्तरवाद के विरुद्ध पाया जाता है, किस प्रकार समझा जाय। इस शका के कारण नीतार्थ एव नेयार्थ का भेद प्रतिपादित किया गया एव इसी से सत्य-द्वय का सिद्धान्त अकुरित हुआ। परमार्थ के अनुसार महासाघिको मे इस पर मतभेद प्रकट हुआ एव कौक्कुटिको के अभ्यन्तर से वहुश्रुतीय एव प्रज्ञप्तिवादी शाखाओ का प्ररोह हुआ। प्रज्ञप्तिवादियो को वहुश्रुतीय-विभज्यवादी भी कहा गया है। यह स्मरणीय है कि वहुश्रुत होने के कारण आनन्द की प्रसिद्धि थी। इन दोनो सम्प्रदायो का पारस्परिक भेद स्पष्ट नही है।

कालान्तर मे एक दूसरे महादेव के कारण महासाघिको मे एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इस घटना को सम्भवत ईसा पूर्व तीसरी शताव्दी मे न रखकर दूसरी मे रखना चाहिए।[६२] मगध के स्थान पर अन्ध्र प्रदेश इन नवीन महासाघिको का प्रधान केन्द्र वना। परमार्थ के अनुसार अपरमहादेव प्रदेश छोडकर अपने शिष्यो के साथ पर्वताश्रित हो गये। वुद्धघोष के द्वारा ये लोग अन्धक अथवा अन्ध्रक कहे गये है। अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड मे उपासको की दानशीलता के कारण इन नवीन महासाघिको के लिए वहुत-से चैत्य वने जिनमे अमरावती का महाचैत्य सर्वप्रधान था। दूर-दूर से उसके दर्शन के लिए वौद्धगण आते थे। यह स्वाभाविक था कि ये महासाघिक

६२—तु०—लामॉन, इस्त्वार दु वुद्धिज्म आधा पृष्ठ: ३०९—१०

चैत्यवादी अथवा चैत्यक कहलाये। इन्ही के भीतर आवास-भेद प्रकट होने से पूर्वशैल एव अपरशैल नाम की शाखाएँ प्रकट हुई। अपरशैलीयो का ही नाम कदाचित् उत्तर-शैलीय भी था। इन अन्ध्र महासाघिको के मध्य मे तान्त्रिक प्रवृत्ति भी प्रकट हुई एव प्रचलित लोकोत्तरवाद महाशून्यता के सिद्धान्त मे परिणत हुआ। इस विकास मे अग्र-गामी दल वैतुल्यको का था जिनका उल्लेख बुद्धघोप ने किया है। और भी पीछे इन आन्ध्र महासाघिको से राजगिरिक एव सिद्धार्थिक नाम के सम्प्रदायो की उत्पत्ति हुई। ये सम्भवत. ईसवीय तीसरी अथवा चौथी शताब्दी के थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य के निकट मगध मे प्रारम्भ होकर 'प्राचीनक' या पूर्वी बौद्धो की महासाघिक धारा ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त के निकट आन्ध्र मे पहुँची और पल्लवित हुई। बौद्धो के विकास की इस महा-साघिक दिशा से ही लगभग ईसापूर्व पहली शताब्दी मे महायान का जन्म हुआ। यह स्मरणीय है कि महासाघिक केवल मगध और आन्ध्र मे ही विदित नही थे, उनके उल्लेख कश्मीर, बामियान, लाट और सिन्ध मे भी यत्र-तत्र प्राप्त होते है।

महासाघिको के आगमिक शास्त्र मे विनय पिटक, सूत्रपिटक एव अभिधर्म-पिटक के अतिरिक्त सयुक्त पिटक एव धारणी पिटक का भी उल्लेख मिलता है महासाघिक विनय अन्य उपलब्ध विनयो से अपेक्षाकृत अधिक भेद रखता है। लोकोत्तरवादियो का प्रधान उपलब्ध ग्रन्थ महावस्तु हे जिसमे उनके विनय के पहले भाग के रूप मे तथागत का जीवन चरित्र वर्णित हे। लोकोत्तरवादी सिद्धान्त मुख्यत इसके प्रारम्भिक अश मे पीछे से जोड़े प्रतीत होते हैं। हरिवर्मा का सत्यसिद्धि शास्त्र बहुश्रुतीयनिकाय का माना जाता है।

स्थविरधारा : वात्सीपुत्रीय—जहाँ बौद्धो के विकास की महासाघिक धारा महा-यानिक शून्यता एवं लोकोत्तर बुद्ध और बोधिसत्त्वो की ओर अग्रसर हुई स्थविरो की दूसरी धारा नाना धर्मो की पृथक्-पृथक् सत्ता की समर्थक बन गयी और अभिधर्म के मलभूत दार्शनिक दृष्टिकोण को विकसित और परिष्कृत करती रही। बुद्धाब्द की दूसरी शती मे स्थविरो के मुख्य केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एव अवन्ती थे। कदाचित् वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी से अनतिदूर ही वात्सीपुत्रीयो का उद्भव हुआ हो। यह स्मरणीय है कि तथागत के समय मे भी कौशाम्बी मे विवाद और सघभेद की नौबत आ गयी थी। तारानाथ के अनुसार कालाशोक के समय मे कश्मीर के वात्सनाम के ब्राह्मण ने आत्मवाद का प्रचार किया था। किन्तु वस्तुत कालाशोक के समय कश्मीर में सद्धर्म अविदित था और धर्माशोक के समय मे ही मध्यान्तिक ने कश्मीर में सद्धर्म

प्रचार का प्रारम्भ किया। पालिपरम्परा मे प्रसिद्ध वज्जिपुत्तक नाम भी भ्रान्ति-मूलक प्रतीत होता है। वात्सीपुत्र-वच्छीपुत्त-वज्जिपुत्त, इस क्रम से यह भ्रान्ति सम्भव है। अन्यथा 'वज्जिपुत्तक' मे वैशाली के लिच्छवियो का सकेत ग्राह्य है। ऐसी स्थिति मे 'वात्सीपुत्र' का 'वज्जिपुत्त' का 'सस्कृत' रूप मानना होगा। किन्तु इस कल्पना के विरोध मे यह स्मरणीय है कि वात्सीपुत्र सम्प्रदाय का मूलत वज्जिप्रदेश से सम्बन्ध असिद्ध था।

स्थविरो के अभ्यतर यह पहला सघभेद था। इसका कारण मुख्यत सैद्धातिक था। वात्सीपुत्रीय भिक्षु पुद्गलवादी थे। पालि-परम्परा के अनुसार एव कथावत्थु के परिशीलन से यह पता चलता है कि अशोककालीन पाटलिपुत्रक सगीति मे, जिसे कि तीसरी सगीति भी कहा जाता है, अशोक ने बहुत से भ्रष्ट भिक्षुओ को सघ से निकाल दिया एव मौद्गलीपुत्र तिष्य ने नाना विप्रतिपन्न बौद्ध-निकायो का खडन किया। कथावत्थु की पहली पुद्गल-कथा ही प्राचीनतम प्रतीत होती है। ओर यह मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि मौद्गलीपुत्र तिष्य ने प्रधान रूप मे पुद्गलवादियो अथवा वात्सीपुत्रीयो का ही खडन किया। फलत यह मानना होगा कि स्थविरो के अभ्यन्तर वात्सीपुत्रीयो का उद्भव अशोक की तृतीय सगीति के कुछ पहले हुआ होगा। परम्परा के अनुसार उनका उद्भव परिनिर्वाण से २०० वर्ष बीतने पर अथवा कुछ और पीछे हुआ था। इसकी पूर्वोक्त विवरण से पूरी सगति है।

वात्सीपुत्रीयो का अभिधर्मपिटक शारिपुत्राभिधर्म अथवा धर्मलक्षणाभिधर्म कहलाता था एव उसके नौ भाग थे। वात्सीपुत्रीयो से धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, छन्नगरिक एव सम्मतीय नाम की शाखाए प्रादुर्भूत हुई जिनमे अन्तिम सर्वाधिक महत्त्व को प्राप्त हुई। वसुमित्र के अनुसार एक गाथा के व्याख्यान पर विवाद के कारण शाखाएँ प्रकट हुई थी। सम्मतीय महाकात्यायन को अपना प्रवर्तक मानते थे। यह स्मरणीय है कि महाकात्यायन ने अवन्तिदक्षिणापथ मे सद्धर्म के अनुयायियो के पहले आवास को स्थापित किया था ओर वहाँ के निवासियो का आचारभेद देखकर विनय मे आवश्यक परिवर्तन अभीष्ट समझा था। भव्य और विनीत देव के अनुसार सम्मतीयो से आवन्तक और कौरुकुल्लक नाम के सम्प्रदाय उद्भूत हुए थे। यह भी स्मरणीय है कि भद्रयाणीयो और धर्मोत्तरीयो के नाम अपरान्त के अभिलेखो मे उपलब्ध होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सीपुत्रीय-निकाय का विकास और विस्तार सद्धर्म की कौशाम्बी से अपरान्तिगामी पथ पर यात्रा के प्रसग मे सम्पन्न हुआ था। ईसवीय दूसरी शताब्दी मे भद्रयाणीयो और धर्मोत्तरीयो के नाम अपरान्त मे अभिलिखित मिलते है। स्थान्-

च्वाग के समय मे सम्मतीयो का प्राधान्य था। पाल-युग मे वात्सीपुत्रीय निकाय अवशिष्ट था।

फ्राउवाल्नर महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि अशोक ने सद्धर्म के प्रचार के लिए जिन बौद्ध आचार्यो को प्रत्यन्त प्रदेशो मे भेजा था उनके स्थापित आवास ही सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक, काश्यपीय, महीशासक और थेरवाद नाम के निकायो मे परिणत हो गये।[६३] विदिशा से ही ये सब प्रचारक गये थे और अपने साथ एक समान विनय ले गये थे। इसके विरोध मे यह स्मरणीय है कि अशोक ने 'धर्म' का प्रचार किया था, न कि 'सद्धर्म' का। पालि परम्परा मे सरक्षित और अभिलेखो से समर्थित प्रचारको के नामो को अशोक के द्वारा प्रेषित प्रचारको के नाम मानने के लिए कोई समर्थ उपपत्ति नही है। इसके अलावा यह मानना कठिन है कि सर्वास्तिवाद की उत्पत्ति मूलत. सैद्धान्तिक न होकर आवासिक थी।

सर्वास्तिवाद और महीशासक—सर्वास्तिवाद और महीशासक सम्प्रदायो मे कौन मूल था एव कौन उससे प्ररूढ, इसके निर्णय के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किये गये है। दत्त महोदय का मत है कि पूर्व महीशासक सर्वास्तिवादियो से प्राचीन थे एव उत्तर-महीशासक उनसे परवर्ती। प्रिलुस्कि महोदय के अनुसार पूर्व-महीशासक पुराण के अनुगामी थे। महीशासक विनय से ज्ञात होता है कि पहली सगीति के वाद दक्षिणागिरि से लौटे हुए ५०० भिक्षुओ के साथ स्थविर पुराण ने अपनी सम्पत्ति तब तक नही दी जब तक उनके सामने दुबारा सगायन नही हुआ एव इसके बाद भी उन्होंने अपने आहार सम्बन्धी आठ नियमो का विनय मे समावेश किया। ये आठ नियम इस प्रकार है—अन्दर भोजन पकाना, अन्दर पकाना, स्वेच्छा से पकाना, स्वेच्छा से खाना, प्रात उठते समय अन्न का स्वीकार करना, दाता की इच्छा से अन्न घर ले जाना, विविध फल रखना, एव जलाशय मे उत्पन्न वस्तुओ का खाना।[६४] महीशासको के नाम को महिषमण्डल से सम्बद्ध बनाया गया है। अभिलेखो से उनका वनवासी से सम्बन्ध सिद्ध होता है। चीनी यात्री (फाह्येन) ने उनका विनयपिटक सिंहल में पाया था। इ-चिग ने उन्हें ठीक भारत मे कहीं नहीं पाया था।

धर्मगुप्तक—सभी परम्पराओ मे महीशासको से धर्मगुप्तको की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस शाखा-भेद का कारण सम्भवत बुद्ध और सघ को दिये हुए दान के स्वरूप

६३—फ्राउवाल्नर, पूर्व पृ० ६ प्र०।

६४—तु०—दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ११।

के सम्वन्ध मे विवाद था। परमार्थ के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन धर्मगुप्त ने किया था जो कि महामौद्गल्यायन के शिष्य थे। प्रिलुस्कि और फ्राउवाल्नर इस धर्मगुप्त का अपरान्त के धर्म-प्रचारक यौनक धर्मरक्षित के साथ अभेद प्रतिपादित करते है। कालान्तर मे धर्मगुप्तक अपने त्रिपिटक मे एक वोधि-सत्त्वपिटक और एक धारणीपिटक अथवा मन्त्रपिटक भी मानते थे। धर्मगुप्तको का उल्लेख भारत मे कही अभिलेखो से प्राप्त नही होता। श्वाच्वॉग और इ-चिग ने भी उन्हे उड्डियान मे एव मध्य एशिया मे पाया था।

काश्यपीय—काश्यपीयो का उद्भव परिनिर्वाण से लगभग ३०० वर्ष पश्चात् बताया गया हे। यह स्पष्ट नही है कि इनका मूल स्थविर-निकाय था अथवा सर्वास्तिवाद-निकाय। यह सभव है कि इनका प्रादुर्भाव सर्वास्तिवादियो से हुआ, किन्तु स्थविरवादी प्रभाव के कारण, किन्तु यह भी सम्भव है कि स्थविरो से इनकी उत्पत्ति सर्वास्तिवादी प्रभाव के कारण हुई हो। इनके अन्य नाम भी बताये गये है—स्थाविरीय, सद्धर्मवर्पक, एव सुवर्षक। अभिलेखो से एव चीनी यात्रियो के विवरणो से इनके आवासो का क्षेत्र उत्तरापथ मे ही प्रतीत होता है। यह स्मरणीय है कि पालि-परम्परा एव साँची के अभिलेखो से यह ज्ञात होता है कि काश्यपगोत्र के भिक्षु समस्त हैमवतो के आचार्य थे। चीनी भाषा मे उपलब्ध विनयमातृका नाम के ग्रन्थ से काश्यप हैमवतो के आचार्य प्रतीत होते है। अतएव यह सम्भव है कि काश्यपीय और हैमवत एक ही सम्प्रदाय के दो नाम रहे हो। इनकी उत्पत्ति हिमवत्प्रदेश मे अशोककालीन धर्म प्रचार से ही प्रतीत होती है। भव्य की काश्मीरी परम्परा के अनुसार हैमवत स्थविरो से अभिन्न थे। अन्यत्र उन्हे महासाघिको की आन्ध्र शाखाओ के साथ रखा गया है, किन्तु यह उनके नाम से सगत नही है।

कुछ आधुनिक विद्वान् सिहल के स्थविरवादियो को मूल स्थविरो से निकली हुई उनकी एक परवर्ती शाखा-मात्र मानते है, किन्तु सिहलगत होते हुए भी इन स्थविरो की परम्परा प्राचीन है एव मूल-स्थविरो से अनुसन्तत है। सच तो यह है कि इनके अतिरिक्त स्थविरो का और कही पता ही नही चलता। यह स्मरणीय है कि विभज्यवादी नाम से कोई एक विशेष सम्प्रदाय सर्वदा विवक्षित नही है। स्थविरो का एक निकाय-विशेप के रूप मे विकास तीसरी सगीति के अवसर पर मौद्गलीपुत्र के प्रयास से हुआ। यह कहा गया है कि इसी अवसर पर कात्यायनीपुत्र ने सर्वास्तिवाद का प्रचार किया और उनके अनुगामियो का उत्तरापथ और कश्मीर मे विशेष निकास हुआ।[६५]

६५–पूसें, बारो द्वारा उद्धृत, पूर्व० पृ० ३३।

बौद्ध निकायो की वशावली एव काल-क्रम का इस प्रकार उपसहार किया जा सकता है—
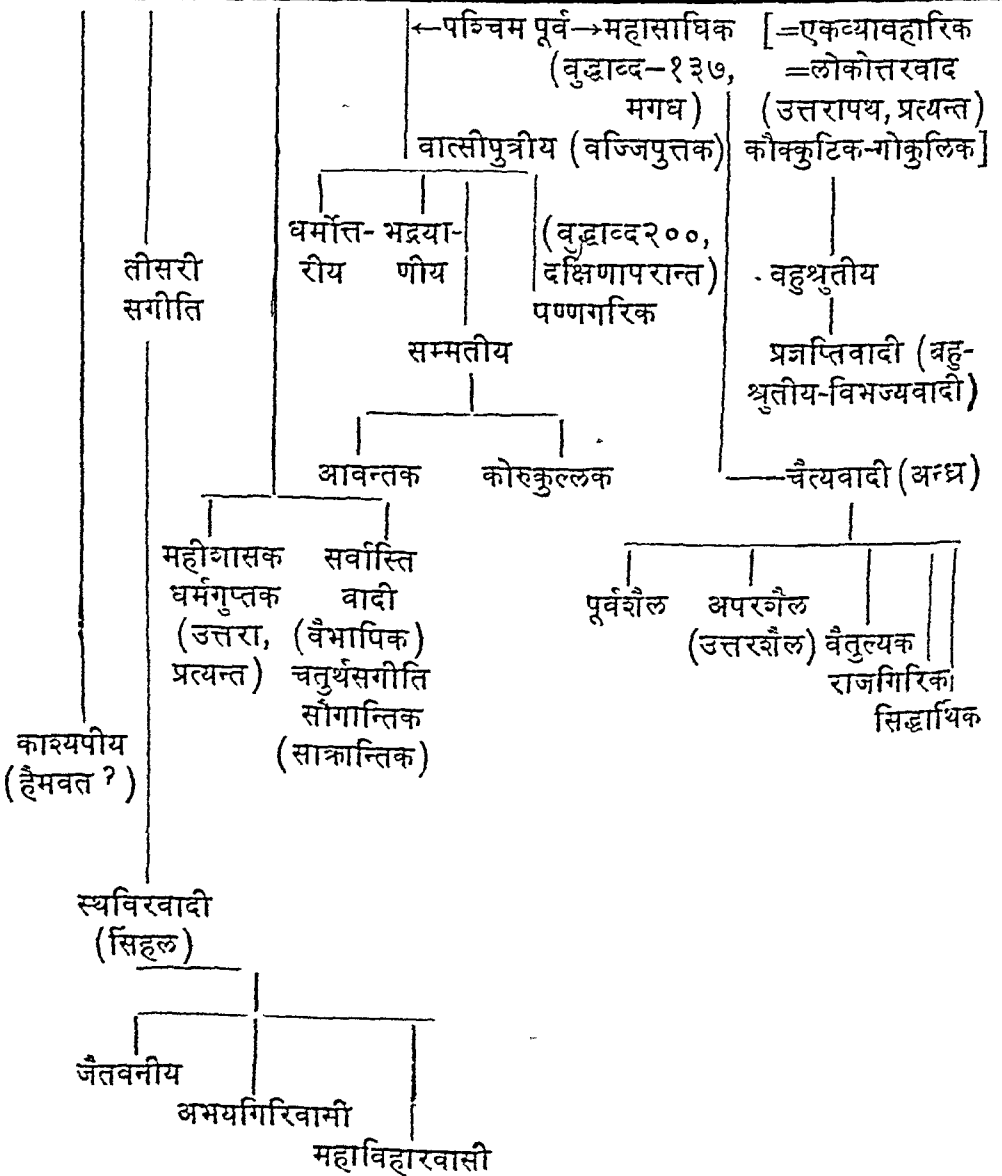
प्रादेशिक भेद--ऊपर कहा जा चुका है कि महासाघिकों का प्रारम्भिक केन्द्र वैशाली एव पाटलिपुत्र का कुक्कुटाराम-विहार था। ईसवीय दूसरी शताब्दी के अभि-लेखो मे महासाघिको का उल्लेख उत्तर पश्चिम मे कपिशा के निकट, मथुरा मे एव कार्ली मे प्राप्त होता है।[६६] श्वानच्वाग ने उन्हे अस्तप्राय पाया था--कश्मीर, गन्धार, एव कृष्णा नदी के प्रदेश मे उन्हे २० विहारो मे लगभग १००० भिक्षु शेष थे। इ-चिंग ने उन्हे मगध, लाट और सिन्ध मे वताया है। उनकी शाखाओ मे वहुश्रुतीयो का नागार्जुनिकोण्ड के एक तीसरी शताव्दी के अभिलेख मे उल्लेख है, एव गन्धार के एक पाँचवी शताव्दी के अभिलेख मे। अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड के अभिलेखो मे उनकी चैतिक, पूर्वशैल, एव अपरशैल शाखाओ के नाम आते है। लोकोत्तरवादियो को श्वान्चाग ने वामियान मे देखा था।

वात्सीपुत्रीयो को मूलत कश्मीर, वैशाली अथवा वत्स-जनपद से सम्वद्ध किया गया है। यदि वात्सीपुत्रीयो का उद्भव वुद्धाव्द की दूसरी शती मे हुआ तो उनका कश्मीर की अपेक्षा कौशाम्वी से सम्वन्ध मानना अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। ईसवीय दूसरी शताव्दी मे वात्सीपुत्रीयो की कई शाखाओ का अभिलेखो मे नाम उपलब्ध होता है--धर्मोत्तरीयो का कार्ली और जुन्नर मे, भद्रयाणीयो का नासिक और कण्हेरी मे, सम्मतीयो का मथुरा मे। चतुर्थ शताव्दी के एक अभिलेख मे सम्मतीयो का सार-नाथ मे भी उल्लेख प्राप्त होता है। श्वान् च्वाग के समय मे वे हीनयान के सम्प्रदायो मे प्रधानतम थे। चीनी यात्री ने उनके १००० विहारो मे ६५००० भिक्षु वताये है। यद्यपि मध्य देश और पूर्व मे भी उनके विहार थे, तथापि उनका प्राधान्य पश्चिम मे--मालवा, गुजरात और सिध मे--था। इ-चिंग से भी इस विवरण का समर्थन प्राप्त होता है।

सर्वास्तिवादियो का उल्लेख दूसरी शताव्दी के अभिलेखो मे गन्धार, कश्मीर, मथुरा और श्रावस्ती मे पाया जाता है। श्वान-च्वाग ने उन्हे काशगर, कूचा, एव मध्यदेश मे फैले देखा था। महीशासको का उल्लेख तक्षशिला के निकट नागार्जुनिकोण्ड एव वनवासी के अभिलेखो मे प्राप्त होता है। गन्धार के अभिलेखो मे काश्यपीयो का उल्लेख भी मिलता हे। इ-चिग ने मूल सर्वास्तिवादियो को मगध ओर उत्तर भारत मे रखा था, महीशासक, धर्मगुप्तक ओर काश्यपीय केवल उड्डियान, काशहर और

६६--वौद्धनिकायो की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालनेवाले अभिलेखो के विस्तर के लिए द्र०--वारो, पूर्व०, पृ० ३४-४०; लामॉन, पूर्व०, पृ० ५७८-८४।

खोतान मे ही उपलभ्य थे। स्थविरो को ग्वान्च्वाग० ने दक्षिण मे विशेष रूप से देखा था, यद्यपि समतट और सुराष्ट्र मे भी वे पर्याप्त मात्रा मे थे। इ-चिग ने भी उन्हे प्रधानतया दक्षिण में पाया।

तथागत की लीला-भूमि और सद्धर्म की जन्मभूमि थी पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार। यहाँ बौद्ध तीर्थों के होने के कारण इस प्रदेश मे उनके प्राय सभी सम्प्रदायो के अलग-अलग या मिले-जुले विहार थे। महासाघिको का केन्द्र पहले मगध मे पाटलिपुत्र था, पीछे उत्तरापथ का सीमान्त भाग (गन्धार से कश्मीर) एव अन्ध्रापथ में श्रीपर्वत था। वात्सीपुत्रीयो का प्रारम्भिक केन्द्र कदाचित् वत्सभूमि मे कौशाम्बी के पास था, पीछे पश्चिमी भारत मे। सर्वास्तिवादियो का प्रारम्भिक केन्द्र मथुरा था, पीछे उड्डियान, गन्धार और कश्मीर। धर्मगुप्तक और काश्यपीयो का विकास भी उत्तरापथ मे हुआ। स्थविरो का एक प्राचीन केन्द्र कौशाम्बी और दूसरा विदिशा था। पीछे उन्होने दक्षिणापथ मे वृद्धि प्राप्त की।

तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु एवं धर्मकीर्ति के मध्यवर्ती काल मे पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, काश्यपीय, विभज्यवादी, महाविहारवासी और अवन्तक सम्प्रदाय लुप्त हो गये थे। उनके अनुसार पाल-युग में केवल ६ सम्प्रदाय रहे थे—वात्सीपुत्रीय, कौरुकुल्लक, प्रज्ञप्तिवादी, लोकोत्तरवादी, ताम्रशाटीय, एव मूलसर्वास्तिवादी।[६७]

विवादग्रस्त विषय—इन विभिन्न बौद्ध-निकायो मे नाना आध्यात्मिक एव दार्शनिक विषयो पर लगभग ५०० वस्तुएँ अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। बुद्ध, बोधिसत्त्व, अर्हत्, अन्य आर्य-गण एव पृथग्जन, सघ एव दान, आर्य-सत्य, कर्म, हेतु, फल, पाप-पुण्य, सयोजन एव क्लेश, आध्यात्मिक मार्ग एव उसके अग, शील, ध्यान, ज्ञान, समापत्ति, निरोध, निर्वाण, असस्कृत, चित्त एव चैत्र, रूप, काल, आकाश, त्रैधातुक, पुद्गल—इन सभी पर नाना मत, नाना निकायो मे प्रकाशित किये गये। इनमें से बहुत कम पर सन्तोषजनक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कुछ प्रधान मीमासित मत इस प्रकार थे—बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता, विशेषतया उनका जन्म भौतिक देह, आध्यात्मिक चर्या एव उपदेश-विधि, अर्हतो मे दोष एव पतन की सम्भावना, स्रोतआपन्न के पतन की सम्भावना; सघ के लिए दान-प्रतिग्रह की सम्भावना एव उसकी विशुद्धि और फल की महत्ता, पुद्गल का अस्तित्व, अतीत और अनागत पदार्थों का अस्तित्व, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सरागता अथवा विरागता, काम और इन्द्रियो का विभिन्न

६७—तारानाथ, पृ० २७४।

लोको मे अस्तित्व, रूप अथवा भौतिक धर्मो का कर्म-फल होना, एव उनकी अरूप-लोक मे सत्ता, अन्तराभव का अस्तित्व, चित्त की स्वाभाविक भास्वरता, देवलोक-मे ब्रह्मचर्यावास की सम्भावना, श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियो की एव सम्यग्दृष्टि की लौकिकता, आकाश, प्रतीत्यसमुत्पाद, नियाम, तथता, आरूप्य समापत्ति, एव दो निरोधो की असस्कृतता।[६८]

बारो का मत--सदोष--विवाद-ग्रस्त विपयो मे मतैक्य एव मतभेद का परिगणन कर बारो महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि (१) महीशासक, महासाघिक, विभापा मे वर्णित विभज्यवादी, शारिपुत्राभिधर्मशास्त्र (धर्मगुप्तक), एव अन्धक परस्पर सलग्न प्रतीत होते है, (२) सिंहल के थेरवादी, एव काश्मीर के सर्वास्तिवादी एक दूसरा वर्ग बनाते है, (३) वात्सीपुत्रीय और सम्मतीय साथ चलते है, (४) दार्ष्टान्तिक और सौत्रान्तिको का परस्पर एव पहले वर्ग से सम्बन्ध है।[६९]

किन्तु इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि दूसरे और तीसरे वर्ग मे आन्तरिक अभिसम्बन्ध सुविदित है। महासाघिक और महीशासको का सम्बन्ध बारो महोदय की समीक्षा-प्रणाली के दोष से उद्भावित है। उन्होने इन सम्प्रदायो के मर्मभूत सिद्धान्तो के भेद की ओर ध्यान न देकर केवल सदृश और विसदृश सिद्धान्तो की सख्या पर ही अपना निर्णय आधारित किया है।

६८--इन समस्त 'वस्तुओ' का वर्गीकृत तालिका के रूप में विस्तृत प्रदर्शन--
बारो, पूर्व, पृ० २६०--८९।

६९--वहीं, पृ० २९०--९५।

अध्याय ४

बौद्ध धर्म का प्रसार और कला

बुद्ध से अशोक तक—भगवान् बुद्ध और उनके धर्म की जन्म-भूमि प्राच्य अथवा पूर्व देश था जिसका पश्चिमी छोर ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रयाग अथवा काशी माना जाता था। दूसरी सगीति के अवसर पर 'प्राचीनक' भिक्षुओ ने पूर्व देश की इस महिमा का स्पष्ट विख्यापन किया था।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि तथागत ने सद्धर्म का उपदेश प्रधानतया मगध एव कोशल के जनपदो मे तथा शाक्य, लिच्छवि, एव मल्ल आदि गणराज्यो मे किया था। राजगृह एवं श्रावस्ती मे उन्होने अनेक वार अवस्थान किया। उनकी चारिका की पूर्वी सीमा राढ के सेतक नाम के सुहमनिगम तक अथवा कजंगल तक वतायी गयी है। पश्चिम की ओर वत्स-राजधानी कौशाम्बी मे तथागत ने निवास एव उपदेश किया था। अनुश्रुति के अनुसार उन्होने चारिका के १२ वे वर्ष मथुरा के निकट वेरञ्ज मे वास किया, किन्तु वहाँ उन्हे विशेष साफल्य नही प्राप्त न हुआ। लौटते समय वे सौरेय्य, सकसस, कण्णकुज्ज, तथा पयागपतिट्ठान, होते हुए वाराणसी पहुँचे। उत्तर मे कुरु-जनपद के कम्मस्सघम्म तथा थुल्लकोटिठ्त नाम के ब्राह्मण-निगमो तक उनकी यात्रा वतायी गयी है।

पहले कहा जा चुका है कि तथागत ने अपने शिष्यो को सद्धर्म के प्रसारार्थ चारिका के लिए प्रोत्साहित किया था। चैतियो के सहजाति निगम मे महाचुन्द के द्वारा धर्म-देशना का उल्लेख मिलता है। महाकच्चायन प्रभृति भिक्षुओ ने अवन्ति मे सद्धर्म का प्रसार किया। यह स्मरणीय है कि महाकच्चायन का प्रवज्या से पूर्व का नाम नालक था एव उन्हे अवन्तिवासी वताया गया है। यह कहा गया है कि उन्होने तथागत के परि-निर्वाण के कुछ समय पश्चात् राजा मधुर अवन्तिपुत्त को सद्धर्म मे दीक्षित किया। सूनापरान्त के सुदूर प्रत्यन्त प्रदेश मे धर्म-प्रचार के लिए वही के निवासी पुण्ण को भेजने का उल्लेख उपलब्ध होता है[2]।

१—विनय ना०, चुल्लवग्ग, पृ० ४२५।

२—द्र०—मललसेकर, डिक्शनरी ऑव पालि प्रोपर नेम्स, जि० २, पृ० २२०।

विनय मे सद्धर्म की मूल भूमि को 'मज्झिमा जनपदा' कहा गया है और इनके सीमावर्ती प्रदेश 'पच्चन्तिम जनपद' कहे गये है।[३]। इनकी सीमाए इस प्रकार निर्दिष्ट है— पूर्व दिशा मे कजगल नाम का निगम, पूर्व दक्षिण मे सल्लवती (सललवती) नाम की नदी, दक्षिण दिशा मे 'सेतकण्णिक' नाम का निगम, पश्चिम दिशा मे 'थूण' नाम का ब्राह्मणग्राम, उत्तर दिशा मे 'उसीरद्धज' (उशीरध्वज) नाम का पर्वत[४]। इन सीमाओ के इस ओर 'मज्झिम' देश है, उस पार 'पच्चन्तिम' जनपद यथा अवन्ति-दक्खिणापथ। यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यन्त जनपदो मे धर्म-प्रचार की सुविधा के लिए विनय मे आवश्यक परिवर्तन किया गया। परिस्थिति की ओर सद्धर्म की यह जागरूकता उसके प्रसार मे निश्चित सहायक थी।

मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार बुद्ध के अनन्तर कुछ समय तक सद्धर्म की यथोचित प्रगति नही हुई। किन्तु धर्म के भौगोलिक प्रसार मे विशेष अवरोध नही प्रतीत होता। इस समय विस्तारशील मगध साम्राज्य के अनेक शासको की सद्धर्म के प्रति अनुकूलता उल्लेखनीय है। इन शासको मे उदायि[५], मुण्ड[६], कालाशोक[७] एव शूरसेन[८] के नाम

३–महावग्ग (ना०) पृ० ३३५, २१४–१६।

४–वही, पृ० २१६।
तु०—"पूर्वेणोदालिन् पुण्ड्रवर्धन नाम नगरं तस्य पूर्वेण पुण्ड्रकक्षोनाम दावः। (सोऽन्त.) ततः परेण प्रत्यन्त.। दक्षिणेन शरावती नाम नगरी। तस्याः परेण शरावती (सरावती) नाम नदी। सोऽन्त.। तत. परेण प्रत्यन्तः। पश्चिमेन स्थूणोपस्थूणकौ ब्राह्मणग्रामौ। ...उत्तरेण उशीरगिरि.।" (गिलगित मैनुस्क्रिप्ट्स, जि० ३, भा० ४, पृ० १९०)।
इससे ज्ञात होता है कि सल्लवती=सललवती=शरावती=सरावती। 'अन्त' सीमा के इस ओर है, 'प्रत्यन्त' उस पार।

५–मञ्जुश्रीमूलकल्प (जायसवाल), श्लो० ३२४, 'उकाराख्य' राजाबुद्धशासन के लिए उद्यत होगा और शास्ता के प्रवचन को लिपिबद्ध करायेगा।

६–अंगुत्तरनिकाय (रो०) जि० ३, पृ० ५७ प्र०।

७–जिसके समय में 'दूसरी सगीति' कही गयी है।

८–तु०—मञ्जुश्री मूलकल्प (जायसवाल) श्लो० ४१७–२१; 'वीरसेन' पर द्र०—तारानाथ (अनु० शीफनर) पृ० ५०–५१।

निर्दिष्ट हैं। परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कालाशोक के समय मे दूसरी सगीति का विवरण प्राप्त होता है। इस समय सघ के तीन प्रधान केन्द्र थे—वैशाली, कौशाम्बी, एव मथुरा, तथा सघ के अन्दर 'प्राचीनक' (पूर्वी) तथा 'पच्छिमक' (पश्चिमी) भिक्षुओ के दो विभिन्न दल वन चुके थे[९]। पूर्व मे राजधानी के परिवर्तन के साथ राजगृह का स्थान पाटलिपुत्र ने ले लिया था। पावा, सहजाति, कान्यकुब्ज, सोरेय्य, सकाश्य, स्त्रुघ्न, और अवन्ती सद्धर्म के इस समय अन्य केन्द्र थे। यह स्पष्ट है कि आर्यावर्त मे इस समय बौद्ध धर्म का प्रसार अवन्ति से वैशाली तथा मथुरा से कौशाम्बी तक था। परवर्ती काल मे विदेशी बौद्ध यात्री मथुरा से ही 'मध्य देश' का आरम्भ मानते थे। इस मध्य देश का बौद्धो के लिए विशेष महत्त्व था क्योकि उसी मे बुद्ध-लीला से सम्बद्ध उनके पुण्यतीर्थ थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैशाली की सगीति के अनन्तर प्रादेशिक भेद के साथ-साथ वौद्धो मे साम्प्रदायिक भेद प्रकट हुए तथा विभिन्न सम्प्रदायो के नेतृत्व मे सद्धर्म विभिन्न दिशाओं मे प्रसारित हुआ। एक ओर मगध से महासाघिक अन्ध्रापथ की ओर प्रवृत्त हुए, दूसरी ओर कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ के मार्ग पर स्थविरवादी, तथा मथुरा से उत्तरापथ की ओर सर्वास्तिवादी अग्रसर हुए। नन्दमौर्य साम्राज्य मे पहली बार अखिल भारतीय एकसूत्रता आभासित हुई तथा प्रशासकीय, सैनिक, व्यापारिक एव सास्कृतिक दृष्टियो से अन्त. प्रादेशिक सम्बन्धो की अवतारणा हुई। एक ओर अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि के विकास मे जो अखिल भारतीयता प्रतिबिम्बित है, उसे ही पुरातत्त्वीय मृद्भाण्ड जगत् मे एन्० बी० पी० का प्रसार सूचित करता है[१०]। इस अखिलभारतीयता का सबसे ज्वलन्त प्रतीक अशोक की धर्मलिपियाँ और स्तम्भ हैं।

अशोक—अशोक और सद्धर्म के सम्बन्ध पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु कुछ विवाद अभी तक शान्त नही माने जा सकते। सभी बौद्ध परम्पराए अशोक को बौद्ध घोषित करती हैं[११]। किन्तु जहाँ स्थविरवादी उन्हे निग्रोध एव मौद्गली पुत्र तिष्य

९—द्र०—प्रिलुस्कि, पूर्व०।

१०—तु०—पुल्बाराव, पर्सनेलिटी ऑव् इण्डिया, पृ० ४६; तु०—जी० आर० शर्मा, पूर्व०।

११—उदा०—दीपवंस, महावंस, दिव्यावदान, फाश्येन, श्वानच्वांग, तारानाथ, बुदोन।

के अनुयायी वताते है, मथुरा के सर्वास्तिवादी उन्हे उपगुप्त के शिष्य मानते है[१२]। अशोक के अपने अभिलेखो मे उनके स्वय वोद्ध होने के कुछ सकेत होते हुए भी यह कहना कठिन है कि जिस 'धर्म' का उन्होने विविध उपायो से प्रचार किया वह सद्धर्म ही है। अशोक सभी धर्मो के हितैषी थे और किसी विशेष सम्प्रदाय का पक्ष-पोपण अनुचित समझते थे। वे सभी धर्मो की सारवृद्धि चाहते थे तथा उनकी धर्मलिपियो मे एक प्रकार का सारभूत सर्वसाधारण धर्म ही उपदिष्ट प्रतीत होता है। तथापि उनके व्यक्तिगत धर्म होने के कारण सद्धर्म को अशोक से अवश्य पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। 'पाटलिपुत्र-सगीति' की अनुश्रुति मे कम-से-कम आशिक सत्य स्वीकार करना चाहिए[१३]। अशोक के स्तम्भो मे स्पष्ट ही धर्मचक्र आदि वौद्ध प्रतीक उत्कीर्ण है। वौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूपो का निर्माण कराया[१४]। यह निस्सन्देह है कि अशोक के ही समय से वौद्ध प्रस्तरकला इतिहास मे प्रकट होती है[१५]। दिव्यावदान के अनुसार अशोक आर्य सघ का पञ्चवार्षिक सत्कार करते थे[१६]। यह सम्भव है क्योकि परवर्ती काल मे भी पञ्चवर्षीय दान परिषदो का वौद्ध शासको मे प्रचार उपलव्ध होता है[१७]।

तृतीय सगीति—'तृतीय' सगीति का विवरण दीपवस, महावस, समन्तपासादिका एव कथावत्थुअट्ठकथा मे उपलव्ध होता है। किन्तु सैहलक स्थविरवादी परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र इस सगीति के विषय मे 'मौन' के कारण यह सन्देह उत्पन्न होता है कि कि यह सगीति कदाचित् एकनिकायिक थी, चातुर्दिश नही[१८]। यह भी कहा गया हे

१२–मथुरा की 'स्थविर-परम्परा' (आचार्य०) मूलसर्वास्तिवाद-विनय तथा अशोकराजसूत्र में इस प्रकार उपलब्ध होती है—महाकाश्यप—आनन्द—शणिक (शाणवास)—उपगुप्त, द्र०—फ्राउवाल्नर, पूर्व०, पृ० २८–३४, पालि स्थविरपरम्परा दीपवंस आदि में प्रसिद्ध है, द्र०—नीचे; तु०—वुदोन, जि० २, पृ० १०८–९।

१३–दे०—नीचे।

१४–दिव्यावदान (स० वैद्य), पृ० २४०।

१५–दे०—नीचे।

१६–दिव्यावदान, पृ० २५९।

१७–फाश्येन और श्वानच्वाग, दे०—नीचे।

१८–उदा० तु०—कीथ, वुधिस्ट फिलॉसफी, पृ० १८–१९, टॉमस, हिस्टरी ऑव वुधिस्ट थॉट, पृ० ३५।

कि कदाचित् दिव्यावदान मे प्रोक्त अशोक की पञ्चवर्षीय परिषद् को ही अतिरंजित कर 'संगीति' बना दिया गया हो। अशोक के अभिलेखो मे इस संगीति का निर्विवाद उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यदि पालिपरम्परा सत्य है तो अशोक का मौन दुर्बोध है। दूसरी ओर, कौशाम्बी, सारनाथ तथा साँची के अभिलेखो मे अशोक ने स्पष्ट ही संघ-भेद को निराकृत करने का निश्चय प्रकट किया है[१९]। उनका कहना है कि उन्होने संघ को समग्र किया, तथा जो भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघभेद के लिए प्रयत्नशील हो, उसे अवदात वस्त्र पहिना कर संघ से निकालने की उन्होने आज्ञा दी। सारनाथ-स्तम्भ-लेख मे महामात्रो को आदेश दिया गया है कि वे उपोसथ के दिनो मे नित्य जाकर उल्लिखित राजशासन के पालन की ओर सावधान हो। इससे पालिपरम्परा का समर्थन होता है कि अशोक के समय संघ नाना सम्प्रदायो मे विभक्त था तथा अशोक ने संघ को समग्र किया। यह स्मरणीय है कि विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षु पृथक्-पृथक् आवासो मे नही रहते थे। अतएव उनमे विनय-सम्बन्धी मतभेद के कारण एकत्र उपोसथ के पालन मे कठिनाई दुर्निवार रही होगी। कहा गया है कि इस अवरोध से सात वर्ष तक अशोकाराम मे उपोसथ नही किया गया[२०]। इस पर अशोक ने मौद्गली पुत्र तिष्य की संरक्षकता में भिक्षुओ को एकत्र किया, तथा उनके सिद्धान्तो की परीक्षा के अनन्तर जो भिक्षु विभज्यवादी नही थे उन्हे संघ से निकाल दिया।

यह निश्चित है कि अशोक ने संघभेद के विरुद्ध, एवं संघ की समग्रता के पक्ष मे नियम बनाये। किन्तु यदि उन्होने 'संगीति' संयोजित की होती तो इसका अवश्य ही स्पष्ट उल्लेख करते। दूसरी ओर, यदि संगीति न हुई होती तो विभिन्न सम्प्रदायो के संघर्ष मे अशोक किस सम्प्रदाय के अनुसार संघ की समग्रता के विषय मे राजशासन प्रवर्तित करते? ऐसा प्रतीत होता है कि संगीति अवश्य हुई थी, किन्तु उसके आयोजन मे संघ का ही हाथ था। इसीलिए अशोक ने उसका साक्षात् उल्लेख नही किया है[२१]। तथापि भाब्रू अभिलेख मे इस संगीति का संकेत कथंचित् देखा जा सकता है। इसमे अशोक अपने को 'मागध राजा' बतलाते हुए संघ का अभिवादन करते है तथा सद्धर्म

१९—द्र०—डी० आर० भण्डारकर, अशोक (द्वितीयसंस्करण), पृ० ९६; तु०—वी० स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑव् इण्डिया (४र्थ संस्करण), पृ० १६९।

२०—द्र०—दि० डिबेट्स कमेन्टरी (पी० टी० एस०, अनुवाद) पृ० ५।

२१—तु०—वी० स्मिथ, वहीं, स्मिथ के अनुसार अभिलेख पहले के हैं, संगीति बाद की।

के सब अनुयायियो के लिए विशेष रूप से स्मरणीय कुछ धर्मपर्यायो का निर्देश करते है। डा० भण्डारकर का सुझाव है कि यहाँ पर 'सघ' शब्द से किसी विशेष स्थान पर एकत्र समस्त सघ के प्रतिनिधियो का अर्थ ग्रहण करना चाहिए[२२]। ऐसी व्याख्या करने पर अशोक का अपना स्वय परिचय देना भी समझ मे आता है। क्योकि कदाचित् सगीति मे दूर-दूर के भिक्षु आये होगे। अन्य सम्प्रदायो के मौन का कारण इस सगीति मे विभज्यवादियो का प्राधान्य हो सकता है, किन्तु यदि सगीति एकदेशी थी, तो अशोक उसके नियमो को क्यो मानते ? वे स्वय साम्प्रदायिकता एव पक्षपात के प्रतिकूल उपदेश करते थे। वस्तुत यह स्मरणीय है कि पहली दो सगीतियाँ विनय मे उल्लिखित है, अतएव उनका विवरण परवर्ती बौद्ध परम्पराओ मे सर्वत्र उपलब्ध होता है। यही नही, वे सगीतिया सघभेद के पूर्व की होने के कारण सर्वमान्य है, किन्तु दूसरी सगीति के अनन्तर शाखा भेद उत्पन्न होने से, तथा भिक्षुओ के ऐतिहासिक अज्ञान के कारण घटनाओ और व्यक्तियो की स्मृति धुँधली हो जाने से यह सम्भव है कि उपेक्षा एव विस्मरण अथवा स्मृति-सकर के कारण ही इस तीसरी सगीति का स्पष्ट विवरण 'उत्तरी बौद्ध' परम्परा मे नही मिलता। तथापि यह उल्लेखनीय है वसुमित्र के अनुसार सगीति अशोक के समय मे कुसुमपुर मे हुई थी तथा इस विवरण मे दस विनय-वस्तुओ की चर्चा न होकर महादेव की प्रतिपादित 'पाच वस्तुओ' का उल्लेख है[२३]। महादेव की 'पाँच बातें' कथा-वत्थु मे उपलब्ध होती है[२४]। यह स्पष्ट है कि वसुमित्र ने 'दूसरी' और 'तीसरी' 'सगी-तियो को एक कर दिया है ओर इस प्रक्रिया मे कुछ अश दूसरी सगीति का ओर कुछ तीसरी का लुप्त हो गया है। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तीसरी सगीति के विषय मे न तो अशोक सर्वथा मौन है, न विभज्यवादियो के वहिर्भूत अन्य सम्प्रदाय[२५]। तीसरी सगीति की ऐतिहासिकता अवश्य सूचित होती है, किन्तु उसका निष्पक्ष ऐतिहासिक विवरण प्राप्त नही होता।

महावस के अनुसार सघ मे प्रविष्ट तीर्थिको के वाहुल्य के कारण सात वर्ष तक

२२—द्र०——भण्डारकर, अशोक, पृ० १०१-२।

२३—मसुदा, पूर्व, पृ० १४।

२४—पूसें, जे० आर० ए० एस०, पूर्व० स्थल।

२५—श्वान्च्वाग के विवरण में भी इस सगीति का कथचित् उल्लेख द्रष्टव्य है——
बील, जि० ३, पृ० ३३१।

उपोसथ एव प्रवारणा न हुई[२६]। यह सुनकर अशोक ने एक अमात्य को अशोकाराम[२७] भेजा और कहा कि विवाद की शान्ति के अनन्तर उपोसथ का विधान होना चाहिए। अमात्य के राजशासन सुनाने पर भिक्षुओ ने तीर्थिको के साथ उपोसथ न करने का अपना निर्णय दुहराया। अमात्य ने वलपूर्वक उपोसथ कराने के प्रयत्न मे कुछ स्थविरो का सिर काट लिया। राजा के अनुज तिष्य स्थविर के बीच-वचाव से यह काण्ड रुका और अशोक को सूचना पहुँची। अशोक ने दु खी होकर जानना चाहा कि ऐसी परिस्थिति मे दोषी कौन ठहरेगा। भिक्षुओ ने विभिन्न मत प्रकट किये। कुछ ने राजा को भी दोषी माना। अन्तत राजा ने निर्णय के लिए मौद्गलीपुत्र तिष्य[२८] को बुलाने का निश्चय किया। उनके बुलाने के लिए पहले चार स्थविर और चार अमात्य भेजे गये। प्रत्येक स्थविर के साथ एक सहस्र भिक्षु और प्रत्येक अमात्य के साथ एक सहस्रराजपुरुष थे। किन्तु मौद्गलीपुत्र ने निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। इस पर पूर्ववत् अनुचरो के साथ आठ स्थविर और आठ अमात्य भेजे गये, किन्तु कोई सफलता प्राप्त न हुई। सानुचर सोलह स्थविर और सोलह अमात्यो के भेजने पर मौद्गली पुत्र ने अहोगग पर्वत से उतरना स्वीकार किया, जहाँ वे सात वर्ष से एकान्त ध्यान मे निरत थे। राजा ने स्वय गगा जल मे खडे होकर स्थविर को नाव से उतारा। सत्कार के पश्चात् राजा ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए अनुरोध किया। स्थविर ने भूकम्प-सिद्धि दिखला कर राजा को सन्तुष्ट किया। इसके पश्चात् उन्होने राजा को समझाया कि भिक्षुवध का अपराध उन्हे न लगेगा और क्योकि कर्म तव तक सदोप नही होता जव तक मन सदोप न हो।

राजा ने पृथ्वी भर के भिक्षुओ को अशोकाराम मे एकत्र करवाया। भिक्षुओ के मत की परीक्षा के अनन्तर मिथ्या दृष्टि वाले भिक्षुओ[२९] की प्रव्रज्या छीन ली गयी। इस प्रकार ६०,००० भिक्षु निकाले गये। राजा ने धार्मिक भिक्षुओ से भी भगवान्

२६–महावंस (बम्बई, १९५९), पृ० ४३ प्र०।

२७–समन्तपासादिका (सं० तकाकुसु) के अनुसार अशोकाराम अशोक ने ही बनवाया था।

२८–सांची, द्वितीय स्तूप के एक अभिलेख में 'सपुरिस मोगलिपुत' (सत्पुरुष मौद्गलीपुत्र) का नाम उपलब्ध होता है।

२९–एकमत से वे मुख्यतया महासांघिक थे, (दत्त, पूर्व० पृ० २६९)। किन्तु, यह स्मरणीय है कि कथावस्तु की प्राचीनतम 'कथा' वात्सीपुत्रियो के विरोध में है।

वुद्ध का वास्तविक मत पूछा, जो उन्होने विभज्यवाद वताया। मौद्गलीपुत्र ने इसका समर्थन किया तथा भिक्षु-सघ ने शुद्ध होकर पुन उपोसथ का विधान किया।

मौद्गलीपुत्र ने वहुसख्यक भिक्षु-सघ मे से एक सहस्र बुद्धिमान्, पडभिज्ञ, त्रिपिटक-विद् और प्रतिसम्भिदा प्राप्त भिक्षुओ को सद्धर्मसग्रह के लिए चुना और उनके साथ अशोकाराम मे ही सगीति की। अन्य मतो के खण्डन के लिए स्थविर ने कथावत्थुप्प-करण की रचना की। इस प्रकार अशोक की सरक्षकता मे तथा मौद्गली पुत्र की अध्यक्षता मे एक सहस्र भिक्षुओ ने नौ महीनो मे तीसरी धर्मसगीति समाप्त की। अशोक के शासन का उस समय १७ वाँ वर्ष था तथा मौद्गलीपुत्र ७२ के थे। सगीति समाप्त करके मौद्गलीपुत्र ने भविष्य को देखते हुए प्रत्यन्त प्रदेशो मे वुद्ध शासन की स्थापना के लिए अनेक स्थविरो को भेजा।

दीपवस, कथावत्थुप्पकरण एव समन्तपासादिका मे तृतीय सगीति का विवरण इसके समञ्जस है। यह स्पष्ट है कि इस 'सगीति' के दो भाग थे—'तीर्थिक' भिक्षुओ का सघ से निष्कासन, त्रिपिटक का विशेषतया अभिधर्म पिटक का, सगायन। विनय भेद के कारण उपोसथ मे कठिनाई ही सगीति का मूल कारण था। कदाचित् अशोक ने केवल इसी विषय मे सगीति के निर्णय को मान्य ठहराया हो। त्रिपिटक-सगायन, अथवा, जैसा अधिक सम्भाव्य है, गौद्गलीपुत्र के द्वारा विभज्यवाद के विरोधियो के निराकरण का प्रयत्न, कदाचित् एकदेशी अर्थात् एकनिकायिक था। कथावत्थुप्पकरण अपने वर्तमान रूप मे एक साहित्यिक इकाई नही है[30]। नाना साम्प्रदायिक मतो के आविर्भाव एव उनसे परिचय होने पर उनका खण्डन भी सम्भवत मौद्गलीपुत्र की मूल कथावस्तु मे सयोजित कर दिया गया और इस प्रकार उसकी वर्तमान रूप मे क्रमिक निष्पत्ति हुई। भाषा के विचार से प्रथम 'कथा' मे मागधी छाया उसकी प्राचीनता द्योतित करती है।

अशोक के अभिलेखो से ज्ञात होता है कि उसने सर्वत्र अपने साम्राज्य मे, प्रत्यन्त प्रदेशो मे तथा सुदूर पश्चिमी विदेश मे 'धर्म-विजय' का प्रयत्न किया तथा अपने दूत भेजे। अनेक इतिहासकारो ने यह मान लिया है कि अशोक की यह धर्म-विजय सद्धर्म का ही प्रचार था और अत इसे स्वीकार किया है कि अशोक के सरक्षण के कारण मगध

३०–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० १३–१४, तु०—श्रीमती राइज़ डेविड्स, पाइन्ट्स ऑव् कान्ट्रेवर्सी, भूमिका, अट्ठसालिनी के अनुसार 'कथावत्थु' की रचना भी परम्परया बुद्ध भगवान् के द्वारा ही माननी चाहिए। (द्र०—नीचे)।

का एक धार्मिक सम्प्रदाय विश्वविजयी धर्म मे परिणत हो गया[३१]। किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणीय है कि स्थविरवादियो की उपर्युक्त परम्परा के अनुसार मौद्गली पुत्र तिष्य ने ही प्रत्यन्त जनपदो मे धर्म प्रचार के लिए भिक्षुओ को भेजा। कश्मीर-गन्धार के लिए मज्झन्तिक भेजे गये, महिषमण्डल के लिए महादेव, वनवासी के लिए रक्खित,अपरान्त के लिए योनक धम्मरक्खित,महारट्ठ के लिए महाधम्मरक्खित, यवनो मे महारक्खित, हिमवत्प्रदेश मे मज्झिम, काश्यपगोत्र, मूलदेव, सहदेव और दुन्दभिस्वर, सुवण्णभूमि मे सोण और उत्तर, ताम्रपर्णी को महेन्द्र, 'इट्ठिय', 'उत्तिय', सम्बल और भद्रशाल। अभिलेखो से स्थविरवादियो के द्वारा धर्म प्रचार के इस प्रयत्न का आंशिक समर्थन उपलब्ध होता है[३२]।

प्रत्यन्त जनपदो में प्रसार—महावस के अनुसार उपालि के शिष्य दासक थे, दासक के सोणक, सोणक के सिग्गव और चण्डवज्जि, सिग्गव के मोग्गलिपुत्र तिस्स। यह आचार्य-परम्परा सर्वास्तिवादी परम्परा से भिन्न है जिसके अनुसार आनन्द के शिष्य शाणवास थे, शाणवास के उपगुप्त। थेरवादी परम्परा वैशाली, राजगृह और पाटलिपुत्र की है, सर्वास्तिवादी परम्परा मथुरा की। मोग्गलिपुत्त की प्रेरणा से अशोक के शासन के छठे वर्ष मे उसके लडके महेन्द्र और लडकी सघमित्रा ने प्रव्रज्या ली। महेन्द्र बीस वर्ष के थे, सघमित्रा अठारह की। तृतीय सगीति के पश्चात् मोग्गलिपुत्त ने महेन्द्र को इट्ठिय, उत्तिय सम्बल और भद्रसाल के साथ धर्म प्रचार के लिए लका भेजा। उस समय महेन्द्र को प्रव्रजित हुए बारह वर्ष हुए थे। महेन्द्र की माता विदिशा मे रहती थी और विदिशा के ही मार्ग से वे लका मे मिश्रक पर्वत (मिहिन्तले) पहुंचे जहाँ देवानाम्प्रिय तिष्य शासन करते थे। पीछे सघमित्रा ताम्रलिप्ति से नाव पर चढ-कर जम्बूकोल पहुँची। सिहल मे भिक्षु और भिक्षुणी-सघ की स्थापना कर महेन्द्र और सघमित्रा ने तिष्य के उत्तराधिकारी उत्तिय के शासनकाल मे निर्वाण प्राप्त

३१—तु०—वी० स्मिथ, पूर्व० पृ० १९७—९९।

३२—सोनारी और सांची के स्तूपो से प्राप्त अभिलेखो में हैमवत दुन्दुभिस्वर, सत्पुरुष मध्यम (मज्झिम), एवं 'सर्वहेमवताचार्य काश्यपगोत्र' के नाम उपलब्ध होते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि नागार्जुनिकोण्ड के एक परवर्ती अभिलेख में ताम्रपर्णी के स्थविर आचार्यों को कश्मीर-गन्धार-चीन-चिलात-तोसलि-अवरत-वग-वनवासि-यवन-द्रविड-पलुर के प्रसादक कहा गया है। (दे०—नीचे)।

किया[३३]। यह उल्लेख्य है कि फाश्येन ने सिहल मे सद्धर्म का प्रवेश बुद्ध भगवान् के द्वारा बताया है[३४]। श्वान्-च्वाग ने अशोक के अनुज महेन्द्र को सिहल मे बौद्ध धर्म का प्रथम प्रचारक बताया है[३५]। यह स्मरणीय है कि फाश्येन भी अशोक के अनुज का उल्लेख करता है, जिसे वह अर्हत् बताता है।[३६]। किन्तु इन अनुश्रुतियो को सिहली परम्परा से अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता[३७]।

सुवर्ण भूमि और दक्षिणापथ—'सुवर्णभूमि' का अर्थ स्पष्ट नही है। बर्मा मे सुवर्णभूमि का रामञ्ञदेश (बर्मा) से तादात्म्य स्वीकार किया गया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है[३८]। सुवर्णभूमि का सम्बन्ध 'सुवर्णगिरि' से स्थापित किया जाना चाहिए। सुवर्णगिरि अशोक की प्रादेशिक राजधानी थी और कदाचित् उसकी स्थिति दक्षिण मे मास्की के निकट थी[३९]। वहाँ की स्वर्ण गर्भा भूमि ही कदाचित् 'सुवर्णभूमि' थी जहाँ सोण और उत्तर को धर्मप्रचार के लिए भेजा गया। दूसरी ओर यह भी स्मरणीय है कि सुवर्णभूमि का भारत के अन्दर अन्यत्र उल्लेख सुलभ नही है। अर्थशास्त्र एव मिलिन्द-पञ्हो मे कदाचित् विदेश उद्दिष्ट है। यह सम्भव है कि 'अलडोरेडो' के समान सुवर्ण भूमि भी भारत के बाहर दक्षिणपूर्व के किसी भाग का नाम रहा हो । किन्तु इतना निश्चित है कि बर्मा मे सद्धर्म की निश्चित सत्ता अशोक के समय से अनेक शताब्दी परवर्ती है। प्रोम के निकट ई० तीसरी से छठी शताब्दी के मध्य के पालि अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो उस समय वहाँ हीनयान का प्रचार सूचित करते हैं[४०]। कदाचित् ई०

३३—महावंस, पृ० ८४ प्र०।
३४—फाश्येन (अनु० लेग) पृ० १०२।
३५—श्वान्च्वाग (अनु० लील, प्र० सुशील गुप्त) जि० ४, पृ० ४४२।
३६—फाश्येन (अनु० लेग), पृ० ७७।
३७—तु०—स्मिथ, अर्ली हिस्टरी ऑव् इण्डिया, पृ० १९६—९७।
३८—तु०—इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ५०, तारानाथ के अनुसार भी अशोक के समय से कोक्किदेश में धर्म का प्रचार हुआ। कोक्किदेश कदाचित् बर्मा था। द्र०—तारानाथ (अनु० शीफनर) अध्याय ३९।
३९—तु०—स्मिथ, वहीं, पृ० १७२, फ्लीट ने सुवर्णगिरि का तादात्म्य राजगृह के निकट सोनगीर से स्थापित किया है—जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ९८१—१०१६, दत्त के अनुसार सुवर्णभूमि कदाचित् मगध के पास रही होगी, पूर्व, जि० २, २७१।
४०—द्र०—जे० ए० १९१२, पृ० १३१—३६।

तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत अथवा सिहल में सद्धर्म दक्षिणी वर्मा पहुँचा। दूसरी ओर उत्तरी बर्मा में सद्धर्म कदाचित् समतट से पहुँचा था।[४१]

बौद्धधर्म का महिषमण्डल, वनवासी, महाराष्ट्र और अपरान्त मे अशोक कालीन प्रचार और प्रसार अनायास विश्वास्य है। महिपमण्डल अथवा महिषराष्ट्र से महीशासकों को सम्बद्ध किया गया है, किन्तु यह सम्भाव्यमात्र है। यह अवधेय है कि अपरान्त में प्रचार का कार्य एक यवन (योनक) को दिया गया है जो कि सुराष्ट्र मे अशोक के प्रान्तपति यवनराज तुषाप्प का स्मरण दिलाता है। यह भी विचारणीय है कि सघ के द्वारा इस धर्मप्रचार के प्रसग मे दक्षिणपूर्वी भारत का उल्लेख प्राप्त नही होता। नन्दराज के समय मे कलिग मे जैनशासन विदित था। कलिग विजय के अनन्तर अशोक ने वहाँ 'धम्म' के अनुकूल व्यवस्था की थी।

उत्तरापथ—पालि परम्परा मे हिमवत्प्रदेश, कश्मीर, गन्धार, एव यवनराष्ट्र मे धर्मप्रचार का श्रेय मोद्गलीपुत्र के भेजे हुए काश्यपगोत्र, दुन्दुभिस्वर, मध्यान्तिक, एव महारक्षित को दिया हुआ है। हेमवतो के आचार्य काश्यपगोत्र, दुन्दुभिस्वर एव मध्यान्तिक की ऐतिहासिकता ऊपर सूचित की जा चुकी है। हिमवत्प्रदेश मे काश्यपीय अथवा हैमवत सम्प्रदायो का प्रचार यही से मानना चाहिए।[४२] समन्तपासादिका मे कहा गया है कि कश्मीर मे एक नाग का आधिपत्य था। मध्यान्तिक ने उसे प्रसादित कर सद्धर्म का प्रचार किया तथा सबसे पहले आशीविषोपम सुत्तन्त का उपदेश किया।[४३] कश्मीर और गन्धार परवर्तीकाल मे सर्वास्तिवादियो के केन्द्र थे। उत्तरापथ मे सद्धर्म को प्रसारित करने का कुछ श्रेय मथुरा के सर्वास्तिवादियो को देना चाहिए जिन्हे उत्तरकाल मे 'मूलसर्वास्तिवादी' कहा गया है।[४४] इनके विनय मे न केवल मध्यान्तिक के द्वारा कश्मीर मे धर्म प्रचार का उल्लेख है, अपितु वुद्ध भगवान् को उड्डियान एव गन्धार तक गया हुआ कल्पित किया गया है। चीनी यात्रियो के विवरण से ज्ञात होता है कि उत्तरापथ मे प्रचलित अनुश्रुतियो ने नाना स्थानो को वुद्ध भगवान् के जीवन और शरीर से सम्बद्ध किया था और वहाँ श्रद्धालु उपासकों ने स्तूप, चैत्य आदि का निर्माण किया था। वुद्ध भगवान् के सर्वथा अपरिचित इन प्रदेशो मे श्रद्धानुगामिनी कल्पना

४१—इलियट, पूर्व० जि० ३, पृ० ५३।
४२—दे० नीचे।
४३—तु०—बील, श्वानच्वांग जि० २, पृ० १८९।
४४—इसके विरोध में द्र०—फ्राउवालनर, पूर्व पृ० २४—४०।

का यह महत्त्व भी अधिकतर सर्वास्तिवादियो की तथा कुछ अश तक लोकोत्तरवादी महासाघिक आदि की देन है।[४५] उत्तरापथ मे सद्धर्म का प्रसार वैदेशिक राजकुलो का भी ऋणी था।[४६]

अशोक ने जम्बूदीप के वाहर सुदूर पश्चिम तक 'धम्म' के दूत भेजे जिनके द्वार से भारतीय आध्यात्मिक सस्कृति विशेषतया सद्धर्म का कुछ न कुछ परिचय अवश्य ही उन देशो तक पहुँचा होगा। यह सम्भव है कि निवृत्ति, तप, अहिसा, मैत्री, निर्माण-काय आदि के सिद्धान्तो ने ईसाई धर्म के अभ्युदय और विकास मे सहायता पहुँचायी हो[४७]।

बौद्ध कला का विकास; कला का उद्गम और बौद्ध धर्म—सिन्धु-सभ्यता मे शिल्प और वास्तु धार्मिक जीवन के अग और सहायक के रूप मे उपलब्ध होते है। सैन्धव शिल्प मे परवर्ती भारतीय कला के कुछ विशिष्ट लक्षण देखे जा सकते है—मानव रूप की आदर्शपरक अभिव्यक्ति, पशुओ का स्वाभाविक निरूपण।[४८] मानव रूप आध्यात्मिक शक्ति अथवा चेतना को प्रतिविम्बित करने की योग्यता से ही देवता को 'मूर्ति' प्रदान करता है। प्रतिमार्थ उपयुक्त नररूप के लिए आवश्यक है कि उसमे दैहिकता के स्थान पर प्राणिक स्फूर्ति का प्राधान्य हो तथा वह 'वैयक्तिक' न होकर साधारणीकृत अथवा आदर्शीकृत हो। दूसरी ओर, पशु प्रकृति के अग है, सजीव होते हुए भी उनमे कर्मशक्ति का अभाव है। यदि सैन्धव सभ्यता 'योगविद्या एव ससारवाद' से परिचित थी, जैसा कि सम्भाव्य है, तो उसकी कला मे नर और पशु का निरूपण-भेद सुबोध हो जाता है

४५—श्वानच्वांग ने लोकोत्तरवादियो को बामियान में देखा था, बील, जि० १, पृ० ११४, उड्डियान में उसने सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्त, महीशासक, काश्यपीय एवं महासाघिको का उल्लेख किया है, वहीं, जि० २, पृ० १६७।

४६—दे०—नीचे।

४७—द्र०—राय चौधरी, पुलीटिकल हिस्टरी ऑव् एन्श्येन्ट इण्डिया पृ० ६१४–१७; इलियट हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ४२९, प्र०, विन्टरनित्स, पूर्व, पृ० ४०२ प्र०; स्मिथ, पूर्व पृ० १९७। सामान्यत: तु०—एडमंड्स, बुधिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गौस्पेल्स (४र्थ संस्करण. सं० आनेसाकि, १९०८–९); गार्बे, इन्दी न उन्द दास क्रिस्तेन्तुम।

४८—द्र०—नर्तकी की ताम्रमूर्ति, मुद्राकित पशुपति; मुद्राकित वृषभ; द्र०—ह्वीलर, पूर्व० चित्रफलक, १७, २३।

और परवर्ती भारतीय धर्म और लिपि के समान कला की परम्परा का भी मूल उद्गम सिन्धु सभ्यता में ही मानना चाहिए।[४९]

वैदिक काल में यह परम्परा विच्छिन्न-सी प्रतीत होती है। सैन्धव नागरिकता वैदिक आर्यो की ग्रामीणता में विलुप्त हो गयी। ईंटो के स्थान पर लकड़ी के उपयोग से वास्तुकला अपने उपादान के समान पुरातत्त्वविदो के लिए भी निश्शेषभगुर हो गयी। पुरुषविध, नररूप देवताओ का स्थान 'प्रत्यक्ष-तनु' देवताओं ने ले लिया जो काव्य की प्रेरणा होते हुए भी कला के लिए अमूर्त थे।[५०]

सूर्य, अग्नि, वायु अथवा सोम के यजन के लिए उनकी प्रतिमाएँ अनावश्यक थी। यह अद्भुत है कि जहाँ सिन्धु सभ्यता का अपने देवताओ के समान केवल नामहीन अवाक्रूप शेष मिलता है, वैदिक सभ्यता का अभौतिक वाङमय रूप ही उपलब्ध होता है। वैदिक देवता भी शब्दात्मक थे न! अस्तु, उत्तर वैदिक काल से यह परिस्थिति क्रमश परिवर्तित हुई तथा अनेक कारणो के समवेत प्रभाव से अशोक के युग मे कला का पुनर्जन्म हुआ। इन कारणो को त्रिविध कहा जा सकता है—कला के पोषक सामाजिक वर्ग का उदय, कारीगरी का विकास, एव धार्मिक प्रेरणा का प्रभाव। ई० पू० छठी शताब्दी से नगर-जीवन, धनिकवर्ग, तथा राजदरबारो के अभ्युदय के साथ वास्तुकला तथा विविध शिल्पो का पुनरुज्जीवन स्वाभाविक था। कुछ शताब्दियो तक इस वास्तु के विषय धनिको के हर्म्य तथा राजप्रासाद ही थे और इसका अधिकाश दारुमय होने के कारण अतीव भगुर था। चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र का प्रासाद इसके एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप मे स्मरणीय है।[५१] हाथीदाँत, काष्ठ आदि के शिल्पो ने इस युग मे पर्याप्त प्रगति की। प्रचलित धर्म मे यक्षो की प्रतिमाओ का भी उपयोग होता था।[५२] श्रेणियो के विकास ने शिल्पियो को सगठन, शिक्षा एव परम्परा प्रदान की

४९–तु०—रोलन्ड, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, ऑव् इण्डिया, पृ० ४८।

५०–तु०—'प्रत्यक्षाभिस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश.' (शाकुन्तल)।

५१–द्र०—मैक्रिन्डल, एन्शेन्ट इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड मेगास्थनीज़ एण्ड एरियन, पृ० ६५–६८ तु०—स्पूनर, ए० एस० आइ० ए० आर० १९१२–१३; वैडल, रिपोर्ट ऑव् एक्सकवेशन्स एट पाटलिपुत्र (१९०३); तु०—फाश्येन (अनु० जाइल्स), पृ० ४५।

५२–उदा०—पारखम और पटना की प्रसिद्ध, किन्तु विवादग्रस्त मूर्तियाँ, दीदारगंज की यक्षी।

जिसके सहारे कला मे निपुणता का विकास सम्भव हुआ। अपने समर्थक धनिको और शासको के अनुगह से बौद्ध विहारो की समृद्धि बढी तथा कालान्तर मे वे स्वय कला के पोषक बन गये और कला धर्मप्रचार का माध्यम।

कला और धर्म का यह समन्वय एक विशाल आध्यात्मिक क्रान्ति का द्योतक था। सक्षेप मे इस क्रान्ति का अर्थ था मनुष्य और देवता का समुपसर्पण। प्राचीन वैदिक धारणा मे मर्त्य और अमर्त्य का विभेद आत्यन्तिक था। कर्मवाद ने इस भेद को जर्जरित कर दिया। कर्म के बल से मनुष्य देवलोक मे जन्म ग्रहण करते है, कर्म क्षीण होने पर देवता मनुष्यलोक मे गिर पडते है। ऐसी स्थिति मे पुराने देवता अपार्थक हो गये तथा उनका स्थान एक ओर परम देवता अथवा ईश्वर ने ले लिया, दूसरी ओर 'कपिल', बुद्ध, महावीर आदि ईश्वरोपम सिद्ध गुरुओ ने। ईश्वर के अनुग्रह से कर्म का बन्धन शिथिल हो जाता है तथा ईश्वर स्वय मनुष्य रूप मे अवतार ग्रहण करते है। सिद्धगण कर्म से मुक्ति का पथ प्रदर्शित करते है तथा वे स्वय मनुष्य होते हुए भी ससार से उत्तीर्ण है। ससार मे अवतीर्ण ईश्वर एव ससार से उत्तीर्ण सिद्ध पुरुष, दोनो मे ही लोक एव लोकोत्तर का समन्वय दृष्ट होता है। अवतार एव महापुरुष का तात्त्विक भेद ज्ञानियो का गोचर है, साधारण श्रद्धालु एव मुमुक्षु के लिए दोनो ही पारमार्थिक आदर्श के प्रत्यक्ष रूप तथा भक्ति के विषय हैं। धर्म की इस जनसुलभ एव भक्तिप्रधान धारा के विकास मे कला ने सुयोग प्रदान किया।

बौद्ध कला के विषय—बौद्ध कला के प्राचीनतम विषय विहार एव स्तूप थे। विनय मे पाँच प्रकार के 'लयनो' अथवा शयनासनो का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हे विहार, अर्धयोग प्रासाद हर्म्य एव गुहा कहा गया है[५३]। इनमे चतुर्विध गुहाका परवर्ती कला के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व सिद्ध हुआ। वस्तुत विहार भिक्षुओ के सवास थे, प्राकृतिक गुहावास का प्रयोजन एकान्तचर्या थी। कृत्रिम गुहात्मक विहारो ने कालान्तर मे आवासिकता तथा एकान्तचर्या का विचित्र समाधान प्रस्तुत किया। प्रारम्भ मे यह स्वाभाविक था कि पहाडी काट कर गुहा निर्माण करने मे आदर्श के रूप मे पूर्वोपस्थित दारुनिर्मित विहार की रचना का अनुकरण किया जाय। इस प्रक्रिया मे क्रमश प्रस्तर-कला का विकास भी उतना ही स्वाभाविक था। स्तूप परिनिर्वृत तथागत का प्रतीक था, अतएव स्तूप अथवा चैत्य की पूजा के प्रचलित होने पर कालान्तर मे चैत्यगृहो का निर्माण हुआ। सामान्यत सभी प्राचीन विहार एव चैत्यगृह जो गुहा व्यतिरिक्त या अनुत्खनित थे, धराशायी हो चुके है।

५३–विनय ना०, चुल्लवग्ग, पृ० २३९।

बौद्ध परम्परा के अनुसार परिनिर्वाण के समनन्तर ही तथागत की चिताशेष शरीर धातु का अष्टधा विभाजन हुआ तथा प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् स्तूप की रचना हुई। यह सन्दिग्ध है[५४] किन्तु मृत देह अथवा उसके कुछ अश के सोपचार निखनन की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय प्रागितिहास तथा वैदिक साहित्य से इसके अनेक भेद ज्ञात होते हैं[५५]। मृतक को गाडकर उस स्थान को चिह्नित करने के लिए मृत्तिका, इष्टका अथवा प्रस्तर का विविध उपयोग अनेकत्र पाया जाता है। स्तूप का अण्डाकार स्वाभाविक मृत्तिकासचय के आकार से नि सृत प्रतीत होता है[५६]। हर्मिका एव छत्र कदाचित् मृद्-चय के ऊपर गाडे हुए पत्थर का परिष्कार है। वेदिका की उत्पत्ति स्पष्ट ही स्तूप की रक्षा के लिए बनाये हुए बाडे के विकास से है। सम्भवत राजाओ या चक्रवर्तियो के लिए स्मारक प्रधान स्तूपो का निर्माण किया जाता था[५७]। तथागत को धर्मराज, धार्मिक चक्रवर्ती मान लेने पर उनके लिए भी वैसे ही स्तूपो की कल्पना एव रचना स्वाभाविक थी। स्तूपो के आकार का वर्धन, उनकी चिरस्थिति के लिए प्रस्तर का उपयोग तथा उनके अलकरण के लिए कलात्मक परिष्कार का आधान, विकास के क्रम मे स्वभावत सिद्ध होते है।

मौर्यकाल—बौद्ध कला के ऐसे उदाहरण, जो निश्चयपूर्वक अशोक से प्राचीन

५४—महापरिनिब्बानसुत्तन्त के अनुसार कुसीनारा के मल्ल, मागध अजातशत्रु, वैसाली के लिच्छवि, कपिलवत्थु के सक्य, अल्लकप्प के बुलि, रामगाम के कोलिय, वेठदीपक ब्राह्मण, तथा पावा के मल्लो में 'शरीरशेष' का विभाजन हुआ था।

५५—ऋक् संहिता, ७.८९.१, मैकडॉनल, वैदिक माइथॉलजी, पृ० १६५।

५६—तु०—स्तूप का अक्षरार्थ-निचय, द्र०—पालि टेक्स्ट सोसायटी का पालिकोश। तु०—शिल्पशास्त्र में, स्तूपिका-शिखराग्र; । फर्ग्युसन स्तूप के अण्डाकार से यह अनुमान करते हैं कि उसका मूल मृत्तिका-संचय न रहा होगा, द्र०—हिस्टरी ऑव इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जि० १, पृ० ६५—६६, शतपथ में प्राच्यो के 'परिमण्डल' श्मशान का उल्लेख है।

५७—द्र०—महापरिनिब्बानसुत्तन्त—"चक्कवत्तिस्स सरीरं झापेन्ति, चातुम्महापथे रञ्ञो चक्कवत्तिस्स थूपं करोन्ति।" पश्चिमी एशिया और मिश्र में राजाओ के मकबरो का प्रायः धूमधाम से निर्माण किया जाता था, तु०—रोलन्ड, पूर्व० पृ० ६१, नोट ४।

कहे जा सके, उपलब्ध नही है।[५८] यह भी सत्य है कि मौर्य-शुग काल का बौद्ध प्रस्तर-शिल्प काष्ठ-शिल्प का अनुकरण करता है, तथा मौर्यों के पहले की किसी प्रस्तर-कला का निश्चित अवशेप भी प्राप्त नही होता।[५९] इन तथ्यो के आधार पर यह कहा गया है कि अशोककालीन प्रस्तरकला को मौर्य साम्राज्य के पश्चिमी सम्पर्क का परिणाम मानना चाहिए।[६०] शाखामनीषी साम्राज्य के प्रचुर विस्तार ने नाना पश्चिमी सभ्यताओ के 'सन्द्रवण' की प्रक्रिया को अग्रसर किया। मिश्र, असीरिया और यूनान की कलाओ के सम्मिश्रण से उत्पन्न शाखामनीषी ईरानी कला इन विभिन्न सभ्यताओ के असमञ्जस मेल को प्रतिविम्बित करती है।[६१] पर्सीपोलिस का प्रसिद्ध स्तम्भ अपने आकार से इस सस्कृति सगम का प्रतीक माना जा सकता है। अशोक के स्तम्भो को इस प्रकार के स्तम्भ से नि सृत अथवा यवन शिल्पियो के द्वारा निर्मित वताया गया है। गुहाविहारो का मूल भी असीरिया एव ईरान मे खोजा गया है। यह भी कहा गया है कि अशोक धर्मलिपि प्रकाशित करने के अभिप्राय मे भी ईरानी सम्राटो के अभिलेखो से प्रेरित हुए। लेखनकला और लिपि भी पश्चिमी एशिया से सीखी गयी। मौर्य प्रशासन तक पश्चिम का ऋणी वताया गया है। वस्तुत मौर्य साम्राज्य एव कला पर समकालीन प्रभाव को सम्भाव्य मानते हुए भी मौर्य सस्कृति की मौलिकता एव भारतीयता को अस्वीकार नही किया जा सकता। कतिपय अनिश्चित शैल्पिक तत्त्व विदेश से सगृहीत होने पर भी यह निर्विवाद है कि अशोककालीन कला की मुख्य प्रेरणा वौद्ध धर्म के विकास से ही प्राप्त थी।

वौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूप तथा वहुसख्यक विहारो

५८–पिप्राव स्तूप को शाक्यनिर्मित कहा गया है किन्तु वहाँ से लब्ध पात्र के अभिलेख को निर्विवाद रूप से पढ़ना सम्भव नहीं है।

५९–हाल में कौशाम्बी के उत्खनन में श्री जी० आर० शर्मा द्वारा प्राप्त नवीन सामग्री से इस पुरानी धारणा को आघात पहुँचता है।

६०–उदा० द्र०—रोलन्ड, पूर्व० पृ० ४४–४५, मार्शल, सी० एच० आइ० जि० १, फोगल, वुधिस्ट आर्ट इन इण्डिया सीलोन एण्ड जावा, पृ० ११, फर्ग्युसन, पूर्व० जि० १, पृ० ५९, स्मिथ, ए हिस्टरी आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ० २०, ५९–६२।

६१–द्र०—गर्शमान, ईरान, पृ० १६५–६६, फ्रैन्कफोर्ट, दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्टर ऑव् दि एन्शेन्ट ओरियन्ट, पृ० २१५–३३।

का निर्माण कराया। चीनी यात्रियों ने भारत में नाना स्थानों पर स्तूप एवं विहार देखे जो उन्हें अशोक-निर्मापित बताये गये। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी इस समय कम से कम अपने मूल रूप में निश्चयपूर्वक शेष नहीं कहा जा सकता। खलतिक-पर्वत में अशोकदत्त एक गुहा का पता चलता है। किन्तु यह दान आजीविकों को दिया गया था। इस गुहा की दीवारों पर चमकीली पालिश विस्मयास्पद है। अशोक के स्तम्भों में भी यही चिकनाई और चमक मिलती है। ये स्तम्भ वृत्ताकार हैं तथा पृथ्वी से बिना किसी आधार अथवा पीठिका के उद्गत होकर ऊपर की ओर कुछ तनु हो जाते हैं। स्तम्भाग्र के सामान्यतया तीन भाग हैं—मूल अधोमुख कमल के आकार का है, मध्य में आतत वर्तुल पट्टिका पर धर्मचक्र, हंस-श्रेणी, अश्व, वृषभ आदि निरूपित हैं, शिरोभाग में सिंह, अथवा गज अथवा वृषभ आदि की मूर्ति निर्मित है। उदाहरण के लिए सारनाथ के सिंहाग्र स्तम्भ के शीर्षभाग की मध्यपट्टिका पर चार धर्मचक्र और उनके अन्तराल में गज, वृषभ, अश्व और सिंह तक्षित हैं तथा सर्वोपरि किसी समय चार सिंहों पर धर्मचक्र प्रतिष्ठित था। इस स्तम्भ में धर्मचक्र-प्रवर्तन का संकेत देखना कठिन नहीं है।[६२] सिंह और गज शाक्यमुनि के प्रतीक हैं, हंस-श्रेणी विनेयजन का इंगित करती है। पद्म न केवल प्रसिद्ध अलंकरण है अपितु उसकी आध्यात्मिक व्यञ्जकता भी गंभीर एवं विविध है। अश्व, आदि को दिशा वाचक भी माना जा सकता है।[६३] अशोक के स्तम्भों में पशुओं का तक्षण निर्दोष रमणीय है। कदाचित् ही कला के किसी युग में इससे चारुतर निरूपण मिले।

शुंगकाल—यह कहा गया है कि मौर्यराज बृहद्रथ को मार कर स्वयं सम्राट् बनने में उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मौर्यों की बौद्ध धर्म के अनुकूल नीति से असन्तुष्ट ब्राह्मणों का नेतृत्व किया।[६४] इस कल्पना को प्रमाणित करना कठिन है, किन्तु यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मणों के अनुकूल तथा बौद्धों के प्रतिकूल था। धनदेव के अयोध्या-अभिलेख में पुष्यमित्र को दो बार अश्वमेध का यजन करने वाला बताया गया है।[६५] मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का अश्वमेध-

६२—तु०—रोलैन्ड, वही, पृ० ४५–४६।

६३—फ़ोगेल, पूर्व०, पृ० ११, रोलैन्ड, पूर्व०, पृ० ४९।

६४—तु०—एन० एन० घोष, डिड पुष्पमित्र शुंग पर्सीक्यूट दि बुद्धिस्ट्स, पी० आइ० एच० सी० १९४३।

६५—एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०।

यजन समर्थित होता है। दूसरी ओर दिव्यावदान एव तारानाथ ने पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी वताया है।[६६] कहा गया है कि पुष्यमित्र ने सद्धर्मके विनाश का निश्चय किया। उसने पाटलिपुत्र मे कुक्कुटाराम विहार को नष्ट करना चाहा, किन्तु द्वार पर सिंहनाद से भयभीत हो गया। तथापि स्तूपो और विहारो का नाश तथा भिक्षुओ का वध करते हुए वह सेना के साथ शाकल तक गया।[६७] यहाँ उसने यह घोषणा की कि प्रत्येक श्रमण के मस्तक के लिए वह १०० दीनार देगा। पुष्यमित्र को यक्ष क्रिमिश से पराजित वताया गया है। जो कदाचित् यवनो की ओर सकेत हो।[६८] ये बौद्ध अनुश्रुतियाँ इस रूप से भले ही अविश्वास्य हो, उन्हे सर्वथा निराधार नही कहा जा सकता।

शुगो की प्रतिकूलता से सद्धर्म उच्छिन्न नही हुआ, इसका एक प्रमाण भारहुत और साँची के स्तूप है।[६९] प्रारम्भिक स्तूप अण्डाकार तथा इष्टका-खचित होते थे। अण्ड के अग्रभाग मे हर्मिका और छत्र तथा मूलभाग मे एक प्रदक्षिणापथ होता था। चारो ओर रक्षा के लिए वेदिका वना दी जाती थी जिसमे द्वार या तोरण होते थे। क्रमश स्तूपो का आकार वढता और ऊँचा होता गया तथा वेदिका और तोरण उभारे हुए उत्कीर्ण चित्रो से अलकृत किये गये, जिनके विषय जातक अथवा वुद्ध की जीवनी से लिये गये है। भारहुत नागौद मे है, किन्तु वहाँ का स्तूप सर्वथा उन्मूलित हो चुका है। उसकी वेदिका एव तोरण अलकृत थे एव इनके शेष मुख्यतया इण्डियन म्यजियम, कलकत्ता तथा प्रयाग संग्रहालय मे सरक्षित है। पूर्वी तोरण पर एक अभिलेख के अनुसार, "सुगन रजे रञो गागीपुतस विसदेवस पौतेण गौतिपुतस आगरजुस पूतेण वाछिपुतेन धनभूतिन कारित तोरना सिलाकमंतोच उपण।[७०]" शुगो के राज्य में राजा गार्गीपुत्र विश्वदेव के पौत्र एव गौप्तीपुत्र के पुत्र धनभूति ने तोरण का निर्माण कराया। वेदिका मे प्राप्त एक अन्य अभिलेख धनभूति के पुत्र वधपाल का भी

६६–दिव्यावदान (सं० वैद्य) पृ० २८२, तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० ८१।
६७–तारानाथ के अनुसार मध्यदेश से जलन्धर तक, वहीं।
६८–तु०—बागची, आई० एच० क्यू०, जि० २२।
६९–द्र०—कनिहम, स्तूप ऑव भारहुत (१८७९), वडुआ और सिन्हा, भारहुत इन्सक्रिप्शन्स (१९२६), वडुआ, भारहुत (१९३४), मार्शल एण्ड फूशे, दि मॉनुमेन्ट्स ऑव साँची, ३ जि० (१९४०)।
७०–डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स।

प्राप्त होना है।[७१] भारहुत के शिल्प मे प्रस्तर-तक्षण काष्ठ-तक्षण के निकट है और आकृतियो का उकेरना इतना निपुण नही है कि उनकी औपादानिक-जडता जीवन्त भावभगिमा में सर्वथा विलीन हो जाय। तथापि यह पहला अवसर था कि बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित साधारण जनता के सम्मुख चित्रो की सर्वसुगम भाषा मे प्रत्यक्ष हो उठते। कथानिरूपण मे अनेक घटनाओ को समान फलक मे प्रदर्शित करने की विधि अपनायी गयी है। दिग्विभाग के यथादृश्य निरूपण के स्थान पर एक प्रकार के 'समय' का अवलम्बन किया गया है जिसमे पृष्ठ-स्थित वस्तु ऊपर स्थित दिखायी जाती है।[७२] बुद्ध भगवान् की रूप-काय का चित्रण न कर उसके स्थान पर विविध प्रतीको का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, बोधिवृक्ष एव स्तूप क्रमश सम्बोधि तथा निर्वाण को सूचित करते हैं। बुद्ध भगवान् ने अपने को मनुष्य, देवता, यक्ष, आदि सबसे विलक्षण 'बुद्धमात्र' बताया था।[७३] उनका दर्शन भौतिक देह के सहारे न होकर धर्म के दर्शन से ही हो सकता है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काय है।[७४] परिनिर्वाण के अनन्तर रूपकाय नष्ट ही हो गयी एवं बुद्ध की स्थिति अनिर्वाच्य तथा अपरिभाष्य हो गयी। कदाचित् रूपकाय की अनुपयोगिता तथा धर्ममय वास्तविक बुद्ध की अप्रत्यक्षता के कारण भारहुत एव अन्यत्र उनका दैहिक चित्रण न कर प्रतीको का सहारा लिया गया है।

साँची प्राचीन विदिशा के निकट है जिसका अशोक के जीवन से गहरा सम्बन्ध प्रसिद्ध है। यहाँ अनेक स्तूपो के अवशेष प्राप्त होते हैं। स्तूप (सख्या, २) का शैल्पिक अलकरण भारहुत के सदृश है और कदाचित् समकालीन रहा होगा। इस स्तूप में से तृतीय सगीति से सम्बद्ध अनेक प्रचारको के नाम उपलब्ध हुए हैं। साँची के स्तूप (सख्या १) का प्रारम्भ कदाचित् अशोककालीन रहा हो, किन्तु उसे पीछे विवर्धित तथा प्रस्तर-मण्डित किया गया। इसकी वेदिका अनलकृत है, किन्तु तोरण प्राचीन शिल्प की उत्कृष्ट कृतियो मे परिगणनीय हैं। इन तोरणो का निर्माण अपेक्षया परवर्ती है। दक्षिण तोरण मे राजा श्री शातकर्णि के कारीगरो के अध्यक्ष वासिष्ठीपुत्र आनन्द का नाम अभिलिखित मिलता है, जिससे इसके समय का कुछ

७१–जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० १३८।

७२–इसे 'वर्टिकल पर्सपेक्टिव' कहा गया है।

७३–अंगुत्तर (रो०), जि० २, पृ० ३८–३९।

७४–सयुत्त (रो०) जि० ३, पृ० १२०।

अनुमान किया जा सकता है।[७५] इस तोरण का निर्माण विदिशा की एक दन्तकार-श्रेणी ने किया था। अन्य तीन तोरण इसके अनतिचिर ही के स्थापित किये गये थे क्योकि अयचूड के शिष्य बलमित्र का नाम दक्षिण एव पश्चिम, दोनो तोरणो में अभिलिखित है।

साची के तोरणो मे भारहुत की अपेक्षा कला का निश्चित विकास सूचित होता है। 'एकत्र चित्रण', दिग्भेद का अयथार्थ प्रदर्शन, तथागत का प्रतीकात्मक उपस्थापन आदि भारहुत की कला के सामान्य लक्षण साँची में भी घटते हैं, किन्तु यहाँ रूप का उकेरना और गढ़ना अधिक निपुण और परिष्कृत है। दृश्य की उभरी हुई विभिन्न सतहो में सामञ्जस्य है तथा 'नतोन्नति' का प्रौढ प्रदर्शन किया गया है। जनसकुल दृश्यो को नयनगोचर करने की इस शिल्प में अद्भुत क्षमता है। प्राकृत जीवन का विविध और जीवन्त चित्रण होते हुए भी इसमें दृष्टि को अध्यात्म से समञ्जस एक प्रकार की शान्ति अथवा विश्राम की उपलब्धि होती है।[७६] प्रकृति के साथ इसमें गहरी समवेदना है जो पौधो और पशुओ के आलेखन में उभर आती है। कुमार-स्वामी ने साँची के दूसरे स्तूप की कला को 'पौधो' की शैली' कहा है और रवीन्द्र-नाथ ने साँची की कला में अभिव्यक्त भावना की तुलना कालिदास की कविता से सुझायी है।[७७]

भारहुत और साँची के स्तूपो में प्रकट इस मध्यभारतीय कला का उद्गम अशोककालीन मागधी कला में ही मानना चाहिए जिसका कि अधिकाश विलुप्त हो चुका है। यह स्मरणीय है कि भारहुत और साँची कौशाम्बी से विदिशा के मार्ग में पडते हैं। यह मध्यभारतीय कला की परम्परा दक्षिणापथ के शिल्प लिए पथ-प्रदर्शक हुई और इसका विकास पीछे अमरावती और अजन्ता मे देखा जा सकता है। अमरावती में साँची की शान्ति का स्थान एक प्रकार की जीवन्त स्फूर्ति अथवा भावाकुलता ले लेती है जिसकी अभिव्यक्ति में कला की निपुणता पहले की अपेक्षा अधिक है। अजन्ता की चित्रकला भी इमी मूर्तिविधान की परम्परा का रूपान्तरित परिणाम एव उत्कर्ष है जहाँ आध्यात्मिक शान्ति एव शैल्पिक दक्षता, परमार्थ की

७५—ए० एस० आइ० ए० आर० १९१३–१४, पृ० ४, तु०—चन्द, एम० ए० एस० आइ०, १।

७६—उत्कीर्ण-शिल्प की अनुदग्रता इसमें सहायक है, मार्शल एण्ड फूशे, पूर्व०।

७७—प्राचीन साहित्य।

सूचना तथा जीवन की प्रेरणा, दोनो का चरम समन्वय है।[७८] उत्तरापथ मे स्तूप ऊँचे होकर वहुभूमिक शिखर से प्रतीत होने लगे तथा उकेरी हुई मूर्तियो का स्थान अधिकाधिक कोरी हुई मूर्तियो ने ले लिया। उत्कीर्ण मूर्तिशिल्प (रिलीफ स्कलपचर) ने एक ओर चित्रकला को प्रेरणा दी, दूसरी ओर 'अनाश्रित' मूर्तियो के विधान को। किन्तु उत्तरापथ मे बौद्ध कला के प्रसार का केन्द्र मथुरा को मानना चाहिए न कि विदिशा को।

सातवाहन-युग—मौर्य साम्राज्य के पतन के अनन्तर दक्षिणापथ मे कुछ समय तक सातवाहनो का प्राधान्य था। सातवाहनो को पुराणो मे अन्ध्रभृत्य तथा अन्ध्र-जातीय कहा गया है तथा उनके अनुसार सुशर्मा नाम के अन्तिम काण्व शासक को मार कर सिमुक (–शिशुक, सिन्धुक, आदि) ने सातवाहन वश को स्थापित किया।[७९] सातवाहनो के उद्गम के देश अथवा काल के विषय मे प्रचुर विवाद है। ई० पू० प्रथम शताब्दी मे सातवाहन अवश्य ही शक्तिशाली थे तथा ई० दूसरी शताब्दी तक घट-वढ के साथ उनकी शक्ति वनी रही। शक क्षत्रपो के साथ उनका सघर्ष विशेप रूप से उल्लेखनीय है। सातवाहन नरेश ब्राह्मण एव ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे, किन्तु उन्होने तथा उनके विरोधी क्षत्रपो ने बौद्धो की ओर उदारता एव दानशीलता का परिचय दिया। फलत ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० दूसरी शताब्दी तक दक्षिणापथ मे बौद्ध धर्म एव कला का प्रचुर विकास सूचित होता हे। भाजा, पितलखोरा, कौन्डाने, जुन्नर, वेडसा, नासिक, एव कार्ली मे अनेक शिलोत्खात चैत्य एव विहार उपलब्ध होते है। भट्टिप्रोलु, अमरावती आदि स्थानो मे स्तूप भी सद्धर्म का प्रसार दिखलाते है। पश्चिमी घाट की गुफाओ मे भद्रयानीय, धर्मोत्तरीय, और महासाघिक सम्प्रदायो का प्रचार विदित होता है। दक्षिण पूर्व मे चैत्यक, पूर्वशैल, अपरशैल आदि उत्तर-कालीन महासाघिको के आवास थे।[८०]

७८–मार्शल एण्ड फूशे, पूर्व०।

७९–द्र०—पार्जिटर, पुराण| टेक्स्ट्स ऑव दि डाईनेस्टिज |ऑव दि कलि एज।

८०–अभिलेखो के लिए, द्र०—लूदर्स, लिस्ट ऑव् ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स; सेनार, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० ७, ८; सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स; बर्जेस, ए० एस० एस० आइ०, जि० १०; चन्द, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० १५; फोगल, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०–; गुहावास्तु पर द्र०—फर्गुसन एण्ड वर्जेस, दि केव टेम्पलस ऑव इण्डिया, (१८८०); पर्सी ब्राउन, इण्डियन

शिलोत्खात वास्तु का प्रथम परिचय अशोककालीन मगध से प्राप्त होता है। सातवाहनो का सम्बन्ध विदिशा और उसकी कला से निश्चित है, कदाचित् मगध से साक्षात् सम्बन्ध भी था। सैनिक और व्यापारिक पथ-पद्धति के सहारे कला का प्रसार होना स्वाभाविक है। इसी क्रम से शिलोत्खात वास्तु का पश्चिमी घाट मे विकास समझना चाहिए। भाजा, पितलखोरा, कोन्डाने, अजन्ता (गुहा १०), एव जुन्नर की गुफाएँ प्राचीनतर हैं, वेडसा, नासिक और कार्ली की अपेक्षया परवर्ती। भाजा से कार्ली तक एक दीर्घ विकास देखा जा सकता है।

इस 'गुहा-वास्तु' का सामान्य वास्तु से भेद स्मरणीय है। भूमि पर निर्माण नीचे से ऊपर तथा समावेश के द्वारा होता है। इसी मे स्थापत्य की शक्ति-सन्तुलन-सम्बन्धी वास्तविक समस्याएँ प्रकट होती हैं तथा अलकरण की प्रेरणा को औपादानिक एव नैर्माणिक सम्भावनाओ पर आधारित करना पडता है। शिला-तक्षित वास्तु ऊपर से नीचे तथा अपहार के द्वारा सिद्ध होता है। इसकी निर्माण-विधि स्थापत्य के निकट कम है, उत्कीर्ण-शिल्प के अधिक। इसी कारण इस शिल्प के निष्पादित आकारो मे नैर्माणिक अनिवार्यता नही है। प्रारम्भ मे इसमे दारुनिर्मित कुटियो एव गृहो का अनुकरण किया गया, जिसने क्रमश एक अधिक प्रास्तरिक एव विशिष्ट आकार को जन्म दिया।

पूजार्थक स्तूप को ही चैत्य कहते हैं। चैत्यगृहो का आकार सामान्यत एक दीर्घ चतुरस्र गुहा का होता था, जिसमे सामने प्रवेश द्वार तथा दूसरे सिरे पर चैत्य रखते थे। गुहा का चैत्यान्त प्राय अर्धपरिमण्डल बनाया जाता था। द्वार से स्तूप तक के मुख्य मध्य भाग के दोनो पार्श्वो मे स्तम्भावलियो से विभाजित दो वीथियाँ होती थी जो स्तूप के पीछे मिल कर एक प्रदक्षिणापथ का निर्माण करती थी।[८१] द्वार के ऊपर एक बृहद् गवाक्ष होता था जिसके अन्वर्थ आकार की 'घोडे की नाल' से तुलना की गयी है।[८२] छत छाजननुमा और कही कमानीदार बनायी जाती थी। चैत्यगृह, ध्यान, वन्दन, आदि के लिए होते थे और उनके आकार का ईसाई गिरजो से अशत.

आर्किटेक्चर (बुधिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड्स); फर्गुसन, हिस्टरी ऑव् इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर जि० १।

८१—द्र०—ब्राउन, पूर्व०, प्लेट्स, १५ और १६ में चैत्यगृहो के मानचित्र।

८२—द्र०—वही, प्लेट २१ में चैत्यगवाक्ष के आकार का विकास।

८३—प्रॉपिल्युम्।

सादृश्य अद्भुत है। चैत्यगृह एक प्रकार का गर्भगृह था जहाँ उपासक अपेक्षाकृत अन्धकार में तथा उपास्य चैत्य गवाक्षगत रश्मियों से आलोकित होता था। विहार भिक्षुओं के आवास थे और उनका मानचित्र सिन्धुघाटी की सभ्यता के समय में परिचित साधारण भारतीय गृहों के मानचित्र के समान है—बीच में आँगन, उसके चारों ओर कोठरियाँ, सम्भव होने पर ऊपर और मंजिल, कमरों के आगे स्तम्भयुक्त अनुसन्तत वीथि, तथा आँगन के मध्य में एक या अधिक मण्डप, इस योजना के परिष्कार थे।

भाजा के चैत्यगृह की छत में लकड़ी की कमानियाँ देखी जा सकती हैं। अष्टास्र स्तम्भों को यहाँ लकड़ी के खम्भों की तरह कुछ तिरछा बनाया गया है मानो इससे उन्हें छत का दबाव सम्हालने में सहायता मिल रही हो! कोन्दा-ने में छत की कमानीनुमा शहतीरों का अनुकरण प्रदर्शित नहीं किया गया है और आकार बृहत्तर है। पितलखोरा में पार्श्ववीथियों की छत में शिला काट कर कमानियाँ बनायी गयी हैं। बेडसा में प्रवेश द्वार एक प्रकार के प्र-स्तम्भ आमुख[८४] से मण्डित है। यहाँ के अष्टास्र स्तम्भ कलशमूल तथा पद्माग्र हैं जिनके शीर्षभाग में विविध शैल्पिक अलंकरण हैं। कार्ली का चैत्यगृह इस कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यहाँ द्वार के आमुख में सिंहाग्र स्तम्भ हैं। गुहामुख विविध और समृद्धिपूर्वक अलंकृत हैं। गर्भगृह का आयाम १२४, विस्तार ४६'·६', तथा उच्छ्राय ४५ फुट है। शिलोत्खात वास्तु में यह प्रमाणगत वैपुल्य अद्भुत है। मध्यवीथि के दोनों ओर की स्तम्भश्रेणियों का शीर्षभाग मूर्ति-मण्डित है तथा इस कारण मानो एक उत्कीर्ण शिल्प का सतत प्रस्तार प्रस्तुत हो जाता है। गवाक्ष का आकार मनोहारी है तथा विपुल गर्भगृह में उससे प्रविष्ट आलोक मानो सन्ध्यालोक की सृष्टि करता है।

ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक पूर्वी दक्षिणापथ के कृष्णा एवं गन्टूर जिलों में बौद्ध धर्म की समृद्धि के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। कृष्णा नदी के तट पर अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड तथा अमरावती से कुछ दूर उत्तर की ओर जग्गय्पेट एवं नागार्जुनिकोण्ड के निकट श्रीशैल (=श्रीपर्वत) बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र थे। सातवाहन नरेशों की सद्धर्म के प्रति अनुकूलता का ऊपर उल्लेख किया गया है। वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी के समय का एक अभिलेख अमरावती में चैत्यिकीय निकाय के परिग्रह में महाचैत्य की सत्ता सूचित करता है। अमरावती

८४—द्र०—सरकार, दि० सक्सेसर्स ऑव् दि सातवाहनज इन लोअर डेकान; लांगहर्स्ट, एम० ए० एस० आइ० ५४।

के इस महाचैत्य की रचना, विवर्धन एव परिष्कार ई० पू० २री शती से ई०२री शतीके बीच मे माने जाते हैं। चन्द महोदय ने इसी पुलुमावी को नागार्जुन का समकालीन सातवाहन राजा बताया है। इस प्रदेश मे सातवाहनो के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकु वश के शासक थे।[८४] नागार्जुनिकोण्ड मे इनके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए है। वासिष्ठी-पुत्र शान्तमूल प्रथम, वैदिक धर्म का समर्थक था, किन्तु माठरीपुत्र वीरपुरुष दत्त के शासन काल मे सद्धर्म की समृद्धि हुई तथा जग्गयपेट एव नागार्जुनिकोण्ड के महा-चैत्यो की निर्मिति, सस्कार एव वृद्धि सम्पन्न हुई। वीरपुरुषदत्त की एक रानी 'वपिसिरिनिका' के एक अभिलेख मे नागार्जुनिकोण्ड के महाचैत्य के निर्माण का पूरा होना तथा वहाँ अपरमहावनशैलीयो का केन्द्र होना सूचित होता है। अन्यत्र यहाँ महीशासक आचार्यो के लिए प्रदत्त विहार का उल्लेख है। वीरपुरुषदत्त के १४वें वर्ष का एक अभिलेख श्रीपर्वत मे ताम्रपर्णी के स्थविर आचार्यो के परिग्रह के लिए निर्मित एक चैत्यगृह का उल्लेख करता है। यहाँ गन्धार, कश्मीर, चीन, चिलात, तोसलि, अपरान्त, वग, वनवासी, यवन (१), द्रविड (?), पलुर (?), एव ताम्रपर्णीद्वीप के प्रसादक स्थविरो (?) का उल्लेख है। जिस उपासिका बोधिश्री ने इस चैत्यगृह को बनवाया था उसी के अन्य दानो मे एक "सिहल-विहार" में बोधि-वृक्ष-प्रासाद का निर्माण भी था। अल्लुरू के एक भग्न स्तम्भ अभिलेख मे पूर्वशैलीय आचार्यो का उल्लेख है। वीरपुरुष दत्त के पुत्र एहुवुल शान्तमूल के शासनकाल मे वहुश्रुतीय आचार्यो के लिए महादेवी मट्टिदेवा ने नागार्जुनिकोण्ड मे एक विहार स्थापित किया।

इक्ष्वाकुओ के अनन्तर बृहत्फलायनो एव पल्लवो के समय मे बौद्धो की यह समृद्धि क्षीण हो गयी। ७वी शताब्दी मे श्वान्च्वाग ने अन्ध्रापथ मे विहारो और चैत्यो को वीरान पाया।[८५] अमरावती का महाचैत्य अब सर्वथा नष्ट हो चुका है और उसके अवशेष अधिकतर मद्रास अथवा ब्रिटिश म्यूजियम मे देखे जा सकते है[८६]। मूल स्तूप घटाकार था जिसके अग्रभाग मे चौकोर हर्मिका तथा उसमे दो छत्र थे। मूलभाग के चारो ओर प्रदक्षिणापथ था जिसमे 'आयक खम्भो' का सनिवेश था। स्तूप के चारो ओर वेदिका थी। न केवल यह वेदिका और प्रदक्षिणापथ अपितु स्तूप का

८५—दे० नीचे।

८६—द्र०—बर्जेस, बुधिस्ट स्तूप्ज ऑव् अमरावती एण्ड जग्गयपेट (ए० एस० एस० आइ०, जि० १)।

अण्डभाग भी उत्कीर्ण-शिल्प से अलकृत है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस शिल्प मे विधिगत दक्षता जीवन के प्रति एक उल्लासमय भाव के साथ सयोजित है। बुद्ध भगवान् यहाँ रूपकाय के द्वारा भी चित्रित है, प्रतीको के द्वारा भी,जो इस स्तूप के निर्माण की दीर्घ अवधि सूचित करता है। कम से कम एक ओर आन्ध्रदेश की कला का सातवाहनो के सूत्र के द्वारा विदिशा से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। महासाघिको के प्रभाव से चैत्यपूजा का यहाँ विशेष विस्तार हुआ तथा अनेक साक्ष्यो से सूचित होता है कि सद्धर्म का महायान मे महत्त्वपूर्ण रूपान्तर इसी प्रदेश और युग मे सर्वप्रथम सम्पन्न हुआ।

अमरावती की कला मे बुद्धमूर्ति का उपयोग तथा अन्यान्य इगित मथुरा एव गन्धार की कला का प्रभाव सूचित करते है। मध्यदेश को उत्तरापथ और विदेश से सम्बद्ध करने वाला मार्ग मथुरा से तक्षशिला और पुष्करावती होकर जाता था। इस युग में वाल्हीक, कपिशा, उड्डियान, गन्धार, शाकल और कश्मीर नाना व्यापारिक, सैनिक और राजनीतिक गतिविधि से ससूत्रित थे तथा इस औत्तरापथ चक्र के साथ मध्यदेश के यातायात का मुख्य द्वार मथुरा थी। मथुरा, कश्मीर, गन्धार और उड्डि-यान मे विस्तृत सर्वास्तिवाद इस विविध सम्पर्क-जाल को प्रतिविम्वित करता है।

यवन-शासक—ई० पू० दूसरी और पहली शताब्दियो मे अनेक यवन शासको ने वाल्हीक से अग्रसर हो कर गन्धार और उत्तरापथ मे शासन किया तथा उनमे से कुछ ने सद्धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित की।[८७] मैनेन्डर अथवा मिलिन्द का नाम सर्व-प्रसिद्ध है जिनकी राजधानी शाकल एव नागसेन के साथ सवाद का मिलिन्दपञ्हो मे विवरण प्राप्त होता है। ऐसी अनुश्रुति है कि मैनेन्डर ने सद्धर्म के लिए बहुत से विहार एव चैत्य बनवाये। उनकी कुछ मुद्राओ मे चक्र का लक्षण उपलब्ध होता है तथा उनके लिए ध्रमिय अर्थात् धार्मिक का विरुद भी मिलता है।[८८] प्लूटार्क के अनु-सार मैनेन्डर के निधन के अनन्तर उनके दग्धशेष के लिए उनके साम्राज्य के नगरो में वैसी ही होड हुई जैसी स्वय बुद्ध भगवान् के निधन के अनन्तर हुई थी।[८९] आगाथोक्लेस नाम के यवन राजा की मुद्राओ मे भी स्तूप एव वोधिवृक्ष चिह्नित है। स्त्रत (स्टैटो) प्रथम के चाँदी के सिक्को में उसे 'ध्रमिक' कहा गया है। अनेक यवनो

८७—द्र०—मेमोरियल सिल्वेंलिव, पृ० २०४ प्र०।

८८—तु०—आइ० एच० क्यू०, जि० १४, पृ० २९३—३०८।

८९—तु०—सी० एच० आइ० जि० १, पृ० ५५१।

के द्वारा सद्धर्म के लिए दिये गये दानो का भी अभिलेखो मे उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, इन्द्राग्निदत्त नाम के एक यवन ने नासिक मे गुहा का उत्खनन करवाया था। जुन्नर मे ईरिल के धर्मदान का उल्लेख मिलता है। स्वात से एक अभिलेख मे मेरिदर्ख थेउडोर के द्वारा शाक्यमुनि के देहावशेष की प्रतिष्ठा उल्लिखित है। उसी प्रदेश से थेउडोर दतियपुत्र के द्वारा एक तडाग के दान का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि यवनो की सद्धर्म मे रुचि अशोक के समय से विदित होती है। अशोक ने उनमे धर्मप्रचारक का उल्लेख किया है तथा अपने साम्राज्य मे वसे हुए उनके लाभ के लिए यवन भाषा और लिपि मे अपनी 'धर्म प्रशस्ति' का प्रकाशन तक किया। मौद्गलीपुत्र तिष्य ने धर्मरक्षित नाम के यवन को प्रचार कार्य के लिए चुना।

गान्धार-कला—गन्धार यवनो का मुख्य केन्द्र था तथा वहाँ यवन-शिल्प और बौद्ध आदर्श के समन्वय से एक विशिष्ट कला का उद्‌गम हुआ जिसे 'गन्धार-कला' का नाम दिया गया है।[९०] 'यवन-शिल्प' का अर्थ यहाँ हेलेनिस्टिक अथवा रोमन प्रभाव है। दुर्भाग्यवश गान्धार प्रतिमाओ का कालनिर्णय अनिवार्यतया विवाद-ग्रस्त है और अतएव जहाँ कुछ विद्वान् गान्धार-कला की उत्पत्ति प्रथम शती ई० पू० मे मानते हैं कुछ अन्य उसे ई० प्रथम शताब्दी मे रखते हैं। यह निस्सन्देह है कि इस कला के पोषको मे यवनो के स्थान पर शक और कुषाण ही प्रमुख प्रतीत होते हैं। गान्धार कला के विकास मे यवन कारीगरो और कारीगरी का हाथ था न कि यवन शासको का। पहले यह माना जाता था कि बुद्ध प्रतिमा को जन्म देने का श्रेय गन्धार-कला को ही है। किन्तु इस पर सन्देह प्रकट किया गया है और यह कहा गया है कि मथुरा मे बुद्ध की प्रतिमा का आविर्भाव स्वतन्त्र रीति से और सम्भवत गन्धार प्रतिमा के पूर्व हुआ। ई० पू० दूसरी और पहली शताब्दियो मे सभी बौद्ध सम्प्रदायो मे न्यूनाधिकतया बुद्धभक्ति का विकास हुआ। त्रिशरण-गमन तथा बुद्धानुस्मृति सर्वत्र प्रसिद्ध थी। बुद्ध भगवान् के अनुस्मरण मे उन्हे अगविद्या मे विदित महापुरुष-

९०—गान्धार-कला पर द्र०—फूशेर, लार ग्रेकोबुद्धीक दु गन्धार, वही, विगिनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट आर्ट एण्ड अदर एसेज; ग्रूनवेदेल, बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया; स्मिथ, ए हिस्टरी ऑव् फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, बाखहोफर, अर्ली इण्डियन स्कल्पचर, २ जि०, लुइजोदल्वी, दि सिथियन पीरियड; मार्शल, टैक्सिला, ३ जि०।

लक्षणो के अनुसार कल्पित करना स्वाभाविक था। इन लक्षणो के अनुसार ध्यान मे तथागत की मानस प्रतिमा ही उनकी भौतिक प्रतिमा का पूर्वसिद्ध आदर्श था। महासाघिको मे "अनास्रव रूप" की कल्पना तथा तथागत की लोकोत्तरता से प्रेरित भक्ति के भाव ने बुद्ध प्रतिमा के उपयोग की सहायता की होगी तथा माहायानिक सिद्धान्तो और भावना के विकास ने इसका समर्थन किया होगा। शैल्पिक पक्ष मे यक्ष-प्रतिमा की परम्परा ने बौद्ध आदर्श को दृश्यरूप प्रदान करने मे आवश्यक निर्माण-विधि के द्वारा उपकृत किया होगा।[९१] एक बौद्ध परम्परा के अनुसार जब तथागत त्रायस्त्रिंश लोक गये थे, प्रसेनजित ने उनकी गोशीर्षचन्दन की प्रतिमा बनवायी थी जो प्रथम बुद्ध-प्रतिमा थी। तथागत ने इसे भविष्य के लिए आदर्श बताया। यह प्रतिमा जेतवन विहार मे बहुत दिन रही, (लेग, फाश्येन पृ० ५६–५७)। दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने पिण्डोलभारद्वाज से प्रतिमोपयोगी महापुरुपलक्षण पूछे। महावस्तु मे अशोक की नागराज से प्रतिमाविपयक जिज्ञासा उल्लिखित है। किन्तु ये सब परम्पराएँ श्रद्धेय नही प्रतीत होती।

ई० पू० पहली शताब्दी मे यवन शासको का स्थान शक-पल्लव शासको ने ले लिया। इनमे मोग, वोनोनेस, स्पलहोर, स्पलगदम, अय, अयलिप तथा गुदुह्वर के नाम उल्लेख्य है। इन शासको की जाति, तिथि तथा परस्पर सम्बन्ध विवादग्रस्त है। तक्षशिला से प्राप्त ताम्रपट्ट अभिलेख महाराज मोग के शासनकाल मे तक्षशिला के क्षत्रप लिअक के पुत्र महादानपति पतिक के द्वारा शाक्यमुनि के शरीर तथा सघाराम की स्थापना का उल्लेख करता है। मोग की एक मुद्रा के पृष्ठ मे बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण बतायी गयी है जो निस्सदेह नही है।[९२] स्पलहोर और स्पलगदम की मुद्राओ मे 'ध्रमिय' कहा गया है किन्तु वह सम्भवत यवन 'दिकाइओस' (न्यायशील) का अनुवादमात्र है। गुदुह्वर को ईसाई प्रचारक टॉमस से परिचित मानना ही सही प्रतीत होता है। मुद्राओ मे उसे 'ध्रमिय' और 'देवव्रत' कहा गया है तथा कुछ मे त्रिशूलधारी शिव कदाचित् चित्रित है। तख्तेवाही प्रस्तर अभिलेख उनके शासन काल के २६वे वर्ष मे एक श्रद्धा-दान का उल्लेख करता है।

मथुरा के शक क्षत्रपो की सद्धर्म मे रुचि वहाँ प्राप्त प्रसिद्ध सिह-स्तम्भ अभिलेखो

९१–द्र०—कुमारस्वामी, हिस्टरी ऑव् इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, वही, फिगर ऑव् स्पीच ऑर फिगर ऑव् थॉट।

९२–द्र०—टार्न, दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया।

से प्रकट होती है।[९३] इसमे महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी तथा अन्य राजपरिवार का सर्वास्तिवादियो के लिए विविध दान उल्लिखित है जिसमे बुद्ध-शरीर, स्तूप, सघाराम, स्तम्भ एव गुहाविहार की स्थापना का विवरण है। इस अभिलेख में महासाघिको का नाम भी उल्लिखित है।

ई० पू० १३८ मे हन् सम्राट क वु-ति ने च-छियेन को अपने दूत के रूप मे य्वेची के पास भेजा जो उस समय वक्षु के उत्तरी तट पर वसे थे, किन्तु वाल्हीक प्रदेश उनके अधीन था। च-छियेन के 'ताहिया' के विवरण मे बौद्ध धर्म के विषय मे कुछ उल्लेख प्राप्त नही होता। तथापि यह स्मरणीय है कि चीनी हन्-इतिहास के अनुसार ई० पू० १२१ मे ह्युड-नु (=हूण) जाति के लोगो से चीनियो ने एक 'स्वर्ण-पुरुष' प्राप्त किया था। यह 'स्वर्ण-पुरुप' सम्भवत बुद्ध की प्रतिमा रही होगी। ऐसी स्थिति मे यह मानना उचित होगा कि य्वे-चि जाति भी उस समय अवश्य ही सद्धर्म से परिचित थी। ई० पू० २ मे चीनी सम्राट् आइ ने य्वे-चि शासक के पास एक दूत भेजा जिसने वहाँ सद्धर्म का उपदेश सुना। य्वे-चि शासन ने चीनी सम्राट् के पास कुछ वौद्ध ग्रन्थ तथा बुद्ध के देहावशेष भेजे।[९४] पहली शताब्दी ई० मे कुषाण शासक कुजुल—कस को सिक्को मे 'धर्म-स्थित' अथवा 'सत्य-धर्मस्थित' कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी विम कथ्फिश माहेश्वर था। सम्भवत इसी के समय मे तक्षशिला का रजत-पट्टिका-अभिलेख मानना चाहिए जिसमे अय के १३६ वे वर्ष का उल्लेख है। इसमे एक उरश-वासी के द्वारा तक्षशिला मे अपने वोधिसत्त्वगृह मे धातु-स्थापना निर्दिष्ट है। कल-वान का ताम्रपट्ट-अभिलेख इससे दो वर्ष पूर्व का है और उसमे एक उपासक परिवार के द्वारा गृहस्तूप मे सर्वास्तिवादियो के परिग्रह के लिए 'शरीर' की स्थापना उल्लि-खित है।

वौद्ध धर्म के प्रसिद्ध समर्थक कनिष्क के समय मे कुषाण साम्राज्य मध्य एशिया से 'पूर्वी भारत' तक विस्तृत कहा गया है।[९५] गाधार कला का यह स्वर्ण-काल था। राजकुल की सहायता ने बुद्ध और वोधिसत्त्वो की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने मे तथा स्तूप, चैत्य आदि के निर्माण मे योग दिया। कनिष्क के ३रे वर्ष के सारनाथ वौद्ध-प्रतिमा-अभिलेख मे त्रैपिटिक भिक्षु वल के द्वारा भगवत् चंक्रम मे वोधिसत्त्व और छत्र-

९३—द्र०—सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स।
९४—इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड वुद्धिज्म, जि० ३, पृ० २४५।
९५—चतुर्थ सगीति पर द्र०—नीचे।

यष्टि की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख मे क्षत्रप वनस्पर एव महा-क्षत्रप खरपल्लान की पुण्यवृद्धि अभीष्ट है। इसी भिक्षु वल ने श्रावस्ती मे भी एक देय-धर्म प्रतिष्ठित किया था जो कि सर्वास्तिवादी आचार्यो के परिग्रह के लिए था। १८वे वर्ष के माणिकयाल प्रस्तर अभिलेख मे क्षत्रप नेश्यपशिकेदानपति दण्डनायक लल के द्वारा अनेक स्तूपो की स्थापना सूचित है। स्वय कनिष्क ने नाना चैत्यो और विहारो को स्थापित किया। पुरुषपुर मे उनका वनवाया महाचैत्य अत्यन्त प्रसिद्ध था और इसका विवरण फाश्येन और श्वानच्वाग से प्राप्त होता है।[९६] पेशावर मे शाह जी की ढेरी मे उत्खनन से 'कनिष्क विहार' की सूचना प्राप्त होती है। इसमे 'नव-कर्मिकअगिसल' का नाम यवन कारीगरी का योग प्रकट करता है। फाश्येन के अनु-सार यह स्तूप ४००' से अधिक ऊँचा था तथा उसके देखे स्तूपो से अधिक प्रभाव-शाली था। श्वान् च्वाग के अनुसार यह स्तूप पाँच भूमियो मे निर्मित था और इसके शिखर मे २५ सुनहले मण्डल वने थे। स्तूप के पूर्वी मुख के सोपान के दक्षिण की ओर महाचैत्य की दो छोटी प्रतिकृतियाँ थी तथा वुद्ध भगवान् की दो विशाल मूर्तियाँ थी। दक्षिणसोपान के निकट एक १६ फुट ऊँची भगवत् मूर्ति थी। दक्षिण पश्चिम की ओर एक १८ फुट ऊँची एक और मूर्ति थी। श्वान् च्वाग के भारत आने के कुछ पूर्व ही यह स्तूप जल कर नष्ट हो गया था। इसके निकट ही कनिष्क ने एक प्रसिद्ध विहार वनवाया था जो कि अनेक शिखर, भूमि, स्तम्भ आदि से मण्डित था। यह स्मरणीय है कि गन्धार मे स्तूप का आकार मध्य भारतीय नही है। उसकी ऊँचाई वहुत वढ गयी तथा उसके चौकोर मूल भाग का अनेक भूमियो मे निर्माण होता था जिन पर आरोहण के लिए एक या अधिक सोपान श्रेणियाँ वनायी जाती थी। किन्तु वेदिका और तोरण अप्रयुक्त हो गये थे। स्तूप स्वय प्रभूत शिल्प-मण्डित होता था जिसका विपय अव जातको से कम उद्धृत होता था, वुद्ध चरित्र से अधिक। समस्त स्तूप एक वुर्ज-सा प्रतीत होता था।

गन्धार की वुद्ध प्रतिमा मे लक्षण और भाव सदा एक-सा नही है। उदाहरण के लिए एक प्रसिद्ध प्रतिमा मे शिरश्चक्र, दक्षिणावर्तकेश, उष्णीष ऊर्णा, पृथुकर्णता तथा सघाटी की सलवटे प्रदर्शित की गयी है।[९७] इनमे शिरश्चक्र और सघाटी के आकुचन

९६—फाश्येन (अनु० जाइल्स) पृ० १३, श्वानच्वाग (अनु० वील) जि० २, पृ० १५१—९४।

९७—द्र०—फूशे, विगिनिंग्स ऑव् वुधिस्ट आर्ट, प्लेट ११।

का निरूपण यवन कला से अनुकृत माने जाते हैं। मूर्ति का भाव "स्वप्निल, लैगत, स्त्रीसुलभ सौन्दर्य" का है। सहरी वहलोल से लब्ध मूर्ति मे बुद्ध की मूँछे दिखायी गयी हैं। गान्धार मूर्तियो मे अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रदर्शित हैं—अभय, वरद, भूमिस्पर्श, ध्यान, धर्मचक्रप्रवर्तन। पीठ प्राय पद्मासन अथवा सिंहासन होता है।

गन्धार मे बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव कव हुआ, यह विवादास्पद है। टार्न ने मोग की एक मुद्रा में बुद्ध मूर्ति को उत्कीर्ण माना है। किन्तु यह सन्दिग्ध है। लोरियान तगई अथवा हश्तनगर से प्राप्त मूर्तियो मे उल्लिखित अब्द अज्ञात है। यदि इनमे सिल्यूकिद अब्द माना जाय तो इन्हे ई० प्रथम शती मे रहना होगा। तक्ष-शिला की खुदाई मे प्राप्त साक्ष्य के आधार पर गान्धार-कला के उद्गम के लिए ई० पू० प्रथम शती में अय का समय अथवा ई० प्रथम शती मे विमकथ्फिश का समय सुझाया गया है। कनिष्क के पूर्व गान्धार बुद्ध प्रतिमा का निर्माण हो चुका था, यह निश्चित है।

मथुरा की बुद्ध प्रतिमा का गान्धार प्रतिमा से सम्वन्ध अवश्य था, किन्तु एक से दूसरी का जन्म हुआ, यह नही कहा जा सकता। मथुरा मे प्राप्य बुद्ध प्रतिमाएँ सामा-न्यत दो प्रकार की हैं जिनमे एक का उदाहरण जेतवन-विहार से प्राप्त मूर्ति है। दूसरी का मथुरा के कटरे से प्राप्त मूर्ति। इनका भेद गान्धार कला के प्रभाव से अथवा विकास भेद से समझाया गया है।

मौर्य साम्राज्य पहला अखिल भारतीय साम्राज्य था एव मौर्य सम्राट् अशोक की सहानुभूति सद्धर्म के अखिल भारतीय प्रसार मे सहायक हुई। कुषाण-साम्राज्य मध्यदेश से हिन्दुकुश के उस पार तक फैला हुआ था। उसकी अध्यक्षता मे सास्कृ-तिक एव जातीय सगम का अग्रसर होना अनिवार्य था और साथ ही गन्धार से मध्य एशिया मे विस्तृत सैनिक एव व्यापारिक पथ-पद्धति के सहारे सद्धर्म का क्रमश सुदूर पूर्व तक प्रसार। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि सिंधु नदी को पार करने पर फाश्येन से वहाँ के लोगो ने यह प्रश्न किया था कि सद्धर्म पूर्व की ओर सर्वप्रथम कव प्रचारित हुआ। इसके उत्तर मे फाश्येन ने कहा—"मैंने जव उन देशो के लोगो से यह प्रश्न किया तो उन सवने यह कहा कि उनके पास सद्धर्म प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ है और मैत्रेय वोधिसत्त्व की प्रतिमा की स्थापना के उत्तरकाल मे भारतीय श्रमणो ने सिन्धु नदी पार कर विनय और सूत्र के ग्रथो को वहाँ तक पहुँचाया। यह स्मरणीय है कि प्रतिमा परिनिर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् स्थापित की गयी और अतएव इसे चाऊ वश के पिंग सम्राट् के समय से रखना चाहिए। इस विवरण के अनुसार इस घटना

मे प्राची की ओर सद्धर्म का सर्वप्रथम प्रचार मानना चाहिए । यदि मैत्रेय महापुरुष की प्रेरणा न होती तो सद्धर्म को सुदूर प्रत्यन्त प्रदेशो तक कौन पहुँचाता ? इस प्रकार अद्‌भुत धर्मप्रचार का कारण केवल मनुष्य का यत्न नही हो सकता । इसीलिए हन सम्राट् मिं के स्वप्न का भी उचित हेतु मानना चाहिए ।[९८] चाऊ वश के सम्राट् का उल्लेख फाश्येन की ऐतिहासिक काल-गणना मे अप्रवीणता प्रदर्शित करता है । किन्तु यह अनुश्रुति विचारणीय है कि परिनिर्वाण के ३०० वर्षो पश्चात् सद्धर्म की प्राचीयात्रा प्रारम्भ हुई और इसके अधिष्ठाता मैत्रेय थे । मैत्रेय की उपर्युक्त प्रतिमा को फाश्येन और श्वान-च्वाग ने 'दरेल' मे देखा था । श्वान-च्वाग ने इसे १०० फुट ऊँचा, काष्ठनिर्मित तथा स्वर्णिम बताया है । इसकी स्थापना अर्हत् मध्यान्तिक ने की थी ।[९९] यह स्मरणीय है कि मध्यान्तिक अशोककालीन धर्म-विस्तार मे अग्रगण्य थे ।

गुप्तकाल—गुप्तकाल को बौद्धधर्म के प्रसार और कला का स्वर्णयुग कहा जा सकता है । उस समय मध्य-एशिया के अतिरिक्त, फाश्येन ने उत्तरापथ और मध्य-देश मे बौद्ध धर्म की समृद्धि का उल्लेख किया है, जिसका पुरातत्त्वीय सामग्री से समर्थन होता है । बामियान में शैल-पार्श्वपर एक मील तक विहार और चैत्य उत्खात मिलते हैं । इस वास्तु-प्रस्तार के दोनो ओर बुद्ध की दो विशालकाय खडी मूर्तियाँ हैं, पूर्व की ओर १२०' ऊँची और पश्चिम की ओर १७५ ऊँची । इन्हे ३री-४थी शताब्दियो मे रखा गया है । बामियान के गुहावास्तु मे विविध परिमण्डल शिखर प्राप्त होते हैं । यहाँ से मूर्तियाँ और भित्ति चित्र भी उपलब्ध हुए हैं । चित्रो मे तीन शैलियाँ बतायी गयी हैं—सासानी, भारतीय और मध्य-एशियायी । भारतीय शैली अजन्ता की गुप्तकालीन चित्रकला सें सादृश्य प्रकट करती है । कपिशा (आधुनिक बेग्राम) में पुरातत्त्वीय खोज ने कुपाणकालीन राजप्रासाद से देश-विदेश के व्यापार के अवशेष प्रकाशित किये हैं । यहाँ रोमन-साम्राज्य से आयात धातु की मूर्तियाँ, शाम से काँच का सामान तथा चीन से 'लेकर' के डिब्बे मिले हैं । तीसरी-चौथी शताब्दी के गान्धार-शिल्प के पर्याप्त चिह्न मिलते हैं । यहाँ से प्राप्त हाथी दाँत के उत्कीर्ण फलक उल्लेखनीय है। प्राचीन नगरहार जनपद के आधुनिक हड्डा नामक स्थान से १९२२ की फ्रांसीसी पुरातत्त्वीय गवेषणा में बहुत-सी अमूल्य शिल्पराशि प्राप्त हुई जिसमे से कुछ

९८—फाश्येन (अनु० जाइल्स) पृ० १० ।

९९—श्वान-च्वांग (अनु० बील), जि० २, पृ० १७७ ।

जलालावाद मे अफगानो के द्वारा नष्ट भी कर दी गयी । नगरहार की गान्धार कला मे सुधा-प्रलेप (स्टको) का महत्त्व था । यहाँ की मूर्तियो की तुलना 'गोथिक' मूर्तियो से की गयी है । इनमे वैयक्तिकता, भाव-व्यजना तथा रोमन प्रभाव द्रष्टव्य है । कभी पुरुषपुर मे ४००' ऊँचा कनिष्क स्तूप था जिससे अधिक समृद्ध और सुन्दर स्तूप फाश्येन ने अपनी यात्रा मे कही नही देखा था ।

फाश्येन के अनुसार आर्यावर्त के सब राजा सद्धर्म मे श्रद्धालु थे, जबकि वस्तुत गुप्त नरेश 'परम भागवत' थे । स्पष्ट ही गुप्तो की धार्मिक नीति अत्युदार थी । फाश्येन ने मध्यदेश के शासन और समाज की बहुत प्रशसा की है । यहाँ के विहारो के विषय मे उसका कहना है कि परिनिर्वाण के समय से विभिन्न राजा एव धनी गृहपति भिक्षुओ के लिए विहारो को बनवा उनके लिए क्षेत्र, गृह, उद्यान एव आराम आदि का दान करते रहे हैं । उस प्रकार दी हुई भूमि मे रहने वाले लोग और पशु आदि भी इन विहारो के अधीन माने जाते थे । ये दानपत्र धातुमयी पट्टिका पर उत्कीर्ण होते थे और इनका पीढी दर पीढी राजाओ के द्वारा आदर किया जाता था (द्र०—लेग, फाश्येन, पृ० ४३, तु०—जाइल्स, फाश्येन, पृ० २१) ।

गुप्तकाल मे मथुरा का कुषाणकालीन महत्त्व घटा नही था । यहाँ से शिल्प के अवशेषो को देखने से यह प्रकट होता है कि ५वी और ७वी शताब्दियो के मध्य मे कला का जो स्वर्णयुग विदित है उसमे मथुरा की बौद्ध प्रतिमाओ का अपना सुरक्षित स्थान है । गुप्तकालीन कला के परिष्कार और परिनिष्पन्न सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशसा की गयी है । इसमे कोई सन्देह नही कि इस समय की बुद्ध प्रतिमा विश्वकला की चिरन्तन कृतियो मे गिनी जायगी । सामान्यत गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा मे शीर्ष के प्रभाचक्र मे एक-केन्द्रिक वृत्तो मे अलकरण उत्कीर्ण होते हैं, केश सावर्त प्रदर्शित किये जाते है, ऊर्णा का प्रदर्शन नही होता, भौहो का आलेखन निराला है, नयन कुड्मलाकार होते है, अगुलियो का जालवद्ध निरूपण होता है, नख-शिख बारीक, मुखाकृति शान्त और प्रसन्न, परिधान का तनु-मग्न रूप मे अर्थात् 'मग्नाशुक' के रूप मे निरूपण, तथा अनेक मुद्राओ का प्रदर्शन किया जाता है । मध्यदेश मे बुद्ध प्रतिमाओ के इस समय दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे—मथुरा और सारनाथ । इन मूर्तियो मे मग्नाशुक के निरूपण मे शैलीभेद देखा जा सकता है । कुछ मूर्तियो मे वस्त्र का सकेत केवल उसके प्रान्त-निर्देश से होता है, कुछ मे महीन रेखाओ से वस्त्र की सलवटे प्रदर्शित की जाती हैं । पहली शैली का उदाहरण धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा मे सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्धमूर्ति है जिसे सब समय की उत्कृष्ट कलाकृतियो मे रखना चाहिए । दूसरी शैली का उदा-

हरण मथुरा से प्राप्त बुद्ध की खड़ी मूर्ति है जिसमे अभयमुद्रा प्रदर्शित है और जो अब इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, मे रक्षित है।

श्वान-च्वाग ने अजन्ता के भित्तिचित्रो और गुहावासो का उल्लेख किया है, जिनका निर्माण कराने में अपरान्त के अर्हत् अचल का भी हाथ था। अजन्ता की २९ गुफाओ मे विभिन्न युगो के उत्खात विहार और चैत्य प्राप्त होते हैं। पहले इनमें से अधिकाश मे भित्तिचित्र थे, किन्तु जब से ये गुफाएँ 'आविष्कृत' हुई है, हवा और रोशनी के प्रभाव से अधिकाश चित्र विनष्ट हो चुके हैं अथवा हो रहे है। अजन्ता की चित्रकला मध्यभारतीय उत्कीर्ण-चित्र की परम्परा का विकसित और परिष्कृत रूप है। यहाँ भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित अकित है तथा निरूपण-विधि सदृश है क्योकि समान आलेख्य प्रदेश मे अनेक घटनाओ का चित्रण तथा आगे-पीछे की वस्तुओ का अयथार्थ रूप से नीचे-ऊपर प्रदर्शन यहाँ भी पाया जाता है। भित्ति में 'चित्रो' का विभाजन प्राय चित्रित व्यक्तियो के केन्द्र की ओर आभिमुख्य से सूचित होता है। पशु-पौधो के चित्रण में प्रकृति का प्रेम तथा जनसकुल और उल्लसित जीवन की अभिव्यक्ति भी साँची का स्मरण दिलाती है। अजन्ता के चित्रो मे नगर और अरण्य के विविध दृश्य एक आध्यात्मिक आशय से अनुप्राणित है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और स्तर मे बोधिसत्व के आदर्श का अनुसरण सम्भव है जिसके द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति अभीष्ट है। गुफा की दीवारो में चित्रित बोधिसत्त्व-लीला मानो चैत्यान्त में प्रतिष्ठित बुद्ध की ओर प्रत्यक्ष सकेत है।

चित्रण के पहले गुफा की शिलामयी सतह पर गोबर, तुष, शिलाचूर्ण आदि का लेप किया जाता था। इसके ऊपर चूने का लेप होता था तथा आलेखन के पूर्व आलेख्य-भूमि को जल-सिक्त किया जाता था। गैरिक वर्ण में रूपरेखा खीच कर काले रग से उसका आवश्यक सशोधन किया जाता था। उन्मीलन में उपयुक्त रग कुछ ही थे जिनमे लाल और नीला प्रधान थे। कहा गया है, "रेखा प्रशसन्त्याचार्या' आचार्य-गण रेखा के सहारे चित्र आंकते है। इस कसौटी पर अजन्ता के चित्र अपना सानी नही रखते। गुहाभित्ति की विपुल भूमि पर जिस निर्बाध, निश्शक और निर्दोष रूप से रेखाएँ खीची गयी हैं, और उनके सहारे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो की व्यंजना की गयी है, उसकी समुचित प्रशसा अथवा वर्णन असम्भव है। "गिरा अनयन, नयन बिनु बानी"। यो तो एशिया की चित्रकला मे सर्वत्र रेखा का प्राधान्य है, किन्तु अजन्ता के रेखाकन मे अपनी विशिष्टता है। फारसी चित्रो में रेखा मानो बारीक सजावट की रेखा है।

चीनी चित्रो मे रेखा एक व्यजक सकेतमात्र है। अजन्ता मे रेखा मानो किसी महा-काव्य का छन्द है।

वोद्ध चित्रकला के लिए अजन्ता एक शाश्वत प्रेरणा थी। मध्यएशिया मे दन्दान उलिक, किजिल, मिरान, और तुन-ह्वंग तक उसके प्रभाव का विस्तार आलक्ष्य है। यही नही, जापान के प्रसिद्ध पर अभाग्यवश विनष्ट भित्तिचित्रो तक अजन्ता की परम्परा देखी जा सकती थी।[१००]

१००—अजन्ता पर द्र०—ग्रिफिथ्स, पेंटिंग्स इन दि बुधिस्ट केव टेम्पल्स ऑव् अजटा, २ जि०, १८९६–७; लेडी हेरिंगम, अजंटा फ्रेस्कोज, १९१५; यजदानी, अजटा, ३ जि०, १९३१–४६।

अध्याय ५

हीनयान के सम्प्रदाय—स्थविरवाद

इतिहास और साहित्य——तीसरी सगीति के अनन्तर——पालि परम्परा के अनुसार पाटलिपुत्र की सगीति मे मौद्गलीपुत्र तिष्य के द्वारा निकायान्तरीय मतो का खण्डन कथावत्थु मे सगृहीत है। श्रीमती राइजडेविड्स का यह मत युक्तियुक्त है कि समस्त कथावत्थु की रचना एक समय की नही है[1]। उस ग्रन्थ का प्रारम्भिक अश सम्भवत अशोककालीन है, किन्तु पीछे अन्य विप्रतिपत्तियों का निराकरण भी उसमे जुड कर ग्रन्थ का वर्तमान रूप सम्पन्न हुआ। पुद्गल-कथा ग्रन्थ मे अपने प्रथम स्थान एव भाषागत वैलक्षण्य के कारण प्राचीनतम प्रतीति होती है। एव वात्सीपुत्रीयो को स्थविरो का प्रधान विरोधी सूचित करती है। अन्यत्र कथावत्थु मे महासाघिक, सर्वास्तिवादी एव काश्यपीय सिद्धान्तो का विशेष रूप से खण्डन मिलता है। **निकायसंग्रह** के अनुसार तृतीय सगीति मे स्थविरो के प्रधान विरोधी महासाघिक थे[2]। सर्वास्तिवादियो को भी स्थविरो के विरोध मे अग्रणी कहा गया है[3]। **ज्ञानप्रस्थान** के रचयिता कात्यायनीपुत्र का सर्वास्तिवादियो मे वही स्थान है जोकि मौद्गलीपुत्र का स्थविरो में। सम्भवत. सर्वास्तिवादी अभिधर्म के **विज्ञानपाद** नाम के ग्रन्थ मे जिस मौद्गल्यायन का उल्लेख है वह मौद्गलीपुत्र तिष्य ही हो। यह स्मरणीय है कि सर्वास्तिवादियो के अनुसार अशोक के धर्म-गुरु मौद्गलीपुत्र न होकर उपगुप्त थे जो कि मथुरा के सघ के प्रधान थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि तृतीय सगीति के अनन्तर सघ से अ-स्थविरवादी भिक्षुओ के निकाले जाने के कारण एव अशोक तथा सघ के प्रत्यन्त प्रदेशो मे एव विदेश मे धर्म-प्रचार के प्रयत्न के कारण बौद्ध-निकायो का स्थानान्तरण, प्रसार एव बहुलीकरण हुआ। महासाघिक भिक्षु मगध से निष्कासित होकर द्वितीय महादेव की अध्यक्षता मे

१—पॉइन्ट्स ऑव् कॉन्ट्रोवर्सी, भूमिका।

२—तु०—दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० २, पृ० २६८।

३—बारो, ले सेक्त, पृ० ३३।

अन्ध्र-देश की ओर अग्रसर हुए। निकायसंग्रह के अनुसार तीसरी संगीति के अनन्तर महासांघिक नौ शाखाओं में बँट गये—हेमवत, राजगिरिय, सिद्धत्थक, पुब्बसेल, अपरसेल, वाजिरिय, वेतुल्लक, अन्धक, अञ्ञ-महासंघिक। सर्वास्तिवादी मथुरा से उत्तरापथ, विशेषत कश्मीर की ओर अग्रसर हुए। मज्झन्तिक अथवा मध्यान्तिक के द्वारा इस समय कश्मीर में सद्धर्म का प्रचार अनेक आकरों से विदित होता है। धर्मगुप्त और काश्यपीय निकायों की उड्डियान और गन्धार में स्थापना हुई। हिमवत् प्रदेश में ही कदाचित् काश्यपीयों से सम्बद्ध हैमवतों का प्रचार हुआ। अवन्ति और विदिशा से दक्षिण-पश्चिम की ओर वात्सीपुत्रीय, महीशासक और स्थविरों का प्रसार हुआ[४]।

पालि साहित्य और भाषा—थेरवादी साहित्य पालि में निबद्ध है और इसका यह विशेष महत्त्व है कि किसी भी अन्य बौद्ध सम्प्रदाय का साहित्य इतने प्राचीन और सर्वांग-सम्पूर्ण रूप से मूल भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं है। इसी कारण अनेक विद्वान् पालि साहित्य को ही प्राचीनतम एवं प्रामाणिकतम बौद्ध साहित्य स्वीकार करते हैं। अन्य सम्प्रदायों के प्राचीन साहित्य के चीनी अथवा तिब्बती अनुवाद बहुत उपयोगी होते हुए भी यह निर्विवाद है कि उनके मूल के अधिकांश का नाश हो जाने के कारण पालि-साहित्य से ही प्राचीन सद्धर्म का सबसे पूर्ण और प्रामाणिक विवरण प्राप्त हो सकता है। अभिधर्म को छोड़ कर पालित्रिपिटक का अधिकांश सैहलक साम्प्रदायिकता से अविकृत है[५]।

वस्तुत पालि शब्द के अर्थ 'पंक्ति', "पाठ", अथवा 'मूल ग्रन्थ या सन्दर्भ, होते हैं। इसी कारण आजकल जिस भाषा में इन मूल ग्रन्थों की रचना है उसे भी पालि-भाषा कहा जाता है, एवं यही अर्थ आजकल सुप्रचलित हो गया है। यह भाषा मध्य-भारतीय उद्गम की एक प्राचीन प्राकृत है जिसने परिष्कृत साहित्यिक रूप धारण कर लिया है[६]। यह अवश्य स्मरणीय है कि उपलब्ध पालि त्रिपिटक की भाषा सर्वत्र एकरस नहीं है। उसमें विभिन्न काल और प्रदेशों के चिह्न मिलते हैं, किन्तु पालि के वैकासिक

४–दे०—ऊपर।

५–बंकाक से पालि-त्रिपिटक स्यामी लिपि में १८९४ में प्रकाशित हुआ था। सिंहली, बर्मी, रोमन और नागरी लिपियों में भी त्रिपिटक के न्यूनाधिक अंश प्रकाशित हुए हैं। सामान्य विवरण के लिए द्र०—विन्टरनित्स, पूर्व०, जि० २; बी० सी० लॉ, हिस्ट्री ऑव् पालि लिटरेचर; पाण्डे, ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म।

६–विषय विवाद-ग्रस्त है—द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ५७३-७४।

स्तरो का एव प्रादेशिक प्रभावो का यथेष्ट सूक्ष्म विवेचन अभी तक नही हो पाया है। बुद्धघोष के अनुसार पालि वास्तव मे मागधी है। बुद्ध भगवान् ने अवश्य मागधी मे देशना की, किन्तु पालि को मागधी नही माना जा सकता क्योकि उसमे मागधी के प्रसिद्ध लक्षण उपलब्ध नही होते—'र' के स्थान पर 'ल', एव 'स' के स्थान पर 'श' रखने की प्रवृत्ति, तथा अकारान्त पुलिग एव नपुसक-लिग के एक वचन की प्रथमा विभक्ति मे 'ए' का प्रयोग। इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यो को यह अनुमति दी थी कि वे उनके उपदेशो को अपनी-अपनी बोली मे याद रखें[७]। अतएव मूल देशना मागधी मे होते हुए भी मागधी के सरक्षण का विशेष प्रयास न किया गया तो आश्चर्य नही है।

सिहल मे पालित्रिपिटक महेन्द्र लाये थे। वे विदिशा के निवासी थे और वही से पश्चिमी तट के मार्ग से कदाचित् सिंहल पहुँचे। अतएव यह स्वाभाविक है कि वे अपने प्रदेश मे प्रचलित त्रिपिटक लाये हो एव उसी प्रदेश की बोली में वह निबद्ध हो। पालि की तुलना खारवेल के अभिलेख की भाषा से की गयी है एव अशोक की गिरनार मे उपलब्ध धर्म-लिपियो से भी उसका सादृश्य बताया गया है। एक प्राचीन परम्परा के अनुसार स्थविरवादी पिटक पैशाची मे था। यह पैशाची कदाचित् उत्तरपश्चिम की भाषा न होकर मध्य-भारत की थी, जिसमे कि कालान्तर मे गुणाढ्य ने बृहत्कथा की रचना की। ये सब प्रकट सादृश्य एव अनुश्रुतियाँ पालि को मध्य-भारतीय सिद्ध करती हैं। स्थविरवाद के प्रसार की दिशा का स्मरण करने से यही सम्भावना दृढतर होती है कि पालि विदिशा और अवन्ति के प्रदेश की बोली रही होगी।

पालि-त्रिपिटक—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध परम्परा के अनुसार धर्म और विनय का सग्रह पहली सगीति मे हुआ था एव अभिधर्म का अन्तिम ग्रन्थ **कथावत्थु** तीसरी सगीति मे रचा गया। अभिधर्म को बुद्धवचन नही माना जा सकता और यह प्राय सर्व-सम्मत है कि विभिन्न उपलब्ध अभिधर्मो की—जिनमे सर्वास्तिवादी एव थेरवादी अभिधर्म प्रधान है—तुलना करने पर उनकी निकाय-भेद से उत्तरकालीनता एव साम्प्रदायिकता स्पष्ट हो जाती है। विनय और सूत्र पिटको की विभिन्न साम्प्रदायिक प्रतियो के उपलब्ध तुलनीय अगो की आलोचना से यह प्रतीत होता है कि वे किसी अभिन्न मूल पर आधारित रहे होगे। इन साम्प्रदायिक प्रतियो मे प्रधान भेद प्राय

७—"सकाय निरुत्तियाँ"——चुल्लवग्ग (ऊपर उद्धृत), यहाँ "स्व" का सकेत श्रोताओ की ओर मानना ही ठीक है।

वस्तुगत न होकर सग्रह, क्रम एव विस्तार के विषय मे है। सूत्रपिटक के खुद्दक-निकाय अथवा क्षुद्रकागम की स्थिति इस प्रसग मे निराली है। इसके अभ्यन्तर अनेक ग्रन्थ सगृहीत है और अपने वर्तमान रूप मे इस सग्रह को साम्प्रदायिक कहना होगा, यद्यपि इसके अन्तर्गत अनेक प्राचीन और सर्व-निकाय-सम्मत सन्दर्भों की सत्ता निर्विवाद है।

ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के अभिलेखो मे पेटकी, सुत्तन्तिक, पञ्चनेकायिक आदि पदो के उपलब्ध होने से पिटको की प्राचीनता द्योतित होती है। अशोक के द्वारा निर्दिष्ट धर्म-पर्याय प्रस्तुत त्रिपिटक के ही भाग प्रतीत होते है और यह भी उनकी प्राचीनता एव प्रामाणिकता का समर्थक है। त्रिपिटक मे अशोक के नाम का अनुल्लेख भी इस प्रसग मे स्मरणीय है। अशोक के समय तक कम-से-कम विनयपिटक एव सूत्रपिटक के चार-निकायो तथा पाँचवे निकाय के अनेक अशो की रचना हो चुकी थी। अभिधर्म का कितना भाग उस साहित्य के अन्तर्गत था जिसे अशोक के समय में महेन्द्र सिहल ले गये, यह कहना कठिन है। भारत और ताम्रपर्णी का सम्बन्ध उन दिनो और पीछे वरावर बना हुआ था। अतएव यह सम्भव है कि कुछ धर्म-ग्रन्थ अशोक के वाद दक्षिण-भारत से भी सिहल पहुँचे हो। इस कल्पना के समर्थन के लिए साक्षात् प्रमाण वहुत नही है तथापि कुछ सकेत प्राप्त होते है। कथावत्थु की अट्ठकथा के अनुसार कथावत्थु मे 'अन्धको' के एव उनकी शाखाओ के अनेक मत उल्लिखित है। ये मत, विशेषत 'वैतुल्यको' के, अशोक से उत्तरकालीन है एव दक्षिण-भारतीय है। दक्षिणभारत से सिहल का सम्वन्ध अनेक उल्लेखो से विदित है[८]। इस प्रकार यह प्रतिपादित करना सत्य से विदूर न होगा कि वर्तमान पालि त्रिपिटक का अधिकाश अशोक से पूर्वकालीन है। सम्भवत अभिधम्म के कुछ अश, विशेषत कथावत्थु अशोक के परवर्ती हो। ई० पू० पहली शताव्दी मे समस्त त्रिपिटक सिहल में वट्टगामणि के शासन-काल मे लिखा गया था। परम्परा के अनुसार अट्ठकथा भी इसी समय लिपिवद्ध हुई। बुद्धघोष की अट्ठकथाओ से अनुमेय है कि इन पुरानी अट्ठकथाओ मे बुद्धकालीन भारत के सम्वन्ध मे कितनी सूक्ष्म जानकारी थी। अत उन अट्ठकथाओ को भी त्रिपिटक के साथ समानीत व्याख्या की परम्परा पर आधारित मानना होगा।

थेरवादी मत के अनुसार वुद्ध-वचन तीन पिटको मे, पाच निकायो में, नव अगो मे, अथवा चौरासी हजार धर्मस्कन्धो मे सगृहीत है। तीन पिटक प्रसिद्ध है—विनय-

८—सरकार, सक्सेसर्स ऑव् दि सातवाहनज, पृ० २८।

पिटक, सुत्तन्त-पिटक एव अभिधम्मपिटक। पिटक शब्द के अर्थ 'पर्याप्ति' एव 'भाजन' किये गये हैं[९]।

'परियत्ति' (पर्याप्ति) शब्द के अर्थ सामर्थ्य अथवा शिक्षा अभिप्रेत हैं। भाजन अथवा पात्र के अर्थ मे पिटक शब्द का प्रयोग सुविदित है एव कदाचित् पिटक शब्द का प्रयोग प्रारम्भ मे राशीकृत शिक्षा के अनुप्रदाय को सूचित करने के लिए हुआ। जैसे वाहको की परम्परा से पिटको मे राशीकृत उत्खात मृत्तिका आदि का अनुप्रदान होता है, ऐसे ही शिक्षा का भी विभिन्न सुत्तन्तिक विनयधर एव मातिकाधर स्थविरो की गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा विभिन्न राशियो अथवा पिटको मे अनुप्रदाय होता रहा है।

इन तीन पिटको को क्रमश आज्ञा, व्यवहार एव परमार्थ की देशना, यथापराध, यथानुलोम एव यथाधर्म शासन, तथा सवरासवर, दृष्टिविनिवेष्टन, एव नामरूप-परिच्छेद की कथा कहा गया है। विनयपिटक मे अपराधो का शासन है, आज्ञा का बाहुल्य है, एव सवरासवरकी कथा है। सुत्तन्त-पिटक मे व्यवहार की देशना है, अनेक सत्वो की चित्तप्रकृति एव प्रवृत्ति के अनुरूप (अनुलोम) शासन है, तथा बासठ दृष्टियो के खडन की कथा है। अभिधम्मपिटक मे परमार्थ देशना है, अहं एव मम मे अभिनिवेश करने वाले जीव के स्थान पर धर्मपुज-मात्र का शासन है तथा नाम-रूप को परिभाषित किया गया है। विनयपिटक की शिक्षा अधिशीलशिक्षा है, सुत्तन्तपिटक की अधिचित्त शिक्षा एव अभिधम्मपिटक की अधिप्रज्ञ शिक्षा है। विनयपिटक के परिशीलन से व्यतिक्रम-प्रहाण होता है, सुत्तन्त-पिटक से पर्यवस्थान-प्रहाण, अभिधम्मपिटक से अनुशयप्रहाण[१०]।

विनय और सुत्तपिटक—विनयपिटक का सामान्य विवरण ऊपर दिया जा चुका है। यह उल्लेखनीय है कि पालि विनय मे प्रातिमोक्ष सूत्र अलग से नही रखे गये है, किन्तु विभग के अन्तर्गत रूप मे ही प्रस्तुत किये गये है। सम्पूर्ण विभग को, जिसमें भिक्षु-प्रातिमोक्ष सूत्र का एव भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष-सूत्र का प्राचीन व्याख्यान है, दो विभागो मे बाट दिया गया है जिन्हे पाराजिक एव पाचित्तिय की आख्या दी गयी है।

९—द्र०,—पिटकं पिटकत्थविदू परियत्तिभाजनत्थतो आहु।
तेन समोधानेत्वा तयो पि विनयादयो ञेय्या॥
(अट्ठसालिनी, पृ० १८)

१०—द्र०—अट्ठसालिनी, पृ० १८ प्र०।

खधक मे महावग्ग एव चुल्लवग्ग के दो विभाग सगृहीत हैं। सम्बोधि के समनन्तर वुद्धचर्या के विवरण से महावग्ग का प्रारम्भ होता है एव राजगृह मे शारिपुत्र-मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या तक बुद्ध के जीवनचरित्र का निरूपण कर उसमे प्रव्रज्या, उपसम्पदा आदि के लिए अपेक्षित सामान्य नियमो का वर्णन है। जिन परिस्थितियो मे नियम वनाने की आवश्यकता हुई, उनका कथा के रूप मे हर वार उल्लेख किया गया है। चुल्लवग्ग के अन्त मे वुद्ध की जीवनी का कोई अश नही है और पहली सगीति का विवरण असम्वद्ध परिशिष्टवत् जोड दिया गया है। खधक के अतिरिक्त पालि विनयपिटक मे परिवार नाम से एक और भाग है। यह भाग स्पष्ट ही वहुत वाद की कृति है।

पालि सुत्तन्तपिटक पाँच निकायो मे विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अगुत्तरनिकाय एव खुद्दकनिकाय। दीघनिकाय मे तीन वर्गो मे ब्रह्मजाल आदि चौतिस सुत्तन्तो का सग्रह है। परम्परा के अनुसार दीघनिकाय का नाम उसके अन्तर्गत सूत्रो के प्रमाणदैर्घ्य के कारण है। चीनी भाषा मे उपलब्ध दीर्घागम मे कुल तीस सूत्र हैं, जिनमे से छ पालि दीघनिकाय मे कम-से-कम उन्ही नामो से उपलब्ध नही होते हैं[11]। ऐसे ही, दीघनिकाय के दस सुत्तन्त दीर्घागम मे उपलब्ध नही होते। इनमे से कुछ आगमान्तर अथवा निकायान्तर मे मिलते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि विभिन्न सम्प्रदायो मे सूत्रान्तो का समान रूप से राशीकरण नही हुआ। मज्झिमनिकाय एव मध्यमागम, सयुक्तनिकाय एव सयुक्त-आगम की तुलना से भी यह निष्कर्ष समर्थित होता है। सूत्रो का क्रम भी इन सम्प्रदायो में वहुत विभेद प्रकट करता है। फ्राके महोदय ने पालि दीघनिकाय मे ब्रह्मजाल सुत्तन्त के अग्रवर्ती होने के कारण उसके क्रम को अधिक प्रामाणिक कहा है और यह सुझाव युक्तियुक्त प्रतीत होता है। पालि दीघनिकाय के दूसरे एव तीसरे भाग पहले की अपेक्षा साधारणत परवर्ती सूत्रान्तो को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यह नही समझना चाहिए कि दीघनिकाय के पहले दस सुत्तन्त सम्पूर्णत वाद के बीस सुत्तन्तो से प्राचीन हैं। सुत्तन्तो मे अनेक स्थलो पर अनेक स्तर सगृहीत हैं। उदाहरण के लिए महापरि-निव्वान सुत्तन्त मे वहुत प्राचीन सामग्री के साथ-साथ वहुत वाद तक सयोजित सामग्री उपलब्ध होती है। ब्रह्मजाल-सुत्तन्त में प्राचीन

११—चीनी त्रिपिटक पर द्र०—नन्जियो, कैटेलोग; ; सी० अकानुमा, कम्पेरेटिव कैटेलोग ऑव् दि चाइनीज् आगमज् एण्ड दि पालि (टोकियो १९५८); आनेसाकि, जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८९५ प्र०। पालि निकायो का विस्तृत आलोचन द्र०—ओरिजिन्स ऑव् वुद्धिज्म, भाग १।

सामग्री का अपेक्षाकृत उत्तरकालीन विवरण प्रस्तुत है। सामञ्ञफलसुत्तन्त अवश्य बहुत प्राचीन प्रतीत होता है।

मज्झिमनिकाय मे मध्यम प्रमाण के एक सौ बावन सूत्रो का पन्द्रह वर्गो मे सग्रह किया गया है। स्पष्ट ही इस प्रकार का वर्गीकरण उत्तरकालीन है। चीनी मध्यमागम की तुलना मे भी सूत्रो के क्रम और सग्रह की प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न होता है। अन्तिम पण्णास मे अपेक्षाकृत उत्तरकालीन सूत्रो का सग्रह प्रतीत होता है। अपेक्षाकृत प्राचीन सूत्रो मे निम्नाकित सूत्रो का निर्देश किया जा सकता है—

सूत्र सख्या ७, १७, २४, २९, २६, ६१, ६३, ७१, १०८, १४०, १४४, १५२।

सयुक्तनिकाय मे, परम्परा के अनुसार, ७७६२ सूत्रो का पाँच वर्गो मे सग्रह किया गया है। पहला वर्ग सगाथवग्ग, दूसरा निदानवग्ग, तीसरा खधवग्ग, चौथा सळायतनवग्ग एव पाचवा महावग्ग है। चीनी भाषा मे सयुक्तागम के तीन भेद उपलब्ध होते है, जिनमे क्रम एव वस्तु के सग्रह मे अपेक्षाकृत अधिक वैविध्य प्रकट होता है। सयुत्तनिकाय के कुछ सूत्रो मे अत्यन्त प्राचीन सदर्भ सरक्षित है, किन्तु अधिकतर मे सूचीकरण एव परिगणन की परवर्ती शैली का प्राधान्य है। अगुत्तर-निकाय मे प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ९५५७ सूत्रो का सग्रह है। वस्तुत अगुत्तर मे २३४४ सूत्रो से अधिक उपलब्ध नही होते। ये सूत्र १६० वर्गो मे विभक्त है। इन वर्गो का ग्यारह निपातो मे सग्रह किया गया है। इन निपातो मे सूत्रो को इस प्रकार से रखा गया है कि उनमे वर्ण्य वस्तु की सख्या मे एकोत्तर वृद्धि का क्रम प्रदर्शित हो। इसी कारण समस्त सग्रह का नाम अगुत्तरनिकाय अथवा एकोत्तरागम पडा। ग्यारहवॉ निपात स्पष्टत अप्रामाणिक है। इस प्रसग में अभिधर्मकोश-व्याख्या की यह उक्ति स्मरणीय है—

'तथाहि एकोत्तरिकागम आगताद् धर्म-निर्देश आसीदिदानी तु आदशकाद् दृश्यत इति ॥'

खुद्दकनिकाय के सम्बन्ध मे बुद्धघोष का कहना है कि चार निकायो को छोडकर शेष बुद्ध-वचन—विनयपिटक और अभिधम्मपिटक तथा खुद्दकपाठ आदि पन्द्रह ग्रन्थ—सब खुद्दक-निकाय है—

किन्तु प्राय खुद्दक-निकाय शब्द से खुद्दक-पाठ आदि सन्दर्भ ही सूचित होते है। इनके नाम इस प्रकार है—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदा, अपदान, बुद्धवस एव चरियापिटक। इनमे से अनेक ग्रन्थ सस्कृत मे भी उपलब्ध थे। चीनी त्रिपिटक मे धर्मपद के चार अनुवाद प्राप्त होते है। धर्मपद एक विविध और प्रकीर्ण सग्रह प्रतीत

होता है। इस प्रकार के वैराग्यपरक पद्य शान्तिपर्व तथा सूयगडग आदि मे भी उपलब्ध होते हैं। उदान मे पद्यमय उदानो की अपेक्षा कथाए परवर्ती लगती हैं। इतिवुत्तक में ११२ सूत्र चार निपातो मे सगृहीत हैं। ‌ ।तु-निपात का इतिवुत्तक के चीनी अनुवाद मे अभाव है। पहले दो निपात एव तीसरे के पूर्वार्ध मे अपेक्षाकृत प्राचीन सुत्तो का सग्रह है। सुत्त-निपात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव प्राचीन सन्दर्भ है, विशेषत इसके पारायण और अट्ठकवग्ग।

विमानवत्थु और पेतवत्थु स्पष्ट ही परवर्ती ग्रन्थ हैं। विमानवत्थु मे देवलोक के प्रासादो[12] की महिमा वर्णित है। इसमे सात वग्गो मे तिरासी (८३) कथाएँ दी हुई हैं। पेतवत्थु में चार वग्गो मे ५१ कथाएँ हैं जिनमे कि अपुण्यात्मा प्रेतो के दु ख का विवरण है। थेरगाथा एव थेरीगाथा मे भिक्षुओ और भिक्षुणियो की निर्मित गाथाएँ सगृहीत है। ये दोनो सग्रह एक प्रकार के प्राचीन काव्यसग्रह हैं। थेरगाथा मे वाह्य प्रकृति के सौन्दर्य की ओर भी दृष्टि उन्मीलित है। थेरगाथाएँ १२७९ हैं एव थेरीगाथाएँ ५२२। जातक मे भी पद्य सग्रह है जिसमे कि प्रत्येक गाथा के साथ किसी जातक-कथा का आक्षेप अभीष्ट है। इन गद्यमय कथाओ का इस समय केवल जातकट्ठवण्णना नाम की जातको की टीका से ही पता चलता है। ये कथाएँ बुद्ध के पूर्व-जन्मो से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुधा नाना प्रचलित कथाओ को परिवर्तित कर एव सद्धर्म के उपयोगी बनाकर इस सग्रह मे रख दिया गया है। भारतीय कथासाहित्य का यह सबसे प्राचीन सग्रह है। निद्देस सुत्तनिपात की टीका है। पटिसभिदामग्ग मे आध्यात्मिक साक्षात्कारात्मक ज्ञान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अपदान मे पद्यमय कथाओ का सग्रह है जिनमे विशिष्ट बौद्धो के उदारचरितो का वर्णन है। इनकी तुलना सस्कृत बौद्ध साहित्य के अवदानो से करनी चाहिए। बुद्धवस भी पद्यात्मक है एव इसमे २४ पूर्ववर्ती बुद्धो की तथा गौतम बुद्ध की कथा कही गयी है। चरियापिटक २५ पद्यमय जातको का सग्रह है। इसमे १० पारमिताओ का विवरण प्राप्त होता है।

अट्ठकथाएँ—ऊपर कहा जा चुका है कि महावस के अनुसार महेन्द्र अपने साथ अट्ठकथाएँ भी लाये थे। ये अट्ठकथाएँ सिहली भाषा मे अनेक शताब्दियो तक उपलभ्य थी, किन्तु अब लुप्त हो चुकी हैं। इनमे विनय की अट्ठकथा का नाम कुरुन्दी था। सुत्तपिटक की अट्ठकथा महाअट्ठकथा कही जाती थी एव अभिधम्म की अट्ठकथा

१२–अट्ठसालिनी, पृ० २२, "दीघ आदि इन चार निकायो को छोड़कर शेष बुद्ध-वचन खुद्दक-निकाय है।"

महापच्चरी के नाम से प्रसिद्ध थी। चुल्लपच्चरी , अन्धट्ठकथा, पण्णवार, एव सखे-पट्ठकथा के नाम भी प्राप्त होते हैं। बुद्धघोप ने इन अट्ठकथाओ के आधार पर पालि मे अट्ठकथाएँ लिखी। बुद्धघोष के जीवनचरित का विवरण महावस से प्राप्त होता है।

अभिधर्म का उद्भव और विकास

बुद्धघोप के द्वारा उल्लिखित परम्परा[13] के अनुसार तथागत ने सम्वोधि के चतुर्थ सप्ताह मे अभिधर्म के तत्त्वो का प्रत्यवमर्श किया तथा 'महाप्रकरण' के चौवीस प्रत्ययो मे ही उनकी सर्वज्ञता ने अपने अनुरूप अवकाश का लाभ किया। उस समय उनके शरीर से ६ रगो की रश्मियाँ निष्क्रान्त हुई। चित्त से समुद्गत इस प्रकाश का प्रसार वस्नुत अभिधर्म के ज्ञान का अनुभव एव एक प्रकार की मानसिक देशना थी। पीछे त्रयस्त्रिश देवलोक मे मातृ प्रमुख देवताओ को उन्होने तीन महीने मे अभिधर्म का उपदेश किया एव "निर्मित" बुद्ध को अपने स्थान पर छोड कर अपने उपदेश का मर्म प्रतिदिन सारिपुत्त को अनवतप्त-सर के तीर पर पिण्डदान-परिभोग के अनन्तर चन्दन-वन मे वताया। सारिपुत्र ने अपने ५०० शिष्यो को उपदेश किया।

बुद्धघोष के अनुसार पहली सगीति मे अभिधम्म का भी सगायन हुआ। यह उल्लेखनीय है कि एक परम्परा के अनुसार अभिधम्म का खुद्दक निकाय मे सग्रह किया जाता था। पालि अभिधर्म-पिटक का विकास सम्भवत मातृकाओ से हुआ है जिनका उल्लेख विनयपितक मे प्राप्त होता है। गातृकाएँ 'धर्मों' की सूचियाँ थी। **धम्मसगणि** का प्रारम्भ एक मातृका से होता है और उसी को **अभिधम्म-पिटक** का मूल कहा गया है। **पुग्गलपञ्ञत्ति** और **धातुकथा** भी मातृकाओ से प्रारम्भ होती है।

यह स्मरणीय है कि अभिधम्मपिटक मे प्राय उन्ही सिद्धान्तो का विश्लेषण और रीतिवद्ध प्रतिपादन किया गया है जो सुत्तपिटक मे बीजरूप से उपलब्ध होते हैं। बुद्धघोष ने अभिधर्म की देशना को परमार्थ देशना अथवा निप्पर्याय देशना कहा है। पिटकान्तर से विभेदपूर्वक यहाँ कथादि वर्जित, शुष्क तात्विक निरूपण किया गया है।

(२) **धर्म और अभिधर्म**—प्रारम्भ से ही वौद्ध धर्म मे मनोवैज्ञानिक विश्लेपण-पूर्वक नैतिक साधन पर जोर दिया गया था। वौद्ध भिक्षु के लिए आवश्यक था कि वह पुण्यभागीय गुणो का सग्रह करे तथा अपुण्यभागीय अवगुणो का त्याग, एव निरन्तर जागरूकता, सतर्कता और विवेक के द्वारा तृष्णा और असत्कर्म से अपनी रक्षा करे।

१३—अट्ठसालिनी, पृ० १२।

साधारण मनुष्य देह और चित्त के व्यापारो को आत्मिक व्यापार समझकर उनके सम्मुख विवश हो जाता है। काम हो, क्रोध हो, आलस्य हो, उत्तेजना हो, इन सब प्रवृत्तियो को अपनी प्रवृत्ति समझकर लोग उनके अनुसार कर्म अथवा अकर्मण्यता मे निरत रहते है। सद्धर्म के अनुसार मानसिक व्यापार एव अनुभव की प्रक्रिया एक अस्थिर प्रवाह है जिसमे अनेक तत्वो का सयोग और वियोग निरन्तर होता रहता है। कार्य-कारण-भाव से परतन्त्र इस प्रक्रिया मे किसी प्रकार की आत्मा अथवा आत्मीयता की वास्तविक सत्ता नही है। जैसे कार्य-कारण-भाव से परतन्त्र बीजाकुर न्याय से वनस्पति जगत् का जीवन-चक्र चलता रहता है, ऐसे ही अविद्या, काम, कर्म और दु ख का नियत प्रवाह मानव-जीवन मे भी अनादि काल से प्रवृत्त है। फलत बाह्य प्रकृति एव आध्यात्मिक अथवा आभ्यंतरिक प्रकृति को नाना तत्त्वो मे विभाजित कर उनके परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध के परिज्ञान का प्रयत्न बौद्धो के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया। जिन नाना तत्त्वो मे अनुभव को विभाजित किया गया वे ही अभिधर्म मे धर्म अथवा धम्म कहे गये। धर्म शब्द के पूर्व-इतिहास का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। यह स्मरणीय है कि प्राचीन बौद्ध प्रयोग मे धर्म-शब्द से प्राय दो अर्थ सूचित होते है—अतर्क्य परमार्थ तत्त्व एव नाना अनित्य सस्कार। सस्कृत और असस्कृत धर्मों का भेद भी सूत्रान्तो में उपलब्ध होता है, एव धर्म को कुछ स्थलो पर 'रूप' का प्रतियोगी माना गया है। बुद्धघोष का कहना है 'धम्मसद्दो पनायं परियत्ति-हेतु-गुण-निस्सत्तनिज्जीवतादीसु दिस्सति। अत्तनो पन सभावधारेन्तीति धम्मा। धारियन्ति वा पच्चयेहि, धारयन्तिवा यथासभावतो ति धम्मा।'[14] इससे प्रकट होता है कि अभिधर्म के अनुसार आत्मा के स्थान पर "निस्सत्व-निर्जीव" तत्त्वो को प्रतिष्ठित करना चाहिए। ये तत्त्व पृथक्-पृथक् स्वभाव वाली अनेक सत्ताएँ है जोकि कार्यकारण भाव के अधीन निरन्तर प्रवाह-शील है। यह स्मरणीय है कि सयुत्त मे वजिराभिक्खुनी ने "सुद्रसखारपुञ्जोय" की घोषणा पहले ही कर दी थी[15]। यह विचारणीय है कि धर्म शब्द अनित्य सस्कार एव नित्यनिर्वाण तथा भौतिक एव मानसिक तत्त्वो का समान रूप से अभिधान करता है। इस व्यापक प्रयोग से यह सूचित होता है कि अनुभव की धारा मे विषय और विषयी के बीच कोई अगाध खाई नही है। इस दृष्टिकोण को आधुनिक शब्दो में कभी यथार्थवादी (रीयलिस्ट, पॉजिटिविस्ट) माना गया है एव कभी प्रतिभासवादी (फेनोमेनलिस्ट)

१४—अट्ठसालिनी, पृ० ३३।
१५—संयुत्त (ना०) जि० १, पृ० १३५।

बताया गया है[१६]। वस्तुत ये दोनो ही नाम भ्रामक है क्योकि अभिधर्म की दृष्टि न तो बाह्यार्थ-परायण है, न केवल प्रतीति-विश्रान्त। धर्म-वस्तु-मात्र है जिसके चित्त और भूत दो प्रधान विभाग है। दोनो ही अनात्मक है एव उनकी इस अनात्मक वस्तुसत्ता—निस्सत्व-निर्जीवता—की सूचना से ही स्थविरवादी बौद्ध अभिधर्म सन्तुष्ट था।

(३) **अभिधर्म-"नैतिक मनोविज्ञान"**—अनुभव के व्यापार और प्रक्रिया को नाना धर्मो मे विभाजित करना एव उनके सयोग और वियोग मे कार्य-कारण-सम्बन्ध का विश्लेषण करना अभिधर्म का प्रधान कार्य है। यह विशेष रूप से अवधेय है कि मानसिक व्यापारो के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ये ही दो मौलिक सिद्धान्त हैं—अनुभव को तत्त्वश विभाजित करना, एवं उसको कार्य-कारण-नियम के परतन्त्र मानना। अनुभव को प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मो का सघात और संतति मानकर बौद्धो ने यथार्थ मे मनोविज्ञान की नीव डाली, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान से इस प्राचीन मनोविज्ञान के भेद विस्मरणीय नही हैं। आधुनिक मनोविज्ञान अपने आप को नीति-निरपेक्ष मानता है, जबकि प्राचीन मनोविश्लेपण नैतिक एव आध्यात्मिक प्रयोजनो से प्रेरित था। इससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि बौद्ध लोग 'कुशल' और 'अकुशल' (अर्थात् 'गुड' और 'ईविल') का भेद विज्ञानवत् शास्त्र-निरूपणीय मानते थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध मनोविज्ञान में सामान्य मनुष्य-लोक के अतिरिक्त अन्य लोको के अनुभव की एव लोकोत्तर-अनुभव की भी चर्चा है। अन्तत, आधुनिक मनोविज्ञान की दैहिक व्यापारो तथा सामाजिक भावनाओ एव व्यवहार के विश्लेषण के साथ विशेप आसक्ति है।

(४) **सूत्र-पिटक और अभिधर्म-पिटक**—पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अभिधर्म मे उन्ही प्रवृत्तियो का विस्तार पाया जाता है जो कि बीज-रूप से प्राचीनतर सद्धर्म में सूत्रपिटक मे उपलब्ध हैं। एक बडा भेद अवश्य आलोचनीय है। प्राचीन सद्धर्म में अवर्णनीय एवं अतर्क्य परमार्थ की चर्चा का महत्त्व था। निर्वाण का लक्ष्य निरन्तर सामने रखा जाता था एव उसकी महिमा का उल्लेख किया जाता था। अहकार एवं मिथ्या आत्मवाद का निराकरण होते हुए भी आत्म-गवेपणा, अध्यात्मरति एव अस्तित्व तथा नास्तित्व के परे मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश प्रमुख था। अभिधर्म में इन सबका प्राय. अभाव है। सारा ध्यान धर्मो के विभाजन और वर्गीकरण की ओर दिया गया है ताकि बौद्ध साधक को हर उत्पन्न होती हुई मानसिक अवस्था का नाम और कार्य परिचित हो जाय एव उसकी भावना अथवा प्रहाण उसके लिए सम्भव हो।

१६—तु०—रोज़नबर्ग, दी प्रोब्लेम देर बुद्धिस्तिशेन फिलोज़ोफी, पृ० ९४–१०४।

धर्म का प्राचीनतम विभाजन नाम-रूप मे था, यद्यपि सूत्रपिटक मे धर्मो का विभाजन प्राय पॉच स्कन्धो मे पाया जाता है—रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, सज्ञास्कन्ध एव सस्कारस्कन्ध। इन पाच-स्कन्धो के सघात से ही मानव जीवन का व्यापार सम्पन्न होता है एव मोक्ष के लिए इनका प्रहाण आवश्यक है। इनको उपादान-स्कन्ध भी कहा गया है क्योकि इनकी उत्पत्ति तृष्णा और कर्म से होती है। इनकी उत्पत्ति और परिणति का क्रम द्वादश निदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद मे निर्दिष्ट है। इस प्रकार सूत्रपिटक मे पचस्कन्धवाद एव द्वादश निदानो के द्वारा अनुभव के जगत् का विश्लेषण किया गया है। अनेक स्थलो मे स्कन्धो के स्थान पर धातुओ मे एव आयतनो मे धर्मविश्लेपण किया गया है। अभिधर्मपिटक मे पॉच स्कन्धो का महत्त्व घट गया हे और साथ ही पुराने प्रतीत्यसमुत्पाद का। पॉच स्कन्धो के स्थान पर चित्त एव रूप के विभाजन को पुन प्रधान मान कर दोनो के अनेक अवान्तर विभाग किये गये है। इनमे चित्त के कुशल, अकुशल, एव अव्याकृत, ये तीन विभाग सर्वप्रधान है। ऐसे ही प्रतीत्य-समुत्पाद का स्थान पट्ठान मे नाना पच्चयो ने ले लिया है।

अभिधर्मपिटक मे धम्मसगणि, विभग, धातुकथा, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठानपकरण नाम के सात ग्रन्थ सगृहीत हैं। प्राय अभिधम्म के ग्रन्थो मे पारि-भाषिक पद, उनका वर्गीकरण, और उनके अर्थ दिये गये हैं। कथावत्थु मे न्यायवाक्यो का परिचय मिलता है एव वादकथाओ का विस्तार पाया जाता है। धम्मसगणि मे मातृका के अनन्तर धर्मो का अनुपद और व्यवस्थित विवरण दिया गया है। मातृका मे पहले २२ त्रिक धर्मो का उल्लेख किया गया है और उसे 'तिक-मातिका' कहा गया है। इस सूची मे सगृहीत धर्मो के कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

(१) कुशलधर्म, अकुशलधर्म, अव्याकृत धर्म,
(२) सुखवेदना, सप्रयुक्तधर्म, दु खवेदना, सप्रयुक्त धर्म, अदु खासुखवेदना, सप्रयुक्त धर्म।
(३) विपाकधर्म, विपाकधर्म-धर्म, न विपाक-धर्म न विपाकधर्म-धर्म। . . .
(५) सक्लिष्ट-साक्लेशिक धर्म, असक्लिष्ट-साक्लेशिक धर्म, असक्लिष्ट-असा-क्लेशिक धर्म,
(६) सवितर्क-सविचार धर्म, अवितर्क-विचारमात्रधर्म, अवितर्काविचार धर्म।

इस प्रकार अनेक धर्मो का यहाँ पर त्रिधाकृत सग्रह है। अनन्तर अभिधम्म-मातिका का नाम दिया गया हे और उसमे हेतुगोच्छक, चूलन्तरदुक, आसव-गोच्छक, सयोजन-गोच्छक, गन्थगोच्छक, ओघ-गोच्छक, योग-गोच्छक, नीवरण-गोच्छक, परा-

मास-गोच्छक, महन्तर-दुक, उपादान-गोच्छक, किलेस-गोच्छक एव पिट्ठिदुक नाम के वर्गों मे कुछ धर्मों को द्विधा विभाजित कर सगृहीत किया है, जैसे हेतुधर्म, अहेतुधर्म; सहेतुक धर्म, अहेतुक धर्म। इसके अनन्तर सुत्तन्तमातिका दी गयी है जिसमे अनेक धर्मद्विक सगृहीत हैं, जैसे, विद्याभागीय-धर्म, अविद्याभागीय-धर्म, विद्योपम धर्म, वज्रोपम धर्म, इत्यादि। कुल मिलाकर अभिधम्ममातिका मे २२ तिक और १०० दुक हैं एव सुत्तन्तमातिका में ४२ दुक हैं। इनमें सुत्तन्तमातिका बाद की प्रतीत होती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार खण्डो मे विभक्त है—चित्तोत्पाद काड, रूपकाड, निक्षेप-काड, और अर्थोद्धार-काड। पहले दो काड मातिका के पहले तिक की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। तीसरे काड मे दूसरे वाद के तिको का विस्तार व्याख्यात है। चारो काडो मे सक्षिप्त रूप मे तिको का एव अभिधम्ममातिका के दुकों का व्याख्यान दिया गया है। सुत्तन्त-मातिका की व्याख्या इसमे नही है। परम्परा के अनुसार चतुर्थ काड शारिपुत्र की कृति है। अन्तिम दो काण्डो को परवर्ती मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

धम्मसगणि का अर्थ धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरी करना ठीक होगा[17]। पहले काड का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—'कतमे धम्मा कुसला—इमे धम्मा कुसला'। इसी शैली में सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई है।

(५) धम्मसंगणिचित्त के भेद—धम्मसगणि के चित्तोत्पाद काण्ड में ८९ प्रकार के चित्त बताये गये हैं जिनमे २१ कुशलचित्त है, १२ अकुशलचित्त एव ५६ अव्याकृत। २१ कुशलचित्तों में ८ कामावचर कुशलचित्त है, ५ रूपावचर, ४ अरूपावचर एवं ४ लोकोत्तर। कामावचर कुशलचित्त का विस्तृत विवरण दिया गया है। इनमे ४ सौमनस्य-सहगत है, ४ उपेक्षा-सहगत। ये दोनो प्रकार भी ज्ञान-सम्प्रयुक्त तथा ज्ञान-विप्रयुक्त होने के साथ ही ससास्कारिक अथवा असास्कारिक होने के कारण पुन. इनका विभाजन किया गया हैं। रूपावचर-चित्तों का विभाग ५ ध्यानो से सम्बध रखता है, अरूपावचरचित्तो का विभाग ४ आरूप्यो से एव लोकोत्तर चित्तो का विभाग ४ भागो से। वस्तुत कुशल-चित्तो के विवरण में आध्यात्मिक साधन से सम्बद्ध विभिन्न चेतसिक अवस्थाओ का विश्लेषण और निरूपण पाया जाता है। १२ अकुशल चित्तो में ८ लोभमूल हैं, २ द्वेषमूल एव २ मोहमूल। मोहमूल अकुशलचित्त या विचिकित्सासम्प्रयुक्त होता है या औद्धत्यसम्प्रयुक्त। द्वेषमूल अकुशलचित्त या ससास्कारिक होना हैं या असास्कारिक। लोभमूल अकुशलचित्त सौमनस्यसहगत हो सकता है एव उपेक्षासहगत,

१७—तु०—धम्मसंगणि, भूमिका, पृ० ११–१२।

और इनमे से प्रत्येक दृष्टिसम्प्रयुक्त अथवा विप्रयुक्त हो सकता है तथा अन्तत ये अवान्तर विभाग भी असास्कारिक हो अथवा ससास्कारिक। अव्याकृतचित्तो मे ३६ विपाक रूप है, २० क्रियारूप। विपाक-रूप अव्याकृत-चित्त कुशल एव अकुशल होने के कारण द्विधा विभक्त है। क्रिया के अर्थ होते है ऐसा व्यापार जिससे भोग्य फल उत्पन्न नही होता। क्रिया का तीनो लोको से सम्बन्ध होने के कारण त्रिधा विभाजन किया गया है।

(६) **चित्त का स्वरूप**—इस विश्लेपण के प्रसग मे धम्मसगणि ने प्राय शब्दान्तर-सूची प्रस्तुत कर परिभाषा का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए चित्त की व्याख्या इस प्रकार है—'चित्त, मन, मानस, हृदय, पाडुर, मन, मनायतन (मन-आयतन), मनिन्द्रिय (मन-इद्रिय), विज्ञान-स्कन्ध, तज्जा (तज्जन्य) मनोविज्ञान-धातु'[१८]। इस विवरण से चित्त के तत्त्व का द्विधा परिचय प्राप्त होता है, अन्त करण के रूप मे एव विषयोपलब्धि के रूप मे। सूत्र-पिटक मे ही यह कहा जा चुका था कि मन इन्द्रियो का प्रतिशरण है अर्थात् इन्द्रियाँ नाना विषयो की सूचना मन के सम्मुख उपस्थित करती है और मन उनका प्रत्यनुभव अर्थात् समन्वय और व्यवस्थापन करता है। जैसे कोई राजा पाँच ग्रामो से आहृत वलि का[१९]। अभिधर्म मे चित्त के व्यापार के लिए भी एक भौतिक आधार की सत्ता स्वीकार की गयी है, किन्तु यह भौतिक आधार देह मे कहाँ है, इसका अवधारण नही किया गया है। पीछे के विवरण से यह स्पष्ट होता हे कि हृदय को ही चित्त का भौतिक आधार स्वीकार किया जाता था[२०]। यद्यपि नाना चैतसिक व्यापारो के नाम एव उनका कोष-शैली से व्याख्यान धम्मसगणि मे उपलब्ध होता है तथापि चित्त के अतिरिक्त अन्य चैतसिक धर्मो की तथात्वेन वर्गीकृत पृथक् सत्ता का व्याख्यान अभी प्राप्त नही होता। परवर्ती व्याख्यान मे चैतसिक धर्म ५२ वताये गये है—वेदना, सज्ञा, एव सस्कार-स्कन्ध के अन्तर्गत ५० धर्म। यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ मे केवल तीन ही सस्कारो का उल्लेख मिलता हे—काय-सस्कार, वाक्-सस्कार, एव चित्त-सस्कार[२१]।

१८—धम्मसगणि, पृ० २२।

१९—मज्झिम, सुत्त ४३, तु०—मिसेज राइजडेविड्स, दि वर्थ ऑव् इण्डियन साइ-कोलॉजी एण्ड इट्स डिवेलपमेन्ट इन वुद्धिज्म (लण्डन, १९३६), पृ० ३१७–१८।

२०—द्र०—मिसेज राइज डेविड्स, पूर्व० पृ० ४१०।

२१—मज्झिम, सुत्त ४४।

'रूप—रूप का विवरण संयुत्त के अनुसार दिया गया है—४ महाभूत अथवा ४ महाभूतो पर आधारित रूप, इसे कहते है रूप[22]। अर्थात् भूत और भौतिक पदार्थ रूप कहे जाते थे। रूप न हेतु है, न उसका हेतु है, किन्तु वह सप्रत्यय है, सस्कृत है, लौकिक है, एव सास्रव है। उसे सयोजनीय, उपादानीय, साक्लेशिक, अव्याकृत, अनालम्वन, एव चित्त-विप्रयुक्त, तथा अचैतसिक वताया गया है। रूप केवल कामलोक मे ही प्राप्त होता है, रूप एव अरूप-लोक मे नही। रूप का ज्ञान छ विज्ञानो से होता है। रूप अनित्य है, किन्तु दर्शन अथवा भावना से प्रहातव्य नही है। रूप के ११ भेद वताये गये है—५ इद्रियॉ, ५ इन्द्रियो के विपय, एव वह रूप जो धर्मायतन-पर्यापन्न, अप्रतिघ तथा अनिदर्शन है। इन्द्रियाँ ४ महाभूतो से निर्मित है, किन्तु वे एक प्रकार का सूक्ष्म रूप है जिसे प्रसाद रूप कहा गया है[23]। उन्हे 'आध्यात्मिक आयतन' कहा जाता है। वे स्वय अप्रत्यक्ष है, किन्तु सप्रतिघ है अर्थात् वे अन्य पदार्थो के लिए आवरण उपस्थित करती है। इसी कारण उनके और उनके विपय का सम्पात सम्भव है जिससे कि विज्ञानो की उत्पत्ति होती है। किन्तु इनमे स्पर्शायतन 'अनुपादाय रूप' है। आध्यात्मिक एव वाह्य आयतन 'औदारिक' अथवा स्थूल रूप माने जाते है। स्त्री-लिंग और पुरुष-लिंग, जीवितेन्द्रिय, काय-विज्ञप्ति एव वाग्-विज्ञप्ति, तथा आकाश धातु को भी रूप कहा गया है। 'जीवितेन्द्रिय' के पर्याय आयु एव जीवन दिये गये है। कायिक अथवा वाचिक व्यापार से अभिप्राय का प्रकाशन विज्ञप्ति कहलाता है। विज्ञप्ति चित्त-समुत्थान, चित्त-सहभू, एव चित्तानुपरिवर्ती रूप माना गया है। चारो महाभूतो से असस्पृष्ट विवर को आकाश-धातु कहते है। रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जरता (=जराशीलता), एव अनित्यता को भी रूप कहा गया है। कवलीकार आहार को रूप का एक पृथक् भेद वताया गया है। लिंग, विज्ञप्ति, आहार आदि रूप को सूक्ष्म एव 'दूर' कहा गया है। पृथ्वी-धातु का लक्षण है कर्कशत्व, जल-धातु का स्नेह, तेजो-धातु का ऊष्मा एव वायु का कम्पन या गति।

तीसरे निक्षेप काण्ड मे सम्पूर्ण मातृका की व्याख्या है, पिछले काण्ड मे दी हुई व्याख्याओ से कुछ स्थलो मे ये नवीन व्याख्याएँ विपुलतर है। चतुर्थ काण्ड मे व्याख्या सक्षिप्ततर है और कुछ नये पद प्राप्त होते है, यथा पिछले काण्ड की असखत धातु के लिए निव्वान।

२२—धम्मसंगणि, पृ० १६३।
२३—वही, पृ० १७८ प्र०।

विभंग—अभिधम्मपिटक का मूलभूत ग्रन्थ अवश्य ही धम्मसगणि है, किन्तु एक प्रकार से विभग उसका पूरक है। धम्मसगणि मे नाना धम्मो का वर्गीकरण एव परिगणन किया गया है एव उन्ही के अभ्यन्तर खध, आयतन, धातु आदि को रखा गया है। विभग मे यह क्रम उलट दिया गया है एव खघ, आयतन आदि के वर्गो मे उपलब्ध धर्मो का निर्देश और परिगणन किया गया है। यह स्मरणीय है कि सुत्तपिटक मे प्राय खध, आयतन और धातुओ मे समस्त अनुभव अथवा जगत् का विवरण दिया गया था। सत्ता का प्राचीनतम विभाजन नामरूप मे था जिसके परिष्कार के द्वारा पाँच स्कन्धो का प्रतिपादन किया गया। रूप रूपस्कन्ध बन गया और नाम का चतुर्धा विभाजन हो गया। एक ओर पाँच इन्द्रियाँ एव मन आध्यात्मिक आयतन है, दूसरी ओर उनके अपने-अपने विषय बाह्य आयतन है। मन का विषय 'धर्म' कहा गया है। इन्द्रिय और उसके विषय के सघट्टन से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन छहो प्रकार के विज्ञानो को मिलाकर १२ आयतन, १८ धातुएँ बन जाती है।

विभग के १८ विभाग है—खघ-विभग, आयतन-विभग, धातु-विभग, सच्च-विभग, इन्द्रिय-विभग, पच्चयाकार-विभग, सतिपट्ठान-विभग, सम्मप्पधान-विभग, इद्धिपाद-विभग, बोज्झग-विभग, मग्ग-विभग, झान-विभग, अप्पना-विभग, सिक्खापद-विभग, पटिसभिदा-विभग, ञान-विभग, खुद्दकवत्थु-विभग, धम्महृदय-विभग। खघ-विभग मे वेदना एव सञ्ञा का औदारिक एव सूक्ष्म नाम के वर्गो मे विभाजन सूक्ष्म पर्यालोचन दर्शित करता है। उदाहरण के लिए यह कहा गया है कि अकुशल वेदना औदारिक है, कुशल एव अव्याकृत वेदना सूक्ष्म है। ऐसे ही प्रतिघ-सस्पर्शजा सज्ञा औदारिक है, अधिवचन-सस्पर्शजा सूक्ष्म। सस्कारस्कन्ध मे सस्पर्शजन्य चेतना का ही विवरण दिया गया है। आयतन-विभग मे मन-आयतन के अन्तर्गत चार अरूपी स्कन्ध रखे गये है। धम्मायतन को वेदना-स्कन्ध, सज्ञास्कन्ध, सस्कारस्कन्ध, अनिदर्शन, अप्रतिघ, रूप, एव असस्कृत धातु बताया गया है। धातु-विभग मे मनोधातु को चक्षुर्विज्ञान आदि धातुओ के समनन्तर उत्पन्न चित्त अथवा मन कहा गया है। इसका प्रकारान्तर से भी वर्णन किया गया है—सब धर्मो के प्रथम समन्वाहार के समनन्तर उत्पन्न चित्त अथवा मन। मनोधातु के समनन्तर उत्पन्न धातु को मनोविज्ञानधातु बताया गया है।

धातुकथा—धातुकथा मे इस बात का विचार किया गया है कि खध, आयतन एव धातुओ के वर्गो मे कौन-कौन से धर्म सगृहीत है एव कौन-से असगृहीत है तथा उनके साथ कौन-से धर्म सम्प्रयुक्त है, कौन विप्रयुक्त। उदाहरण के लिए रूपस्कन्ध किसी भी स्कन्ध, आयतन अथवा धातु से सम्प्रयुक्त नही है। वेदनास्कन्ध सज्ञा, सस्कार एव विज्ञान से सम्प्रयुक्त है।

पुग्गलपञ्ञत्ति—पुग्गलपञ्ञत्ति मे पुरुषो के विभिन्न प्रकारो का निर्देश किया गया है। दीघनिकाय के सगीतिसुत्त एवं अगुत्तरनिकाय के कुछ निपातो से इसका बहुत सादृश्य है। अभिधर्म की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत कम है। पृथग्जन का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—वह पुरुष जिसके तीन संयोजन प्रहीण नही हुए हैं और जो न उसके प्रहाण के लिए प्रतिपन्न है। यह बताया गया है कि सोतापन्न एव सकृदागामी काम और भव मे अवीतराग है। अनागामी काम मे वीतराग, किन्तु भव मे अवीतराग है। अनागामी के पाँच ओरम्भागीय सयोजन परिक्षीण हो जाते है एव वह औपपातिक होकर उसी लोक मे परिनिर्वाण प्राप्त करता है, इस लोक मे लौटता नही। अर्हत् काम एव भव दोनो मे वीतराग हैं।

यमक—यमक-प्रकरण में न्यायोपयोगी सग्रहासग्रह के प्रश्न एव उत्तर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए—'क्या रूप रूपस्कन्ध है? (नही), प्रियरूप, शातरूप रूप है, न कि रूपस्कन्ध। रूपस्कन्ध रूप भी है, रूपस्कन्ध भी। रूपस्कन्ध रूप है? हाँ क्या जो रूप नही है वह रूपस्कन्ध नही है? क्या जो रूपस्कन्ध नही है वह रूप नही है? प्रिय-रूप, शातरूप रूपस्कन्ध नही है, किन्तु रूप है।[२४]। इस ग्रन्थ से नैयायिक अथवा तार्किक चर्चा का विकास सूचित होता है।

पट्ठान और पच्चय—पट्ठानपकरण अथवा महापकरण अभिधम्मका विशालतम एव जटिलतम ग्रन्थ है। धम्मसगणि मे वर्णित धर्मो का इसमे कार्य-कारणभाव की दृष्टि से परस्पर अभिसम्बन्ध आलोचित किया गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार सभी पदार्थ सापेक्ष हैं और यही सापेक्षता पच्चय (=प्रत्यय) शब्द से सूचित होती है। यह सापेक्षता पहले 'पटिच्चसमुप्पाद' अथवा 'इदप्पच्चयता' के नाम से सुत्तपिटक मे अभिहित है। परवर्ती काल मे एक ओर 'मध्यमा प्रतिपद' का अनुसरण करते हुए इस सिद्धान्त की धर्म-शून्यता के सिद्धान्त मे परिणति हुई। दूसरी ओर 'निदानो' के पर्यालोचन एव कार्य-कारण-भाव के नाना प्रकारो के विवेचन से पट्ठान का पच्चयवाद प्रतिपादित हुआ। यह स्मरणीय है कि पच्चय शब्द से सम्बन्ध-मात्र की सूचना नही होती, किन्तु ऐसे सम्बन्धो की सूचना होती है जिनमें किसी-न-किसी प्रकार से एक दूसरे के प्रति कार्य अथवा कारण कल्पित किया जा सकता है। यह सच है कि इस प्रसग मे बहुत-से ऐसे सम्बन्धो का भी उल्लेख किया गया है जिसे अन्य दर्शनो मे कार्य-कारण-भाव से सर्वथा असम्बद्ध मानते है। उदाहरण के लिए, ज्ञान और ज्ञान के विषय का सम्बन्ध अथवा

२४—जगदीश काश्यप, दि अभिधम्म फिलॉसफी, जि० २, पृ० १८३ प्र०।

पौर्वापर्य सम्बन्ध। इन्ही को पट्ठान मे क्रम से आरम्मणपच्चय एव समनन्तर पच्चय कहा गया है। २४ प्रकार के पच्चयो का पट्ठान मे विवरण दिया गया है। प्रत्येक के निरूपण के लिए एक ओर पच्चय अथवा कारणभूत धर्म का निर्देश करना होता है दूसरी ओर पच्चयुप्पन्न धर्म का जो उससे अभिसम्बद्ध एव उसका किसी-न-किसी प्रकार से कार्यभूत धर्म है। ये २४ पच्चय इस प्रकार है[२५]।

(१) **हेतुपच्चय**—यदि एक धर्म की स्थिति या उत्पत्ति दूसरे धर्म का प्रत्याख्यान किये विना हो तो वह उपकारक धर्म उसका 'प्रत्यय' (पच्चय) कहलाता है। कुछ आचार्यों के मत से हेतु का अर्थ इस प्रसग में मूल है एव हेतुत्वेन अर्थात् मूलत्वेन उपकारक होने पर पच्चय को हेतुपच्चय कहते हैं। उदाहरण के लिए, बीज अकुर का हेतुपच्चय है। आचार्य बुद्धघोष ने इसे सशोधित करते हुए कहा है कि मूलत्व के स्थान पर सुप्रतिष्ठापकत्व का ग्रहण करना चाहिए। इस परिष्कार से तिक-पटठान के पच्चयनिद्देस में दिया हुआ लक्षण सगत होता है—'हेतु हेतुसम्प्रयुत्तकानं धम्मान तसमुट्ठानेश्च रूपान हेतुपच्चयेन पच्चयो।' (अर्थात् हेतु हेतुसम्प्रयुक्त धर्मो का एव तत्समुत्थित रूपधर्मों का हेतु-प्रत्यय से प्रत्यय है।) लोभ, द्वेष एव मोह, तथा अलोभ, अद्वेष एव अमोह छ हेतु हैं। जिस-जिस चित्त में ये विद्यमान होते हैं अपने से भिन्न उसके चैतसिक धर्मो के एव चित्तसमुत्थ रूप-धर्मो के हेतुप्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।

(२) **आरम्मणपच्चय**—रूपायतन चक्षुर्विज्ञानधातु का एव तत्सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बनप्रत्यय (आरम्मण-पच्चय) से प्रत्यय है। शब्दायतन, गन्धायतन आदि तत्तदिन्द्रिय-विज्ञानो के इसी प्रकार से प्रत्यय हैं। 'य यं धम्म आरम्म ये ये धम्मा उप्पज्जन्ति, चित्तचेतसिक धम्मा, ते ते धम्मा तेस तेस धम्मान आरम्मणपच्चयेन पच्चयो।' अर्थात् जिस-जिस धर्म को सहारा बनाकर जो-जो चित्त-चैत्त धर्म उत्पन्न होते हैं वे-वे उनके आलम्बन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। सभी धर्म यथासम्भव चित्त के आलम्बन प्रत्यय होते हैं। 'आलम्बन' को समझाते हुए बुद्धघोष ने कहा है 'जैसे कोई दुर्बल पुरुष दण्ड या रज्जु का आलम्बन कर उठता है और खडा होता है, ऐसे ही चित्त-चैतसिक-धर्म रूपादि आलम्बन के सहारे उत्पन्न होते है और ठहरते हैं। अतएव चित्त-चैतसिको

२५—संक्षिप्त परिचय के लिए द्र०—अभिधम्मत्थ विसुद्धिमग्गो, पृ० ३७२ प्र० अभिधम्मत्थ संगहो, पृ० १४०। अभिधम्मत्थ संगह में २४ प्रत्ययो को ४ में सग्राह्य माना है "आरम्मणूपनिस्सयकम्मत्थि पच्चयेसु च सब्बेपिपच्चया समोधानं गच्छन्ति" पृ० १५१।

के सभी आलम्बनभूत धर्मों को आलम्बन-प्रत्यय समझना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि दान देकर उसकी प्रत्यवेक्षा की जाय तो एक कुशल धर्म दूसरे कुशलधर्म का आलम्बन बन जायेगा। दान देकर यदि उसके विषय में संशय उत्पन्न हो तो एक कुशल धर्म दूसरे अकुशल धर्म का आलम्बन हुआ। यदि राग का आस्वादन किया जाय तो अकुशल धर्म अकुशल धर्म का आलम्बन होगा। यदि अर्हत् निर्वाण की प्रत्यवेक्षा करे तो अव्याकृत धर्म का आलम्बन अव्याकृत धर्म होगा।

(३) **अधिपतिपच्चयो**—चित्त-चैतसिक धर्म जिन धर्मों को बड़ा मान कर (गरुकत्वा) उत्पन्न होते हैं वे उनके अधिपति-प्रत्यय कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं—आलम्बनाधिपति और सहजाताधिपति। सम्मानित आलम्बन आलम्बनाधिपति-प्रत्यय होते हैं। छन्द, वीर्य, चित्त एव मीमांसा (वीमंसा) सहजाताधिपति हैं। आलम्बनाधिपति के प्रत्ययोत्पन्न धर्म कुशल चित्त अथवा लोभसहगत अकुशल चित्त होते हैं। छन्द, वीर्य आदि वस्तुत. ऋद्धिपाद ही हैं; 'वीमंसा', प्रज्ञा है। इनका अधिपतित्व केवल द्विहेतुक अथवा त्रिहेतुक जवन चित्तों मे ही सत्ता लाभ करता है।

(४)-(५) **अनन्तरपच्चय एवं समनन्तरपच्चय**—ये दोनो वस्तुत: एक हैं, केवल नाम-भेद से ही पृथक् हैं। बुद्धघोष के पूर्ववर्ती आचार्य इनमें भेद का समर्थन करते थे। उनके अनुसार अर्थानन्तरतया अनन्तर-प्रत्यय होता है, कालानन्तरतया समनन्तर-प्रत्यय। किन्तु बुद्धघोष ने इस मत का खण्डन किया है।

चित्त-वीथि मे इन्द्रियविज्ञान, मनोधातु, एवं मनोविज्ञानधातु का एक निश्चित पौर्वापर्य क्रम है। इसमे पूर्ववर्ती धर्म अपने अनन्तरवर्ती का अनन्तर-प्रत्यय कहलाता है।

(६) **सहजात-पच्चय**—जो उत्पद्यमान धर्म दूसरे धर्म का सहोत्पादन के द्वारा उपकारक हो वह उसका सहजात-प्रत्यय है। जैसे प्रकाश का प्रदीप। चार अरूपी स्कन्ध परस्पर सहजात-प्रत्यय है। ऐसे ही चार महाभूत दूसरे के सहजात-प्रत्यय हैं। अवक्रान्ति-क्षण मे नाम-रूप परस्पर सहजात प्रत्यय हैं। चित्त-चैतसिक धर्म चित्त-समुत्थ रूप-धर्मों के एव महाभूत उपादाय रूप-धर्मों के सहजात प्रत्यय हैं। हृदय-वस्तु कभी अरूपी धर्मों का सहजात-प्रत्यय है, कभी नही।

(७) **अञ्ञमञ्ञपच्चय**—परस्पर उत्पादन एव उपष्टम्भन के द्वारा उपकारक धर्म एक दूसरे के अन्योन्य-प्रत्यय कहे जाते हैं। इस कोटि मे चार अरूपी धर्म, चार महाभूत, एव अवक्रान्ति-क्षण में नाम-रूप परिगणित है।

(८) **निस्सय-पच्चय**—अधिष्ठान एवं आश्रय के रूप में उपकारक धर्म निश्रय-प्रत्यय होता है जैसे पेड़ के लिए पृथ्वी अथवा चित्र के लिए पट। ऊपर सहजात-प्रत्यय

मे उल्लिखित पहले पाच प्रत्यय यहाँ भी अवबोध्य है। छठ स्थल पर यह अववोध्य है कि चक्षुरादि आयतन चक्षुर्विज्ञानधातु आदि के निश्रय है।

(९) **उपनिस्सय-पच्चय**—वलवत्कारण रूप से उपकारक धर्म उपनिश्रय-प्रत्यय कहलाता है। इसके तीन भेद है—आलम्वनोपनिश्रय, अनन्तरोपनिश्रय, एव प्रकृतोपनिश्रय। इनमे पहले दो क्रमश आलम्वनाधिपति एव अनन्तर-प्रत्यय से अभिन्न है। 'पकतोपनिस्सय' के उदाहरण इस प्रकार है—श्रद्धा के उपनिश्रय से दान दिया जाय, अथवा राग के उपनिश्रय से प्राण-घात किया जाय। पहले उदाहरण मे कुशलधर्म कुशलधर्म का उपनिश्रय है, दूसरे मे अकुशल धर्म अकुशल धर्म का।

(१०) **पुरेजात-पच्चय**—पहले उत्पन्न होकर वर्तमान तथा उपकारक धर्म पूर्व-जात-प्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादि एव रूपादि आयतन चक्षुरादि-विज्ञान धातुओ के 'पुरेजात'-प्रत्यय है।

(११) **पच्छाजात-पच्चय**—'पीछे उत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्म पहले उत्पन्न इस शरीर के पश्चाज्जात-प्रत्यय है।"

(१२) **आसेवन-पच्चय**—जिनके आसेवन से अनन्तरवर्ती धर्म पुष्ट होते है वे उनके आसेवन-प्रत्यय है। लोकोत्तर-चित्तो को उनकी एकक्षणिकता के कारण छोडकर शेप तीन भूमियो मे कुशल, अकुशल एव क्रियाव्याकृत जवन-चित्तो मे उसकी उपलब्धि होती है।

(१३) **कम्मपच्चय**—कुशल और अकुशल कर्म विपाक-स्कन्धो के कर्म-प्रत्यय है एव चेतना सम्प्रयुक्त धर्मों की तथा तत्समुत्थरूप धर्मो की। यहाँ चेतना से तात्पर्य सर्व-चित्त-साधारणी सहजाता चेतना से है। कर्म नाना क्षणिक चेतना है।

(१४) **विपाक-पच्चय**—चार अरूपी विपाक-स्कन्ध एक दूसरे के विपाक-प्रत्यय है।

(१५) **आहार-पच्चय**—चार आहार है—कवलीकार आहार जो कि रूपी है, स्पर्श, मन सञ्चेतना, एव विज्ञान। इनमे पहला शरीर का आहार-प्रत्यय है, शेप सम्प्रयुक्त धर्मो के एव तत्समुत्थ रूप-धर्मो के।

(१६) **इन्द्रिय पच्चय**—चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ पाँच विज्ञानो के इन्द्रिय प्रत्यय है, रूपजीवितेन्द्रिय उपादाय रूपो के तथा अरूपी इन्द्रिय सहजात नामरूप के।

(१७) **ध्यान-पच्चय**—'ध्यान के अग ध्यान-सम्प्रयुक्त धर्मो के एव तज्जन्य रूप के ध्यान-प्रत्यय है। ध्यान के अग सात है—वितर्क, विचार, प्रीति, एकागता, सौमनस्य, दौर्मनस्य एव उपेक्षा। इनकी उपलब्धि पाच विज्ञानो मे नही होती। दौर्मनस्य केवल प्रतिघयुक्त चित्त मे ही प्राप्य है।

(१८) **मग्गपच्चय**—मार्ग के अग मार्गसम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तत्समुत्थित रूप-धर्मों के मार्ग-प्रत्यय हैं।

(१९) **सम्पयुत्त पच्चय**—चार अरूपी स्कन्ध परस्पर सम्प्रयुक्त-प्रत्यय हैं क्योंकि इनके एक ही आश्रय, आलम्बन, उत्पाद और निरोध हैं।

(२०) **विप्पयुत्त-पच्चय**—रूपी और अरूपी धर्म परस्पर विप्रयुक्त प्रत्यय हैं।

(२१) **अत्थिपच्चय** (२४) **अविगत पच्चय**—दोनो वस्तुत. एक ही हैं। अपनी सत्ता से दूसरे की सत्ता का उपकारक होना ही इसका अर्थ है। चार अरूपी स्कन्ध, चार महाभूत, नाम-रूप, चित्त-चैतसिक धर्म एव चित्तसम्भूत रूप, महाभूत और उपादाय रूप, आयतन और विज्ञान, इन सबमें आभ्यन्तर अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

(२२) **नत्थिपच्चय** (२३) **विगत**—ये वस्तुत एक ही हैं।

'समनन्तर-निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्मों के नास्ति-प्रत्यय हैं।'

इनमे हेतु, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मग्ग, सम्प्रयुत्त, विप्पयुत्त, अत्थि, एव अविगत, ये १५ पच्चय प्रत्युत्पन्न धर्म हैं एव अस्ति-प्रत्यय मे समवहित हो जाते हैं। अनन्तर, समनन्तर, आसेवन, नत्थि, एवं विगत, ये ५ अतीत पच्चय हैं और अनन्तरूपनिस्सय मे समवहित होते हैं। कम्म-पच्चय प्रत्युत्पन्न और अतीत दोनो कालो मे निश्रित है। शेष तीन प्रत्यय-आरम्मण, अधिपति, एव उपनिस्सय—त्रैकालिक हैं एव काल-विमुक्त भी कहे जा सकते हैं। इस प्रकार अस्ति, अनन्तर एव आलम्बन ये तीन प्रत्यय प्रधान सिद्ध होते हैं जिनके द्वारा वर्तमान, अतीत एव त्रैकालिक कारणो का सग्रह होता है।

स्थविरवाद और अन्य निकाय—प्राचीन थेरवादी-विभज्यवादी सम्प्रदाय महासाघिक, सर्वास्तिवादी और वात्सीपुत्रीयो का विरोधी था। वह तथागत को महापुरुष, किन्तु मनुष्यधर्मा स्वीकार करता था, और महासाघिको के प्रच्छन्नदेववाद का निराकरण। सर्वास्तिवादियो का प्रच्छन्न शाश्वतवाद एव वात्सीपुत्रीयो का प्रच्छन्न, आत्मवाद भी उसका अभीष्ट नही था। यही दृष्टि कथावत्थु मे प्रतिपादित है।

कथावत्थु—कथावत्थु में धम्मसगणि और विभग से उद्धरण मिलता है, किन्तु धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति एव यमक से नही। ग्रन्थ के उत्तरभाग मे पट्ठान मे वर्णित अनेक पच्चयो का परिचय मिलता है। कथावत्थु मे प्रतिपादित सिद्धान्त क्रमानुसार इस प्रकार है—(I) (१) पुद्गलवाद का निषेध कथावत्थु मे सप्रयास किया गया है और यही निषेध थेरवादियो के सिद्धान्त मे उस समय तथा और पीछे भी मुख्यतम रहा है।

पुद्‌गलवाद के विरोध मे प्रधान युक्ति यह दी जाती थी कि पुद्‌गल की उपलब्धि नही होती, केवल स्कन्धो की ही उपलब्धि होती है। ये उपलब्ध स्कन्धविशेष ही वस्तुत सत्तावान् है। पुद्‌गल केवल प्रज्ञप्ति है यह वात्सीपुत्रीयो के प्रधान अभिमत का खण्डन है। तथा (२) इसके अतिरिक्त थेरवादी महादेव की पाच वस्तुओ को भी प्रत्याख्यात करते है और अर्हत्-परिहाणि को सम्भव नही मानते थे यह यह महासाघिको के विरोध मे है। थेरवादियो के मत मे स्रोतआपन्न के लिए भी गिरना सम्भव नही है। (३) देवलोक मे भी ब्रह्मचर्यावास सम्भव है। (४) क्लेश क्रमश छूटते है। (५) पृथग्जन के लिए काम-राग और व्यापाद का छोड़ना सम्भव नही है। (६)–(८) अतीत और अनागत धर्मो की सत्ता नही होती, न सर्वात्मना और न अशत यह सर्वास्तिवादियो के मुख्य सिद्धान्त का प्रतिषेध है। (९) सब धर्म स्मृति-प्रस्थान नही है। (१०) यह नही कहना चाहिए कि अतीतादिअध्व और रूपादि स्कन्ध है भी और नही भी है।

न अन्तराभव की सत्ता होती है। अनुशय और पर्यवस्थान चैतसिक, चित्तसम्प्रयुक्त और चित्त के आलम्बन वन सकते है। तीन ही असस्कृत है।

(II) (५) एक चित्त दिन भर नही ठहर सकता। (६) सब सस्कार कुक्कुलमात्र नही है। (७) मार्ग और चार सत्यो का अभिसमय आनुपूर्वी से होता है। स्रोतआपत्ति फल के अनन्तर सब चर्या लोकोत्तर है। (८) बुद्ध का व्यवहार लोकोत्तर नही है। (९) एक ही निरोध है।

(III) (१) तथागत का वल श्रावक-साधारण नही है। (२) तथागत के दस वल 'आर्य' नही है। (३) सराग-चित्त विमुक्त नही होता है। (४) विमुक्त विमुच्यमान नही होता। (५) अष्टमक-पुद्‌गल के पर्यवस्थान, दृष्टि और विचिकित्सा का प्रहाण नही होता। (६) किन्तु वह श्रद्धादि पाँचो इन्द्रियो से सप्रयुक्त होता है। (७), (९) दिव्यचक्षु मासचक्षु से भिन्न है और (८) दिव्य-श्रोत मासश्रोत्र से। (१०) देवताओ मे सवर नही होता। (११) असज्ञिसत्त्वो मे सज्ञा नही होती। (१२) नैवसज्ञानासज्ञायतन मे सज्ञा होती है।

(IV) (१) गृहस्थ अर्हत् नही हो सकता। (२) उपपत्त्या अर्हत् नही हो सकते। (३) अर्हत् के सब धर्म अनास्रव नही है। (४) अर्हत् चारो श्रामण्य-फलो से समन्वागत नही है। (५) अर्हत् षड्-उपेक्षासमन्वागत नही है। (६) वोधि से ही बुद्ध बनते है। (७) महापुरुष-लक्षण युक्त वोधिसत्त्व नही भी होते। (८) वोधिसत्त्व काश्यपवुद्ध के श्रावक नही थे। (९) अर्हत्त्व मे पिछले तीन फल समन्वागत नही होते। (१०) अर्हत्त्व सर्वसयोजन-प्रहाण नही है।

V (१) विमुक्ति-ज्ञान-युक्त सब विमुक्त नही होते। (२) शैक्ष का अशैक्ष ज्ञान नही होता। (३) पृथ्वी कसिण से विपरीत-ज्ञान उत्पन्न होता है। (४) अनियत को नियाम-गमन का ज्ञान नही होता। (५) सब ज्ञान प्रतिसभिदा नही है। (६) सवृति-ज्ञान का विषय न सत्य है न असत्य। (७)–(८) अनागत का ज्ञान नही होता और न प्रत्युत्पन्न का। (९) श्रावक को अन्यगत फल का ज्ञान नही होता।

VI (१)–(२) नियाम और प्रतीत्यसमुत्पाद सस्कृत नही है। (३) चार सत्य भी असस्कृत नही है और (४) न अरूप-समापत्तियाँ और (५) न निरोध समापत्तियाँ और (६) न आकाश ही असस्कृत है। (७)–(८) आकाश और चारो महाभूत अदृश्य है। (९) चक्षुरिन्द्रिय और कार्यकर्म भी अदृश्य है।

VII (१) धर्म दूसरे धर्मों में सगृहीत होते है। (२) धर्म दूसरे धर्मों से सम्प्रयुक्त होते हैं। (३) चैतसिक धर्म होते है। (४) दान चैतसिक धर्म नही है। (५) पुण्य परिभोगमय नही है। (६) यहाँ पर दिया हुआ दान परत्र शेष नही होता। (७)–(१०) पृथ्वी कर्मविपाक नही है, जरा-मरण भी विपाक नही है, आर्यधर्म सविपाक है, विपाक में स्वय विपाकधर्मिता नही है।

VIII (१) पाँच ही गतियाँ है। (२) अन्तराभव नही होता। (३) पाँच कामगुणो से ही काम-धातु नहीं वनती। (४) पाँच आयतन ही काम नही है। (५)–(६) रूपी धर्म और अरूपी धर्म से ही रूप-धातु और अरूप-धातु है। (७) रूप-धातु मे षडायतनिक आत्मभाव नही होता। (८) अरूप-धातु में रूप नही है। (९) कुशल-चित्त-समुत्थित कार्य कर्म कुशल रूप नही है। (१०) जीवितेन्द्रिय केवल अरूप नही है। (११) अर्हत् की कर्म के कारण अर्हत्व से परिहाणि नही होती।

IX (१) आनिशसदर्शी अप्रहीण-सयोजन होता है। (२) सयोजन अमृतालम्बन नही होता है। (३) रूप अनालम्बन है। (४) अनुशय आलम्बन है। (५) ज्ञान सालम्बन है। (६)–(७) अतीतालम्बन एव अनागतालम्बन चित्त सालम्बन है। (८) सब चित्त वितर्कानुपतित नही है। (९) शब्द वितर्क-विस्फार नही है। (१०)–(११) वाणी चित्त के अनुरूप हो सकती है और कार्य-कर्म भी चित्त के अनुरूप हो सकता है। (१२) अतीत और अनागत से समन्वागति नही होती।

X (१) पिछले स्कन्धो के निरुद्ध होने पर नयो का जन्म होता है। उनका समवधान एवं सम्मुखीभाव नही होते। (२) मार्गसमङ्गी का रूप मार्ग नही है। (३) पञ्चविज्ञानसमङ्गी की मार्ग-भावना नही होती। (४) पाँच विज्ञान न कुशल है न अकुशल, (५) वे अनाभोग है। (६) मार्गसमंगी लौकिक एवं लोकोत्तर शील से

समन्वागत नही है। (७)–(८) शील चैतसिक है और चित्तानुपरिवर्ती है। (९) समाधानहेतु शील बढता नही है। (१०) विज्ञप्ति शील-मात्र नही है। (११) अविज्ञप्ति दौश्शील्य-मात्र नही है।

XI (१) अनुशय अकुशल, सहेतुक और चित्तसम्प्रयुक्त है। (२) अज्ञान विगत होने पर एव ज्ञानविप्रयुक्ततया वर्तमान चित्त की अवस्था मे 'ज्ञानी' नही कहा जा सकता। (३) ज्ञान चित्तसम्प्रयुक्त है। (४) 'इद दु खम्' कहने से अनुरूपज्ञान प्रवृत्त नही होता। (५) ऋद्धि बल से कल्प भर नही ठहरा जा सकता। (६) समाधि चित्तसतति नही है। (७) धर्मस्थितता परिनिष्पन्न नही है। (८) अनित्यता, जरा और मरण भी परिनिष्पन्न नही है।

XII (१) सवर और असवर कर्म नही है। (२) सब कर्म सविपाक नही है। (३)–(४) शब्द विपाक नही है और न षडायतन विपाक है। (५) स्रोतआपन्न के लिए आवश्यक नही है कि वह सात बार और जन्म ले। (६) कोलकोल एक कुल से दूसरे कुल में जाने के लिये बाध्य नही है। (७) दृष्टि सम्पन्न पुद्गल बोधपूर्वक प्राणघात नही कर सकता, किन्तु (८) उसकी दुर्गति की सम्भावना प्रहीण नही होती। (९) सप्तभविक पुद्गल दुर्गति से ऊपर है।

XIII (१) कल्पस्थ कल्प तक नही ठहर सकता। (२) कल्पस्थ कुशल-चित्त-प्रतिलाभ कर सकता है। (३) आनन्तरिक पुद्गल सम्यक्त्व-नियाम मे अवक्रमण नही कर सकता। (४) नियत पुद्गल नियाम मे अवक्रमण नही करता। (५) नीवृत नीवरण नही छोडता। (६) सयोजन-सम्मुखीभूत सयोजन नही छोडता। (७) समापन्न आस्वादन नही करता, ध्यान की चाह नही रखता, न ध्यानालम्बन होता है। (८) असुख का राग नही होता है। (१०) धर्म-तृष्णा अकुशल है और (११) दु ख-समुदय है।

XIV (१) कुशलमूल और अ० का अन्योन्य-प्रतिसन्धान नही होता। (२) षडायतन एक साथ मातृगर्भ में समुत्थित नही होते। (३) पाँच विज्ञानो की परस्पर समनन्तर उत्पत्ति नही होती। (४) आर्य-रूप महाभूतो से उत्पन्न नही है। (५) अनुशय पर्यवस्थानो से भिन्न नही है। (६) पर्यवस्थान चित्तसम्प्रयुक्त है। (७) रूप-राग एव रूप राग केवल रूप-धातु एव अ० मे अनुशयित और पर्यापन्न नही है। (८) दृष्टिगत अकुशल है और (९) त्रैधातुक में पर्यापन्न है।

XV (१) प्रत्ययता व्यवस्थित नही है। (२) सस्कार अविद्याप्रत्यय है, अविद्या सस्कार-प्रत्यय है। (३) अतीतादि कालभेद परिनिष्पन्न नही है। (४) क्षण, लव और

मुहूर्त भी परिनिष्पन्न नही है। (५) चार आस्रव सास्रव है। (६) लोकोत्तर धर्मो का जरा-मरण लोकोत्तर नही है। (७) सज्ञावेदितनिरोध लोकोत्तर या लौकिक नही कहा जा सकता। (८) सज्ञावेदित निरोध मे मृत्यु नही हो सकती। (९) सज्ञावेदित-निरोध मे असज्ञि-सत्त्वो का प्रवेश नही है। (१०) कर्म कर्मोपचय से भिन्न नही है।

XVI (१)–(२) दूसरे के चित्त पर वश नही होता। (३) दूसरे को सुख का अनुप्रदान नही हो सकता। (४) अधिगति के अनन्तर मनसिकार नही होता। (५) रूप हेतु नही बन सकता, अव्याकृत है, अहेतुक है और विपाक नही है।

XVII (१)–(२) अर्हत् का पुण्योपचय नही होता और अर्हत् की अकाल मृत्यु सम्भव है। (३) सब कुछ कर्म का फल नही है। (४) केवल इन्द्रियबद्ध ही दु ख नही है। (५) आर्यमार्ग को छोडकर अवशेष सस्कारमात्र दु ख नही है। (६) सघ दक्षिणा-प्रतिग्रह करता है। (७) दक्षिणा-विशोधन करता है, और (८) सघ के बारे मे यह कहा जा सकता है कि वह खाता है, पीता है आस्वादन करता है। (९) सघ को दान का बहुत फल है, किन्तु (१०) बुद्ध को दान का भी फल बहुत है। (११) दान प्रति-ग्राहक से शुद्ध होता है न कि दाता से।

XVIII (१)–(२) बुद्ध भगवान् ने मनुष्यो मे निवास किया था और धर्म का वस्तुत. उपदेश किया था। (३) बुद्ध भगवान् लोकानुकम्पक एव महाकरुणा-समापत्ति से युक्त थे। (४) उनका उच्चार-प्रस्राव अन्य गन्धो का अतिशायन नही करता था, क्योकि वे गन्धभोगी न होकर ओदन-कुल्मास-भोगी थे। (५) एक आर्य-मार्ग से चार श्रामण्य-फलो का साक्षात्कार नही होता। (६) एक ध्यान से ध्यानान्तर मे साक्षात् सक्रमण नही होता। (७) ध्यानान्तरिक अवस्थाएँ नही होती है। (८) समापन्न शब्द नही सुनता। (९) चक्षु रूप नही देखता।

XIX (१) अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न क्लेशो का प्रहाण नही होता। आर्य-मार्ग के अनुसरण से उनकी अनुत्पत्ति होती है। (२) शून्यता सस्कार-स्कन्ध-पर्यापन्न नही है। (३) श्रामण्यफल असस्कृत नही है। (४)–(५) प्राप्तियाँ और तथता असस्कृत नही है। (६) निर्वाण-धातु अव्याकृत है। (७) पृथग्जन के लिए अत्यन्त नियामता नही है। (८) श्रद्धादि पाँच इन्द्रियाँ केवल लोकोत्तर नही है।

XX (१) अबोधपूर्वक किये हुए पाँच आनन्तर्य दोषावह नही है। (२) पृथग्जन भी ज्ञानसम्पन्न होता है। (३) निरय में निरयपाल होते है। (४) देवलोक मे तिर्यग्-जातीय नही होते। (५) मार्ग पञ्चागिक नही होता। (६) लोकोत्तर ज्ञान द्वादश-वस्तुक नही होता।

XXI (१) सगीतियो के द्वारा शासन नव-कृत नही है।(२)पृथग्जन त्रैधातुक धर्मों से विविक्त हो सकता है। (३) कोई सयोजन अर्हत् के द्वारा अप्रहीण नही होता। (४) "अधिप्राय-ऋद्धि" (यथाकाम सिद्धि) न श्रावक की होती है, न बुद्ध की। (५) बुद्धो मे ही नातिरेकता होती है। (६) बुद्ध सब दिशाओ मे नही होते हैं। (७)-(८) सब धर्म अथवा कर्म मिथ्यात्व या सम्यक्त्व मे नियत नही है, क्योकि कुछ को अनियत-राशि देशित किया गया है।

XXII (१) परिनिर्वाण मे सब सयोजनो का प्रहाण हो जाता है। (२)-(३) कुशलचित्त उत्पन्न कर अर्हत् परिनिर्वृत नही होते, और न आनेञ्जय मे स्थित होकर परिनिवृत होते हैं। (४)-(५) गर्भावस्था या स्वप्न मे धर्म का अभिसमय नही होता और न अर्हत्त्व-प्राप्ति। (६) सब स्वप्न-गत चित्त अव्याकृत नही होते। (७) आसेवन-प्रत्ययता होती है। (८) सब धर्म एकचित्त-क्षणिक नही है।

XXIII (१) एकाभिप्राय से मैथुन-धर्म प्रतिसेवितव्य नही है। (२) अर्हत् के रूप मे छिप कर अमनुष्य मैथुन नही करते। (३) बोधिसत्त्व दुर्गति मे जन्म ग्रहण नही कर सकते। (४) राग-प्रतिरूपक अराग नही होता। (५) पाँच स्कन्ध, बारह आयतन, अठारह धातु एव बाईस इन्द्रियाँ परिनिष्पन्न हैं। दु ख परिनिष्पन्न नही है।

कथावत्थु, विभाषा और विभज्यवाद—पाटलिपुत्र की सगीति मे तिस्समोग्गली-पुत्त ने अशोक से अपने को और भगवान् बुद्ध को विभज्यवादी बताया। शाश्वतवाद एव उच्छेदवाद, सञ्ज्ञिवाद एव असञ्ज्ञिवाद आदि का अस्वीकार करते हुए विभागपूर्वक अथवा विवेकपूर्वक अपने आशय का प्रतिपादन करने के कारण तथागत को विभज्यवादी कहा गया था।

विभज्यवादी के अर्थ होते हैं—जो विवाद के विषय को विभक्त करके बोले अर्थात् जो एकदेशी मत को न ग्रहण कर यथाभूत विवेकपूर्वक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करे। महासाघिको मे प्रज्ञप्तिवादी विभज्यवादी कहलाते थे। **विभाषा** मे विभज्यवादियो के बहुत-से सिद्धान्तो का उल्लेख मिलता हे। विभज्यवादियो को यहाँ युक्तवादियो का विरोधी प्रतिपादित किया गया है अर्थात् वैभाषिक सर्वास्तिवादियो का विरोधी। ऐसा प्रतीत होता है कि कि **विभाषा** मे विभज्यवादियो को तीर्थिकवत् माना गया है और इस नाम से वैभाषिक सर्वास्तिवादियो के अतिरिक्त अनेक अन्य सम्प्रदायो को सूचित किया गया है। वसुबन्धु के अनुसार विभज्यवादी वे है जो कि वर्तमान सत्ता एव कुछ अतीत की सत्ता स्वीकार करते है, किन्तु भविष्य की एव कुछ अतीत की सत्ता स्वीकार

नही करते[२६]। इस परिभापा से काश्यपीय विभज्यवादी वन जाते हैं। सघभद्र ने भी वसुवन्धु का समर्थन किया है। वसुवर्मा के अनुसार विभज्यवादी सव सस्कृत धर्मो को अनित्य होने के कारण सर्वथा दु खात्मक मानते थे। यह मत प्रज्ञप्तिवादियो का भी था। भव्य ने विभज्यवादियो को और सर्वास्तिवादियो को अभिन्न वताया है[२७]।

स्थविरवादी दर्शन

धर्म-स्वरूप और वर्गीकरण—व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ 'धारण करने वाला' है। अतएव प्रयोग मे धर्म शब्द स्वभाववाची वन गया तथा स्वभाव से ही प्रत्येक वस्तु के कार्य और व्यापार के नियत होने के कारण नियमवाची भी। उत्तर-वैदिक-काल में ऋत के स्थान पर 'धर्म' का प्रयोग होने लगा था, एव वैदिक परम्परा मे प्रकृति और समाज के शाश्वत स्वभावगत नियम का धर्म शब्द अभिधायक था। इस प्रकार 'धर्म' मूलत स्वभाववाची ही है एव इसी के अनुसार धर्म की प्रचलित वौद्ध परिभापा है—जो स्वभाव अथवा स्वलक्षण का धारण करे। वौद्ध चिन्तन मे 'धर्म' का कुछ वही स्थान है जो साख्य-दर्शन मे 'तत्त्व' का। साख्य के समान ही वौद्ध दर्शन मे गुण और गुणी का भेद अपारमार्थिक माना जाता है। अत. बौद्ध मत मे धर्म, स्वभाव एव स्वभाव-प्रतिसयुक्त वस्तु, दोनो को सकेतित करता है एव दोनो मे अभेद ही वौद्धो का विवक्षित है।

धर्म नाना किन्तु परिगणित हैं। उनके स्वभाव प्रति विशिष्ट एव प्रति नियत हैं तथापि उनके विपय मे सामान्यत यह कहा जा सकता है कि वे अनित्य-लक्षण, दु ख-लक्षण एव अनात्म-लक्षण हैं। नैरात्म्य को वौद्धो ने धर्म का मूल लक्षण भी वताया है। स्थविरवादी अभिधर्म मे धर्मो की अनात्मकता का अर्थ है उनका पुरुप अथवा पुद्‌गल

२६—अभिधर्मकोश, ५, पृ० ५२; तु०—वही, पृ० २३–२४।

२७—वारो के अनुसार—(१) विभज्यवादी सर्वास्तिवादी नहीं थे। (२) काश्यपीय विभज्यवादियो के अंग थे। (३) थेरवादी और अतएव महीशासक भी विभज्यवादियो के अंग थे। (४) महीशासको मे निकले धर्मगुप्तक भी विभज्यवादियो के अंग थे। (५) ताम्रशाटीय भी इसी वर्ग के थे। (६) विभज्यवादी स्थविरो के उस वर्ग के थे जो कि वात्सीपुत्रीयो से भिन्न और सर्वास्तिवादियो का विरोधी था। पाटलिपुत्र की सगीति के वाद अवात्सीपुत्रीय स्थविर दो शाखाओ में वॅट गये—सर्वास्तिवादी और विभज्यवादी। पूर्व०।

से असम्बन्ध, उनकी निस्सत्व-निर्जीविता। सब धर्म कार्य-कारण-भाव से परिगत हैं। इसलिए उन्हे प्रतीत्यसमुत्पन्न अथवा हेतु-प्रभव कहा गया है। कार्यकारण-प्रवाह मे पतित होने के कारण धर्मो को 'सस्कार' अथवा सस्कृत-धर्म कहा जाता है। सब सस्कार भगुर एव सचलनात्मक हैं, किन्तु यह स्मरणीय है कि सस्कारो का निरोध शान्त है और यही निर्वाण है जो कि अतर्क्य और असस्कृत-धर्म कहा गया है। अभिधर्म मूलत एक प्रकार का 'धर्मवाद' है जिसके अनुसार परमार्थ के घटक केवल अलग-अलग एव असकीर्ण-स्वभाव वाले अनित्य और सचलनशील अनेक धर्म मात्र हैं जो कि प्रतीत्यसमुत्पाद एव प्रत्ययता के परतन्त्र हैं, किन्तु जिनका निरोध शान्त और अतर्क्य है।

इस दृष्टि के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि धर्म अनित्य हैं तो क्या उनके स्वभाव अथवा लक्षण भी अनित्य हैं? क्या निर्वाण कुछ धर्मो का अथवा सब धर्मो का निरोध मात्र है, अथवा यह 'निरोध' स्वय एक पृथक् धर्म है? यदि यह (निर्वाण) स्वय स्वभाव-प्रतिसयुक्त पृथक् धर्म है, तो अनित्यत्व एव प्रतीत्यसमुत्पाद से इसे किस प्रकार विमुक्त माना जा सकता है। इन प्रश्नो के उत्तर एक ओर सर्वास्तिवाद तथा महायानिक धर्मतथता एव शून्यता के सिद्धान्तो मे पर्यवसित होते हैं। किन्तु थेर-वादी दर्शन मे इस प्रकार की शकाओ एव कौतूहल को अधिक प्रश्रय नही दिया गया है प्रत्युत धर्म और धर्मी का अभेद, धर्मो का स्वभाव-पार्थक्य, प्रत्येक धर्म का स्वभाव-प्रतिसयोग तथा इस प्रकार से अवधारित धर्मो के प्रतियोगी के रूप मे निर्वाणाख्य धर्म की पारमार्थिकता, इन सभी सिद्धान्तो का अभ्युपगम दृढता-पूर्वक किया गया है। धर्म का मूल लक्षण स्वभाव-धारणा है और यही लक्षण निर्वाण मे घटता है। निर्वाण का स्वभाव है, किन्तु उसके वस्तुत अतर्क्य होने के कारण उसको ससार के प्रतियोगी के रूप मे निरूपित किया जाता है। इस प्रकार वस्तुत निर्वाण के निरोधादि लक्षण एक प्रकार से 'तटस्थ-लक्षण' ठहरते हैं। अभिधर्मपिटक मे निर्वाण को असस्कृत धातु के रूप मे निर्दिष्ट किया गया है। मार्ग-चतुष्टय-ज्ञान से उसका साक्षात्कार होता है। मार्ग-फलो का वह आलम्बन है, लोकोत्तर है, अव्याकृत है, तथा स्वभावत एकविध होते हुए भी उपाधि-शेष एव अनुपाधि शेष, इस प्रकार द्विविध उपदिष्ट है। तृष्णा से निष्क्रान्त होने के कारण उसे 'निर्वाण' कहा जाता है।

सस्कृत धर्मो का एक प्राचीन विभाग नाम-रूप अथवा रूप-धातु एव धर्म-धातु मे था। 'रूप' के द्वारा इन्द्रिय-गोचर अथवा भौतिक धर्मो का सकेत होता था। 'नाम' अथवा 'धर्म-धातु' अरूप-सत्ता का द्योतक था जिसमे चित्त, चैतसिक धर्म, एव मनोमात्र-गोचर धर्म सगृहीत थे। 'नाम' को विज्ञान, वेदना, सज्ञा, एव सस्कार मे विभाजित कर

सस्कृत धर्मो की पच-स्कन्धी निरूपित हुई। रूप-स्कन्ध को इन्द्रियो के अनुसार पाँच आध्यात्मिक एव पाँच वाह्य आयतनो मे वाँटा गया। इसके साथ ही रूप का एक दूसरा विभाजन भी विदित था—महाभूतो मे, एव उनके 'उपादाय रूपो' मे। सुत्त-पिटक मे उपलब्ध धर्म-विवरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—
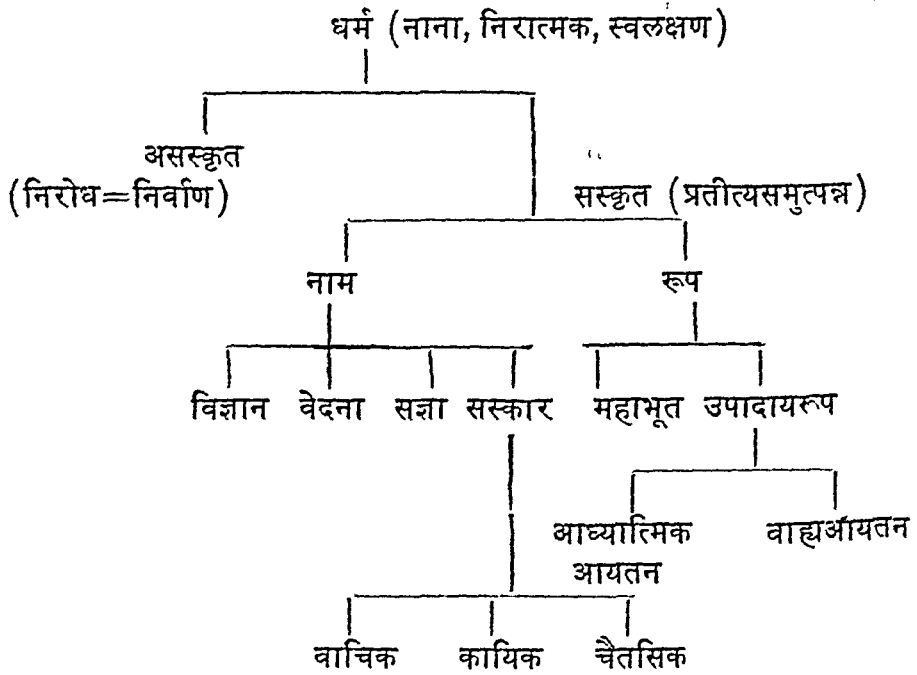
थेरवादी अभिधर्म मे धर्म के स्वरूप का सामान्य विवेचन कम, किन्तु उनके पृथक् स्वभावो का निरूपण विस्तार से किया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि धम्मसगणि मे धर्मो का मुख्य विभाजन उनकी हेयोपादेयता की दृष्टि से किया गया है। धर्म कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत हैं। अव्याकृत धर्म स्वय कोई भोगरूप फल उत्पन्न नही करता। निर्वाण, रूप (=भौतिक धर्म), विपाक (=पूर्व कर्म का भोग) एव क्रिया (असकल्पपूर्व नैसर्गिक क्रिया) अव्याकृत है। कुशल-धर्म कालान्तर मे सुख-भोग प्रदान करते है एव अकुशल-धर्म दु खभोग। चित्त और चैतसिक धर्म ही कुशल अथवा अकुशल हो सकते हैं। लोभ, द्वेप एव मोह—ये तीन अकुशलहेतु है। इन्ही के सयोग से चित्त-चैतसिक धर्मो मे अकुशलता उत्पन्न होती है। दूसरी ओर अलोभ, अद्वेप एव अमोह—ये कुशल-हेतु है। यह स्पष्ट है कि कुशल, अकुशल एव अव्याकृत का भेद धर्मो का स्वभावगत भेद नही है, किन्तु ससारी पुरुष की दृष्टि से ही धर्मो का उनके पृथक् कार्यो के अनुसार विभाजन है—कुछ धर्म उन्हे सुख देते है, कुछ दु ख देते है, कुछ न सुख देते

हैं, न दु ख देते हैं। आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से ही इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

धम्मसगणि मे प्रकारान्तर से धर्मो का चित्त, चैतसिक तथा चित्त-विप्रयुक्त, इन तीन वर्गो मे विभाजन उल्लिखित है। चित्त सप्तविध हैं—चक्षुरादि-विज्ञान, मनोधातु एव मनोविज्ञानधातु। चैतसिक त्रिविध हैं—वेदनास्कन्ध, सज्ञास्कन्ध, एव सस्कार-स्कन्ध। चित्त-विप्रयुक्त धर्म दो हैं—रूप, एव निर्वाण। किन्तु यह विभाजन अभिधर्म-पिटक मे अधिक चर्चित नही है। उस समय, जैसा कथावत्थु से प्रतीत होता है चैतसिक धर्मो की पृथक् सत्ता भी विवादास्पद थी। चित्त एव रूप के दो वर्गो का धम्म-सगणि मे विस्तार से वर्णन मिलता है। अभिधम्म के कुछ ग्रन्थो मे पुन प्राचीन स्कन्ध, धातु, एव आयतन की विस्तृत चर्चा है। सक्षेप मे अभिधर्मपिटक मे उपलब्ध धर्म-विवरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—(पृष्ठ २५६ देखे)

आचार्य अनिरुद्ध ने चार पारमार्थिक तत्त्व स्वीकार किये हैं—चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण[२८]।

चित्त—समस्त लौकिक धर्मो मे चित्त शीर्षभूत है जैसे समस्त लोकोत्तर धर्मो मे प्रज्ञा। सब कुशल अथवा अकुशल धर्म चित्तपूर्वगम है धम्मपद की प्रसिद्ध गाथाओ के के अनुसार। 'मन सब धर्मो मे पहले अग्रसर होता है। सब धर्मो मे मन श्रेष्ठ है। सब धर्म मनोमय हैं।' सुख और दु ख मनोगत शुभ और अशुभ का इस प्रकार अनुसरण करता है जैसे यानवाही पशु का यानचक्र अथवा पुरुष की छाया[२९]। क्लेश और व्यवदान चित्त का ही सहारा लेकर प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि चित्त के स्वभाव, प्रवृत्ति एव उसके कुशल और अकुशल से सम्बन्ध को लेकर अभिधर्म मे इतनी चर्चा रही है। जैसे चित्र मे नाना विचित्र रूप लोक का प्रदर्शन होता हे ऐसे ही देव, मनुष्य, निरय, एव तिर्यक् गतियो मे कर्म, लिग, सज्ञा, व्यवहार आदि का भेद चित्त-कृत एव चित्त-मात्र ही हैं[३०]। कर्म का मूल चित्त मे ही है एव कर्म से ही समस्त ससार का वृक्ष निरूढ हुआ है। इस प्रकार यह कहने मे कोई अत्युक्ति नही है कि ससार का दु ख एव उससे विमुक्ति दोनो ही चित्त के अधीन है।

चित्त और रूप—चित्त और रूप (भौतिक धर्म) का सम्बन्ध पर्यालोचनीय हे। चित्त रूप का पच्छाजात-पच्चय है। रूप चित्त का पुरेजात-पच्चय हे। चित्त की

२८—अभिधम्मत्थसगहो (सारनाथ, १९४१), पृ० १।
२९—खुद्दक (ना०), जि० १, पृ० १६।
३०—अट्ठसालिनी, पृ० ५४।

धर्म
चित्त
चैतसिक
चित्तविप्रयुक्त
कुशल
अकुशल
अव्याकृत
रूप
निर्वाण (असंस्कृत)
लोभमूल
द्वेष मूल
मोहमूल
वेदना
संज्ञा
संस्कार
कामावचर
रूपावचर
अरूपा०
लोकोत्तर
भूतरूप
उपादाय
रूप (भौतिक)
स्पष्ट-व्यायतन अव्धातु
विपाक
क्रिया
पृथ्वी
तेजस्
वायु
'प्रसाद'–रूप
स्त्रीन्द्रिय
पुरुषेन्द्रिय
जीवितेन्द्रिय
चक्षु-रायतन
श्रोत्र०
घ्राण०
काय० (त्वक्)
(गोचर) रूप
रूपायतन
शब्द०
गन्धा०
रसायतन
हृदय वस्तु
'सूक्ष्म रूप'
आकाशधातु
रूपलघुता
०मृदुता
०कर्मण्यता
कवलीकार आहार
०उपचय
०सन्तति
०जरता
०अनित्यता
कायविज्ञप्ति
वाग्विज्ञप्ति
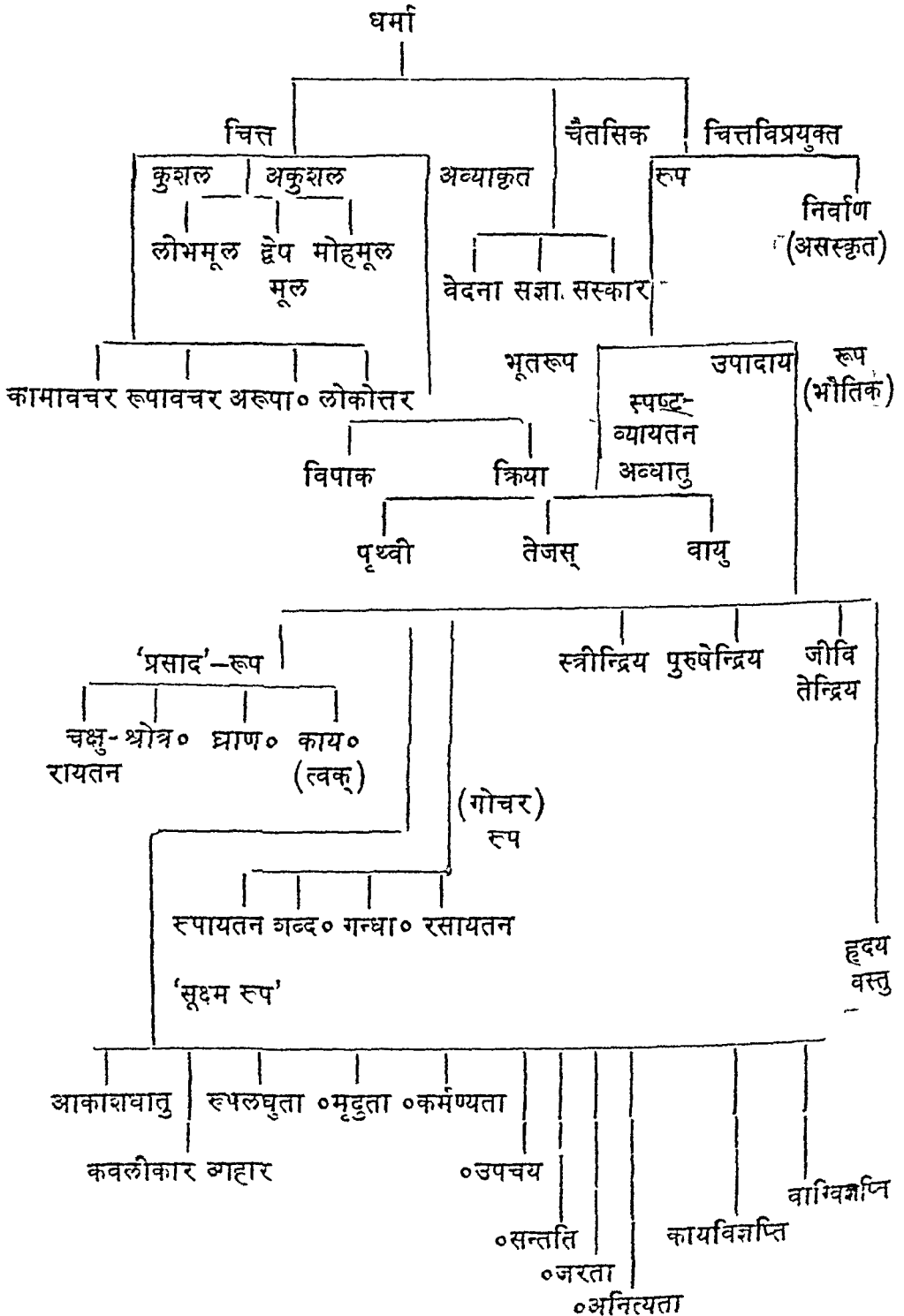
प्रवृत्ति के लिए रूप, वस्तु एव आलम्बन प्रदान करता है। इन्ही के आश्रय से सातो विज्ञान-धातु उत्पन्न होती है। ऐसे ही रूप, शब्द आदि पचविध भौतिक धर्मो का आलम्बन कर पाँच प्रकार की विज्ञान-बीथियाँ प्रवृत्त होती है। दूसरी ओर चित्त-सभूत कर्म कायिक-रूप की उत्पत्ति मे प्रधान कारण है। कर्म और विज्ञप्ति के प्रसग मे चित्त ही देह का सचालन करता है। चित्त को रूप के उद्भवो मे से एक स्वीकार किया गया है। रूप का जहाँ अभाव है ऐसे अरूप लोको मे भी चित्त की प्रवृत्ति सम्भव होती हे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि भूतरूप चित्त-निरपेक्ष है एव चित्त की प्रवृत्ति साधारणत रूप-सापेक्ष है तथापि कर्म आदि के द्वारा देह का उत्पादक, सचालक एव उपष्टम्भक होने के कारण चित्त का ही प्राधान्य स्वीकार करना चाहिए। वस्तुत रूपतत्व की पर्याप्त आलोचना वर्तमान पालि साहित्य मे उपलब्ध नही होती।

सूत्रपिटक मे भी चित्त को रूप से अधिक चचल बताया गया है। पीछे क्षणभगवाद के विकसित होने के साथ इस प्रश्न पर विचार किया गया कि यदि रूप-धर्म एव चित्त दोनो ही क्षणिक हो तो चित्त और रूप का सम्बन्ध दुरुपपाद है। रूपालम्बन के पूरी तरह से अवबुद्ध होने मे अनेक चित्त उत्पन्न एव निरुद्ध होते हैं। यदि चित्त का एक क्षण रूप के एक क्षण के बराबर हो तो रूप का ठीक ज्ञान असम्भव है। अतएव थेरवादियो ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि रूप-क्षण सत्रह (१७) चित्त-क्षणो के बराबर है। इस सिद्धान्त का आधार चित्तवीथि का विवेचन है[३१]।

बीथिचित्त—वीथि का अर्थ स्फुट-बोध के अभिमुख चित्त-परम्परा है। एक जन्म मे उत्पत्ति के समय का प्रथम चित्त जो पिछले जन्म की चित्त-सतति से इस जन्म की चित्तसनति का सम्बन्ध जोडता है, प्रतिसधान-हेतु होने के कारण प्रतिसधि-विज्ञान कहलाता है। इसके अनन्तर भवागचित्त की प्रवृत्ति होती है। भवाग से तात्पर्य उपपति-भव के अग अथवा कारण से है जो कि चित्त का एक अर्धचेतन अथवा उपचेतन प्रवाह है जैसा सुषुप्ति की अवस्था मे उपलब्ध होता है। भवाग का प्रारम्भ प्रतिसन्धि-चित्त से होता हे एव अन्त च्युति-चित्त से। भवाग का आलम्बन प्राक्तन जनक-कर्म, कर्मनिमित्त अथवा गति-निमित्त होता है। १९ प्रकार के भवाग बताये गये हैं[३२]। इस भवाग-चित्त के स्रोत को काटकर वीथिचित्त की प्रवृत्ति होती है एव वीथि के अन्त मे

३१—द्र०—अभिधम्मत्थसगहो, पृ० ६४—८५; अट्ठसालिनी, पृ० २१६—३३।
३२—अभिधम्मत्थसगहो, पृ० ८६।

पुन. भवाग-पात। भवागचित्त बोध का आत्मविश्रान्त अस्फुट प्रवाह है, वीथिचित्त नाना आध्यात्मिक एव वाह्य विषयो के जगत् का स्फुट बोध है।

विषयो का चित्त से सम्वन्ध इन्द्रियों के द्वारो से एव मन के द्वार से सम्पन्न होता है। इन्द्रिय-द्वार मे आलम्बन के प्रकट होने पर वह मनोद्वार में भी प्रकट होता है, जैसे किसी वृक्ष की शाखा पर उतरते हुए पक्षी की छाया पृथ्वी पर भी उतरती है। किन्तु अनेक आलम्वन सीधे मनोद्वार मे प्रकट होते हैं। इस प्रकार द्वार-भेद से चित्तवीथि के दो भेद किये जा सकते है—पंचद्वार-वीथि एवं मनोद्वार-वीथि। पचद्वारवीथि में वाह्य विषय का इन्द्रिय-द्वार के साथ सम्पर्क स्थापित होना वस्तुत वाह्यरूप एव 'प्रसादरूप' का सघट्टन है। इससे विचलित होकर भवाग की धारा का विच्छेद होता है। पहले क्षण में 'भवांग-चलन' होता है, दूसरे मे 'भवांग-उपच्छेद'। तदनन्तर इन्द्रिय-द्वार मे प्राप्त आलम्वन की ओर चित्त का आकर्षण अथवा 'आवर्जन' होता है। यह एक असकल्प-पूर्वक नैसर्गिक क्रिया है। अभिधर्मपिटक में इसे क्रिया-मनोधातु कहा गया है। और इसे क्रियारूप अव्याकृत धर्म वताया गया है। पीछे के दार्शनिक साहित्य मे इसका नाम 'फ्वद्वारावर्जन' है। आवर्जन के अनन्तर तद्विषयाकार चक्षुरादिविज्ञान की उत्पत्ति होती है। चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान आदि विज्ञान सर्वथा निर्विकल्पक, विशुद्ध ऐन्द्रिय-सवेदन हैं। ये विज्ञान प्राक्तन कुशल अथवा अकुशल धर्मो के विपाक होते हैं और अतएव अव्याकृत धर्म हैं। इन विज्ञानो के निरोध के अनन्तर 'सम्पटिच्छन' अथवा 'विपाक-मनो-धातु' की उत्पत्ति होती है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि यदि पच-विज्ञान आलम्वनो की ऐन्द्रिय स्फूर्ति हैं तो 'सम्पटिच्छन' उन आलम्वनो का मन के द्वारा प्रथम ग्रहण। इसके अनन्तर मन के द्वारा आलम्वन के स्वरूप-निर्णय का प्रयत्न होता है जिसे 'सन्तीरण' कहा गया है। अभिधर्म के अनुसार यह अहेतुक विपाक मनोविज्ञान-धातु है। इसके अनन्तर मन के द्वारा आलम्वन का 'व्यवस्थापन' होता है। 'व्यवस्थापन' के अनन्तर 'जवन'—चित्त की उत्पत्ति होती है। जवन के पूर्ववर्ती चित्त विपाक-रूप अथवा क्रिया-रूप होने के कारण अव्याकृत धर्म है। 'जवन' चित्त आलम्वन की ओर चेतना-प्रतिसयुक्त सम्मुखीभाव है। जवन-चित्त की अधिकतया सात वार उत्पत्ति होती है अथवा होती ही नही। कामावचर-जवन-चित्तो के २९ भेद वताये गये है। ज्ञान का कुशल अथवा अकुशल कर्म से सम्पर्क जवन-चित्त मे ही होता है। इसके अनन्तर 'तदालम्वन' चित्त के दो क्षण होते है। तदालम्वन—चित्त जवन-चित्त के आलम्वन का अनुसरण करता है। मानो इसका अवशिष्ट सस्कार हो। इसके अनन्तर पुन भवाग-पात होता है। भवाग के उपच्छेद मे वीथि की प्रवृत्ति होती है,

वीथि के पर्यवसान पर पुन भवाग का पूर्ववत् प्रवाह। इसी प्रकार जन्म के प्रतिसन्ध-चित्त से प्रारम्भ कर मृत्यु के च्युति-चित्त तक भवाग का स्रोत और वीथि का उन्मेष चलता रहता है।

भवाग-चलन के दो क्षणो से पहले एक क्षण अतीत-भवाग का गिनने पर 'तदालम्वन' के अन्त तक १७ चित्त-क्षणो का क्रम ऊपर वीथि-चित्त मे निर्दिप्ट है। प्रत्येक क्षण का उत्पाद, स्थिति, और भग होता है। किन्तु यह पूरी चित्तपरम्परा आलम्बन के 'अति-महत्' होने पर ही सम्पन्न होती है। यदि आलम्वन केवल 'महत्' हो तो 'जवन' के अन्त मे ही भवाग-पात हो जाता है, 'तदालम्वन' की उत्पत्ति नही होती। जव 'व्यव-स्थापन' की दो-तीन वार प्रवृत्ति के अनन्तर ही भवाग-पात हो जाता है और 'जवन' का भी उत्पाद नही होता, तव आलम्वन 'परित्त' अथवा अल्प कहलाता है। 'अति-परित्त' आलम्वन होने पर भवाग-चलन मात्र होता है, वीथि-चित्त का उत्पाद नही होता।

मनोद्वार मे विभूत आलम्बन के उपस्थित होने पर भवागचलन, मनोद्वारावर्जन, जवन, एव 'तदालम्वन' क्रमश उत्पन्न एव निरुद्ध होते हैं। आलम्वन अविभूत होने पर 'तदालम्वन' का उत्पाद नही होता।

घ्यान के प्रसग मे वीथिचित्त की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। घ्यान से निष्पन्न वलवत् समाधि अर्पणा कहलाती है। इसमे आलम्वन सदा अतिविभूत होता है किन्तु अर्पणाजवन के अतिसन्तत होने के कारण तदालम्बन-चित्त का भी उत्पाद नही होता। अर्पणा भी भवाग -स्रोत के समान प्रवृत्त होती है। इस अर्पणावीथि मे ज्ञानसम्प्रयुक्त आठ कामावचर जवनचित्तो में से कोई एक कुशलचित्त अथवा क्रियाचित्त तीन वार अथवा चार वार उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। ये चित्त क्रमश परिकर्म, उपचार अनुलोम एव गोत्रभू नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनन्तर चतुर्थ एव पचम जवनचित्त अर्पणावीथि में अवतीर्ण होता है। यह जवन छव्वीस महद्गत एव लोकोत्तर जवनो में से एक होता है। इसके अनन्तर अर्पणा के जवनचित्तो का प्रवाह प्रवृत्त होता है। तदनन्तर भवागपात पुन घटता है। यदि सौमनस्य-सहगत जवनचित्त के अनन्तर अर्पणा का प्रारम्भ हो तो वह भी सौमनस्य-सहगत होती है तथा उपेक्षापूर्वक होने पर वह उपेक्षासहगत होती है। कुशल जवनचित्त के अनन्तर कुशल जवन एव निचले तीन फल, तथा क्रियाजवन के अनन्तर क्रियाजवन एव अर्हत्व-फल अर्पित होते हैं।

वीथिचित्त के अववोधन के लिए 'आम्रोपमा' उदाहृत की गयी है—मान लीजिए फले हुए आम्रवृक्ष के नीचे सिर ढककर कोई पुरुष सोया हुआ हो एव अपने पास गिरे

एक आम के शब्द को सुनकर सिर से वस्त्र हटाकर आँख खोलकर उसे देखे, उठाये और परखे तथा उसे पका हुआ जानकर उसका परिभोग करे और फिर मुख मे उसके शेष स्वाद का अनुभव करता हुआ पुन सो जाय। ऐसी स्थिति मे पहली निद्रा का समय भवांग का प्रवाह है, फल का गिरना आलम्बन के द्वारा प्रसाद-सघट्टन है, उस शब्द से जागना आवर्जन है। आँख खोलकर देखना चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानो की प्रवृत्ति है। उठा लेना सम्पटिच्छन है। परखना सतीरण है। पके होने का निश्चय व्यवस्थापन है, परिभोग जवन है, पीछे के स्वाद का अनुभव तदालम्बन है। पुन निद्रा की प्रवृत्ति भवागपात है[३३]।

चैतसिक—ऊपर कहा जा चुका है कि चित्त के ८९ भेदो का प्रदर्शन धम्मसगणि मे स्पष्ट किया जा चुका था, किन्तु वहाँ चैतसिको के सामान्यत उल्लेख मे उन्हे केवल तीन ही भागो मे बाँटा गया है, यद्यपि नाना चैतसिक धर्मों का विशेषत उल्लेख उपलब्ध होता है। जैसा कथावत्थु से ज्ञात होता है उस समय कुछ सम्प्रदाय चैतसिको की सत्ता का ही प्रतिवाद करते थे। चैतसिको का विकसित विवरण बुद्धघोष के समय तक निश्चित हो चुका था। इस विकास में सस्कारस्कन्ध को अनेक धर्मो मे बाँट दिया गया था। चैतसिक चित्त से सम्प्रयुक्त धर्म है। वे चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं, एव चित्त के साथ निरुद्ध होते है। उनके आलम्बन और वस्तु भी चित्त के आलम्बन और वस्तु से अभिन्न होते है। चैतसिक धर्म बावन बताये गये है जिनमें वेदना और सज्ञा के अतिरिक्त पचास धर्मो में विभक्त सस्कारस्कन्ध परिगणित है। सात चैतसिक धर्म सर्वचित्त-साधारण है—स्पर्श, वेदना, सज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय तथा मनसिकार। स्पर्श चित्त एव आलम्बन को सघटित करता है। वेदना के सुविदित तीन भाग है—सुख, दु ख, अदु खासुख। आलम्बन का सज्ञान ही सज्ञा है। चेतना सकल्पात्मक प्रेरक धर्म है। एकाग्रता न्यूनाधिक मात्रा मे सभी चित्तो मे पायी जाती है। मनसिकार का अर्थ नवीन आलम्बन की ओर मन का अवधान है। ७ चैतसिक धर्म प्रकीर्णक कहे जाते है। ये बहुत से चित्तो के सहगत होने के कारण इस प्रकार कहे गये है—इनकी चित्त के साथ सदा उपस्थिति नही होती। वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति एव छन्द—ये ही प्रकीर्णक हैं। इन दोनो विभागो के १३ चैतसिक धर्म अन्य-समान कहे जाते हैं क्योंकि ये स्वत न कुशल है न अकुशल। किन्तु कुशल अथवा अकुशल चित्त के सम्प्रयोग से स्वय भी कुशल अथवा अकुशल हो जाते हैं। चौदह चैतसिक

३३—अट्ठसालिनी, पृ० २१९।

अकुशल है—मोह, अह्री, अनवत्रप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मृद्ध, एव विचिकित्सा। शोभन चैतसिक पच्चीस है। ये केवल कुशल चित्तो मे पाये जाते है। इनमे १९ चैतसिक शोभन-साधारण कहे जाते है—श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अवत्रप्य, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता, काय-प्रस्रब्धि, चित्तप्रस्रब्धि, कायलघुता, चित्तलघुता, कायमृदुता, चित्तमृदुता, कायकर्मण्यता, चित्तकर्मण्यता, कायप्रागुण्यता, चित्तप्रागुण्यता, काय-ऋजुता, एव चित्तऋजुता। शोभन चैतसिको मे तीन विरतियाँ—सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्मान्त एव सम्यग-आजीव—दो अप्रमाण—करुणा, एव मुदिता—एव प्रज्ञेन्द्रिय सम्मिलित है।

अध्याय ६

हीनयान के सम्प्रदाय

सर्वास्तिवादी—सर्वास्तिवादी सप्रदाय, स्थविर शाखा से वात्सीपुत्रीयो के पश्चात् विभाजित हुआ था। अशोक के समय की सगीति में मोग्गलीपुत्र ने सर्वास्तिवाद का भी खण्डन किया था। परमार्थ के अनुसार कात्यायनीपुत्र की मृत्यु पर स्थविर दो भागो मे वँट गये—स्थविर और सर्वास्तिवादी। इस विभेद का कारण उन्होने यह बताया है कि स्थविर निकाय सूत्रो को ही मानते थे, इसके विरुद्ध सर्वास्तिवादी अभिधर्म को पिटको में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते थे। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार विभेद का कारण यह था कि कुछ स्थविरो ने महादेव की पाँच 'वस्तुओं' का तिरस्कार किया था। किन्तु ये दोनो ही व्याख्याएँ अश्रद्धेय हैं। इतना निश्चित है कि अशोक के समय में मध्यान्तिक ने कश्मीर मे अपना सप्रदाय स्थापित किया। मध्यान्तिक को मथुरा के प्राचीन आवास से आया कहा गया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है। पहली-दूसरी सदी ई० में कनिष्क ने इन सर्वास्तिवादियो का समर्थन किया और उस समय वे गन्धार, कश्मीर, मथुरा और श्रावस्ती मे विशेष रूप से पाये जाते थे। परम्परा के अनुसार कनिष्क के समय मे सर्वास्तिवादियो की संगीति हुई थी जिसमे उन्होने अभिधर्म-महाविभाषा की रचना की[1]। इस संगीति मे पार्श्व प्रधान बने थे। पार्श्व कनिष्क के द्वारा स्थापित पुरुषपुर के आश्चर्य महाविहार के वासी थे। इस सगीति में पार्श्व के साथ ५०० अर्हत और वसुमित्र के साथ ५०० बोधिसत्व थे। यह विवरण महायानिको का भी भाग-ग्रहण सूचित करता है, किन्तु अधिक विश्वास्य नही प्रतीत होता। सगीति का स्थान कश्मीर का कुण्डलवन विहार अथवा जालन्धर का कुवन बताया गया है[2]। कहा जाता है कि इस सगीति में अष्टादश-निकायो में से सभी में प्रामाणिकता मानी गयी एव इसके पहले अनिवद्ध आगम भी लिखे गये। त्रिपिटक पर विभाषाएँ रची गयी

१—वाटर्स, जि० १, पृ० २७०—७८।
२—तारानाथ, पृ० ५९—६०।

जिनमे प्रत्येक शतसाहस्रिका थी। इन्हे ताम्र-पट्ट पर उत्कीर्ण कर स्तूप मे रखा गया। अभिधर्ममहाविभाषा मे अनेक पुराने सर्वास्तिवादी आचार्यों के नाम मिलते है[3]। इनमे मुख्य है—पार्श्व, वसुमित्र, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात और एक अन्य आचार्य जो कि केवल भदन्त पद से सबोधित किये गये है। और भी अनेक आचार्यों के नाम यत्र-तत्र महाविभाषा मे प्राप्त होते है जैसे कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धरदत्त, धर्मनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, सघवसु और बुद्धरक्षित। इस समय सर्वास्तिवादियो मे अनेक अवान्तर सम्प्रदायो की सत्ता भी **महाविभाषा** से सूचित होती है—जैसे युक्तवादी, अभिधर्माचार्य, कश्मीराचार्य, गन्धाराचार्य, पाश्चात्त्रीय, एव बहिर्देशक। **विभाषा** के अनुयायी वैभाषिक सर्वास्तिवादी कहलाये।

वैभाषिको के दो भेद प्रधान थे—काश्मीर-वैभाषिक, एव पाश्चात्य-वैभाषिक जिनका केन्द्र गन्धार में था। पाश्चात्यो के अनुसार बोधिसत्व पहले शैक्ष अवस्था मे निरोध-समापत्ति का लाभ कर अनन्तर बोधि प्राप्त करते है। काश्मीरक पहले बोधि की प्राप्ति और उसके साथ निरोध-समापत्ति मानते थे। पाश्चात्यो का एक अवान्तर भेद भी था—मृदु और मध्य। मृदु पाश्चात्य बाह्य अर्थों का अस्तित्व स्वीकार करते थे एव पुद्गल को न नित्य-लक्षण, न अनित्य-लक्षण मानते थे। मध्य पाश्चात्य ध्यान के विषय मे विशिष्ट मत रखते थे।

तारानाथ के अनुसार धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र एव बुद्धदेव वैभाषिको के प्रधानतम चार आचार्य थे[4]। इन सबका **महाविभाषा** की रचना मे हाथ था। तारानाथ के अनुसार घोषक तुषार जाति के आचार्य थे। कहा जाता है कि सगीति के बाद उन्हे अश्मापरान्तक के राजा ने बुला लिया था। चीनी भाषा मे उपलब्ध उनके एकमात्र ग्रन्थ **अभिधर्मामृत** का हाल मे सस्कृत पुनरुद्धार किया गया है। घोषक लक्षणान्यथात्ववादी थे। उन्होने कुल ६१ धर्मो का परिगणन किया है—चित्त १, रूप १, चित्तसम्प्रयुक्त ४०, चित्त-विप्रयुक्त १६, असस्कृत ३।

एक स्थविर धर्मत्रात ने **उदान-वर्ग** का सग्रह किया था। इन्हें या अन्य धर्मत्रात को भावान्यथात्ववादी कहा गया है। वसुमित्र को **प्रकरणपाद** का कर्ता बताया गया है और अवस्थान्यथात्ववाद का प्रवर्तक। यह स्मरणीय है कि धर्मत्रात आदि नाम सम्भवत एकाधिक आचार्यो के थे।[5]

३–बारो, पृ० १३२–३३।
४–तारानाथ, पृ० ६७।
५–तु०—तारानाथ, पृ० ६८; तु०—वाटर्स, जि० १, पृ० २१४–१५।

धर्मश्री के **अभिधर्मसार** ने वहुत प्रचार और ख्याति का लाभ किया। लगभग ३२० ई० मे एक धर्मत्रात ने इस ग्रन्थ का एक विस्तृत सस्करण प्रस्तुत किया। इस पर वसुबन्धु ने भी एक व्याख्या लिखी थी। **अभिधर्मकोश** के पहले **अभिधर्मसार** ही वैभाषिको का मुख्य ग्रन्थ था।

वसुबन्धु—वसुबन्धु की तिथि के विषय मे दो सुविदित मत है—तकाकुसु का मत जिसके अनुसार वसुवन्धु पाँचवी शताब्दी ई० के थे, तथा नोएल पेरी का मत जो उन्हे चौथी शताब्दी ई० मे रखता है। हाल मे पेरी का फ्राउवाल्नर ने प्रवल समर्थन किया है।[६] इस मतभेद के निराकरण के लिए कुछ विद्वानो ने यह भी सुझाया है कि वसुबन्धु नाम के दो आचार्य थे जिनमे पूर्ववर्ता ४ थी शताब्दी के एव परवर्ती ५वी शताब्दी के थे। यशोमित्र के साक्ष्य से दो वसुवन्धुओ की सत्ता निश्चित है, किन्तु परमार्थ, श्वाच्वाग एव तारानाथ के विवरणो मे उनका भेद विलीन हो गया है।

परमार्थ का जन्म उज्जयिनी मे ५०० ई० मे हुआ था। वे ५४६ ई० मे चीन आये और ५६९ ई० मे केन्टन मे उनका देहान्त हुआ। उन्होने एक वसुबन्धु-चरित की रचना की जो चीनी मे उपलब्ध है। इस ग्रन्थ को परमार्थ के द्वारा अन्य-रचित ग्रन्थ का चीनी अनुवाद भी वताया गया है, और यह भी कहा गया है कि सम्भवत वसुबन्धु की यह जीवनी परमार्थकृत नही है बल्कि उनके किसी शिष्य ने उनसे सुनी बातो के आधार पर उसकी रचना चीनी मे की। इसके अनुसार वसुबन्धु का समय परिनिर्वाण से ११०० वर्ष पश्चात् था। वे पुरुषपुर के निवासी थे और कौशिक नाम अथवा गोत्र के ब्राह्मण के पुत्र थे। असग उनके वडे भाई थे और विरिञ्चिवत्स छोटे। वसुवन्धु वुद्धमित्र के शिष्य थे। साख्य आचार्य विन्ध्यवासी के द्वारा गुरु के वाद मे पराजित होने पर वसुवन्धु ने विन्ध्यवासी के खण्डन के लिए परमार्थ सप्ततिका नाम का ग्रन्थ रचा। उस समय वसुवन्धु अयोध्यावासी कहे गये है। उन्होने अभिधर्मकोश की रचना की एव वैयाकरण वसुरात को पराजित किया। किन्तु वैभाषिक आचार्य सघभद्र के साथ अपनी वृद्धता के कारण वाद के लिए वे सहमत नही हुए। राजा विक्रमादित्य की उन पर कृपा थी एव उनके युवराज वालादित्य के वे शिक्षक थे। शासक वनने पर वालादित्य ने उन्हें अयोध्या अपनी राज-सभा मे वुला लिया। वृद्धावस्था मे असग की प्रेरणा से

६—फ्राउवाल्नर, ऑन दि डेट ऑव् दि बुधिस्ट मास्टर ऑव् दि लॉ वसुबन्धु; तकाकुसु, जे० आर० ए० एस० १९०५, पृ० ३३ प्र०, वही, १९१४, पृ० १०१३ प्र०, पुनश्च दे०—नीचे।

वे महायानी बन गये तथा उन्होंने महायान के अनेक ग्रन्थों की रचना की। ८० वर्ष की अवस्था में उन्होंने अयोध्या में देह-त्याग किया।

श्वाच्वाग के अनुसार[७] वसुबन्धु असग के भाई थे। असग गन्धार के निवासी थे और परिनिर्वाण से एक सहस्र वर्ष के भीतर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने वसुबन्धु को हीनयान से महायान में परिवर्तित कराया। श्वाच्वाग ने असग और वसुबन्धु से सम्बन्ध रखने वाले कई सघाराम और स्तूप अयोध्या मे देखे।

यह स्मरणीय है कि श्वाच्वाग के सम्प्रदाय मे धर्मपाल आदि ६ठी शताब्दी के आचार्यो को परिनिर्वाण के ११०० वर्ष के अनन्तरभावी बताया गया है। इससे यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि श्वान्च्वाग के 'परिनिर्वाण से १००० वर्षो के भीतर' से सकेत पाँचवी शताब्दी ई० की ओर मानना चाहिए। पक्षान्तर मे छठी शताब्दी ई० के परमार्थ अपने को परिनिर्वाण से १३ वी शताब्दी मे मानते थे अतएव उनके मत से निर्वाणत १२ वी शताब्दी के वसुबन्धु पाँचवी शताब्दी ई० मे रखे जाने चाहिए। इस प्रकार पाँचवी शताब्दी के पक्ष मे परमार्थ और श्वाच्वाग दोनो का ऐकमत्य है। 'विक्रमादित्य' और 'बालादित्य' की समकालीनता भी वसुबन्धु के पञ्चम-शतकीय होने का समर्थन करती है। विक्रमादित्य कदाचित् स्कन्दगुप्त हो और बालादित्य नरसिंह गुप्त। श्वाच्वाग ने सद्धर्म के अनुकूल बालादित्य नाम के एक गुप्त सम्राट् का उल्लेख किया है किन्तु वे मिहिरगुल के समकालिक होने के कारण परवर्ती थे। तिब्बती परम्परा वसुबन्धु को दिङ्नाग का गुरु बताती है। वसुबन्धु को पचम शताब्दी मे रखने से यह अनुश्रुति सगत हो जाती है।

दूसरी ओर एक प्रचलित अनुश्रुति वसुबन्धु को परिनिर्वाण से ९०० वर्ष पश्चात् रखती है। इसका समर्थन इस बात से होता है कि कुमारजीव (ई० ३४४–४१३) ने अपने गुरु (?) सूर्यसोम से वसुबन्धु-रचित 'सद्धर्मपुण्डरीककोपदेश' प्राप्त किया था। वसुबन्धु कृत आर्यदेव के **शतशास्त्र** की व्याख्या का कुमारजीव ने ४०४ ई० मे चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया था एव वसुबन्धु कृत बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र का अनुवाद उन्होंने ४०५ ई० मे किया। बोधिरुचि ने वसुबन्धु के वज्रच्छेदिका **प्रज्ञापारमिताशास्त्र** की वज्रर्षि-कृत व्याख्या का ५३५ ई० मे चीनी अनुवाद करते हुए वसुबन्धु को २०० वर्ष प्राचीन बताया है। इन साक्ष्यो से एक महायान-ग्रन्थो के रचयिता वसुबन्धु का समय चौथी शताब्दी ईसवीय प्रमाणित होता है। ये साक्ष्य निर्विवाद नहीं है तथा चौथी शताब्दी के इस वसुबन्धु को यशोमित्र ने स्पष्ट ही कोशकार से भिन्न माना है।

७–वाटर्स, जि० १, पृ० २१०–११, ३५५–५८।

अभिधर्मकोश में आठ कोशस्थान हैं एव सम्पूर्ण ग्रन्थ ६०० कारिकाओ में निवद्ध है। वसुवन्धु ने स्वयं ही इन कारिकाओ पर भाष्य भी लिखा था। मूल संस्कृत ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि राहुल सांकृत्यायन अपने साथ तिब्वत से लाये थे, किन्तु वह अप्रकाशित है। आठ कोशस्थानो के विषय इस प्रकार है—धातु, इन्द्रिय, लोक-धातु, कर्म, अनुशय, आर्यपुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान। इनके अतिरिक्त पुद्गलवाद के खण्डन के लिए एक अतिरिक्त कोशस्थान की भी परिशिष्ट के रूप मे रचना की गयी थी।

अभिधर्मकोश बौद्धधर्म का विख्याततम एवं सर्वाधिक उपयोगी आकर-ग्रन्थ है। यशोमित्र-कृत इसकी **स्फुटार्था** नाम की व्याख्या सस्कृत में उपलब्ध है।[८] वसुवन्धु का झुकाव सौत्रान्तिक मत की ओर था। उनके खण्डन के लिए संघभद्र नाम के सुप्रसिद्ध वैभाषिक आचार्य ने दो ग्रन्थ रचे—**न्यायानुसारशास्त्र** एव **अभिधर्म-कोश-शास्त्र-कारिका-विभाष्य**। पीछे यशोमित्र के अतिरिक्त गुणमति, पूर्णवर्धन, शमथदेव एवं स्थिरमति ने कोश पर व्याख्याएँ प्रस्तुत की। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में गुणमति ने नालन्दा में लक्षणानुसार-शास्त्र की रचना की। पीछे गुणमति वलभी चले गये जहाँ स्थिरमति उनके शिष्य हुए। स्थिरमति ने पूर्णवर्धन को शिक्षा दी और पूर्णवर्धन ने जिनमित्र और शीलेन्द्रवोधि को। यह स्मरणीय है कि वसुवर्मा का चतुस्सत्य शास्त्र पाँचवी शताब्दी में रचा गया था।

सर्वास्तिवाद-विस्तार और आगम—श्वाच्वांग ने सातवी शताब्दी मे सर्वास्तिवादियो को अनेक स्थानों मे पाया। उन्होने सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के स्यालकोट के निकट तमसा वन मे ३०० भिक्षु, मतिपुर मे ५००, कन्नौज के निकट नवदेव कुल मे ५००, हयमुख में २००, वाराणसी मे २,०००, नालन्दा के निकट २००, हिरण्यपर्वत में १,००० एवं भिनमल मे १०० भिक्षु पाये थे। भारत की सीमा के बाहर भी कराशहर में २,०००, कुचा में ५,०००, बाह्लीक में १,०००, बलख और बामियान के बीच ३००, कबध में ५०० और वु-सा में १,००० और काशगर में १,००० सर्वास्तिवादी भिक्षु उन्हें मिले थे। श्वाच्वाग ने कश्मीर में १०० विहारो में ५,००० सर्वास्तिवादी भिक्षुओ को पाया था। और भी अनेक स्थलो पर उनके बताये हुए विहारो में सर्वास्तिवादी अवश्य रहे होगे। उड्डियान और गन्धार में जोकि पहले सर्वास्तिवादियो के प्रधान प्रदेश थे और अब उजड़े हुए थे, श्वाच्वाग ने २५०० विहारो के अवशेष देखे जहाँ कि पहले प्राय. लगभग ३०,००० भिक्षु रहते थे। सातवी शताब्दी के अन्त में इ-चिं ने

८—रोमन लिपि में सम्पादित, वोगिहारा, टोकियो, १९३२।

सर्वास्तिवादियो का भौगोलिक विवरण इस प्रकार दिया है—'उत्तर अथवा कश्मीर और उसके निकटवर्ती प्रदेश विशेष रूप से उन्ही के हैं। मगध में वे प्रचुर हैं और पूर्व की ओर अन्य सम्प्रदायो के साथ-साथ उनका भी परिचय प्राप्त होता है। उनके कुछ प्रतिनिधि गुजरात, मालवा और दक्षिण में भी पाये जाते हैं। दक्षिण चीन में उनका महत्त्व है और चपा में भी वे मिलते हैं'[9]। तारानाथ के अनुसार पाल साम्राज्य काल मे मूलसर्वास्तिवादियो का अस्तित्व था।

कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थो के अनुसार सर्वास्तिवादी राहुलभद्र को अपना प्रधान आचार्य मानते थे[10]। उनकी भाषा सस्कृत थी, उनके चिह्न उत्पल, पद्म, मणि और पर्ण थे। उनके नाम प्राय मति, श्री, प्रभा, कीर्ति और भद्र में समाप्त होते थे। उनकी सघाटी में वैशिष्ट्य का उल्लेख किया गया है। उनके वस्त्र काले अथवा गाढे लाल रग के होते थे। इ-चिं के अनुसार उनकी संघाटी का निचला भाग एक सीधी रेखा में कटा होता था। वे भिक्षा को सीधे हाथ में ले लेते थे।

सर्वास्तिवादियो का त्रिपिटक इस प्रकार है[11]—विनय-पिटक, जिसमे प्रातिमोक्ष, सप्तधर्म, अष्टधर्म, क्षुद्रक-परिवर्त, भिक्षुणी-विनय, एकोत्तरधर्म, उपालिपरिपृच्छा, एव कुशलपरिवर्त सगृहीत हैं; सूत्र-पिटक, प्रचलित परम्परा के अनुसार पहले तीन पादो की रचना शारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने बुद्ध के जीवन-काल मे की थी। चौथे पाद की रचना परिनिर्वाण से सौ वर्ष बाद हुई थी, पाँचवें और छठे की तथा ज्ञानप्रस्थान की परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद जिसमें दीर्घागम, मध्यमागम, सयुक्तागम एव एकोत्तरागम है; तथा अभिधर्मपिटक-जिसमें ज्ञानप्रस्थान, सगीतिपर्यायपाद, धर्मस्कन्धपाद प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानकायपाद, धातुकायपाद एवं प्रकरणपाद गिने गये हैं।

(१) ज्ञानप्रस्थानसूत्र की रचना आर्यकात्यायनीपुत्र ने की थी[12]। शेष ६ ग्रन्थ इसके 'पाद' माने गये है। ज्ञानप्रस्थान आठ खण्डो में और ४४ वर्गों में इस प्रकार विभक्त है—(१) सयुक्तग्रन्थ—लौकिकाग्र वर्ग (लोकोत्तर), ज्ञान०, पुद्गल०,

९—वे०—नीचे।

१०—बुदोन, जि० २, पृ० १००।

११—सर्वास्तिवादियो के साहित्य पर द्र०—ए० सी० बनर्जी, सर्वास्तिवाद लिटरेचर, तकाकुसु, जे० पी० टी० एस० १९०५, पृ० ६७ प्र०।

१२—तु०—स्फुटार्था, पृ० ११।

श्रद्धा०, अह्रीकता०, रूप० आदि, (२) मयोजन, (३) ज्ञान-शैक्ष और अशैक्ष, सम्यक् और मिथ्यादृष्टि, अभिज्ञा, आर्यसत्य, आर्यपुद्गल, (४) कर्म-अकुशल, हिंसा, विज्ञप्ति एव अविज्ञप्ति आदि, (५) चतुर्महाभूत०, (६) इन्द्रिय—२२ इन्द्रियाँ, त्रैधातुक, आदि, (७) समाधि, (८) दृष्टि-स्मृत्युपस्थान, काम, सज्ञा आदि। कात्यायनीपुत्र परिनिर्वाण के ३०० वर्ष वाद वताये गये हैं।

(२) कहा जाता है कि सगीतिपर्यायपाद की रचना महाकोष्ठिल ने द्वितीय सगीति के अनन्तर की थी। इसकी तुलना दीघ-निकाय की सगीति एव दसुत्तर सुत्तन्त से की गयी है। इसके विषय इस प्रकार है—(१) निदान—ग्रन्थ का उपोद्घात, (२) एक धर्म, (३) द्विधर्म—(११) दशधर्म, (१२) उपसहार—ग्रन्थ-स्तुति।

(३) धर्मस्कन्ध को सर्वास्तिवादी अभिधर्म का प्रधानतम ग्रन्थ कहा गया है। इसके २१ विभागों मे मुख्यतया आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग और उससे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मों का विवरण है। इसकी विसुद्धिमग्ग से तुलना सुझायी गयी है।

(४) प्रज्ञप्तिशास्त्र महामौद्गल्यायन की रचना वतायी जाती है। इसके तिब्बती अनुवाद के तीन भाग है—लोकप्रज्ञप्ति, कारण-प्रज्ञप्ति और कर्म-प्रज्ञप्ति।

(५) विज्ञानकायपाद के विषय मे कहा गया है कि उसकी रचना परिनिर्वाण के १०० वर्ष वाद श्रावस्ती के निकट अर्हत् देवशर्मा ने की थी। ग्रन्थ ६ भागो मे विभक्त है। पहले भाग में अतीत और अनागत धर्मों की सत्ता के विषय में मौद्गल्यायन के मत का खण्डन किया गया है। यह मौद्गल्यायन कदाचित् मौद्गलीपुत्र रहे हों। ऐसी स्थिति मे इस ग्रन्थ का समय अशोक के अनति दूर मानना चाहिए। दूसरे मे पुद्गल और शून्यता का आलोचन है, तीसरे मे हेतुप्रत्यय का, चौथे में आलम्बन प्रत्यय का, पाँचवें में विविध विषय हैं, छठे में अर्हत् के चित्त के विषय मे चर्चा है।

(६) धातुकाय की रचना परिनिर्वाण के ३०० वर्ष वाद वसुमित्र के द्वारा वतायी गयी है। यशोमित्र और वुदोन ने पूर्ण को ही इसका रचयिता कहा है। वस्तुत यह ग्रन्थ वसुमित्र के प्रकरणपाद के चतुर्थ भाग का विस्तार है। पालि की धातुकथा से भी इसकी तुलना की गयी है। इसके दो खण्डो मे मुख्यतया चैतसिक धर्मों का विवेचन है।

(७) प्रकरणपाद की वसुमित्र ने पुष्करावती में रचना की थी। वसुमित्र कनिष्क के समकालीन थे। कदाचित् इस ग्रन्थ का मूल नाम अभिधर्म-प्रकरण था। इसके आठ भाग हैं। पहले मे रूप, चित्त, चित्तधर्म, चित्तविप्रयुक्त सस्कार, एव असस्कृतधर्म का विवरण है, दूसरे में दस ज्ञानो का, तीसरे में आयतनो का, चौथे में धातु, आयतन, स्कन्ध, एव चैतसिकों का पाँचवें मे अनुशयो का, छठे में विज्ञेय, अनुमेय आदि धर्मों का, सातवें

मे शिक्षापद, श्रामण्यफल आदि पर अनेक प्रश्नो का, तथा आठवे मे उपसहृत सक्षेप है। प्रकरणपाद की तुलना थेरवादी अभिधर्म के विभग से की गयी है।

पालि के खुद्दक-निकाय मे सगृहीत अनेक ग्रन्थो को सर्वास्तिवादियो ने त्रिपिटक के अन्दर नही रखा है। जातक, अवदान, धर्मपद एव उदानवर्ग सर्वास्तिवादियो के निकट भी विदित थे यद्यपि उन्हे त्रिपिटक के बाहर रखा गया है। व्याख्या-साहित्य भी इस सम्प्रदाय मे प्रभूत मात्रा मे रचा गया, इनकी विनय की व्याख्या सक्षिप्त है, पर अभिधर्मपिटक की दो विभाषाएँ उपलब्ध है। इनमे से विपुलतर आकार की विभाषा वस्तुत ज्ञान-प्रस्थानशास्त्र का भाष्य है जो कि सर्वास्तिवादियो के विभिन्न सम्प्रदायो और सिद्धान्तो का एक विशाल कोष है। इनके अतिरिक्त सर्वास्तिवादियो के साहित्य मे अनेक प्रकरण ग्रन्थ भी सम्मिलित है। इनमे प्राचीनतम **पचवस्तु** अथवा **पंचधर्म** नाम के तीन सदर्भ है जिनकी रचना धर्मत्रात और दो अन्य आचार्यो के द्वारा मानी गयी है। इनमे से प्राचीनतम दूसरी शताब्दी की रचना है। इस ग्रन्थ मे समस्त धर्मो को पचधा विभाजित किया गया है—चित्त, चैत्त, चित्तविप्रयुक्त रूप, एव असस्कृत। एक दूसरा ग्रन्थ-समूह धर्मश्री, उपशान्त एव धर्मत्रात के द्वारा रचित **अभिधर्मसार** अथवा **अभिधर्महृदय** से बनता है। इनमे से प्रत्येक मे दस अध्याय है जिनमे कि धातु, सस्कार कर्म, अनुशय, आर्यचरित, ज्ञान, समाधि, सुत्र, सयुक्त एव शास्त्र की चर्चा है। इन दो ग्रन्थ-समूहो के अतिरिक्त तीन अन्य विशिष्ट ग्रन्थ है—वसुमित्र की अभिधर्म सम्बन्धी कृति, घोष का अभिधर्मामृतरस, एव सघभद्र के आचार्य स्कन्धिल का अभिधर्मावतारप्रकरण। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्राचीन ग्रन्थ लोकप्रज्ञप्ति है जिसमे बौद्ध-दृष्टि से विश्व-वर्णन किया गया है और अनेक जनपद, नगर, आदि का उल्लेख है। वसुबन्धु एव सघभद्र की रचनाओ का ऊपर उल्लेख किया गया है।

सर्वास्तिवाद का मूलसिद्धान्त—वैभाषिक और सौत्रान्तिक व्याख्या—'वैभाषिको का अभ्युपगम है कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्यसत् है। किन्तु सस्कृत-लक्षणों के योग के कारण सस्कृत-धर्मो का शाश्वतत्व प्रसक्त नही होता[१३]। सस्कृत-लक्षण चार है।—उत्पाद, स्थिति, व्यय, एव निरोध अथवा अनित्यता। आपातत. विरुद्ध-कारी होने पर भी ये वस्तुत सहयोगपूर्वक एक साथ व्यापार करते है। भविष्य से भूत की ओर जाता हुआ समय का मार्ग जिस वर्तमान के मोड पर प्रकट होता है वही ये चार लक्षण बटमारो के समान नित्य-सन्नद्ध रहते है। उत्पाद-लक्षण कालाध्वा

१३—कोश, ५ पृ० ५० प्र०; तु०—श्चेरबात्स्की, सेन्ट्रल कन्सेप्शन, पृ० ६२ प्र०।

के यात्री धर्म को अनागत से खीच कर वर्तमान मे लाता है, स्थिति-लक्षण उसे पकडे रहता है, व्यय-लक्षण उसे मारता है एव निरोध-लक्षण उसे अतीत मे डाल देता है।

धर्मो की त्रैयध्विक सत्ता को प्रमाणित करने के लिए वसुवन्धु ने चार युक्तियो की चर्चा की है—(१) आगम मे अतीत और अनागत धर्मो की उक्ति है। सयुक्तागम मे कहा गया है—'रूपमनित्यमतीतमनागतम् । क. पुनर्वाद: प्रत्युत्पन्नस्य । एव दर्शी श्रुतवान् आर्यश्रावकोऽतीते रूपेऽनपेक्षको भवति। अनागत रूप नाभिनन्दति। प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्विदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नोभवति । अतीत चेद्भिक्षवो रूप नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्रावको—[१४] ।' यह तो अतीतानागत धर्मों के अस्तित्व की कण्ठत. उक्ति है[१५]। अर्थत भी इसका अभिधान किया गया है—'द्वय प्रतीत्य विज्ञानम् उत्पद्यते। कतमद् द्वयम् ? चक्षुरिन्द्रिय च प्रतीत्य रूप च —मनश्च धर्माश्च[१५]। मनोविज्ञान के विषय अतीत और अनागत धर्म होते है। यदि उनकी सत्ता न होती तो वे मनोविज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय किस प्रकार हो सकते थे; (३) यह अनुमानत भी सिद्ध है कि अतीतानागत-विषयक विज्ञान के आलम्वन होने के कारण अतीतानागत धर्मो का अस्तित्व स्वीकार्य है। (४) अतीत धर्मों की सत्ता उनके विपाक से भी प्रकट होती है। कर्म अतीत होने पर भी अपना फल प्रदान करते है। अतएव उनका अस्तित्व मानना होगा।

सर्वास्तिवादी समस्त अतीत और अनागत धर्मो का द्रव्यत' अस्तित्व मानते थे। कुछ अन्य सम्प्रदायो मे यह सिद्धान्त अशत. अभ्युपगत था—वे अतीत धर्म अस्तित्वयुक्त है जिनका विपाक शेष है। इन्हें विभज्यवादी कहा गया है। काश्यपीय सम्प्रदाय का भी यही मत था।

यद्यपि धर्मो की द्रव्यत सत्ता त्रैयध्विक है तथापि तीनो अध्वा विविक्त है, एव धर्मस्वभाव के त्रैकालिक होते हुए भी अध्व-भेद के अनुसार धर्मो का अस्तित्व-भेद अवश्य स्वीकार्य है। इस प्रश्न परजोकि कालतत्व का मर्मोद्घाटन चाहता है, कनिष्ककालीन सगीति के विभिन्न मतो का इस प्रकार सग्रह किया गया है—"चतुर्विधा .॥ एते भावलक्षणावस्था-न्यथा-न्यथिका ह्वया ॥ तृतीय शोभनोऽध्वान कारित्रेण व्यवस्थिता ।[१६]।" भावान्यथात्व भदन्त धर्मत्रात का मत था। इसके अनुसार भूत-भविष्य-वर्तमान का भेद द्रव्य-भेद न होकर भाव-भेद है। उदाहरण के लिए स्वर्णपात्र का भग अथवा दुग्ध

१४—कोश, ५, पृ० ५१।
१५—वही।
१६—कोश, ५, पृ० ५२।

का दधिभाव लिये जा सकते हैं। पहले में सस्थानभेद हो जाता है, वर्ण-भेद नही, दूसरे मे गुण-भेद हो जाता है, वर्णभेद नही। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उन उदाहरणो में द्रव्य-भेद न होते हुए भी आकृति, गुण आदि के भेद से भाव-भेद हो जाता है, ऐसे ही धर्मों का अध्व-संक्रमण में अनागत-भाव, प्रत्युत्पन्न-भाव एव अतीतभाव बदल जाते है, किन्तु द्रव्यत अस्तित्व नही बदलता।

भदन्त घोषक ने लक्षणान्यथात्व का समर्थन किया है। इसके अनुसार प्रत्युत्पन्न होने मे धर्म प्रत्युत्पन्नलक्षण से युक्त होता है, किन्तु अनागत-लक्षण अथवा अतीत-लक्षण से अवियुक्त नही होता। ऐसे ही अनागत अथवा अतीत होने मे लक्षणान्तर से अवियोग स्वीकार्य है। उदाहरण के लिए यदि एक स्त्री में पुरुष अनुरक्त हो तो वह अन्य स्त्रियो मे विरक्त नही माना जाता। जो धर्म अनागत है वही प्रत्युत्पन्न एव अतीत होता है। अध्व-भेद में केवल विभिन्न लक्षण वृत्तिलाभ करते है यद्यपि लक्षणान्तर अविद्यमान नही होते।

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथात्व के प्रतिपादक थे। जैसे इकाई, दहाई आदि के स्थानो पर रखी हुई 'गुलिका' एक, दस आदि हो जाती है, ऐसे ही धर्म अवस्थान्तर प्राप्त कर अध्वभेद सम्पादित करते हैं। भदन्त बुद्धदेव ने अन्यथान्यथात्व अथवा अपेक्षान्यथात्व का समर्थन किया। अतीत, अनागत आदि भेद ऐसे ही आपेक्षिक हैं जैसे एक ही स्त्री परापेक्षया दुहिता अथवा माता होती है। अतीत आदि का भेद किसकी अपेक्षा रखता है, इस पर दो व्याख्याएँ इस मत की प्रस्तुत की गयी है। एक के अनुसार अतीत आदि प्रत्युत्पन्न एव अनागत आदि की अपेक्षा रखते हैं, दूसरी के अनुसार पूर्ववर्ती की अपेक्षा अनागत की प्रसिद्धि होती है, परवर्ती की अपेक्षा अतीत की। पहली व्याख्या सघभद्र के अनुसार है। दूसरी विभाषा में उल्लिखित है।

सर्वास्तिवाद के इन चार मुख्य आचार्यों के मत विभाषा में वर्णित हैं। वसुवन्धु भावान्यथात्ववाद को एक प्रकार का प्रच्छन्न साख्य परिणामवाद बताते हैं। लक्षणान्यथात्व और अपेक्षान्यथात्व मानने में अध्व-सकर अनिवार्य है। अत वसुमित्र का मत ही श्रेष्ठ है। अध्वभेद का आधार अवस्था अथवा कारित्र है। जो धर्म अभी कार्यशील नही है वह अनागत है। जो कार्यशील है वह प्रत्युत्पन्न है। जो कार्यशाली होकर कार्य-विरत है वह अतीत है।

वैभाषिको के द्वारा सर्वास्तिवाद की इस प्रकार व्याख्या सौत्रान्तिको की अभिमत नही थी। धर्मों के स्वभाव को नित्य तथा उनके भाव को अनित्य नही माना जा सकता। कारित्र का आविर्भाव और तिरोभाव दुर्बोध है। 'किं विघ्न तदपि कथ नान्यदध्वा न

युज्यते। तथा सन् किमजो नष्टो गम्भीरा जातु धर्मता ।।'[१७]। वैभाषिकों को कहना पडता है कि धर्मता गम्भीर है। वस्तुत सौत्रान्तिको के अनुसार सर्वास्तिवाद की दूसरी व्याख्या करनी चाहिए। 'सर्व' शव्द से तात्पर्य द्वादश आयतनो से है। 'सब्ब वुच्चति द्वादसायतनानि।'[१८] इन आयतनो की ही सत्ता स्वीकार्य है, किन्तु यह सत्ता अनित्य है। धर्म न होकर उत्पन्न होते है एव निरुद्ध होकर पुन. अभावकोटि मे गिरते हैं।

सर्वास्तिवाद की इस प्रकार दो प्रमुख व्याख्याएँ थी—वैभाषिक और सौत्रातिक। वैभाषिक त्रिकाल-भेद मानते हुए और धर्मो का अनित्यत्व स्वीकार करते हुए भी धर्म-स्वभाव को नित्य एव त्रैकालिक मानते थे। द्रव्यत धर्मो का अस्तित्व सदा वना रहता है। किन्तु इनके भाव, लक्षण अथवा अवस्था या कारित्र मे भेद हो जाता है। सौत्रा-न्तिक इसे शाश्वतवाद वताते हुए वाह्य और आध्यात्मिक आयतनो की सत्ता के स्वीकार को ही वास्तविक सर्वास्तिवाद कहते थे। वैभापिक मत प्राचीनतर प्रतीत होता है। यह सम्भवत साख्य के परिणामवाद से प्रभावित था। सौत्रान्तिक मत अधिक सूक्ष्म और विकसित लगता है। ब्राह्मण ग्रन्थो में सर्वास्तिवाद की सौत्रातिक व्याख्या ही विदित होती है।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे सर्वास्तिवादियो को योगाचार एव शून्यवाद से 'वाह्यार्थवादी' होने के कारण भिन्न माना गया है। **सर्वदर्शनसंग्रह** में कहा गया है—'ते च माध्यमिकयो-गाचारसौत्रातिक वैभापिकसज्ञाभि प्रसिद्धा बौद्धा. यथाक्रम सर्वशून्यत्ववाह्यार्थशून्यत्व वाह्यार्थानुमेयत्ववाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते[१९]। अर्थात् जहाँ वैभाषिक वाह्यार्थो की प्रत्यक्षगम्य सत्ता मानते थे, सौत्रातिक उन्हें केवल अनुमानगम्य मानने थे। शकरा चार्य का कहना है—'तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति। केचित् सर्वास्तित्ववादिन केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिन अन्ये पुन सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ते सर्वास्तित्ववा-दिनो वाह्यमान्तर च वस्त्वम्युपगच्छन्ति भूत भौतिक च चित्त चैत्त च[२०]।' यहाँ स्पष्ट ही 'सर्वमस्ति' में 'सर्व' के अर्थ किये गये हैं—वाह्य और आन्तर दोनो प्रकार के पदार्थ[२१]। इस व्याख्या के अनुसार सर्वास्तिवादियो का मुख्य तात्पर्य विज्ञानवाद एव शून्यवाद के

१७—कोश, ५ पृ० ५६—५७।
१८—वही, पृ० ६४, विशेषत', पादटिप्पणी, २।
१९—सर्वदर्शनसंग्रह (पूना, १९२८), पृ० ७।
२०—ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (वम्वई, १९२७), पृ० २३९।
२१—तु० भामती—"यद्यपि वैभाषिक सौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तिता यामस्ति सम्प्रतिपत्तिरित्ये की कृत्योपन्यास।"

विरुद्ध सर्वार्थास्तित्व का प्रतिपादन करना था। किन्तु यह स्मरणीय है कि जिस समय सर्वास्तिवाद का प्रथम अभ्युदय हुआ उस समय बौद्धो मे बाह्यार्थनिषेधक 'विज्ञानवाद' का किसी निकाय मे पता नही चलता। अतएव सर्वास्तिवाद को भी बाह्यार्थवाद की घोषणा नही माना जा सकता। इसके विपरीत कुछ विद्वानो की यह व्याख्या भी स्मरणीय है कि बौद्धो मे अनुभव-निरपेक्ष 'बाह्य' वस्तु की सत्ता किसी भी सम्प्रदाय मे स्वीकार्य नही है। सर्वत्र अनुभव-प्रवाह के अन्तर्भूत धर्मो का ही विश्लेषण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से सद्धर्ममात्र एक प्रकार से 'प्रतिभासवाद' (फेनोमेनलिज्म) सिद्ध हो जाता है[२२]।

वैभाषिक अभिधर्म—ऊपर कहा गया है कि सर्वास्तिवाद का मूल अभिप्राय अतीत और अनागत धर्मो के अस्तित्व-स्वीकार में था। इस मत का उद्गम इस प्रकार विभावनीय है—धर्मो की पारमार्थिकता स्वीकार करने पर उनके क्षणिकत्व के साथ उसके विरोध-परिहार के लिए यह कल्पना सुलभावकाश है कि धर्मो का स्वभाव त्रिकालवर्ती है, यद्यपि अध्वभेद अवश्य सम्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तु के चार संस्कृत-लक्षण है—उत्पाद, स्थिति, व्यय और अनित्यता। ये एक साथ ही वस्तु को धर दबाते है और वह इनके कारण अध्व-संक्रमण करती है—अनागत से प्रत्युत्पन्न, प्रत्युत्पन्न से अतीत। किन्तु तीनो अध्वो मे उसका प्रतिविशिष्ट स्वभाव अपनाया रहता है। वैभाषिको के स्थिर-स्वभाव धर्म सांख्यो के तत्त्वो के समान प्रतीत होते है।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म मे ७५ धर्मो की सत्ता स्वीकार की गयी है। उनका प्रदर्शन अधोलिखित प्रकार से हो सकता है—
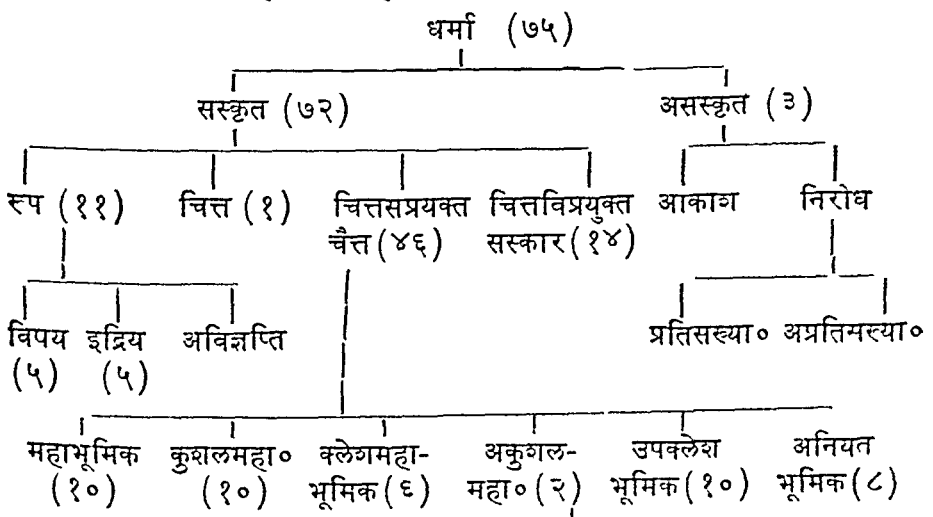
२२—इसका विस्तृत प्रतिपादन, रोजेनबर्ग, दी प्रोब्लेम देर बुद्धिस्तिशेन फिलोजोफी।

रूप, चित्त, चैत्त, चित्तविप्रयुक्त, एव असस्कृत, इन्हे पच धर्म कहा जाता था। इनका स्कन्ध, धातु और आयतनो से सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

पंचधर्म	५ स्कन्ध	१२ आयतन	१८ धातु
(१) रूप =	रूप-स्कन्ध =	५ इन्द्रियाँ ५ विषय =	५ इन्द्रिय-धातु ५ विषय-धातु
(२) चित्त =	विज्ञानस्कन्ध =	मन-आयतन =	५ इद्रिय-विज्ञानधातु मनो-धातु मनो-विज्ञान-धातु
(३) चैत्त	(वेदनास्कन्ध) (सज्ञास्कन्ध) (सस्कारस्कन्ध)	=धर्मायतन	=धर्म-धातु
(४) चित्त-विप्रयुक्त (५) असस्कृत			

प्रकारान्तर से धर्मो को सास्रव एवं अनास्रव बताया गया है। मार्ग-वर्जित सस्कृत-धर्म सास्रव कहलाते है। अनास्रव-धर्मो मे मार्ग-सत्य और त्रिविध असस्कृत धर्मो का सग्रह किया गया है। ऊपर निर्दिष्ट तीन असस्कृतो का अभ्युपगम सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध वैशिष्ट्य है। अभिधर्मकोश के प्रारम्भ मे ही वसुबन्धु ने अभिधर्म की परिभाषा की है—'प्रज्ञामला सानुचराभिधर्म' अर्थात् सानुचर अमला प्रज्ञा ही अभिधर्म है। अमला प्रज्ञा के अर्थ हैं अनास्रवप्रज्ञा। प्रज्ञा का अर्थ है धर्म-प्रविचय। पुष्पो के समान व्यवकीर्ण धर्मो को चुन-चुन कर विभजित और सगृहीत करना ही धर्म-प्रविचय है। प्रज्ञा के अनुचर से तात्पर्य प्रज्ञा के सहभू अनास्रवधर्मो से है। यह परिभाषा पारमार्थिक अभिधर्म की है। इस विमल प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए जो लौकिक प्रज्ञा एव शास्त्र आवश्यक हैं वे भी साकेतिक एव साव्यवहारिक रूप से अभिधर्म कहलाते है। धर्म का लक्षण स्वलक्षण-धारण बताया गया है। यह स्मरणीय है कि बौद्ध दृष्टि से गुण और गुणी का भेद अपारमार्थिक है एव वस्तुओ के प्रतिविशिष्ट लक्षणो को ध्यान मे रखते हुए उनके नानात्व और पृथक्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

आकाश अनावरण स्वभाव है अर्थात् आकाश किसी के रोध अथवा बाधा का कारण नहीं बनता। आकाश मे रूप का अबाध सचार होता है। आकाश रूप से न आवृत होता है, न अपगत। सौत्रान्तिको का मत भिन्न था। वे आकाश को रूपाभाव-मात्र कहते थे और उसे अवस्तु मानते थे। दो निरोध—प्रतिसख्या-निरोध एव अप्रतिसख्या-निरोध है। पृथक्-पृथक् विसयोग को प्रतिसख्या-निरोध कहा गया है। यहा पर

सास्रव धर्म से विसयोग अभिप्रेत है। यह विसयोग वास्तविक धर्म है एव नित्य हे। प्रतिसख्या अथवा सत्य के साक्षात्कार से इसकी 'प्राप्ति' होती है। यही नित्यनिरोध निर्वाण कहा जाता हे। इस प्रकार प्रतिसख्या-निरोध वस्तुत ज्ञान के द्वारा साक्षात्कृत निर्वाण का ही दूसरा नाम है। अप्रतिसख्या-निरोध से तात्पर्य उस निरोध से है जो कि उत्पाद का अत्यन्त विघ्नभूत है। इसकी प्राप्ति सत्य के साक्षात्कार से न होकर प्रत्यय-वैकल्य से होती है। उदाहरण के लिए जव आँखे और मन किसी एक रूप मे आसक्त होते है उस समय अन्य रूप, शव्द, गन्ध आदि का ग्रहण नही होता अर्थात् वे वर्तमान काल का अतिक्रमण कर अतीत हो जाते हैं। उनकी उत्पत्ति हो सकती थी, किन्तु प्रत्यय-वैकल्य के कारण नही हो सकी। यही अप्रतिसख्या-निरोध है।

जिन सस्कृत धर्मो का ऊपर उल्लेख किया गया हे, उनमे रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार एव विज्ञान—ये पाँच स्कन्ध सगृहीत हैं। इनके अन्य नाम हैं अध्व, कथावस्तु, सनिस्सार एव सवस्तुक। अध्व शव्द से त्रिविध काल का सकेत होता है। कथावस्तु से तात्पर्य वाक्य-विपय से है। सनिस्सार के अर्थ हैं जिनसे निस्सरण होता है। सवस्तुक के तात्पर्य हैं सहेतुक। इन आख्याओ से सस्कृत-धर्मो की कालिकता, वाक्य-विपयता, हेयता एव कारणनियम सूचित होते हैं। इन उपादान-स्कन्धो को सरण, दु खसमुदय, लोक, दृष्टिस्थान और भव भी कहा जाता है। पाँच स्कन्धो मे पहला रूप हे। रूप के द्वारा पाँच इन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय एव अविज्ञप्ति का ग्रहण होता है। पाँच इन्द्रियाँ एव उनके विषय सुविदित है। इन विषयो के विज्ञानो के आश्रय, चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ रूपप्रसाद कही गयी है। रूपप्रसाद से तात्पर्य सूक्ष्म एव अतीन्द्रिय रूप अथवा भौतिक धातु से है। इसको मणि-प्रभा के सदृश कहा गया है, अच्छेद्य, अदाह्य, गुरुत्व-हीन। 'जिस पुद्गल का चित्त विक्षिप्त है अथवा जो अचित्तक है उसका महाभूत-हेतुक कुशल और अकुशल प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है'। अचित्तक से तात्पर्य उनसे है जो असज्ञि-समापत्ति एव निरोध-समापत्ति मे समापन्न हैं। अविज्ञप्ति कायिक और वाचिक कर्म के सदृश रूप-स्वभाव और क्रिया-स्वभाव है, किन्तु उससे कुछ विज्ञापित एव सूचित नही होता। समासत विज्ञप्ति और समाधि से सभूत कुशल और अकुशल रूप अविज्ञप्ति हैं। इसकी तुलना 'अदृष्ट' से करनी चाहिए। सौत्रान्तिक अविज्ञप्ति को स्वीकार नही करते और न थेरवादी उसे मानते हैं। सघभद्र के अनुसार वसुवन्धु ने अविज्ञप्ति के वैभापिक लक्षण का ठीक निरूपण नही किया हे।

रूप-स्कन्ध में सगृहीत इन्द्रियाँ, उनके विपय, एव अविज्ञप्ति, सव चार महाभूतो पर आश्रित भौतिक धर्म हैं। इनमे पाँच विषय प्रत्यक्ष ग्राह्य है, शेप अनुमेय हैं। महा-

भूत ही मूल रूपधर्म है, शेष उनसे उद्भूत 'उपादाय रूप' है। इस प्रकार रूप भूत और भौतिक धर्मों की ओर संकेत करता है। 'रूप' का अर्थ है जो रूपित अर्थात् भिन्न बाधित या पीड़ित हो। निरुक्ति की दृष्टि से यह सन्दिग्ध है क्योंकि 'रूप' भिन्न है 'रु' अथवा 'लुप्' भिन्न। 'रूप्यते इति रूप' ननु रुप्यत इति लुप्यते इति वा। पालि में अवश्य यह 'रूप'–भेद 'लुप्त' हो गया है। रूप का बाधन विपरिणाम अथवा विक्रिया से बताया गया है। मतान्तर से रूप का लक्षण सप्रतिघत्व अथवा प्रतिघात है। प्रतिघात का अर्थ है स्थान घेरना ('यद्देशमावृणोति'), अपने स्थान पर दूसरे की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होना 'स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्ध' तीन प्रकार के प्रतिघात बताये गये हैं—आवरण-प्रतिघात, विषय-प्रतिघात, आलम्बन-प्रतिघात। इनमें पहला पूर्वोक्त दैशिक प्रतिबन्ध है। दूसरा इन्द्रियों पर उनके विषयों का 'निपात' है जिससे इन्द्रियाँ व्यापारित होती है। तीसरा चित्त-चैत्त पर उनके आलम्बन का आघात है। सप्रतिघत्व की विलक्षण परिभाषा दी है—जिन वस्तुओं से एकाधिक की समान देश में स्थिति अकल्पनीय हो वे सप्रतिघ हैं। 'यत्रोत्पित्सोर्मनस प्रतिघात शक्यते (परै) कर्तुम्। तदेव स प्रतिघ तद्विपर्ययादप्रतिघमिष्टम्।' एक अन्य निर्वचन के अनुसार 'तत्रेदमिहामुत्रेति निरूपणाद्रूपम्।' संघभद्र के अनुसार पूर्व-कर्म के निरूपण के कारण 'रूप' यह संज्ञा होती है।

अविज्ञप्ति में रूप के बाधन अथवा प्रतिघात (=देशावरण)—रूप लक्षण साक्षात् व्याप्त नही होते, किन्तु अविज्ञप्ति महाभूतों पर आश्रित है और अतएवरूप है।

भूत और भौतिक परमाणु-निर्मित हैं। चार महाभूतों के पृथक्-पृथक् परमाणु है, रूप-प्रसाद के पृथक् जिन्हें पंचविध कहा गया है, एवं पाँच विषयो के पृथक्। परमाणु दिग्भेद-हीन एवं निरवयव होते हैं। वे एक दूसरे का स्पर्श नही कर सकते अथवा उनका परस्पर लय अथवा सावयवत्व मानना होगा। उन्हें सान्तर भी नही माना जा सकता, अन्यथा आन्तरालिक आकाश में उनकी गति एवं परस्पर उपसर्पण दुर्निवार होगा। दूसरी ओर उनका निरन्तरत्व सान्निध्यमात्र का द्योतक है। इस स्थिति में उनकी पृथक् अवस्थिति उनके सप्रतिघात से नियत रहती है। किन्तु ये परमाणु एकैकश उपलब्ध नहीं होते। चार महाभूतो के परमाणु शब्दवर्जित चार बाह्य आयतनों के परमाणुओं के साथ एक संघाताणु का निर्माण करते है और कामधातु में यही आठ परमाणुओं का समूह उपलभ्य अणुओं में न्यूनतम है। इस संघाताणु को अष्टद्रव्यक परमाणु भी कहा गया है। यह सूक्ष्मतम वस्तु न होकर सूक्ष्मतम रूप-संघात है। कायेन्द्रिय का परमाणु जुड़ने से नव-द्रव्यक कायेन्द्रिय द्रव्य सम्पन्न होता है। अन्य

इन्द्रियाँ दश-द्रव्यक होती हैं क्योकि वे कायेन्द्रिय प्रतिवद्ध है। शब्द की उत्पत्ति के लिए एकादश द्रव्यक सघाताणु आवश्यक है। रूप-धातु मे गन्ध और इसके अभाव के कारण वहाँ के परमाणु पट्-सप्त-अप्टद्रव्यक है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु के लक्षण क्रमश कठिनत्व, द्रवत्व, उष्णत्व, एव ईरणा अथवा गति हैं। इनका अविनिर्भाग होता है अर्थात् इनके परमाणु सदा साथ विद्यमान रहते है। औरो के साथ रहते हुए भी जो पटुतम होता है उसकी उपलब्धि होती है। अनुपलब्ध भूतो की सत्ता अनुमेय है। सौत्रातिको के अनुसार अनुपलब्ध महाभूत केवल बीजत होते हैं, कार्यत नही।

वेदना-स्कन्ध से तात्पर्य सुख, दु ख एव अदु खासुख अनुभवो से है। सज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका है। निमित्त से वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ सूचित की जाती हैं। उद्-ग्रहण का अर्थ परिच्छेद है। रूप, विज्ञान, वेदना और सज्ञा के अतिरिक्त सब सस्कार संस्कारस्कन्ध मे सगृहीत हैं। प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति विज्ञान कहलाती है। इसके स्पष्ट ही छ भेद हैं जोकि पाँच इन्द्रियो से और मन से सम्बन्ध रखते हैं। इन छ. विज्ञानो के अतिरिक्त किसी मन की सत्ता नही है, किन्तु जो-जो विज्ञान समनन्तर-निरुद्ध होता है वही मनोधातु की आख्या प्राप्त करता है। जैसे, पुत्र ही पिता बन जाता है। पाँच विज्ञानो के आश्रय पाँच रूपी इन्द्रियाँ हैं। मनोविज्ञान का आश्रय हृदय-वस्तु-सदृश कोई रूपी इन्द्रिय नही है। अनन्तरातीत विज्ञान ही उसका आश्रय है एव इस आश्रय की प्रसिद्धि के लिए ही उसका पृथक् नाम मनोधातु दिया जाता है।

सस्कार-स्कन्ध के दो भाग है—चित्त-सम्प्रयुक्तसस्कार, एव चित्त-विप्रयुक्त-सस्कार। वेदना-स्कन्ध और सज्ञा-स्कन्ध चित्त-सम्प्रयुक्त सस्कारो मे सगृहीत हैं। चित्त-विप्रयुक्त अथवा चैत्त धर्म ४६ है—(१) १० चित्त—महाभूमिक-धर्म, (२) १० कुशल-महाभूमिक-धर्म, (३) ६ क्लेश-महाभूमिक-धर्म, (४) २ अकुशल-महा-भूमिक-धर्म, (५) १० उपक्लेश-भूमिक-धर्म, (६) ८ अनियत-भूमिक-धर्म। इनका विवरण निम्नोक्त है—

(१) चित्तमहाभूमिक-धर्म—वेदना, सज्ञा, चेतना, स्पर्श, छन्द, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष एव समाधि।

(२) कुशल-महाभूमिक-धर्म—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा, प्रश्रब्धि, एव अप्रमाद।

(३) क्लेश-महाभूमिक-धर्म—मोह, प्रमाद, कौसीघ, अश्रद्धा, स्त्यान, औद्धत्य।

(४) अकुशलमहाभूमिक-धर्म—अह्री, अनपत्रपा।

(५) उपक्लेश-भूमिक-धर्म—क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदास, विहिंसा, उपनाह, माया, शाक्य एव मद।

(६) अनियत-भूमिक-धर्म—कौकृत्य, मृद्ध, वितर्क, विचार, राग, द्वेष, मान, एवं विचिकित्सा। वितर्क और विचार मनोजल्प-रूप है। वैभाषिक सव चित्तो मे वितर्क मानते थे और उसे स्वभाव-विकल्प कहते थे। वसुवन्धु सर्वथा निर्विकल्प विज्ञान स्वीकार करते है।

चित्त-विप्रयुक्त-सस्कार १४ है—प्राप्ति, अप्राप्ति (ये दोनो स्वसन्तान-गत धर्मों की तथा दो निरोधो की होती है।), निकायसभागता (जो 'जाति' अथवा 'सामान्य' से तुलनीय है) आसञ्जिक (आसञ्जि सत्त्वो मे उपपत्या चित्त-चैत्त का निरोध), असञ्जि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवित, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता (ये चार 'सस्कृत-लक्षण' कहलाते हैं) नाम-काय, पद-काय, एवं व्यजन-काय।

सर्वास्तिवादी कार्य-कारण-भाव के विश्लेषण के द्वारा ४ प्रत्यय, ६ हेतु, एव ५ फलो का अस्तित्व निर्धारित करते है। हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, आलम्वन-प्रत्यय, एव अधिपति-प्रत्यय—ये चार प्रत्यय है। हेतु-प्रत्यय पचविध हैं—सहभू-हेतु, सम्प्रयुक्त-हेतु, सभाग-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, एव विपाक-हेतु। चार महाभूत साथ ही रहते है, अत वे सहभू-हेतु है। सहभू-हेतु परस्पर फलोत्पादक होते है। चित्त और चैत्त, लक्षण और लक्ष्य का भी यही सम्वन्ध है। चित्त और चैत्त, धर्मो का विशेष घनिष्ठ सम्वन्ध 'सम्प्रयुक्तहेतु' से द्योतित होता है। सदृश-धर्म सभाग-हेतु होते है। सर्वत्रग-हेतु क्लेश-गत होता है, विपाक-हेतु कर्म-गत। अव्यव हित-पूर्ववर्ती चित्त समनन्तर-प्रत्यय कहलाता है। विज्ञान के विषय आलम्वन-प्रत्यय वनते है। अधिपति-प्रत्यय नियतपूर्ववर्ती होता है। पूर्वोक्त पॉच हेतुओ के अतिरिक्त कारण-हेतु को सम्मिलित कर छ हेतुओ का परिगणन होता है। पॉच फल हैं—पुरुषकार-फल, निष्पन्द-फल, विपाक-फल, अधिपति-फल, एव विसयोग-फल।

यह स्मरणीय है कि कारण-हेतु मे कारणो का सामान्यत. निर्दश है। सभी सस्कृत और असस्कृत धर्म किसी-न-किसी प्रकार से कारण-हेतु होते है। कारण-हेतु मे समनन्तर, आलम्वन, एव अधिपति प्रत्यय सगृहीत है। कारण-हेतु का फल अधिपति-फल कहलाता है। सहभू और सम्प्रयुक्त हेतुओ के फल पुरुषकार-फल कहे जाते हैं। सभाग-हेतु का फल निष्पन्द-फल होता है। ऐसे ही सर्वत्रग-हेतु का फल भी निष्पन्द-

फल कहा जाता है। विपाक-फल विपाक-हेतु से उत्पन्न होता है। विसयोग-फल वास्तव मे निर्वाण ही है। यह उत्पन्न नही होता। इसकी केवल प्राप्ति होती है।

इन प्रत्ययो, हेतुओ और फलो का इस प्रकार प्रदर्शन किया जा सकता है--

प्रत्यय	हेतु	फल
हेतु-प्रत्यय	सहभू-हेतु सम्प्रयुक्त-हेतु	—पुरुषकार-फल
	सभाग-हेतु	— निष्यन्द-फल
	सर्वत्रग-हेतु	
	विपाक-हेतु	— विपाक-फल
आलम्बन-प्रत्यय समनन्तर-प्रत्यय अधिपति-प्रत्यय	—कारण-हेतु	—अधिपति-फल विसयोग-फल

सर्वास्तिवादी अभ्युपगम (वैभाषिक)

'सर्वम् अस्ति' अर्थात् अतीत और अनागत धर्मो की भी वस्तुत सत्ता है, सर्वास्तिवादियो का यह मूल सिद्धान्त है[23]। वसुमित्र एव भव्य के द्वारा उनका मत-विस्तर इस प्रकार निर्दिष्ट है[24]—

नाम और रूप मे सब कुछ सगृहीत है। रूप का लक्षण है स्थूलता। नाम मे चार स्कन्ध और असस्कृत गिने जाते है। ये सूक्ष्म और दुर्बोध है।[25]

समस्त धर्मायतन ज्ञेय, विज्ञेय एव अभिज्ञेय है।

सस्कारस्कन्ध मे जाति, व्यय, स्थिति और अनित्यता के लक्षण तथा चित्तविप्रयुक्त धर्म सगृहीत है। सस्कृत पदार्थ त्रिविध है, अतीत अनागत एव प्रत्युत्पन्न। असस्कृत भी त्रिविध है—प्रतिसख्या-निरोध, अप्रतिसख्या-निरोध, एव आकाश। सस्कृत-लक्षण

२३—तु०——मिलिन्द, पृ० ५५—५६।
२४—द्र०——मसुवा, पूर्व०; वालेजेर, पृ० ३८—४३, ८४—८५; वारो, पृ० १३७—४५।
२५—तु०——मिलिन्द, पृ० ५१।

विभिन्न है एव सत् है। सस्कृत-लक्षण चार है—उत्पाद, स्थिति, व्यय, अनित्यता अथवा निरोध। निरोध-सत्य असस्कृत है, शेष तीन सस्कृत।

आर्य-सत्यो का अभिसमय आनुपूर्वी से होता है। शून्यता, एव अप्रणिहित के सहारे सम्यक्त्व-नियाम मे प्रवेश किया जा सकता हे। काम का ध्यान करते हुए सम्यक्त्व-नियाम मे प्रवेश हो सकता है। सम्यक्त्व-नियाम मे प्रवेश करते समय पहले पन्द्रह चित्तोत्पादो मे प्रतिपन्न आख्या होती है, सोलहवे चित्तोत्पाद मे स्थिति-फल का नाम दिया जाता है। लौकिकाग्र-धर्म एकक्षणिक-चित्त हे। वे नियत एव परिहाणि-वर्जित है। स्रोतआपन्न के लिए गिरना सभव नही है, किन्तु अर्हत् गिर सकता है। सब अर्हतो को अनुत्पाद-ज्ञान प्राप्त नही होता है। पृथग्जन काम और व्यापाद छोड़ सकते हैं।

तीर्थिक पाँच अभिज्ञाएँ प्राप्त कर सकते है।

देवलोक मे ब्रह्मचर्य सभव है।

सात समापत्तियो मे बोध्यग प्राप्त हो सकते है, शेष मे नही। सब ध्यान स्मृत्युपस्थानो मे पूर्णत सगृहीत है। ध्यान का सहारा लिये विना सम्यक्त्व-नियाम मे प्रवेश एव अर्हत्व-फल की प्राप्ति हो सकती है।

यदि रूप धातु अथवा आरूप्य-धातु की काय का आश्रय ग्रहण किया गया हो तो अर्हत्त्व फल के साक्षात्कार होते हुए भी सम्यक्त्व-नियाम मे प्रवेश नही हो सकता। दूसरी ओर यदि काम-धातु की देह स्वीकार की गयी हो तो न केवल सम्यक्त्व-नियाम मे प्रवेश सम्भव है, प्रत्युत अर्हत्त्व फल का साक्षात्कार भी।

उत्तर-कुरु मे विराग सम्भव नही है और न आर्य वहाँ उत्पन्न होते है।

चार श्रामण्य-फल नियम से अनुपूर्व प्राप्त नही होते। सम्यक्त्व-नियाम मे यदि प्रतिष्ठा है तो लौकिक मार्ग से सकृदागामी एव अनागामी के फलो का साक्षात्कार हो सकता है। चार स्मृत्युपस्थान सब धर्मो का सग्रह कर सकते है।

सब अनुशय, चैत्त, चित्त सप्रयुक्त एव सालबन है। सब अनुशय पर्यवस्थानो मे सगृहीत है, किन्तु सब पर्यव-स्थान अनुशयो मे सगृहीत नही है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के अगो का भाव नियत रूप से सस्कृत है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अंग अर्हत् मे भी सव्यापार रहते है।

पुण्यधर्मो की अर्हतो में भी वृद्धि होती है।

अन्तराभव केवल काम-धातु, और रूप-धातु में होता है।

पाँच विज्ञान सराग और अराग होते है। पाँच विज्ञान केवल स्वलक्षण का ग्रहण करते है, किन्तु निरूपण-विकल्प अथवा अनुस्मरण-विकल्प नही कर सकते।

चित्त और चैत्त धर्म वस्तुसत् है, सालम्बन है, उनका स्वभाव स्वभाव-विप्रयुक्त है। चित्त चित्त-विप्रयुक्त है।

लौकिक सम्यक् दृष्टि की भी सत्ता होती है।

श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रिय लौकिक एव लोकोत्तर दोनो है।

अव्याकृत धर्मो की भी सत्ता है।

अर्हतो के नव शैक्ष-नाशैक्ष धर्म भी है। ये सास्रव धर्म है। अर्हत् अपने पूर्व-कर्मो का विपाक प्राप्त करता है। कुछ पृथक्जन कुशलचित्त के साथ मरते है। समाहित अवस्था मे मृत्यु नही हो सकती।

बुद्ध और उनके शिष्यो की विमुक्ति अभिन्न है, किन्तु तीनो यानो के अपने पृथक् लक्षण है।

बुद्ध की मैत्री, करुणा आदि के आलम्बन सत्त्व नही है।

भव-राग के होते हुए विमुक्ति नही मिल सकती। बोधिसत्त्व पृथग्जन है, किन्तु उनके सयोजन प्रहीण नही हुए है। सम्यक्त्व-नियाम मे जब तक वे प्रवेश नही करते, उनके द्वारा पृथग्जन-भूमि का समतिक्रमण नही माना जा सकता।

सत्त्व केवल भव-सतति पर आश्रित प्रज्ञप्ति-मात्र है।

सब सस्कार क्षणिक-निरुद्ध है।

इस लोक से परलोक को कोई सक्रमण नही करता। पुद्गल के सक्रमण की कथा केवल वाग्-व्यवहार है।

प्राण रहते हुए सस्कार जुडे रहते है। अशेष-निरोध होने पर स्कन्धो का परिणाम निरुद्ध हो जाता है।

लोकोत्तर ध्यान की सत्ता होती है।

वितर्क अनास्रव हो सकता है।

कुशलकर्म भवहेतु होते है।

समाधि मे शब्दोच्चारण नही होता।

अष्टागिक आर्य-मार्ग ही धर्मचक्र है।

बुद्ध एक स्वर (=शब्द) से सब धर्मो की शिक्षा नही दे सकते। समस्त बुद्धवचन यथार्थ नही है। समस्त बुद्धदेशित सूत्र नीतार्थ नही है। बुद्ध ने नेयार्थ सूत्र भी कहे है।

सौत्रान्तिक अभ्युपगम—सौत्रातिक और सक्रातिवादियो को सभी प्राचीन आकर सर्वास्तिवादियो से निकले मानते है। उनकी उत्पत्ति चतुर्थ बुद्धाब्द-शती मे रखी

गयी है। शारि-पुत्र-परिपृच्छा-सूत्र एव दीपवस मे सौत्रातिक और संक्रातिवादियो का भेद किया गया है, किन्तु अन्यत्र उनको अभिन्न माना गया है। परमार्थ के अनुसार वे स्कन्धो का एक जन्म से दूसरे जन्म मे सक्रमण मानते थे जिससे उनका नाम सक्रातिक पड़ा। केवल मार्ग-भावना से ही यह सक्रमण निरुद्ध हो सकता है। दूसरी ओर केवल सूत्रपिटक का प्रामाण्य स्वीकार करने से उनको सौत्रानिक कहा जाता है। यशोमित्र का कहना है—'क सौत्रन्तिकार्थ । ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिका' (स्फुटार्था, पृ० ११)। श्वाच्वाग द्वारा वसुमित्र के अनुवाद के अनुसार वे आनन्द को अपना आचार्य मानते थे। भव्य के अनुसार उनके मूल आचार्य का नाम उत्तर था (वालेज़ेर, पृ० ८७)। तिव्वती परम्परा के अनुसार इसी कारण उनका नाम उत्तरीय वताया गया है। भव्य भी इसका समर्थन करते है। श्वाच्वाग ने कुमारलव्ध (=कुमार-लाभ, कुमरलात) को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक वताया है (द्र०—वाटर्स, जि० १, पृ० २४५; जि० २, पृ० २८६-८९)। कुमारलव्ध तक्षशिलावासी थे, तथा अश्वघोष, आर्यदेव एव नागार्जुन के समकालीन होने के नाते 'चार भास्वर सूर्यो मे से एक थे।' तारानाथ ने भी सौत्रान्तिक आचार्य कुमारलाभ का उल्लेख किया है (पृ० ७८)।

तारानाथ सक्रातिवाद, उत्तरीय, और ताम्रशाटीय को एक ही सम्प्रदाय वताते है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विभाषा मे खडित दार्ष्टान्तिक कदाचित् सौत्रातिक ही थे। श्वान-च्वाग ने इस सम्प्रदाय को सुघ्न मे पाया था। उनका साहित्य उपलव्ध नही होता। वसुमित्र और भव्य सौत्रान्तिको के सिद्धान्तो को सर्वास्तिवादियो के सन्निकट वताते है, किन्तु उनका सक्षिप्त विवरण देते है[२६]। इनके सिद्धान्तो का विशेष परिचय वसुवन्धु के कोश से प्राप्त होता है[२७]।

यह कहा जा चुका है कि इस सप्रदाय मे पच स्कन्धो की सक्राति स्वीकार की जाती है और मार्ग के अतिरिक्त स्कन्ध-निरोध नही माना जाता। पुद्गल को परमार्थसत् नही स्वीकार किया जाता[२८]। स्कन्धो का मूल और अन्त माना जाता है और उनको एक-रस भी कहा गया है। एक सूक्ष्म मनोविज्ञान निरन्तर वना रहता है। इसी से स्कन्ध-सन्तति सम्भव होती है। यही उसका मूल और अन्त है, एवं उसे एकरसता प्रदान करता है।

२६–द्र०—वालेजेर, पृ० ४८, ८७।
२७–वारो में सूचीकृत सग्रह द्रष्टव्य—पृ० १५६–५८।
२८–वसुमित्र ने विपरीत वताया है—द्र०—वालेजेर, पृ० ४८।

उनके अनुसार पृथग्जनो मे भी आर्य-धर्म सम्भव है।

चार स्कन्ध अपने स्वभाव मे नियत है।

स्कन्ध मूल-आपत्ति सप्रयुक्त है।

सब अनित्य है।

असस्कृत वस्तुसत् नही है।—वे केवल अभाव मे है, आकाश स्प्रष्टव्य का, प्रतिसख्या निरोध प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त अनुशय और भव का, अप्रतिसख्या निरोध प्रत्यय-वैकल्य से अनागत धर्मो की उत्पत्ति का।

अतीत और अनागत धर्म वस्तुसत् नही है।

प्राप्ति वस्तुसत् नही है।

कर्मफल वीज के सिद्धान्त के द्वारा अवबोध्य है।

अविज्ञप्ति वस्तुसत् नही है।

जीवितेन्द्रिय भी वस्तुसत् नही है, और न कायकर्म।

चक्षु रूपो को नही देखती।

चित्त और इन्द्रिय-सप्रयुक्त काय परस्पर वीज है।

सहभू-हेतु नही होते।

असस्कृत हेतु नही वनते।

वुद्ध का सर्वज्ञान सव धर्मो का साक्षात्कार है, उसमे अतीत और अनागत का वोध सम्मिलित है। वह अनुमान अथवा सम्भावना से उत्पन्न नही है।

अरूपी सत्त्वो के चित्त और चैत्त सतान का आश्रय स्व-वाह्य नही होता है।

सस्थान केवल प्रज्ञप्ति है, द्रव्यान्तर नही है।

चेतना मानसकर्म नही है।

परमाणु मे दिग्भेद और दिग्विभाग होता है तथा परमाणु प्रसृत है। परमाणु परस्पर स्पर्श करते है और उनमे प्रतिघात प्राप्त होता है। आलम्वन-प्रत्यय सघटित-परमाणु है।

चार लक्षण क्षण और सतत अवस्था अथवा प्रवाह के लिए मानने चाहिए।

प्रवृत्ति-विज्ञान वीज है। सूक्ष्म मनोविज्ञान निरोध-समापत्ति मे शेष रहता है। पाँच विज्ञानो का सहभू-आश्रय नही होता।

असज्ञि-देवताओ मे आत्मग्राह नही होता, किन्तु उसका बीज रहता है।

समाधि एकालम्बन चित्त-सतति है।

सौत्रान्तिको के चिन्तन मे, अपने नाम के विरुद्ध, आगमानुसारिता के स्थान पर प्रवल न्यायानुसारिता दृष्टिगोचर होती है और यह सुविदित है कि इन्ही की सरणि पर पिछले बौद्ध न्याय का विकास हुआ। दूसरी ओर सौत्रान्तिको की स्थापनाएँ माहा-यानिक विज्ञानवाद की अवतारणा मे भी सहायक मानी जा सकती हे। वैभाषिक दर्शन पर साख्य और न्याय-वैशेषिक की छाया सलक्ष्य है। सोत्रान्तिको ने अपनी तार्किक आलोचना से बौद्धदर्शन को पुन अपनी मूल प्रवृत्ति की ओर खीचा।

अध्याय ७

हीनयान के सम्प्रदाय : महासांघिक और वात्सीपुत्रीय

महासाघिक और उनके प्रभेद

महासाघिक—महासाघिको मे वुद्ध की अलौकिकता के सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन हुआ। सम्भवत यही धारा पीछे महायान मे परिणत हो गयी। तथागत को अलौकिक मानने पर उनके लौकिक जीवन की प्रतीति को मायिक प्रतीति मानना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी ही एक प्रवृत्ति ईसाई धर्म के प्रारम्भिक विकास मे भी देखी गयी थी जिसे 'डोसेटिज्म' कहा गया है। वौद्ध 'डोसेटिज्म' अथवा लोकोत्तरवाद के आविर्भाव मे अनेक कारणो ने सहयोग दिया[1]। प्रारम्भ मे तथागत को मानव के रूप मे समझा जाता था, किन्तु श्रद्धातिशय तथा उनके प्रत्यक्ष-दृष्ट अपूर्व गुणो के दर्शन करके उनके व्यक्तित्व का अलौकिक समझा जाना आश्चर्यजनक न था। नाना कथाएँ और अनुश्रुतियाँ उनके जीवन के सम्वन्ध मे प्रचलित हो गयी। लौकिकता को उनके लिए एक दोष समझा जाने लगा। तथागत सव प्रकार से निर्दोष थे, अतएव साधारण जीवन की सीमाएँ उनको वस्तुत छू नही सकी थी। इसीलिए उनके जन्म के सम्वन्ध मे विशेष रूप से कल्पनाएँ की गयी है और उन्हे अलौकिक रूप से ससार मे अवतीर्ण माना गया। जहाँ भगवान् वुद्ध की सर्वथा विशुद्ध-सत्वता के लिए उनके जन्म के सम्वन्ध मे अपूर्वत्व की कल्पना आवश्यक थी, वही मृत्यु के पश्चात् तथागत रहते है अथवा नही रहते, यह भी प्रारम्भ से ही एक रहस्य माना गया था। यदि साधारण मनुष्य की तरह से मृत्यु के पश्चात् उनके वारे मे कुछ कहा नही जा सकता, तो क्या जीवन-काल मे ही उनके विषय मे निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है? इस दिशा मे स्वाभाविक था कि चिन्तन मध्यम-मार्ग के अनुकूल हो।

महावस्तु से ज्ञात होता है कि महासाघिक लोकोत्तरवादी वोधिसत्त्व को उपपादुक अर्थात् स्वत, न कि माता-पिता से, उत्पन्न मानते थे[2]। वोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति

१–तु०—आनेसाकि, ई० आर० ई०, बौद्ध डोसेटिज्म पर।

२–द्र०—महावस्तु, जि० १, पृ० १६७–७०; महासाघिको और उनकी शाखाओ के सिद्धान्तो पर द्र०—मसुदा, पृ० १८ प्र०, वालेजेर, पृ० २४ प्र०, ब्रारो, पृ० ५ प्र०; कथावत्थु—१० १–२, ४, ६–१०; ११ १–२, ५; १२ १–४; १४ १; १५ १–२, ६ १६–१।

'निर्मित' श्वेत-गज के रूप मे होती है और उनकी देह का विकास गर्भ की साधारण अवस्थाओ से नही होता। गर्भ मे भी वोधिसत्त्व पर्यकवद्ध आसन मे वैठे हुए नाना देवताओ को उपदेश देते है। गर्भ मे होते हुए भी वे उसके मल से अस्पृष्ट रहते है, और गर्भ से वाहर वे उसकी दायी ओर से विना भेद किये हुए निकलते है। वोधिसत्त्व सर्वथा निष्काम है, अतएव यदि उनकी सन्तान होती है तो उसे भी उपपादुक मानना चाहिए। इस प्रकार राहुल को भी उपपादुक कहा गया। सम्यक्-सवुद्ध का कोई भी धर्म लौकिक धर्मो के सदृश नही है। उनका स्वभाव लोकोत्तर है[३]। न केवल उनका आध्यात्मिक सावन अथवा पुण्य और गुण अलौकिक है, उनकी शारीरिक क्रियाएँ, चलना-फिरना, वैठना, देखना, कपडे पहिनना, सभी कुछ अलौकिक मानना चाहिए। लोकानुवर्तन के लिए वे ईर्यापथ प्रदर्शित करते है। शरीर वस्तुत निरन्तर विमल होते हुए भी वे लोक-प्रदर्शन के लिए उसका प्रक्षालन करते है। वस्त्रादि की देह-रक्षा के लिए आवश्यकता न रहते हुए भी उनका धारण करते है, रोग न होते हुए भी वे औषध का प्रयोग करते है। यह कहा गया है कि महासाघिको के अनुसार वुद्ध एक साथ ही अनेक लोगो मे प्रकट होते है[४]। वसुमित्र के विवरण मे वुद्ध की लोकोत्तरता तथा अनेक अन्य महासाघिक सिद्धान्त निर्दिष्ट है। वुद्ध सव धर्मो को एक क्षण मे ही जानते हुए सर्वज्ञ होते है[५]। तथागत सास्रव धर्मो से असस्पृष्ट है। जिन १८ धातुओ से उनकी देह का निर्माण होता हे वे सव अशुद्धियो से वियुक्त है एव उनका आस्रवो से न सप्रयोग है न सम्वन्ध। तथागत अपने सव वचन से धर्मचक्र का प्रवर्तन करते है। एक शव्द से वे समस्त धर्म का आख्यान करते है। उनके वचन मे अयथार्थ भी नही होता। तथागत की रूप-काय वस्तुत अनन्त है, उनका प्रभाव भी अनन्त है एव उनकी आयु भी अनन्त है। वुद्ध न सोते है, न स्वप्न देखते है, वे प्रश्नो का विना वितर्क-विचार के उत्तर देते है। वुद्ध कभी एक शव्द भी नही कहते है क्योकि वे शाश्वत समाधि मे स्थित होते है

३—"नहिंकिंचित् सम्यक् सम्वुद्धानां लोकेन समम्। अथ खलु सर्वमेव महर्षीणा लोकोत्तरम्।" (वही १.१५९); द्र०—वसुमित्र (अनु० मसुदा) पृ० १८–१९।

४—अभिधर्मकोश, जि० ३, पृ० १९८–२०१, यह मत स्पष्ट ही सूत्रविरुद्ध है, (वही, पृ० १९८) किन्तु महासाघिको का कहना था कि नाना लोकधातुओ में सत्त्वानुग्रह के लिए अनेक वुद्धो का एक साथ आविर्भाव मानना चाहिए तु०—कथावत्थु, २१.६।

५—कोश, जि० ५, पृ० २५४; वसुमित्र (अनु० मसुदा), पृ० २१।

किन्तु जीवगण सोचते है कि उन्होने शब्द कहे। परिनिर्वाण मे प्रवेश करने तक बुद्ध भगवान् का क्षय-ज्ञान एव अनुत्पाद-ज्ञान अविराम प्रवृत्त रहता है। बुद्ध सब दिशाओ मे स्थित होते है।

सत्त्वो के परिपाचनार्थ बोधिसत्त्व दुर्गति मे पुनर्जन्म-धारण का प्रणिधान करते है और उनका जन्म उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। बुद्ध अनेक रूप से सत्त्वो का बोधन ओर श्रद्धापन करते है।

महासांघिको को स्वीकार्य महादेव की पाँच वस्तुओ से यह स्पष्ट है कि मूल महासांघिक अर्हत्व को मुक्ति की अवस्था नही मानते थे, किन्तु कुछ बाद के महासांघिक और शैल-शाखाएँ भिन्न मत की थी।

महासांघिक अनुशयो को अनालबन और चित्तविप्रयुक्त मानते थे। सत्य का अभिसमय उनके मत से एक बार मे ही होता है न कि क्रमिक रूप से। महासांघिक लोकोत्तर धर्मो का जरा-मरण भी अलौकिक मानते थे।

पञ्च विज्ञानकाय सराग और विराग होते है। षड्विज्ञानकाय रूप और अरूप धातुओ मे भी सकल पाये जाते है, चित्त मे भी रूप होता है। पाँचो रूपेन्द्रिय केवल मासपिण्ड है, प्रत्यक्ष उनसे नही, विज्ञान से होता है।

समाहित पुरुष भी शब्दोच्चारण कर सकता है।

कृतकृत्य होने पर किसी धर्म का आदान नही होता। स्रोतआपन्न के चित्त और चैतसिक धर्म अपने स्वभाव के परिज्ञान मे समर्थ है। दु ख मार्ग की ओर ले जाता है, एव दु ख वचन इसमे सहायक होते है। प्रज्ञा से दु ख का नाश और सुख की प्राप्ति होती है। दु ख एक प्रकार का आहार है। अष्टमक भूमि मे चिर-काल तक रहा जा सकता है। गोत्रभूमि मे धर्म परिहाणि की सम्भावना रहती है। स्रोतआपन्न के लिए विनिवर्तन सम्भव है, अर्हत् के लिए नही। सम्यग् दृष्टि एव श्रद्धेन्द्रिय अलौकिक है। कोई धर्म अव्याकृत नही है अर्थात् सब कुशल अथवा अकुशल मे सगृहीत है। सम्यक्त्वनियाम की प्राप्ति से सब सयोजन क्षीण हो जाते है। पाँच आनन्तर्यो को स्रोतआपन्न नही कर सकता है।

सब सूत्र नीतार्थ है।

असस्कृत धर्म नौ है—प्रतिसख्यानिरोध, अ०, आकाश, आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसज्ञायतन, प्रतीत्यसमुत्पादाङ्गस्वभाव एव आर्यमार्गाङ्ग-स्वभाव। वसुमित्र के तिब्बती अनुवाद के अनुसार अष्टम असस्कृत है प्रतीत्यसमुत्पन्न, नवम प्रकृतिभास्वर चित्त (द्र०—वालेजेर, पृ० २७)।

चित्त स्वभावत भास्वर है एव उपक्लेशो तथा 'आगन्तुक-रज' से मलिन होता है। अनुशय न चित्त है, न चैतसिक और न चित्त का आलम्बन वनते है। वे अव्याकृत और अन्हैतुक है। अनुशय और पर्यवस्थान भिन्न है—अनुशय चित्तविप्रयुक्त होते है, जब कि पर्यवस्थान चित्त-सम्प्रयुक्त।

न अतीत धर्मो की सत्ता होती है, न अनागत।

स्रोत-आपन्न ध्यान-प्राप्त होते है।

अन्तराभाव नही होता।

महासाघिको के उपर्युक्त अभ्युपगम वसुमित्र से ज्ञात होते है, कथावत्थु से उनके कुछ अन्य सिद्धान्तो का पता चलता है—

मार्ग समङ्गी का रूप भी मार्ग है। यहाँ सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त एव सम्यगाजीव की ओर सकेत है जो कि मार्ग के अन्तर्गत है और 'रूप' अथवा भौतिक भी है। पञ्चविज्ञानसमङ्गी होते हुए मार्ग-भावना की जाती है। मार्गसमङ्गी दो शीलो से समन्वागत होता है—लौकिक और लोकोत्तर। शील अचैतसिक और अ-चित्तानुपरिवर्ती है। समादानहेतुक शील की वढती होती है। विज्ञप्ति शील है, अविज्ञप्ति दौश्शील्य अज्ञान के विगत होने पर एव चित्त के ज्ञानविप्रयुक्त रहने पर उसे ज्ञानी नही कहना चाहिए।

ऋद्धि-वल मे समन्वागत होने पर एक कल्प तक रहा जा सकता है।

इन्द्रियो का सवर और असवर कर्म है। सव कर्म सविपाक है। शव्द विपाक है। षडायतन विपाक है। अकुशल-मूल और कुशल मूल का अन्योन्य-प्रतिसन्धान होता है।

प्रत्ययता व्यवस्थित है। सस्कार अविद्या-प्रत्यय है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि अविद्या सस्कार-प्रत्यय हे।

एक दूसरे का चित्त-निग्रह कर सकता है।

अर्हत्त्व की प्राप्ति होने पर भी अविद्या और विचिकित्सा रूप कुछ सयोजन शेष रह जाते है।

पाँच विज्ञान साभोग है। यह उल्लेख्य है कि श्वानच्वाग की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (पूसें, पृ० १७८-७९) के अनुसार महासाधिक यह मानते थे कि—

चक्षुर्विज्ञान आदि का आश्रयभूत एक मूल-विज्ञान है जैसे कि वृक्ष-मूल पत्रादि का आश्रय होता है। यह सौत्रान्तिको के मन से एव परवर्ती आलयविज्ञान' से तुलनीय है।

वसुमित्र के अनुसार कुछ बातो पर उत्तरकाल मे महासाघिक, एकव्यावहारिक, लोकोत्तरवादी एव कौक्कुटिको ने भिन्न मत प्रकट किये—आर्यसत्यो मे आकार-भेद के अनुसार अभिसमय मे भेद होता है।

कुछ धर्म स्वयकृत है, कुछ परकृत, कुछ उभयकृत, एव कुछ प्रतीत्यसमुत्पन्न।

दो चित्त एक साथ उत्पन्न हो सकते है।

मार्ग और क्लेश एक साथ रह सकते है।

कर्म और विपाक साथ-साथ होते है।

बीज का ही अकुर मे परिणाम नही होता है अर्थात् रूप-धर्म के लिए क्षण-भगवाद अस्वीकार्य है।

रूपेन्द्रिय-गत महाभूतो का परिणाम होता है, चित्त एव चैत्त धर्मो का नही।

चित्त समस्त काय को व्याप्त करता है एव अपने आश्रय और विषय के अनुरूप सकुचित तथा प्रसारित होता है।

यह स्मरणीय है कि महासाघिको के त्रिपिटक का क्षुद्रकागम कालान्तर मे सयुक्त-पिटक नाम से चतुर्थ पिटक हो गया। श्वाच्वाग के अनुसार उनका एक पाँचवाँ धारणीपिटक भी था।[६]

महासाघिक

लोकोत्तरवाद—वसुमित्र के अनुसार बुद्धाब्द के दूसरे शतक मे एकव्यावहारिको एव गोकुलिको के साथ लोकोत्तरवादियो का भी महासाघिको के मध्य से आविर्भाव हुआ।[७] थेरवादी और सम्मतीय परम्पराओ मे केवल एकव्यावहारिको एव गोकुलिको का उल्लेख है। विनीतदेव मे केवल लोकोत्तरवादियो का उल्लेख है। भव्य की महा-साघिको सूची मे केवल महासाघिको और गोकुलिको का उल्लेख है। तारानाथ के अनुसार लोकोत्तरवादी गोकुलिको से पृथक् नही थे, और एकव्यवहारिक महासाघिको से[८]। वारो के सुझाव के अनुसार लोकोत्तरवादी एकव्यवहारिको से पृथक् नही थे[९]। लोकोत्तरवादियो का अभेद-चैत्यको से भी स्थापित किया गया है (दत्त, जि० २, पृ० ५१)।

६—वाटर्स, जि० २, पृ० १६०—६१।
७—मसुदा, पृ० १५।
८—तारानाथ, पृ० २७३।
९—वारो, पृ० ७५—७६।

वसुमित्र की व्याख्या मे परमार्थ ने महासाघिको के अभ्यन्तर भेद की उत्पत्ति 'महायानसूत्रो' के प्रामाण्य पर विवाद के कारण बतायी है[१०]। श्वान्-च्वाग ने लोकोत्तर-वादियो के विहार बामियान मे पाये थे।[११] तारानाथ ने उनकी पाल-युग मे सत्ता की सूचना दी है।[१२] महावस्तु नाम से उनके विनयपिटक का पहला भाग प्राकृतमिश्र सस्कृत मे उपलब्ध है।

लोकोत्तरवादियो के नाम से ही सूचित होता है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता का सिद्धान्त उन्हे विशेष रूप से मान्य था। महावस्तु से इसका समर्थन होता है। निदानकथा के समान महावस्तु मे बुद्ध-चरित का तीन विभागो मे विवरण दिया गया है। पहले मे दीपकर बुद्ध के समय की बोधिसत्त्वचर्या का वर्णन है, दूसरे मे तुषित स्वर्ग और बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति से लेकर सम्बोधि तक वर्णन है, तीसरे मे धर्म-चक्र-प्रवर्तन एव सघ के अभ्युदय का महावग्ग से तुलनीय वर्णन है। नाना जातको अवदानो, सूत्रो और गाथाओ के समावेश ने इस ग्रन्थ को विपुलाकार बना दिया है। बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता एव उनके आध्यात्मिक विकास की भूमियो का इसमे वर्णन किया गया है। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर चतुर्थ शताब्दी के बीच मे इस ग्रन्थ की रचना पूरी हुई होगी।

परमार्थ के अनुसार लोकोत्तरवादी लौकिक धर्मो को वास्तविक नही मानते थे क्योंकि वे कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म स्वय विपर्यय से उत्पन्न होता है। लोकोत्तर-धर्म पारमार्थिक है। मार्ग और मार्ग-फल पारमार्थिक है। मार्ग-फल मे दो शून्यताएँ सगृहीत है। दो शून्यताओ के अभिसमय तक पहुँचाने वाली प्रज्ञा ही मार्ग है। शून्यता ही परमार्थ है और उसका बोध भी।[१३]

वसुमित्र, भव्य और विनीतदेव मे लोकोत्तरवादियो के अन्य सिद्धान्त महासाघिको के सदृश ही है।

एकव्यावहारिक—परमार्थ के अनुसार एकव्यावहारिक सम्प्रदाय मे सब धर्म-ससार और निर्वाण, लोकधर्म और लोकोत्तरधर्म—प्रज्ञप्ति मात्र एव अवस्तु मात्र माने जाते थे। इस समानवाचक पद का सब धर्मो मे अभेद व्यवहार मानने के कारण

१०—वहीं।

११—वाटर्स, जि० १, पृ० ११६।

१२—तारानाथ, पृ० २७४।

१३—बारो, पृ० ७६।

वे एकव्यावहारिक कहे जाते थे। भव्य के अनुसार, तथागत एक चित्त से एक क्षण मे सब धर्म जानते है—इस मत को स्वीकार करने के कारण इस समुदाय को 'एकव्यावहारिक' कहते थे।[१४]

कौक्कुटिक—इस सम्प्रदाय का नाम कौक्कुटिक, कोक्कुलिक अथवा गोकुलिक था। कुक्कुल के अर्थ 'राख' होते हैं एव 'कुक्कुल-कथा' के कारण उन्हे 'कौक्कुलिक' कहा गया है। यह सम्भव है कि कुक्कुटाराम से सम्बन्ध होने के कारण वे कौक्कुटिक कहे गये हो। **कौक्कुटिक** यह मानते थे कि पिटको में केवल अभिधर्म ही तथागत की वास्तविक देशना है। सूत्र और विनय केवल उपाय मात्र है। अतएव इस निकाय के अनुयायी अपने को विनय के अनुशासन से मुक्त समझते थे। सूत्रपरिशीलन को भी वे अनावश्यक मानते थे और कहते थे कि इस प्रकार का अध्ययन मुक्ति के मार्ग मे वाधक होता है। धर्म-देशना की ओर भी वे उदासीन थे और केवल ध्यान को महत्त्व देते थे।[१५]

बुद्धघोष के अनुसार (कथा, २ ६ पर) वे समस्त सस्कारो को कुक्कुल-मात्र मानते थे और इस मत के समर्थन में आदीप्तपर्याय का उद्धरण करते थे।

बहुश्रुतीय—अभिलेखो से गन्धार और अन्ध्र मे वहुश्रुतीयो की स्थिति ज्ञात होती है।[१६]। परमार्थ के अनुसार अर्हत् याज्ञवल्क्य उनके प्रवर्तक थे और उन्होंने सूत्रो मे नीतार्थ और नेयार्थ का भेद माना। हरिवर्मन् का **सत्य-सिद्धि-शास्त्र** भी इसी सम्प्रदाय से सम्वन्ध रखता था। इस शास्त्र मे पाँच पिटको का उल्लेख मिलता है—सूत्र०, विनय०, अभिधर्म०, संयुक्त० एव अभिधर्म०। वसुमित्र के अनुसार **बहुश्रुतीय** सप्रदाय मे बुद्ध के 'पाँच स्वर' देशना की पाँच वस्तुएँ शान्त या लोकोत्तर माने जाते थे—अनित्यता, दु ख, शून्यता, अनात्म्य और निर्वाण। ये वस्तुएँ नैर्याणिक है और विमुक्ति-मार्ग मे पहुँचाती हैं। देशना की शेप वातें लौकिक हैं। महादेव की अर्हत्-विषयक पाँच वस्तुएँ इस सप्रदाय में स्वीकृत थी।[१७] भव्य के अनुसार[१७क] नैर्याणिक मार्ग इनके मत मे निर्विचार है। दु खसत्य, सवृतिसत्य, एव आर्यसत्य सत्य है। समापत्ति का लाभ सस्कार-दु खता के वोघ से होता है, दु ख-दु खता और परिणाम-दु खता के वोध से नही। सघ लोकोत्तर है।

१४—वालेज़ेर, पृ० ७९।

१५—तु०—वारो, पृ० ७९-८०।

१६—द्र०—लामॉत, इस्त्वार दु बुद्धीज्म आंघा, पृ० ५८०।

१७—वालेज़ेर, पृ० ३०; बारो, पृ० ८२।

१७क—भव्य के विवरण के लिए द्र०—वालेज़ेर, पृ० ८३।

प्रज्ञप्तिवाद—परमार्थ के अनुसार प्रज्ञप्तिवाद का जन्म बहुश्रुतीयो के अभ्यन्तर सुधार से हुआ।[१८]। इसी कारण उन्हे बहुश्रुतीय-विभज्यवादी भी कहा जाता था। महाकात्यायन इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे गये हैं। भव्य के अनुसार प्रज्ञप्तिवादियो के विवरण मे १८ क दु ख स्कन्ध नही है। बारह आयतन परिनिष्पन्न अर्थ नही हैं (कथावत्थु २३ ५ तुलनीय है)। सस्कार अन्योन्य-परतन्त्र है (और वसुमित्र के अनुसार प्रज्ञप्ति मात्र एव दु ख है) १८ ख दु ख परमार्थत. सत्य है (तु०—कथा, २३ ५)। चैतसिक प्रज्ञप्तिमार्ग नही है। अकाल मरण नही होता। पुरुष कर्ता नही है। सब दु ख का कारण पूर्व-कर्म है)।

वसुमित्र के अनुसार, पुण्य से आर्यमार्ग की प्राप्ति होती है, मार्ग भावयितव्य नहीं है, और न भगयोग्य है।[१८ख]

महासांघिक : 'चैत्यक', 'शैल', एवं 'आन्ध्रक' शाखाएँ—

चैत्यशैल, अपरशैल और उत्तरशैल सम्प्रदायो का जन्म महासांघिको के अभ्यन्तर से द्वितीय महादेव के कारण बताया गया है।[१९]।

वसुमित्र के चीनी अनुवाद के अनुसार चैत्य-निकायो मे बोधिसत्व के लिए स्वेच्छया दुर्गतिप्राप्ति सम्भव है, स्तूप की पूजा से महाफल नही होता, तथा पहले महादेव की पाँच वस्तुएँ स्वीकार की जाती हैं।[२०]

बुद्धघोष के विवरण में पूर्वशैल, अपरशैल, राजगिरिक और सिद्धार्थिक निकायो को अधक अथवा अन्ध्रक कहा गया है (तु०—बारो, पृ० ८८)। कथावत्थु मे उनके अनेक मतो का निर्देश है—सब धर्म स्मृति-प्रस्थान के विषय हैं (कथा०, १ ९)।

अतीत अनागत, प्रत्युत्पन्न, रूप, अन्य स्कन्ध, सब धर्म सचमुच में हैं और नहीं हैं। वे स्वरूपत हैं, पर-रूपत नहीं है (कथा १ १०)।

१८—बारो, पृ० ८४।

१८क—वालेज़र, ृ० ८३।

१८ख—वहीं, पृ० ३०।

१९—बारो, पृ० ८७; वालेज़र, पृ० ३१, पा० टि० ४३; वहीं, पृ० ८; अमरावती, नागार्जुनिकोण्ड आदि के अभिलेखों में 'चैतिकीय', 'चैत्यक', 'चैत्य', 'शैलीय', 'अपर महावनशैलीय', 'महावनशैलीय', 'पूर्वशैली' और 'अपरशैल', निकायो के नाम मिलते हैं;—लामॉत, इस्त्वार दु बुद्धीज्म आंद्या, पृ० ५८०—५८१।

२०—वालेज़र, पृ० ३१।

चित्त एक दिन या अधिक रहता है (कथा, २ ७)।

अभिसमय अनुपूर्व होता है (कथा, २ ९)।

बुद्ध भगवान् का व्यवहार लोकोत्तर है (कथा, २ १०)।

दो निरोध हैं जोकि असस्कृत हैं (कथा, २ ११)।

तथागत का बल श्रावक-साधारण है (कथा, ३ १)।

तथागत का बल, जो कि स्थानास्थान का यथाभून ज्ञान है, आर्य है अर्थात् तथागत के दश बल यथाभूत प्रज्ञात्मक और आर्य हैं (कथा, ३ २)।

सराग चित्त ही विमुक्त होता है (कथा, ३ ३)।

अप्टमक पुद्गल के दृष्टिपर्यवस्थान और विचिकित्सा-पर्यवस्थान प्रहीण है। अष्टमक पुद्गल के न श्रद्धेन्द्रिय है, न वीर्येन्द्रिय न स्मृतीन्द्रिय, न समाधीन्द्रिय, न प्रज्ञेन्द्रिय, किन्तु उसके पास श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति है, समाधि है, और प्रज्ञा है (कथा, ३.५-६)।

दिव्य-चक्षु धर्म से उपप्टब्ध मासचक्षु है (कथा, ३ ७)।

असज्ञि-सत्त्वो मे भी सज्ञा होती है। यह नही कहा जा सकता कि नैवसज्ञानासज्ञायतन में सज्ञा होती है (कथा, ३ ११-१२)।

बोधिसत्त्व शाक्यमुनि का ब्रह्मचर्य, एव नियाम मे अवक्रान्ति, काश्यपबुद्ध के प्रवचन के अनुभाव से सम्पन्न हुई (कथा, ४ ८)।

अर्हत्त्व-प्रतिपन्न पुद्गल पिछले तीन फलो से समन्वागत होता है। अर्हत्त्व सब सयोजनो का प्रहाण है (कथा, ४ ९-१०)।

जिसे विमुक्ति-ज्ञान है वह विमुक्त है (कथा, ५ १)।

पृथ्वी-कृत्स्न (कसिण) पर आधारित समापत्ति विपरीत ज्ञान पैदा करती है (कथा, ५ ३)।

सब ज्ञान प्रतिसभिदा है (कथा, ५ ५)।

यह नही कहा जा सकता कि सवृत्ति-ज्ञान का आलबन सत्य है, अथवा असत्य (कथा, ५ ७)।

पर-चित्त के साक्षात् ज्ञान का आलम्बन चित्त है न कि उसका विषय। अनागत का ज्ञान होता है, प्रत्युत्पन्न का भी ज्ञान होता है (कथा, ५ ७-९)।

श्रावको मे फल-ज्ञान होता है (कथा, ५ १०)।

नियाम असस्कृत है, निरोध समापत्ति भी असस्कृत है (कथा, ६ १ ५)।

आकाश सनिदर्शन है, पृथ्वी-धातु, जल धातु, तेजो-धातु और वायु-धातु सब सनिदर्शन अथवा दृश्य है (कथा, ६ ७-८)।

पृथ्वी कर्मविपाक है, जरामरण भी विपाक है। आर्य धर्म का विपाक नहीं है। विपाक विपाक-धर्म-धर्म है (कथा, ७ ७-१०)।

गतियाँ छ है (कथा, ८ १)।

रूप धातु रूपी-धर्मो से निर्मित है। रूप-धातु में आत्मभाव षडायतनिक है। अरूप मे भी रूप है। क्योंकि अरूप-भव में विज्ञान-प्रत्यय नामरूप होते हैं और अतएव औदारिक रूप मे अनिश्रित एक सूक्ष्म रूप की सत्ता माननी होगी (कथा, ८.५, ७-८)।

आनिशस-दर्शी सयोजन छोड देता है (कथा, ९ १)।

अनुशय अनालवन है, (अर्हत् का) ज्ञान अनालंबन है (कथा, ९ ४-५)।

अतीत और अनागत से वैसे ही समन्वागति होती है जैसे प्रत्युत्पन्न से (कथा, ९ १२)

उपपत्तिगवेषी पञ्चस्कन्धी के अनिरुद्ध रहते हुए ही पाँच क्रियास्कन्ध उत्पन्न होते हैं (कथा, ९ १३)।

'इद' दु खम्' यह कहते हुए 'इद दु खम्' यह ज्ञान उत्पन्न होता है (कथा, ११ ४)।

धर्मस्थितता परिनिष्पन्न है। अनित्यता, जरा एव मरण परिनिष्पन्न है (कथा, ११ ७-८)।

समापन्न (पुरुष) आस्वादन का अनुभव करता है, ध्यान—काम होता है और ध्यानालबन होता है (कथा, १३ ७)।

अनुशय अन्य है, पर्यवस्थान अन्य पर्यवस्थान चित्तविप्रयुक्त है (कथा, १४ ५-६)।

रूप-राग रूपधातु में अनुशयित है और रूप—धातु-पर्यापन्न है। ऐसे ही अरूप-राग, अरूप-धातु से सम्बद्ध है। (कथा, १४ ७)।

दृष्टिगत अव्याकृत है (कथा, १४ ८)।

कर्म पृथक् है, कर्म का उपचय पृथक् (कथा, १५ ११)।

रूप कर्मविपाक है। रूपावचर में रूप होता है और ऐसे ही अरूपावचर में भी। अर्हतो का पुण्योपचय होता है (कथा, १६ ८-९, १७ १)।

तथागत के उच्चार और प्रस्त्राव अन्य गन्धो का अतिशायन करते है (कथा, १८ ४)।

एक ही मार्ग में चारो श्रामण्य-फलो का साक्षात्कार होता है। कुछ के मत से एक ध्यान से दूसरे ध्यान में साक्षात् (विना उपचार-प्रवृत्ति के) सक्रमण होता है। अन्य के मत से ध्यानातरिक अवस्थाएँ होती हैं (कथा, १८.५-७)।

शून्यता सस्कार-स्कन्ध-पर्यापन्न है (कथा, १९ २)।

निर्वाण धातु कुशल है (कथा, १९ ६)।

निरय मे निरयपाल नही है, देवलोक मे पशु होते है जैसे ऐरावत (कथा, २० ३-४)।

बुद्ध मे अथवा श्रावको मे 'अधिप्पाय इद्धि' होती है। बुद्धो मे हीनातिरेकता होती है (कथा, २१ ४-५)।

सब धर्म नियत है, सब कर्म नियत है। अर्हत् के परिनिर्वाण मे भी कुछ सयोजन अप्रहीण होते है क्योकि वे बुद्ध के समान सर्वज्ञ नही होते (कथा, २१ ७-८, २२ १)।

एकाधिप्राय से मैथुन धर्म प्रतिसेवितव्य है। अर्थात् कारुण्यपूर्वक अथवा स्त्रीके साथ बुद्ध-पूजा के अनन्तर ससार मे साहचर्य की प्रणिधिपूर्वक मैथुन किया जा सकता है (कथा, २३ १)।

ऐश्वर्य कामना के कारण बोधिसत्त्व का विनिपात होता है (कथा, २३ ३)।

अराग मे राग-सादृश्य होता है, जैसे मैत्री, करुणा, एव मुदिता मे (कथा, २३ ४)।

पूर्वशैलीय—पूर्वशैल सम्प्रदाय को बुद्धघोष ने (अन्धको की) परवर्ती शाखा माना है[२१]। कदाचित् वसुमित्र एव परमार्थ के विवरण मे उत्तरशैल के नाम से यही सम्प्रदाय विवक्षित है[२२]। लगभग अशोक के समय मे इसका उद्भव हुआ। अन्ध्र-देश में इसका विकास हुआ, किन्तु श्वाच्वाग के समय तक यह सम्प्रदाय उत्सन्नप्राय था[२३]।

वसुमित्र से ज्ञात होता कि, पूर्वशैलीयो के अनुसार बोधिसत्त्व को दुर्गति से विमुक्त नही माना जा सकता है।

स्तूप-पूजा अथवा चैत्य-पूजा को महाफल नही स्वीकार किया जा सकता है।

अर्हतो मे शुक्र-विसृष्टि, अज्ञान, विचिकित्सा, परवितारणा, एव 'वाक्भेद' के द्वारा समापत्ति, स्वीकार करनी चाहिए।

कथावत्थु से पूर्वशैलो के अन्य सिद्धान्त प्रकट होते है—

दु खाहार मार्ग का अग है और मार्गपर्यापन्न है (कथा, २ ६)।

प्रतीत्यसमुत्पाद असस्कृत है। चार सत्य भी असस्कृत है (कथा, ६ २-३)।

२१—लॉ० (अनु०), डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० ५।

२२—बारो, पृ० ९९; इसके विरुद्ध पूर्वशैलो को परवर्ती शैल सम्प्रदायो से भिन्न किन्तु 'चैत्यको' से अभिन्न कहा गया है। दत्त, मौनेस्टिक बौद्धिज्म, जि० २, पृ० १०५।

२३—वाटर्स, जि० २, पृ० २१७।

अन्तराभव की सत्ता स्वीकार्य है (कथा, ८ २)।

पाँच कामगुण कामधातु-सम्बन्धी है। पाँचो आयतनो को काम बताया गया है (कथा, ८ ३-४)।

जीवितेन्द्रिय को रूप नही माना गया है (कथा, ८-१०)।

अर्हत् अपने कर्म के कारण अर्हत्त्व से गिर सकता है (कथा, ८ ११)।

अमृतालवन भी सयोजन हो सकता हे (कथा, ९ २)।

वितर्क और विचार करते हुए वितर्क का विस्फार शब्द है (कथा, ९-९)।

वाणी यथाचित्त नही होती है। कायकर्म यथाचित्त नही होता है (कथा, ९ १०-११

ज्ञान चित्तविप्रयुक्त है (कथा, ११ ३)।

दृष्टिसम्पन्न पुद्गल भी जान-बूझकर घात कर सकता है (कथा, १२ ७)।

जो नियत है वह नियाम मे अवतरण करता है (१३ ४)।

धर्मतृष्णा अव्याकृत है। धर्मतृष्णा दु ख-समुदय नही है (१३ ९-१०)।

षडायतन मातृ-गर्भ से एक साथ ही उत्पन्न होते हैं (१४ २)।

दृष्टिगत लोक मे पर्यापन्न नही है (कथा, १४ ९)।

सम्यक् अधिगत करने पर मनसिकार होता हे (कथा, १६ ४)।

समापन्न शब्द सुनता है (१८ ८)।

श्रामण्य-फल असस्कृत है। प्राप्ति भी असस्कृत है (कथा, १९ ३-४)।

लोकोत्तर ज्ञान द्वादशवस्तुक है (कथा, २० ६)।

सब धर्म एक चित्त-क्षणिक है (कथा, २० ८)।

अपरशैल—अपरशैल सम्प्रदाय भी अन्धको (अन्ध्रको) की एक शाखा थी। नागार्जुनिकोण्ड के अभिलेखो मे उनके दीघनिकाय, मज्झिम, सयुक्त, एव 'पचमातुक, का उल्लेख प्राप्त होता हे।[२४] वसुमित्र के अनुसार अपरशैलीय सम्प्रदाय मे बोधिसत्त्व को दुर्गति से अमुक्त कहा गया हे, स्तूप और चैत्यो की पूजा महाफल नही मानी गयी है और अर्हतो मे शुक्र-विसर्ग, अज्ञान, विचिकित्सा, परवितारणा, या 'वचीभेद' स्वीकार किया गया हे[२५]। कथावत्थु मे अन्य मत सूचित किये गये है—नियत का नियाम मे अवतरण स्वीकार किया गया हे और यह भी माना गया है कि षडायतन का एक साथ

२४—एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०, १९२९—३०, पृ० १७, २०।

२५—बारो, पृ० १०५, तु०—वालेजेर, पृ० ३१।

गर्भ मे जन्म होता है। लोकोत्तर ज्ञान की द्वादशवस्तुकता एव सब धर्मो की एक-चित्त-क्षणिकता भी अपरशैलो को स्वीकार्य है।

राजगिरिक—अन्धको की एक और शाखा राजगिरीय सप्रदाय मे[२६] सब धर्मो को परस्पर असगृहीत अथवा विजातीय स्वीकार किया गया है। कोई भी धर्म दूसरे से सप्रयुक्त नही है।

चैतसिक धर्मो की सत्ता का प्रत्याख्यान किया गया है क्योकि वे चित्त से भिन्न, किन्तु चित्त-सम्प्रयुक्त होगे।

दान को चैतसिक धर्म बताया गया है। परिभोगमय दान से पुण्य बढता है।

ये तीनो सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते है—चैतसिक धर्म है ही नही तो दान कैसे चैतसिक धर्म होगा ? और यदि दान चैतसिक धर्म है तो परिभोगमय दान का वैशिष्य निर्मूल है।

दान के द्वारा इह और परत्र काम चलता है।

जिसे एक कल्प तक ठहरना है वह एककल्प तक ठहर सकता है।

जो सज्ञावेदित-निरोध को समापन्न है वह मर सकता है। अकाल मृत्यु अर्हतों मे नही होती।

सब कुछ कर्म के द्वारा प्रवर्तित है।

राजगिरीयो से सिद्धार्थिको[२७] का घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनो के विश्वास अभिन्न बताये गये है।

वैतुल्यक—वैतुल्यको के अनुसार[२८] यह नही कहा जा सकता कि सघ दक्षिणा का प्रतिग्रह करता है। वास्तविक सघ मार्ग और फलो से ही निष्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त और कोई सघ परमार्थभूत नही है। यह भी नही कहा जा सकता कि सघ दक्षिणा का विशोधन करता है और न यह कि सघ खाता है, पीता है या चबाता या आस्वादन करता है।

२६–तु०—लूदर्स, १२२५, १२५०, उनके सिद्धान्तो के लिए द्र०—कथा, ७ १–६; १३.१, १७ २–३।

२७–तु०—लूदर्स, १२८१; बारो, पृ० १०९।

२८–द्र०—कथा, १७ ६–१०; १८ १–२; २३.१; वैतुल्यको का सम्बन्ध कदाचित् "वैपुल्य" एव 'वज्र' से था और अतएव महायान एव वज्रयान से—तु०—बारो,

सघ के विपय मे वैतुल्यको के ये तीन सिद्धान्त सव का एक नया आध्यात्मिक रूप प्रतिपादित करते है। वे यह भी मानते थे कि सघ को दान देने का कोई महान् फल नही होता है और यह भी कि वुद्ध को दान देने का ही वडा फल होता है।

उनके अनुसार यह नही कहना चाहिए कि बुद्ध भगवान् मनुष्यलोक मे सचमुच रहते थे। वस्तुत केवल उनका एक निर्मित रूप ही लोक मे आकर देशना करके तुषित लोक लौट गया था। यह भी नही कहना चाहिए कि बुद्ध भगवान् ने धर्म को देशना की थी। वे स्वय तुषित लोक मे ही स्थित थे और वहाँ से उन्होने धर्मदेशना के लिए एक अभिनिर्माण प्रेपित किया था। इस द्वार से धर्मदेशना प्राप्त कर आनन्द ने धर्म की देशना की थी।

एकाधिप्राय से मैथुन धर्म प्रतिसेवितव्य है। वुद्धघोप के अनुसार एकाधिप्राय से तात्पर्य कारुण्य से था। जैसे कि स्त्री के साथ वुद्ध-पूजा करने के वाद यह प्रणिधान किया जाय कि 'हम ससार मे एक साथ रहे।

वात्सीपुत्रीय और उनके प्रभेद

वात्सीपुत्रीय—वात्सीपुत्रीयो का उद्भव निर्वाण से २०० वर्ष पश्चात् हुआ। उनके अभिवर्म के नौ भाग थे और उसका नाम शारिपुत्राभिधर्म या धर्मलक्षणाभिधर्म था। वसुमित्र, भव्य एव कथावत्थु से ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदाय के अनुसार[२९] पुद्गल की साक्षात्कृत-परमार्थ रूप से उपलव्धि होती है। न तो पुद्गल एकस्कन्धात्मक है, न स्कन्धो से भिन्न, न वह स्कन्धो मे अवस्थित है, न उनसे अलग। जो कुछ उपादानीय अथवा स्कन्ध, धातु और आयतन पर निर्भर है, वह प्रज्ञप्ति है। पुद्गल के अतिरिक्त और कोई अन्य धर्म इस लोक से परलोक को सक्रमण नही करता।

सव सस्कृत वस्तुएँ एकक्षणिक हैं।

पाँच विज्ञान न सराग है, न विराग।

पाँच अभिज्ञा प्राप्त हुए तीर्थिक लोग भी है।

काम-धातु के सयोजनो का प्रहाण जो कि भावना से प्राप्य है उसी को विराग कहा जाता है। यह दर्शन-प्रहातव्य सयोजनो के प्रहाण से भिन्न है।

२९—द्र०—कथा, १.१–०; कोश, ९; स्फुटार्था, पृ० ६९७ प्र०; वालेज़र, पृ० ६८ प्र०, मसुदा, पृ० १६.५६ आदि; वारो, पृ० ११४ प्र०; दत्त—मोनेस्टिक वुधिज्म, जि० २, पृ० १७६ प्र०।

क्षान्ति, नाम, आकार और लौकिकाग्रधर्म सम्यक्त-नियाम नक पहुँचाने वाली चार अवस्थाएँ हैं। दर्शन-मार्ग मे ऐसे बारह चित्तक्षण है जहाँ प्रतिपन्न की अवस्था होती है। तेरहवे क्षण मे स्थिति फल का अभिधान होता है।

यह नही कहा जा सकता कि निर्वाण धर्मो से भिन्न अथवा अभिन्न है। यह भी नही कहा जा सकता कि निर्वाण वस्तुत: सत्तावान् है अथवा सत्ताहीन।

अर्हत्त्व से अर्हत् गिर सकता है (कथा, १ २)।

वात्सीपुत्रीयो से सम्मतीयो का एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में उद्‌भव कदाचित् ईसापूर्व अथवा ईसवीय पहली शताब्दी में हुआ हो। क्रमश वे ही वात्सीपुत्रीयो में प्रधान हो गये। इनसे आवन्तक एव कुरुकुल्लक सम्प्रदायो का उद्‌भव हुआ था। सम्राट् हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री सम्मतीय निकाय में श्रद्धालु थी[30]। एव श्वाच्वाग के विवरण से उनका महत्त्व सूचित होता है। उनके साहित्यमें से इस समय केवल सम्मतीय निकायशास्त्र एव एक विनय पर ग्रन्थ, चीनी अनुवादो में अवशेष है। वसुमित्र के अनुसार वात्सीपुत्रीयो का अवान्तर-भेद एक गाथा की व्याख्या से हुआ जिसका आशय था—'विमुक्त होने पर पुन परिहाणि होती है, लोभ से गिरता है, पुनरागमन होता है, सुखपद प्राप्त कर भोग करता है, अभीष्ट उत्तम पद प्राप्त करता है। सम्मतीय इसमें चार फलो से अभिसम्बद्ध छ पुद्‌गलो का सकेत मानते थे—स्रोतआपन्न,कुलकुल, सकृदागामी, एकवीचिक, अनागामी और अर्हत्। धर्मोत्तरीय इसमे तीन प्रकार के अर्हतो का सकेत पाते थे। भद्रयाणीय श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध का। भव्य के अनुसार उनका मूल सिद्धान्त था कि भवनीय और भव, निरोद्धव्य और निरुद्ध, जनितव्य और जात, मरणीय और मृत, कृत्य और कृत, भोक्तव्य और भुक्त, गन्तव्य और गामी, विज्ञेय और विज्ञान—इनकी सत्ता है[31]। **कथावत्थु** उनके अन्य सिद्धान्त बताती है—पुद्‌गल की उपलब्धि साक्षात् परमार्थत होती है और पुद्‌गल स्कन्धो से न भिन्न है न अभिन्न (कथा०, १ १)।

अर्हत्त्व से अर्हत् के लिए गिरना सम्भव है (१ २)।

देवलोक मे ब्रह्मचर्यवास असभव है (१ ३)।

क्लेशो का क्रम से प्रहाण होता है (१ ४)।

पृथग्जन काम, राग और व्यापाद छोड़ सकते हैं (१ ५)।

अभिसमय अनुपूर्व अथवा क्रमिक होता है (२ ७)।

३०–वाटर्स, जि० १, पृ० ३४६।

३१–वालेजेर, पृ० ८८।

अष्टमक पुद्गल दृष्टि-पर्यवस्थान मे प्रहीण होता है (३ ५)।

दिव्य-चक्षु धर्मोपस्तब्ध मासचक्षु है (३ ७)।

परिभोगमय पुण्य बढता है (७ ५)।

अन्तराभव होता है (८ २)।

रूप-धातु मे षडायतनिक आत्मभाव होता है (८ ७)।

कुशल-चित्त से समुत्थित कायकर्म कुशल रूप है। रूप कर्म है (८ ९)।

जीवितेन्द्रिय रूपमय नही है (८ १०)।

कर्म के कारण अर्हत् अर्हत्व से गिरता है (८ ११)।

मार्ग-समगी का रूप मार्ग है। विज्ञप्ति शील है (१० १९)।

अनुशय अव्याकृत है, अहेतुक है और चित्तविप्रयुक्त है। रूप-धातु मे अनुशयित रूपराग रूप-धातु-पर्यापन्न है। ऐसे ही अरूप-राग अरूप-धातु पर्यापन्न है (११ १, १४ ७)।

कर्म कर्मोपचय से अन्य है (१५ ११)।

रूप कुशल अथवा अकुशल है। रूप विपाक है (१६ ७-८)।

ध्यान मे आन्तरालिक अवस्थाएँ होती है (१८ ७)।

धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, षण्णगरिक—सभी परम्पराओ मे धर्मोत्तरीयो को वात्सीपुत्रीयो से निकली पहली शाखा माना गया है। भव्य के अनुसार वे कहते थे कि 'जाति मे अविद्या और जाति है, निरोध मे अविद्या और निरोध[३२]। पूर्वोक्त गाथा मे अर्हत् की परिहाणि, स्थिति और समापत्ति का सकेत पाते थे। भद्रयाणीयो के द्वारा इस गाथा की व्याख्या का ऊपर उल्लेख किया गया है। कथावत्थु मे इनका एक सिद्धान्त उल्लिखित है—चार सत्यो का और फलो का अभिसमय अनुपूर्व होता है[३३]। षण्णगरिक सम्प्रदाय मे अर्हतो के छ भेद माने जाते थे, जिनके लक्षण है—परिहाणि, चेतना, अनुरक्षणा, स्थिति, प्रतिवेधना और अकोप्य।

३२—वारो, पृ० १२७; तु०—लूदर्स, १०९४–९५, ११५२ जिनसे इनकी अपरान्त में स्थिति सूचित होती है।

३३—कथा, २.९, तु०—लूदर्स, ९८७, १०१८, ११२३–२४।

अध्याय ८

महायान का उद्गम और साहित्य

(१) महायान—हीनयान से सम्बन्ध, उद्गम और विकास-क्रम

महायान और हीनयान—आध्यात्मिक प्रगति का साधन होने के कारण 'मार्ग' एवं 'यान' के रूप मे धर्म की कल्पना प्राचीन है। कठोपनिषद् में (१ ३ ३-९) रथ का रूपक प्रस्तुत किया गया है तथा उपनिषदो मे अन्यत्र 'पितृयाण' एव 'देवयान' तथा 'देवपथ' और 'ब्रह्मपथ' का उल्लेख प्राप्त होता है[1]। प्राचीन बौद्ध साहित्य मे भी रथ का रूपक मिलता है[2]। चीनी सयुक्तागम मे अष्टाङ्गिक मार्ग के लिए 'सद्धर्म-विनय-यान', 'देवयान', एव 'ब्रह्मयान', इन शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] पालि-सयुक्त-निकाय मे भी अष्टागिक मार्ग के लिए 'ब्रह्मयान' एव 'धर्मयान' की कल्पना मिलती है[4]। सुत्तनिपात मे मार्ग को 'देवयान' कहा गया है।[5] प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक आदि 'महायान' सूत्रो मे सर्वप्रथम यान के रूप मे कल्पित धर्म का द्विविध भेद, हीन और

१–देवयान ब्रह्मतक ले जाता है—छा० ५.१०। देवयान ब्रह्मलोक ले जाता है, फिर पुनरावृत्ति नहीं होती, "य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटा पतंगा यदिदं दन्दशूकम्"—बृ० ६.२.१५–१६। तु०—गीता ८.२३–२७, जहाँ इन्हें जगत् की शाश्वत "शुक्ल और कृष्ण गतियाँ" कहा गया है। इस प्रसंग में अग्नि और धूम का उल्लेख हैरान्लितस के दो मार्गों का स्मरण दिलाता है। छा० ४,१५.६—("स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते··।"

२–यथा, संयुत्त (रो०), जिल्द ५, पृ० ६।

३–द्र०—किमुर, ऑरिजिन् ऑव् महायान, पृ० १२१ (जे० डी० एल्०, जि० १२)।

४–संयुत्त, (रो०) जि० ५, पृ० ६।

५–खुद्दक (ना०) जि० १, पृ० २८९।

महान्, प्रकट होता है तथा नागार्जुन, असंग आदि के रचित शास्त्रों में इसका विस्तरशः प्रतिपादन मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने श्रोताओं के प्रवृति-भेद एव विकास-भेद को देखते हुए मुख्यतः दो प्रकार के धर्म का उपदेश किया—हीनयान एव महायान। हीनयान को श्रावकयान भी कहा गया है।[६] महायान के अन्य नाम है—एकयान, अग्रयान, वोधिसत्त्वयान तथा बुद्धयान।[७] समस्त अठारह सम्प्रदायों मे विभक्त बौद्ध धर्म हीनयान के अन्तर्गत है। इसके सहारे श्रावक-गण देह और चित्त में आत्म-बुद्धि छोड कर राग, द्वेष एव मोह के परे अर्हत्त्व के मार्ग पर अग्रसर होते है। श्रावकोपयोगी होने के कारण यह श्रावकयान कहलाता है तथा श्रावकों के 'हीनाधिमुक्त' होने के कारण इसकी आख्या हीनयान है।[८] तथागत ने इसका उपदेश अपने उपाय-कौशल्य के कारण किया था। उनका वास्तविक तात्पर्य दूसरा था। वे चाहते थे कि अधिकार-सम्पन्न होने पर सब बुद्धत्व के मार्ग पर प्रतिष्ठित हों। इस मार्ग के पथिक वोधिसत्त्व कहलाते है। हीनयान के उपायमात्र होने के कारण यह बुद्धयान अथवा वोधिसत्त्वयान ही एकमात्र वास्तविक यान अथवा एकयान है।[९] इस यान

६—श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान, दोनों हीनयान में संगृहीत हैं—द्र०—ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३३१।

७—द्र०—किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० १२३–२५, १४६–४७। वसुबन्धु के 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रोपदेश' में महायान के १७ विभिन्न नाम दिये गये है। ये द्र०—वहीं, पृ० ६२।

८—द्र०—सूत्रालंकार, १.१८, सद्धर्मपुण्डरीक, अधिमुक्तिपरिवर्त।

९—उदाहरणार्थ, सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२—"अहमपि शारिपुत्र···सत्त्वानां नानाधिमुक्त्याशयानामाशयं विदित्वा धर्मं देशयामि। अहमपि शारिपुत्र-कमेव यानमारभ्य सत्त्वानां धर्मं देशयामि यदिदं बुद्धयानं···अपितु खलु पुनः शारिपुत्र: यदा···सम्यक्सम्बुद्धाः कल्पकषाये वोत्पद्यन्ते सत्त्वकषाये वा क्लेशकषाये वा दृष्टिकषाये वायुष्कषाये वोत्पद्यन्ते। एवरूपेषु कल्पसंक्षोभकषायेषु बहुसत्त्वेषु लुब्धेष्वल्पकुशलमूलेषु तदा···सम्यक्सम्बुद्धा उपायकौशल्येन तदेवैकं बुद्धयानं त्रियाननिर्देशेन निर्दिशन्ति।" यहाँ वैयक्तिक प्रकृतिभेद के अतिरिक्त युगभेद का उल्लेख विचारणीय है। अधिकार के एक सहज क्रम के निर्देश के लिए सूत्रालंकार का यह उद्धरण भी स्मरणीय है—"उक्तं भगवता श्रीमालासूत्रे। श्रावको भूत्वा प्रत्येकबुद्धो भवति पुनश्च बुद्ध इति।" (पृ० ७०)

मे आकाश के समान अनन्त सत्त्वो के लिए अवकाश है, अतएव इसे महायान कहते हैं[१०]। हीनयान और महायान दोनो ही बुद्ध शासन हैं एव निर्वाण की ओर ले जाते हैं।[११] किन्तु हीनयान अपेक्षाकृत निम्नकोटिक अधिकारियो के लिए तात्कालिक उपायमात्र था, महायान शास्ता का स्वानुभव एव वास्तविक अभीष्ट।

महायानसूत्रो के अनुसार तथागत ने हीनयान का उपदेश पॉच परिव्राजको के समक्ष सारनाथ के प्रसिद्ध धर्म-चक्रप्रवर्तन के द्वारा किया था, किन्तु महायान का उपदेश उन्होने राजगृह के गृध्रकूट-पर्वत पर बोधिसत्त्वो की विपुल और विलक्षण सभा मे किया।[१२] अमितार्थ सूत्र के अनुसार सम्बोधि के ४० वर्ष अनन्तर तथागत ने अमितार्थसूत्र का प्रकाशन किया।[१३] महायान-सूत्रो और परम्परा के आधार पर चीन के प्राचीन बौद्ध विद्वानो ने तथागत की धर्म-देशना के काल को तीन विभागो मे बाँटा है। पहले काल-विभाग में, जो कि सम्बोधि के तीन सप्ताह अनन्तर प्रारम्भ होता है, तथागत ने अवतसक सूत्रो का उपदेश किया, किन्तु उन्होने जनता को इन सूत्रो के अवबोध मे अक्षम पाया। दूसरे काल विभाग मे उन्होने 'चार आगमो' की देशना की। यह वस्तुत उनका 'उपायोपदेश' था। अन्तत. देशना के तीसरे काल मे तथागत ने सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञा-पारमिता, महायान-महापरिनिर्वाण-सूत्र, एव महावैपुल्य-सूत्रो का प्रकाश किया[१४]। तिब्बती परम्परा के अनुसार गृध्रकूट का द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन सम्बोधि के १६ वर्ष पश्चात् हुआ था।[१५]

१०–अष्टसाहस्रिका, पृ० २४—"यथाकाशो अप्रेयमाणामसंख्येयाना सत्त्वानामवकाशः एवमेव भगवन्नस्मिन् याने ••", पुनश्च द्र०—सूत्रालकार, प्रथमाधिकार।

११–तकाकुसु, इ-चिंग, पृ० १५।

१२–यथा, सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ४४–४५, ५२–५३,
"धर्मचक्र प्रवर्तेसि लोके अप्रतिपुदगल।
वाराणस्या महावीर स्कन्धानामुदय व्ययम्॥
प्रथम प्रर्वातत तत्र द्वितीयमिह नायक।"

१३–किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० ५७–५८।

१४–वही, पृ० ६३–६४।

१५–तु०—बुदोन, जि० २, पृ० ४६–५२, तु०—इलियट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ३७४।

महायान सूत्रो के अनुसार परिनिर्वाण के अनन्तर चार शताब्दिया बीतने पर नागार्जुन के द्वारा महायान का प्रकाश मानना चाहिए।[१६] नागार्जुन के अनुसार बुद्ध देशना द्विविध है—गुह्य, एव व्यक्त। पहली बोधिसत्त्वो के लिए दी गयी थी, दूसरी अर्हद्विपयक थी।[१७] यही भेद महायान और हीनयान के रूप मे प्रकट होता है। हीनयान के सूत्रो मे जिस धर्मतथता का सकेतमात्र है, प्रज्ञापारमिता मे उसका विस्तृत विवरण है।[१८] श्रावकयान मे केवल पुद्गलशून्यता का उपदेश है, बुद्धयान मे धर्मशून्यता का भी। बुद्धयान सर्वार्थ है, श्रावकयान केवल स्वार्थ। महायान महाकरुणा से प्रेरित है एव सब के निर्वाण को अपना लक्ष्य मानता है। हीनयान मे दु ख, अनित्य एव अनात्म के लक्षणो का महत्त्व है, महायान मे शून्यता का।

असग ने महायान और हीनयान के पाँच पारस्परिक भेद बताये हैं—आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ, एव काल "आशयस्योपदेशस्य प्रयोगस्य विरोधत.। उपस्तम्भस्य कालस्य यत् हीन हीनमेवतत्। 'श्रावकयानेह्यात्मपरिनिर्वाणार्यैवाशयस्तदर्थमेववोपदेशस्तदर्थमेव प्रयोग परितश्चपुण्यज्ञानसभारसगृहीत उपस्तम्भ. कालेन चान्येन तदर्थ यावत्त्रिभिरपि जन्मभि । महायाने तु सर्व विपर्ययेण। तस्मादन्योन्यविरोधाद्यधान हीन हीनमेव तत्। न तन्महायान भवितुमर्हति।"[१९] हीनयान में पुद्गलनैरात्म्य के बोध के द्वारा क्लेशावरण का क्षय होता है एव अर्हत्त्व की प्राप्ति होती है। प्रत्येक अपने लिए पृथक् प्रयास करता है। श्रावक स्वय दूसरो से उपदेश प्राप्त करते हैं एव दूसरो को स्वय उपदेश करते है। प्रत्येक बुद्ध न किसी के शिष्य होते है, न गुरु। इस मुख्य भेद

१६–ई० आर० ई०, जि० ८, पृ० ३३५; लंकावतार, पृ० २८६—

"दक्षिणापथवैदल्यां भिक्षु. श्रीमान्महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्नातुसदसत्पक्षदारकः॥
प्रकाशयलोके मधान महायानमनुत्तरम्॥"

तु०—लामॉत, लत्रेते, भूमिका, पृ० ११।

१७–किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० ५७।

१८–नागार्जुन के अनुसार प्रज्ञापारमिता में 'ति इ श्युतन् श्यङ्०' (पारमार्थिक सिद्धान्त लक्षण) का उपदेश है—द्र०—ता चि तु लुन् (महाप्रज्ञापारमिता-शास्त्र), चीनी त्रिपिटक, ताइशो संस्करण, जि० २५, पृ० ५९, स्तम्भ २, पंक्ति १८)।

१९–सूत्रालकार, पृ० ४।

के अतिरिक्त श्रावक और प्रत्येकबुद्ध, दोनों ही हीनयान के अन्तर्गत है। महायान मे धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता के बोध से ज्ञेयावरण का क्षय होने पर बुद्धपदवी अथवा सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[२०] इस यान पर आरूढ बोधिसत्त्व सब सत्त्वो को निर्वाण मे प्रतिष्ठित करने का व्रत स्वीकार करते हैं। पारमिताओ के साधन के द्वारा नाना भूमियाँ पार करते हुए बोधिसत्त्वयान की यात्रा सम्पन्न होती है। महायान मे असख्य बुद्ध और बोधिसत्त्व माने जाते है तथा उनके स्वरूप एव महात्म्य की कल्पना बहुधा नितान्त देवोपम है।[२१] इन बुद्धो और बोधिसत्त्वो की पूजा और भक्ति का महायान मे बहुत बढा स्थान है।[२२] इ-चिड का कहना है कि 'जो बोधिसत्त्वो को पूजते है एव महा-

२०—उदाहरणार्थ द्र०—बोधिचर्यावतार, ९ ५५—

"क्लेशज्ञेयावृतितम प्रतिपक्षो हि शून्यता।
शीघ्रसर्वज्ञताकामो न भावयति ता कथम॥"

२१—द्र०—अध:।

२२—उदा० द्र०—शिक्षासमुच्चय, परिच्छेद १७, "आर्यमहाकरुणापुण्डरीकसू के अनुसार बुद्ध के लिए आकाश में भी एक फूल चढाने का फल अनन्त और निर्वाणपर्यवसायी है (वहीं, पृ० ३०९)। "आर्यश्रद्धा-बलाधानावतार-मुद्रासूत्र" के अनुसार चित्रलिखित बुद्ध के देखने का पुण्य भी प्रत्येक बुद्धो को दिये हुए असख्य दान से अधिक है, "क पुनर्वादो योऽञ्जलिप्रग्रह वा कुर्यात् पुष्पं वा दद्यात् धूपं वा गन्धं वा दीपं वा दद्यात्···" (वहीं, पृ० ३११)। बोधिसत्त्व बनने के लिए वस्तुत. मानसपूजा ही अपेक्षित है (बोधिचर्यावतार, द्वितीय परिच्छेद)। सब कुछ शून्य मानने वाले माध्यमिक-गण भी व्यवहार के स्तर पर बुद्धपूजा का फल मानते थे—

"चिन्तामणि. कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरणा।
विनेयप्रणिधानाभ्या जिनबिम्ब तथेक्ष्यते॥
यथा गारुड़िक स्तम्भं साधयित्वा विनश्यति।
स तस्मिश्चिरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत्॥
बोधिचर्यानुरूपेण जिनस्तम्भोऽपि साधित.।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते॥"

(बोधिचय ९ ३६—३८)

यान सूत्रों को पढते हैं वे महायानी कहलाते है, ऐसा न करने वाले हीनयानी ।[२३] उन्होंने यह भी कहा है कि महायानियों का अपना पृथक् विनय नही था तथा उनके दर्शन की दो मुख्य शाखाएँ थी—विज्ञानवाद, एव शून्यवाद ।[२४] परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी महायान के इन्ही दो प्रमुख दार्शनिक प्रस्थानो का उल्लेख मिलता है ।[२५]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट होगा कि–(१) महायान और हीनयान का भेद महायान सूत्रो से आविर्भूत एव महायान शास्त्रो मे सविस्तर प्रतिपादित हुआ, (२) महायानियो के अनुसार महायान तथागत की वास्तविक देशना है जो कि गुह्य उपदेश के रूप मे उन्होंने अपने जीवनकाल में विशिष्ट अधिकारियो को दी थी तथा जिसका अनुकूल समय आने पर प्रचार और व्याख्यान हुआ, (३) हीनयान और महायान का भेद मूलत अधिकार भेद एव लक्ष्य-भेद पर आश्रित है (४) महायान के सिद्धान्त-पक्ष मे बुद्धत्व, शून्यता, एव चित्तमात्रता का स्थान मुख्य है, (५) महायान का साधनपक्ष बोधिसत्त्व-चर्या है जिसमे पारमिताएँ एव भूमियाँ सर्वाधिक महत्त्व रखती हैं एव शील और ज्ञान के साथ 'भक्ति' का स्थान सुरक्षित है ।

महायान का उद्गम—महायान के उद्भव के विषय मे महायान-सूत्रो में प्रकाशित मत ऐतिहासिक दृष्टि से स्वभावत सन्देह उत्पन्न करता है । महायान सूत्र अपने को बुद्ध प्रोक्त बताते हैं, किन्तु उनकी भाषा एव शैली उनकी परवर्तिता सूचित करती है । कदाचित् अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता ही महायान-सूत्रो मे प्राचीनतम है । इसका लोकरक्ष ने चीनी मे १४८ ई० मे अनुवाद किया था ।[२६] कनिष्क के समकालीन नागार्जुन ने पञ्चविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता पर व्याख्या लिखी थी ।[२७] इससे प्रज्ञापारमिता-साहित्य की परिणति ईसवीय दूसरी शताब्दी से प्राचीनतर अवश्य सिद्ध होती है, किन्तु इस प्रकार के अनुमान से उसका मूल अधिकाधिक ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से प्राचीन नही माना जा सकता । जब स्वय ये 'महायान' सूत्र ही बुद्ध के युग से पर्याप्त

२३–तकाकुसु, इ-त्सिंग, पृ० १४–१५ ।

२४–वहीं ।

२५–यथा, सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ० ७ इत्यादि ।

२६–द्र०—दत्त, महायान, पृ० ३२३, पादटिप्पणी, १, तु०—विन्तरनित्स, जि० २, पृ० ३१४ इत्यादि ।

२७–द्र०—लामोत, लत्रेते, भूमिका, पृ० १०, तु०—विन्तरनित्स, जि० २, पृ० ३४२, ३४८ ।

परवर्ती, एव सन्दिग्ध-प्रामाण्य (एपोक्रिफल) है तो इनमे प्रतिपादित महायान की मूल सलग्न प्राचीनता सुतराम् असिद्ध हो जाती है। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि मे महायान को सद्धर्म का विपरिर्वातित अथवा विकृत रूप मानने की सम्भावना प्रस्तुत होती है।[२८] इस विपरिवर्तन का प्रधान कारण सद्धर्म का प्रसार और उसके साथ सम्बद्ध ऐतिहासिक एव सास्कृतिक प्रभाव प्रतीत होते हैं।[२९] यह स्वाभाविक है कि सद्धर्म के प्रसार की गति अशोक के समान श्रद्धालु और प्रतापी सम्राट् के सरक्षण एव साहाय्य से तथा तत्कालीन सघ के प्रयत्नो से विशेष तीव्र हुई हो।[३०] यह निस्सन्देह है कि इसी समय से सद्धर्म भारतीय प्रास्तरिक वास्तुकला तथा मूर्तिकला की एक प्रधान प्रेरणा के रूप मे प्रकट होता है एव जातको का महत्त्व विशेष वृद्धि प्राप्त करता है।[३१] ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से ईसवीय दूसरी शताब्दी तक भारतीय सस्कृति का एक सक्रमण काल है जब

२८—रीज डेविड्स, हिस्टरी एड लिटरेचर ऑव् बुद्धिज्म (प्र० सुशीलगुप्त) पृ० १३७ प्रभृति, तु० इलियट, हिन्दुइज्म, एण्ड बुद्धिज्म, जि० २, पृ० ६६–६८।

२९—टॉइनबी ने अपनी 'ए स्टडी ऑव हिस्टरी' में यह मत प्रस्तुत किया हैं कि महायान की उत्पत्ति ग्रीक सभ्यता और भारतीय सभ्यता के गन्धार में सम्पर्क से हुई। स्पष्ट ही इस मत का मूलाधार वी० ए० स्मिथ आदि के द्वारा समर्थित 'गान्धार-कला'—विषयक प्रसिद्ध मत है। गन्धारकला पर द्र०—ऊपर। राहुल साकृत्यायन ने भी ग्रीक-दर्शन का बौद्धदर्शन पर प्रभाव कल्पित किया है (दर्शन-दिग्दर्शन)।

३०—सद्धर्म के लिए अशोक के प्रयत्नो पर द्र०—भण्डारकर, अशोक पृ० १३९ प्रभृति, अशोक के प्रयत्नो के परिणाम पर द्र०—भडारकर, पूर्व, पृ० १५९ प्रभृति, रायचौधरी, पी० एच० ए० आइ० पृ० ६१४–१७, तु०—राइ डेविड्स, बुघिस्ट इण्डिया, पृ० २९८–९९, इस प्रसग में कन्धार के अशोक की नवोपलब्ध ग्रीक प्रशस्ति उल्लेखनीय है, द्र०—ईस्ट एण्ड वेस्ट, सेप्टेम्बर, पृ० १८५–९१, अशोक के धार्मिक प्रयत्नो के मूल्याकन में एक मौलिक कठिनाई बनी ही रहती है—अशोक ने जिस "धर्म" का समर्थन किया क्या वह 'सद्धर्म' था अथवा 'साधारण धर्म' मात्र ? तत्कालीन सघ के प्रयत्नो पर द्र०—उपरि।

३१—दे० ऊपर।

जब अनेक विदेशी जातियाँ भारत मे उत्तरपश्चिम से आयी और उनपर भारतीय सस्कृति ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और उत्तरपश्चिमी मार्गों से मध्य एशिया तथा चीन तक अपने प्रभाव का विस्तार किया। कुषाण-साम्राज्य में यह सास्कृतिक आत्म-सात्करण तथा प्रसार की प्रक्रिया विशेष रूप से लक्षित होती है।[३२] बौद्ध धर्म ने इस प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण भाग ग्रहण किया।[३३] इसके परिणामत बौद्ध धर्म जहाँ एक ओर एशियाव्यापी प्रभाव बन गया, दूसरी ओर उसका आवश्यक रूपान्तर सम्पन्न हुआ। हीनयान मे विभिन्न प्रादेशिक आवासो की स्थापना ने निकाय-भेद के क्रम को अग्रसर होने में सहायता दी थी।[३४] इनमें महासाघिक सम्प्रदाय ने बुद्ध और बोधिसत्त्वो को देवोपम लोकोत्तर रूप मे चित्रित किया एव गन्धार तथा मथुरा में ग्रीक और भारतीय कला के सम्पर्क तथा भक्ति के आग्रह से बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव हुआ।[३५] लोकोत्तर बुद्ध और बोधिसत्त्व, उनकी भक्ति और प्रतिमाएँ, इन नवीन तत्त्वो ने सद्धर्म को एक जन-सुलभ, सुबोध और सुन्दर रूप प्रदान किया। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म एव हीनयान मे साधना अपेक्षाकृत दुष्कर है। प्रत्येक व्यक्ति को सर्वथा अपने प्रयत्न के और पुरुष-कार के द्वारा सासारिक सुखो को छोड़ कर ही दु ख से छुटकारा प्राप्त करना होता है। बुद्ध केवल मार्ग का उपदेश करते हैं, धर्म प्रत्यात्मवेदनीय है।[३६] साधारण मनुष्य के लिए अपने सहारे अपने बन्धनो को काटना कठिन होता है। महायान में बुद्ध और बोधिसत्त्व नाना प्रकार से मार्ग मे सहायक बन जाते है। अवलोकितेश्वर के नाम लेने से ही मनुष्य नाना कठिनाइयो से मुक्ति पा सकता है।[३७] मूर्तियो के सहारे बुद्ध और बोधिसत्त्व बौद्धो के समक्ष प्रत्यक्षवत समुपस्थित हो उठते हैं। वे सर्वज्ञ, शक्तिसम्पन्न तथा परम कारुणिक हैं। उनके अर्चन और अनुग्रह के द्वारा मुक्ति का मार्ग केवल अपने पुरुषकार की अपेक्षा अधिक प्रशस्त प्रतीत होता है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अशोक के समय से सद्धर्म के प्रचार के लिए विशेषत प्रत्यन्तिम जनपदो मे, उसे एक सरल और

३२–उदा० द्र० काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, जि० २, पृ० ४५८, ६५५ आदि।

३३–तु०—सी० आइ० आइ०-जि० २, बौद्ध सास्कृतिक प्रसार पर दे०—ऊपर।

३४–फ्राउवाल्नर, अर्लियस्ट विनय, पृ० ६, प्रभृति, तु०—बारो, ले सेक्तन, पृ० ४९, न० दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुधिज़म, जि० २, पृ० १२ प्रभृति।

३५–दे०—नीचे।

३६–दे०—ऊपर।

३७–द्र०—सद्धर्मपुण्डरीक, समन्तभद्रपरिवर्त।

मूर्त रूप देने का जो प्रयास जारी था उसने क्रमश महायान को जन्म दिया। इस परिणाम-क्रम मे नाना सम्प्रदायो, धर्मों और जातियो के प्रभाव से महायान मे विभिन्न तत्त्वो का समावेश हुआ।[३८] हीनयान ही मूल और प्रारम्भिक बुद्ध-शासन था जिसके वाङमय की प्राचीनता निस्सन्देह है।[३९] हीनयान मुख्यतया भिक्षुओ का धर्म है एव उपासको को गौण स्थान देता है। हीनयानी भिक्षुओ का जीवन और साधन कठोर अनुशासन से परिगत एव निवृत्ति-परक है। महायान परवर्ती और विपरिवर्तित बौद्ध धर्म है जिसने प्राचीन साहित्य के अभाव मे नवीन 'प्रक्षिप्त 'सूत्रो की रचना की। यदि हीनयान कृच्छ्रसाध्य है तो महायान सर्व-जनसुलभ है। हीनयान प्राचीन और विशेषतया भिक्षु-धर्म है। महायान विपरिवर्तित और 'प्रचलित' सद्धर्म है।

महायान के आचार्यों ने स्वय महायान की अप्रामाणिकता के निरास का बहुधा प्रयत्न किया है। इस प्रसग मे महायानसूत्रालकार एव बोधिचर्यावतार मे अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनमे अनेक स्पष्ट ही प्राचीनतर सूत्रो पर आश्रित हैं। महायान को बुद्धवचन सिद्ध करने के लिए असग ने महायानसूत्रालकार मे कहा है—'आदावन्याकरणात्समप्रवृत्तेरगोचरात्सिद्धे । भावाभावेऽभावात्प्रतिपक्षत्वाद्रुतान्यत्वात् ॥ (१.७) यदि सद्धर्म के अन्तराय के रूप में किसी ने महायान को पीछे उद्भावित किया होता तो इस आशका का तथागत ने अनागतभयो के सदृश पहले ही व्याकरण किया होता। वस्तुत. श्रावकयान और महायान की समकालिक प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। न महायान के सदृश उदार और गम्भीर धर्म तार्किको का गोचर है, जो कि तीर्थिक शास्त्रो में महायान के अनुपलम्भ से विदित होता है। न औरो के द्वारा महायान का व्याख्यान युक्त है। अन्य भाषित होने पर उसमें विश्वास उत्पन्न नही हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि किसी अन्य ने सिद्धिपूर्वक अर्थात् अभिसम्बोधिपूर्वक महायान का प्रतिपादन किया है तो महायान का बुद्धवचनत्व सिद्ध ही हो गया। जो बोधिपूर्वक उपदेश करता है वही बुद्ध है। विना महायान के बुद्धो की उत्पत्ति ही न

३८—औपनिषद अद्वैतवाद का माहायानिक अद्वयवाद से निकट सम्बन्ध है, दे०—नीचे। महायान सूत्रो की भक्ति और बुद्ध विषयक धारणाएँ यदि गीता से सर्वथा अप्रभावित थीं तो आश्चर्यजनक होगा। महायान और ईसाईधर्म के सम्बन्ध पर, दे०—ऊपर। ईरानी प्रभाव की सम्भावना भी तिरस्कार्य नहीं है।

३९—श्रीमती राइज़ डेविड्स प्रभृति कुछ विद्वानो ने हीनयान के वाङ्मय की प्राचीनता एवं मौलिकता पर सन्देह प्रकट किया है।

होगी, अतएव श्रावकयान भी न होगा। सब निर्विकल्प ज्ञान का आश्रय होने के कारण महायान क्लेशो का प्रतिपक्ष है, अत. बुद्धवचन है।[४०]

कही श्रावकयान ही महायान न हो, इस शका के निराकरण मे, असग का कहना है, 'वैकल्यतो विरोधादनुपायत्वात्तथाप्यनुपदेशात्। न श्रावकयानमिद भवति महायानधर्मास्त्यम् ॥' (वही १ ९) श्रावकयान मे केवल अपने वैराग्य और मुक्ति का उपदेश है, उसमे परार्थ का उपदेश है ही नही। अत. श्रावकयान से बुद्धत्व कभी प्राप्त नही हो सकता। वस्तुत जैसा ऊपर कहा जा चुका है महायान और श्रावकयान में पाँच प्रकार के विरोध है।

महायान के बुद्धवचन होने मे एक शका यह प्रकट की गयी है—'बुद्धवचनस्येद लक्षण यत्सूत्रेऽवतरति विनये सन्दृश्यते धर्मतां च न विलोमयति। न चैव महायान .." (वही। पृ० ४–५) इसके निवारण के लिए असग की उक्ति है—'स्वकेऽवतारात्स्वस्यैव विनये दर्शनादपि। औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरुद्धैव धर्मता।' (वही, १ ११.)।

महायान के अपने सूत्र हैं तथा धर्मता की वास्तविक अनुकूलता उसी में है। हीनयान में भी अनेक सम्प्रदाय हैं, तथा उनमे ग्रन्थ प्रामाण्य पर ऐकमत्य नही है।[४१] स्वय हीनयान के द्वारा स्वीकृत आगमो से यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि के अनन्तर विनेय जनता मे अधिकार भेद देखा तथा 'आशयानुशय' के अनुसार धर्म की देशना की। उन्होंने स्वोपलब्ध धर्म को अत्यन्त गम्भीर एव दुर्बोध बताया और यह शका प्रकट की कि साधारण जनता उसे न समझ पायेगी।[४२] इससे महायान का यह मत समर्थित होता है कि तथागत ने सबको एक ही धर्म की शिक्षा नही दी[४३]। गम्भीरतम

४०—सूत्रालंकार, पृ० ३।

४१—तु०—बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४३४–३५।

४२—द्र०—ऊपर, विनय ना०, महावग्ग, पृ० ६, मज्झिम (ना०), जि० २, पृ० ३३३, सयुत्त, १.६ आयाचन सुत्त।

४३—तु०—बोधिचित्तविवरण—"देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा।
भिद्यन्ते बहुधा लोका उपायैर्बहुभि पुन ॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा।"

(उद्धृत, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८, भामती, ब्रह्मसूत्र, २ २ १८ पर) तु०—श्री शकराचार्य, शारीरकभाष्य (निर्णयसागर) पृ० ४५०।

धर्म की देशना उन्होने विशिष्ट अधिकारियो को ही दी। यही महायान का वास्तविक उद्गम है।

कुछ आधुनिक विद्वानो ने भी इस प्रकार के मत का समर्थन किया है। जापानी विद्वान् श्री किमुरा के अनुसार भगवान् बुद्ध की देशना द्विविध थी—(१) प्रत्यग्दर्शनात्मक (introspective) अथवा तात्त्विक (ontological), (२) प्रतिभासविषयक (phenomeological) अथवा साव्यवहारिक महायान पहले प्रकार की देशना का विकसित रूप है।[४४]

वस्तुत महायान को केवल मूल बुद्धशासन अथवा उसका विशुद्ध विकास या विकृत रूप मात्र मानना युक्तियुक्त नही प्रतीत होता। न तो हीनयान के सव शास्त्रो और सिद्धान्तो को मूल बुद्ध-शासन समझा जा सकता है, न महायान के। मूल बुद्धोपदेश अवश्य ही शिष्यो के अधिकार-भेद से विविध था और उसमे हीनयान तथा महायान दोनो के वीज विद्यमान होते हुए भी इनका स्पष्ट भेद नही किया गया था। काल-क्रम से मूल देशना परवर्ती व्याख्या-कान्तार तथा प्राक्षिप्त-सन्दर्भ-राशि मे अधिकाधिक दुर्लभ हो गयी। हीनयान के १८ सम्प्रदायो मे बुद्धोपदेश को भिक्षुओ के समान विहारवासी बना दिया गया। विशाल विश्व के जीवन और ज्ञान-विज्ञान का त्याग कर भिक्षु को अपने विहार के सीमित ससार मे आत्म-कल्याण साधना चाहिए। इसके लिए कौन-से 'धर्म' हेय है, कौन-से उपादेय, इसकी चर्चा विपुलाकार अभिधर्म पिटको मे की गयी। ये पिटक और इनकी व्याख्याएँ बुद्धवचन न होते हुए भी कल्पना-प्राचुर्य तथा आग्रह के द्वारा इनका भगवान् बुद्ध से सम्वन्ध जोडा गया।[४५] यह स्पष्ट है कि 'हीनयान' को मूल बुद्ध-शासन न मानकर उसका एक साथ ही विपरिवर्तित अथच विकसित रूप मानना चाहिए। यही दशा महायान की है। महायान भी वस्तुत 'सकीर्ण' अथवा 'मिश्रित' है। उसके कुछ अश हीनयान से विकसित हुए है, कुछ मूल शासन के पुनर्व्याख्यान के द्वारा प्रतिष्ठित हुए है, तथा कुछ अनेक भौगोलिक, सास्कृतिक एव मतान्तरीय प्रभाव से उत्पादित है। यह सत्य है कि महायान सूत्र हीनयान के आगमो से परवर्ती है और यह भी सत्य है कि हीनयान मे स्वीकृत सूत्रो से ही मूल-शासन का पता चल सकता है, किन्तु तो भी यह मानना होगा कि अशत महायान मूल-शासन का पुनरु-

४४–किमुर, पूर्वोद्धृत, पृ० ५४ प्रभृति।

४५–तु०—अट्ठसालिनी, पृ० १२–१३, अभिधर्मकोशव्याख्या, (सं० एन० एन० लॉ०) पृ० १२–१३।

द्वार है। साथ ही, महायान का बहुत-सा भाग प्रचार-सौविध्य एव नाना 'बाह्य' प्रभावो का परिणाम है।

शाक्य मुनि ने सम्बोधि अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही बुद्ध-पद का लाभ किया, एव करुणा से प्रेरित होकर सम्बोधि मे अधिगत 'धर्म' का विनेय भेद के अनुसार जनता मे विविध उपदेश किया जिसका बौद्ध आगमो मे केवल एकदेशी और प्रक्षेपभूयिष्ठ सग्रह प्राप्त होता है[४६]। इन सगृहीत उपदेशो में अधिकाश भिक्षुओ के जीवन और सगठन से सबध रखते है। भिक्षुओ के लिए आवश्यक था कि वे ससार के दु ख, अनित्यता, एव अनात्मता का बार-बार स्मरण कर वैराग्य का साधन एव शान्ति की उपलब्धि करे। इसी दृष्टि से प्रथम सगीति मे स्थविरो ने बुद्धवचन का सग्रह तथा उत्तर काल मे 'समुपबृंहण' किया है। बुद्ध-देशना के इस पक्ष का दार्शनिक मर्म अश्वजित ने शारिपुत्र से प्रकट किया था। एक ओर हेतु-प्रभव धर्म है, दूसरी ओर उनका निरोध है। बुद्धोपदिष्ट मार्ग एक से दूसरे तक ले जाता है। नाम-रूप स्कन्ध, धातु, आयतन, आदि विभाजनपूर्वक धर्मों के लक्षण एव उनके हेतुफल-सम्बन्ध के विश्लेषण की अवतारणा 'सूत्रो' मे तथा परवर्ती विश्रान्ति अभिधर्म में हुई, जो कि हीनयान का चरम उत्कर्ष है। किन्तु, यह भी निस्सन्देह है कि तथागत ने सम्बोधि में अधिगत धर्म को अतर्क्य, दुर्बोध एव गभीर कहा। इस धर्म को निर्वाण एव प्रतीत्यसमुत्पाद, अथवा केवल प्रतीत्यसमुत्पाद या मध्यम धर्म की उन्होने आख्या दी। निर्वाण को औपनिषद ब्रह्म के समान ज्योतिर्मय चित्त की अनिर्वचनीय, अद्वैत एवं नित्य और अनन्त स्थिति सकेतित किया।[४७] प्रतीत्यसमुत्पाद में सब धर्मों के पारतन्त्र्य का सकेत है। व्यावहारिक स्तर पर यह कार्य-कारण नियम का द्योतक होते हुए भी वस्तुत. उनकी स्वतन्त्र सत्ता के अभाव का इगित है। यदि निर्वाण ब्रह्मावस्था से तुलनीय है तो प्रतीत्यसमुत्पाद माया से। न ससार का स्वरूप और न निर्वाण का स्वरूप अस्ति-नास्ति आदि कोटियो में सग्राह्य है। यही मध्यम धर्म अथवा मध्यमा प्रतिपद है। परमार्थ की अतर्क्यता एव अनिर्वचनीयता को तथागत ने मौन के द्वारा भी सूचित किया। शिशपापर्णों की उपमा[४८] तथा धर्मोपदेश के प्रति बुद्ध का प्रारम्भिक सकोच भी इसी दिशा में सकेत करते है। यह स्पष्ट है कि बुद्ध के निजी अनुभव एव अभिमत में चित्तकी एक विलक्षण अद्वैत अवस्था का, परमार्थ तत्त्व

४६–द्र०—ऑरिजिन्स ऑव् बुद्धिज्म, जहाँ इसका विस्तृत प्रतिपादन है।

४७–दे०—वही, पृ० ४९४, पा० टि० २४४।

४८–संयुत्त, सच्च०, सुत्त, ३१।

की चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता का, तथा सब पदार्थों की स्वातन्त्र्य-शून्यता का समर्थन उपलब्ध होता है। अतएव यह मानना होगा कि हीनयान के अतिरिक्त भी महायान का दार्शनिक मूल यथार्थत बुद्ध देशना मे ही है। व्यावहारिक दृष्टि से वासनाक्षय के लिए धर्म-प्रविचय का उपदेश देते हुए[४९] तथागत ने स्वानुभूत अनिर्वचनीय और अद्वय परमार्थ दर्शन की भी सूचना दी। उनकी देशना के ये ही दोनो पक्ष हीनयान और महायान के रूप में क्रमश विकसित हुए।

बुद्ध के जीवनकाल में मगध, कोशल आदि जनपदो में विकल्पजालग्रस्त ब्राह्मण और श्रमण एक ओर स्वर्ग के लिए यज्ञादि कर्मकाण्ड का तथा दूसरी ओर संसार से मुक्ति के लिए वैराग्य और तप का उपदेश करते थे। कुछ ब्रह्मवादियो को स्वरूपबोध की अनिर्वचनीय एवं अद्वैत स्थिति का आभास था, किन्तु ये अत्यन्त विरल थे। मथुरा एव पश्चिम की ओर 'भगवान्', 'अवतार', एव 'भक्ति' की धारणाएँ उदित हो रही थी, किन्तु इनका स्पष्ट आविर्भाव देशत और कालत. तथागत के आसन्न नही है। ऐसी स्थिति मे तथागत ने गृहस्थो के लिए यज्ञादि के स्थान पर उनका सदाचार रूप आध्यात्मिक सस्करण प्रस्तुत किया।[५०] किन्तु गृहस्थो के लिए दिये गये तथागत के उपदेशो का भिक्षुओ के द्वारा सगृहीत 'वाणी' में अधिक स्थान नही है।

यह स्मरणीय है कि बुद्ध ने स्वय गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था और जैसा पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, यह नही माना जा सकता कि उनके जीवन का यह भाग उनकी आध्यात्मिक साधना के बहिर्भूत है[५१]। शैशव से ही वे ध्यान के अभ्यास से परिचित थे एवं अभिनिष्क्रमण के पहले उन्होने विविध आध्यात्मिक सम्पदा का क्रमिक

४९—तु०—विधुशेखर भट्टाचार्य, बेसिक कन्सेप्शन्स ऑव् बुद्धिज़म; तु०—बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४४०–४१ जिसके अनुसार हीनयान से वास्तविक वासनाक्षय सम्भव नहीं है। तु०—गोपीनाथ कविराज, 'बौद्धधर्म दर्शन' की भूमिका, पृ० १४–१५।

५०—उपासक-धर्म पर तु०—दत्त, अर्ली मोनेस्टिक बुधिज़म, जि० २, पृ० २०७ प्रभृति, भडारकर, अशोक, पृ० १२२ प्रभृति, राइज़ डेविड्स, बुधिज़्म, पृ० १३७, प्रभृति।

५१—दे०—ऊपर।

अर्जन किया होगा[५२]। इस दृष्टि से सद्धर्म मे गार्हस्थ्य का स्थान हीनयान का अपरिचित नही है, किन्तु महायान मे ही इस तत्त्व को उचित स्थान दिया गया है। सन्यास के प्रति नातिस्पृहयालु जनता मे धर्म-प्रचार के प्रसग मे भगवान् बुद्ध के जीवन पर मनन से महायान का यह पक्ष विकसित हुआ मानना तर्कानुकूल प्रतीत होता है।

बुद्ध स्वय सन्यासी थे एव सन्यास की दीक्षा देते थे, किन्तु प्रचलित 'श्रामण्य' के विरोध मे उन्होने भिक्षुओ के लिए आवासिक जीवन एव नाना सुविधाओ की अनुमति दी। चातुर्दिश सघ के रूप मे उन्होने एक विशुद्ध आध्यात्मिक समाज की कल्पना की। अपने दृष्टान्त और उपदेश से उन्होने धर्म को 'सर्व-सत्त्व-हित' प्रतिपाद्य बताया। फलत तथागत की सन्यास-दीक्षा का वास्तविक अभिप्राय केवल अपना अध्यात्मिक 'स्वार्थ' साधन नही माना जा सकता। आध्यात्मिक 'पदार्थ' के इस तत्त्व का समुचित बोध ही महायान की प्रधान प्रेरणा है। सम्बोधि के अनन्तर ब्रह्मायाचन के वृत्तान्त की समुचित व्याख्या इसी दिशा मे सकेत करती है। सम्बोधि अथवा प्रज्ञा के शिखर पर आरूढ होकर लोक की ओर दृष्टिपात करने से भगवान् बुद्ध ने करुणा की प्रेरणा का अनुभव किया तथा विश्व-कल्याण के लिए देशना का कार्य-भार स्वीकार किया। प्रज्ञा और करुणा ही महायान की अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं।

इस विवरण से यह प्रकट होगा कि तथागत की देशना का पारमार्थिक अश आगमो अथवा निकायो के कतिपय स्थलो मे सकेतित है। हीनयान में ये स्थल और उनका अभिप्राय उपेक्षित रहे, किन्तु इनके पुनरुद्धार के द्वारा ही महायान ने प्रतिष्ठालाभ किया। बुद्धिजगत् में विचारो की एक स्वारसिक विकासोन्मुख गति होती है[५३]। लक्षण और प्रमाण की खोज और परिष्कार, तथा शकाओ की उद्भावना एव परिहार

५२—इस दृष्टि की विस्तृत अभिव्यक्ति महावस्तु तथा निदानकथा में द्रष्टव्य है—जातकट्ठकथा, जि० १, पृ० १५ प्र०, तु०—जोन्स (अनु०) महावस्तु, जि० १, भूमिका, पृ० १४।

५३—इसका हेगेल कृत प्रतिपादन सुविदित है। यह सही है कि हेगेलीय द्वन्द्वात्मकता विशुद्ध न्याय-भूमि में कथंचित् मान्य होते हुए भी यथार्थता की भूमि में विचारो की उत्पत्ति का कालिक-क्रम निरपवाद रूप से द्योतित नहीं करती। हेगेल के 'दर्शन के इतिहास' में 'वैचारिक द्वन्द्वात्मकता' की इस ऐतिहासिक सीमा की अवहेलना से अनेकत्र भ्रान्ति हो गयी है। तु०—क्रोचे, वट इज लिविंग एण्ड वट इज डेड इन हेगेल्स फिलॉसोफी; मेक्टेगर्ट, स्टडीज इन हेगेलियन डायलेक्टिक।

के द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का नैसर्गिक विकास होता है। इसी प्रवृत्ति ने प्राचीन बुद्ध-शासन के अन्तराल से एक ओर आभिधर्मिक दर्शन को जन्म दिया, दूसरी ओर माध्यमिक दर्शन को।[५४] एक ओर धर्म-प्रविचय की प्रवृत्ति सर्वास्तित्व के सिद्धान्त में पर्यवसित हुई, दूसरी ओर मध्यमा प्रतिपद् एव नैरात्म्य के सिद्धान्त व्यापक रूप से गृहीत होकर सर्वशून्यत्व के सिद्धान्त मे लीन हो गये। वैभाषिको का अत्यन्त 'यथार्थ-वाद' तथा माध्यमिको का शून्यवाद, ये ही हीनयान एव महायान के दार्शनिक शीर्ष-विन्दु हैं। यह उल्लेखनीय है कि हीनयान की दृष्टि मे ही महायान का वीज सन्निहित है। सूक्ष्म तार्किक आलोचन से यह मानना अनिवार्य है कि हीनयान के द्वारा स्वीकृत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' एव 'नैरात्म्य' सर्वथा सगत नही है प्रत्युत उनका विचार-विशारद कलेवर अगत्या माहायानिक रूपान्तर धारण करता है। हीनयान मे प्रतीत्यसमुत्पाद पृथक्-पृथक् सत्तावान् धर्मों का कार्यकारण भाव के द्वारा पारतन्त्र्य द्योतित करता है। किन्तु यदि धर्म पृथक् अस्तित्वशाली हैं तो उनके पारतन्त्र्य की कथा अपार्थक है, और यदि परतन्त्र होकर ही उनका भाव सिद्ध होता है तो उन्हें परमार्थत स्वभाव-शून्य मानना चाहिए। इसी प्रकार हीनयान में नैरात्म्य केवल पुद्गल-नैरात्म्य सूचित करता है। किन्तु यदि देह और चित्त में आत्मा की प्रतीति भ्रान्त है, तो देह और चित्त के घटकभूत धर्मों में पृथक्-पृथक् स्वभाव या सत्त्व देखना भी भ्रान्त है। इस प्रकार तर्क की अनिवार्य प्रेरणा को ही महायान का एक उद्भावक-हेतु मानना चाहिए।

बौद्धिक और वैचारिक जगत् में परिणति की ओर गतिस्वारस्य के अतिरिक्त आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में भी परम्परा के क्रम से अभिवृद्धि की सम्भावना अस्वीकार नही की जा सकती[५५]। यह सच है कि मानव-परम्पराओ मे विकास अथवा ह्रास

५४—तु०—मूर्ति, सेन्ट्रल फिलोसोफी ऑव बुधिजम, पृ० ४०–४१, ५६–५७।

५५—तु०—सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२, ५३ प्र०। 'धर्म' अथवा आध्यात्मिक सत्य के विषय में प्रायः तीन मत उपलब्ध होते हैं—(१) एकांशवादी, जिसके अनुसार एक विशिष्ट धार्मिक मतवाद सत्य है, शेष मिथ्या, (२) समन्वयवादी जिसके अनुसार सब धर्म बराबर सत्य है और उनमें केवल नाम तथा आकार का भेद ही प्रधान है, (३) वैकासिक जिसके अनुसार नाना धर्मों अथवा मतों में एक सत्य का तारतम्य है। तु०—प्रत्यभिज्ञादर्शन, जहाँ विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानो को विभिन्न तत्त्वो के अनुभव के साथ सम्बद्ध किया गया है।

म० म० गोपीनाथ कविराज का भारतीय दर्शन के 'समन्वयात्मक तारतम्य" का मत उल्लेखनीय है।

स्वभाव-नियत नही है, किन्तु वे सम्भाव्य सदैव रहते है। आर्य-मार्ग पर प्रतिष्ठित साधक पहले जिन भूमियो मे पहुँच कर सन्तुष्ट हो जाते थे, कालान्तर मे उनसे सन्तोष न होकर उच्चतर भूमियो के लिए प्रयास स्वाभाविक था। श्रावक गण अर्हत्त्व से सन्तुष्ट होते है, प्रत्येकबुद्ध केवल अपने बुद्धत्व से, बोधिसत्त्व सबको बुद्धत्व मे प्रतिष्ठित करना चाहते है, अर्हत्त्व मे क्लेश-क्षय-पूर्वक दु ख भय अवश्य हो जाता है, किन्तु सब अज्ञान नही हटता। विश्व-कल्याण के लिए सब अज्ञान हटना आवश्यक है। तथागत ने स्वय सर्वज्ञता प्राप्त की थी। उनका प्रदर्शित आदर्श ही अनुकरणीय है। अत. माहायानिक बोधिसत्त्व का लक्ष्य उत्कृष्टतर है एव हीनयान तथा महायान मे आध्यात्मिक अनुभव की दृष्टि से एक तारतम्य स्वीकार करना होगा जो कि परम्पराक्रमेण विकास सूचित करता है।

महायान का विकास-क्रम—महायान की प्रधान प्रेरणा बुद्ध की जीवनी थी। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व के द्वारा आश्रित 'यान' ही वास्तविक महायान है। महायानिक साधक ठीक उसी मार्ग और लक्ष्य का पथिक है जिसके शाक्यमुनि स्वय थे। पहले कहा जा चुका है कि मूल विनय के सम्पादन मे तथागत की एक प्राचीन जीवनी भी सगृहीत थी जो सम्भवत उनके बोधिसत्त्व-काल का विवरण भी प्रस्तुत करती थी[५६]। महासाघिको से विरोध होने पर स्थविरो ने इस जीवनी के कुछ अश को विशेषत उसके पूर्वभाग को, स्थानान्तरित एव सक्षिप्त कर दिया प्रतीत होता है।[५७] दूसरी ओर महासाघिको मे इस परम्परा ने और पुष्टि पायी। स्थविर, बोधिसत्त्व एव बुद्ध को महापुरुष, किन्तु मनुष्यमात्र मानते थे, जिनके उपदेशो का अनुसरण उपयोगी है, जीवन का अनुकरण अथवा भक्ति की भावना कम। महासाघिको मे बुद्ध को लोकोत्तर अवधारित किया गया तथा बोधिसत्त्व की भी अलौकिकता स्थापित की गयी। बुद्ध के सर्वज्ञत्व, करुणा आदि गुण अर्हतो मे नही पाये जाते प्रत्युत उनमे अनेक दोष सम्भाव्य रहते है। अतएव बुद्ध और अर्हत् के पूर्व-जीवन और साधन मे भी भेद होना चाहिए। बुद्धत्व पर जितना ही मनन किया गया उतनी ही बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता अधिकाधिक प्रकट हुई। बुद्ध की रूपकाय अथवा भौतिक देह को अनास्रव अथवा विशुद्ध मानना होगा। अत उनका जन्म भी साधारण जन्म से भिन्न और अलौकिक होना चाहिए। अन्ततोगत्वा महासाघिको ने बुद्ध के लौकिक जीवन को उनकी मायिक

५६—दे०—ऊपर।

५७—द्र०—फ्राउवाल्नर, पूर्वोद्धृत, पृ० ४६ प्र०।

लीलामात्र माना।[५८] बुद्ध वस्तुत तुषितलोक मे ही नित्य-प्रतिष्ठित है।[५९] केवल उनके निर्माण काय ने ही लोक मे प्रकट होकर लोकानुग्रह किया।

महासाघिको का बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता का यह सिद्धान्त उनकी ओर भक्ति-भाव से अविनाभूत है तथा महायान से साक्षात् सम्बन्ध रखता है। माहायानिक त्रिकायवाद एव भक्ति का मूल माहासाघिक सिद्धान्तो में ही खोजना चाहिए। प्रकारान्तर से भी महासाघिकों में महायान की अवतारणा देखी जा सकती है। अनास्रव-रूप-काय की कल्पना को ही बुद्ध-प्रतिमा के आविर्भाव मे प्रधान कारण मानना चाहिए। प्रचलित अग-विद्या में चक्रवर्ती महापुरुषो के लक्षण सगृहीत किये गये थे। इस अग-विद्या का उद्‌गम और प्रारम्भिक विकास सम्भवत. ईसापूर्व पाँचवी से तीसरी शताब्दी के अन्तराल में सम्पन्न हुआ जब शाखामनी साम्राज्य के प्रसार काल में 'बावेरू' से भारत का सम्पर्क बढा तथा ब्राह्मण-साहित्य में आभासित 'चक्रवर्ती सम्राट्' का आदर्श समकालीन राजनीतिक घटनाओ, अर्थशास्त्र, एव महाभारत के प्रभाव से जन-चेतना में विरूढ हुआ।[६०] चक्रवर्ती के ३२ लक्षण और ८० अनुलक्षण परिगणित किये गये।[६१] इसी काल में बुद्ध को धार्मिक चक्रवर्ती के रूप में कल्पित किया गया। महापरिनिर्वाण सूत्र के सम्पादन और समुपबृहण में इस धारणा का प्रभाव देखा जा सकता है।[६२] अशोक की धर्म-विजय के पीछे भी 'चक्रवर्तिसिंहनाद-सूत्र' आदि आगमिक सन्दर्भों का प्रभाव सलक्ष्य है।[६३] फलत चक्रवर्ती के लक्षणो के अनुसार भगवान् बुद्ध की रूप-काय अथवा भौतिक

५८—उदा० द्र०—बारो, ले सेक्त, पृ० ५७ प्र० ।

५९—क्विदेट्स कमेन्टरी, पृ० २११ ।

६०—अंगविद्या का प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में अनेकत्र तिरस्कारपूर्वक उल्लेख मिलता है, द्र०—अंगविज्जा, भूमिका, पृ० ३६, जैन अंगविज्जा में इस शास्त्र का मूल 'दिट्ठिवाय' में कहा गया है (वही, पृ० १) जो अज्ञेय नहीं प्रतीत होता। तु०—सुत्तनिपात, नालक सुत्त, जहाँ 'असित ऋषि' को 'लक्खणमन्त-पारगू' कहा गया है।

६१—चक्रवर्ती पर दे०—दीघनिकाय के चक्कवत्तिसुत्त तथा लक्खणसुत्त, जिनके अनुसार बत्तीस लक्षण सम्पन्न महापुरुष या चक्रवर्ती धर्मराज होता है, या सम्यक् सम्बुद्ध (दीघ (ना०), जि० ३, पृ० ११०), तु०—भंडारकर अशोक, पृ० २३३।

६२—तु०—प्रिलुस्कि, जे० ए० १९१८, जि० ११, पृ० ५०८ आदि।

६३—भंडारकर, अशोक, पृ० २३३ प्र०।

देह की भी कल्पना की गयी। हीनयान के स्थविर-सम्प्रदायो के लिए भी 'बुद्धानुस्मृति' एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधन था।[६४] जातक कथाओ के प्रचार, पूर्व-बुद्ध एव बोधिसत्त्वो की कल्पना तथा लोकोत्तरवाद ने बुद्ध-विषयक अनुस्मृति एवं भक्ति को बढावा दिया। दीघनिकाय मे छ बुद्धो का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमे बुद्ध की जीवनी एक अनिवार्य धर्मता का अग बन गयी, तथा भावी बुद्ध 'मैत्रेय' का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।[६५] अशोक ने कोणागमन नाम के बुद्ध का उल्लेख किया है।[६६] यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्व ही बौद्धो मे एक प्रकार की तीर्थ-यात्रा का महत्त्व प्रचलित हो गया था। जातक-कथाएँ चार आगमो अथवा निकायो मे भी पायी जाती हैं तथा कुछ सम्प्रदायो के विनय मे भी इनका विशेष महत्त्व था।[६७] तथागत की तीन विद्याओं' मे 'पूर्व निवासानुस्मृति' अत्यन्त प्राचीन काल से परिगणित थी।[६८] यही जातक-कथाओ का वास्तविक मूल है। अवश्य ही इस प्रसग मे प्रचलित लोक कथाओ का सहारा लिया गया और अनेक जातक-कथाओ का परिनिर्वाण के दो सौ वर्षो के अन्दर विनय और चार आगमो मे समावेश हुआ। जातको का विकास बोधिसत्त्व की महिमा की वृद्धि प्रदर्शित करता है। बोधिसत्त्व के द्वारा नाना पारमिताओ के साधन की कथाएँ भी बाहुल्यप्राप्त हुईं जैसा चर्यापिटक एव महावस्तु से उदाहृत होता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे जातक और बुद्ध जीवनी को प्रस्तर कला ने मूर्त रूप देना आरम्भ किया। किन्तु इस कला मे बुद्ध की रूप-काय का प्रदर्शन न कर उसे केवल सांकेतिक रूप मे ही आलिखित किया जाता था। इसका कारण कदाचित् यह धारणा थी कि बुद्ध की रूप-काय सास्रव एव मर्त्य है जबकि उनका बुद्धत्व अमूर्त तथा बुद्धिमात्रगम्य है। किन्तु पक्षान्तर मे अगविद्या के अनुसार बुद्ध का कायिक रूप निर्धारित हो चुकने पर श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनुस्मृति के प्रसग मे उनकी मानसिक प्रतिमा का निर्माण और पूजन सिद्ध ही था। महासाघिको ने रूप की अनास्रवता की सम्भावना दिखलाकर इस

६४—बुद्धानुस्मृति पर दे०—बुद्धघोस, विसुद्धिमग्गो, पृ० १३३ प्र०।

६५—दीघ (ना०), जि० २, पृ० ४ प्र०, वही, जि० ३, पृ० ६०।

६६—द्र०—निगाली सागर स्तम्भ अभिलेख।

६७—जातकों पर द्र०—राइज डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, प्र० १८९ प्र०, विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ११५ प्र०, गाइगेर, पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृ० २१–२२।

६८—उदा० मज्झिम (ना०), जि० १, पृ० ३०, जातकट्ठकथा, जि० १, पृ० ६६, बुद्धचरित, १४, २–६।

मानसिक प्रतिमा की भौतिक अभिव्यक्ति का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। वस्तुत निर्माण-काय एव निर्माण-चित्त के अभेद के कारण यह कहा जा सकता है कि जो बुद्ध की देह लोक-लोचन-समक्ष भौतिक प्रतीत होती है वह वास्तव मे निर्माण-चित्त और प्रभास्वर विमल सत्त्व ही है। इसके अतिरिक्त बुद्ध की लोकोत्तरता एव दिव्यता स्वय देवान्तरवत् उनके प्रतिमा-निर्माण की माँग करती है। मथुरा मे यक्ष-प्रतिमाएँ तथा गन्धार मे 'अपोलो' की प्रतिमाएँ इस मूर्त-रूप-विधान मे सहायक दृष्टान्त के रूप मे पहले से ही विद्यमान थी।[६९]

चित्त की स्वाभाविक प्रभास्वरता एव विमलता प्राचीन सूत्रो मे सकेतित है। महासाघिको ने इस तत्त्व को स्वीकार कर उद्घोषित किया तथा यही माहायानिक विज्ञानवाद का बीज है। दूसरी ओर कुछ महासाघिक सम्प्रदायो ने सब लौकिक धर्मो को प्रज्ञप्तिमात्र बताकर मांहायानिक मायावाद एव शून्यवाद की भूमिका प्रस्तुत की। महासाघिको की वेतुल्यक शाखा को तो बुद्धघोष ने महाशून्यवादी बताया है।[७०] कुछ अन्य हीनयानी सम्प्रदायो ने भी महायान के विकास में योगदान किया। इस प्रसग मे सर्वास्तिवादी और धर्मगुप्त सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[७१]

हरिवर्मा के सत्यसिद्धि सम्प्रदाय को अर्घ-महायानिक तथा हीनयान और महायान के बीच का सक्रम कहा गया है।[७२] सत्यसिद्धि शास्त्र स्वय महायान-सूत्रो से परवर्ती है, यह सम्भव है कि सम्प्रदाय के मूल-भूत ग्रन्थ प्राचीनतर रहे है।[७३]

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि महायान के विकास मे निम्नोक्त कारणो को उत्तरदायी ठहराना चाहिए—बुद्ध देशना के पारमार्थिक अश एव बुद्ध-जीवनी पर मनन और ध्यान, दार्शनिक विचार एव आध्यात्मिक अनुभव की सहज वैकासिक गति, अनेक हीनयानी सम्प्रदायो के सिद्धान्त और साहित्य, विशेषत महासाघिको के, प्रचार

६९—बुद्ध-प्रतिमा पर द्र०—कुमारस्वामी, ए फिगर ऑव् स्पीच ऑर फ़िगर ऑव थॉट; पक्षान्तर में द्र०—फूशेर, लार ग्रेकोबुद्धीक दु गन्धार, ग्रूनवेदेल, बुधिस्ट आर्ट इन इण्डिया।

७०—द्र०—डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० २०६ प्र०।

७१—तु०—दत्त, महायान, पृ० २६ प्र०, बारो, ले सेक्त, पृ० २९६ प्र०।

७२—बारो, पूर्वोद्धृत, १०८१ प्र०, सोगेन, सिस्टम्ज ऑव् बुधिस्ट थॉट, पृ० १७२ प्र०।

७३—तु०—दत्त, पूर्वोद्धृत, पृ० ६५। सत्यसिद्धि सम्प्रदाय पर द्र०—सोगेन, वहीं।

एव प्रसार के प्रसग मे धर्म को जनाकर्षक और मूर्त रूप देने का प्रयत्न विशेषत प्रत्यन्तिम जनपदो मे। यह सभव है कि महायान के इस उद्गम मे ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव भी लक्षित करना चाहिए। जिस प्रकार आभिधर्मिक चिन्तन मे साख्य और सम्भवतः वैशेषिक दर्शनो का प्रभाव प्रतीत होता है, वैसे ही महायान पर औपनिषद अनिर्वचनीय ब्रह्मवाद एव मायावाद का तथा भागवत धर्म के अवतारवाद एव भक्ति के तत्त्वो का प्रभाव कदाचित् स्वीकार करना चाहिए। कुछ विद्वानो ने वैदेशिक धर्मों का प्रभाव भी सुझाया है। किन्तु वह सम्भाव्य होते हुए भी प्रमाणित नही माना जा सकता।[७४]

महायान की उत्पत्ति के देशकाल को निर्धारित करने के लिए पहले यह अवधेय है कि दूसरी सगीति के समय हम वैशाली के 'प्राचीनक' भिक्षुओ को प्राची की प्रशसा मे यह कहते पाते है कि इसी भूभाग मे तथागत जन्म ग्रहण करते है।[७५] विनय मे शिथिल और अर्हतो के आलोचक ये भिक्षु महासाघिक नाम से प्रसिद्धि पाकर पहले वैशाली और पाटलिपुत्र मे केन्द्रित थे, पीछे अनेक शाखाओ मे विभक्त होकर मुख्य रूप से अन्ध्रापथ मे तथा गौण रूप से सुदूर उत्तर पश्चिम मे प्रसारित हुए। कथावत्थु के सर्वाधिक पीछे के भाग मे महासाघिको की परिणततम वैतुल्यक शाखा के मत का उल्लेख है, किन्तु महायान का उल्लेख नही है। महाशून्यतावादी वैतुल्यक महायान के आसन्नतम है। कथावत्थु का समय शेष पालि त्रिपिटक के साथ प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से पहले का मानना चाहिए तथा मोद्गलिपुत्त के द्वारा प्रारम्भ मे रचित होने के कारण अशोक के बाद। फलत वैतुल्यको को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे मानना उचित होगा। अन्ध्रक महासाघिको की एक शाखा पूर्वशैलीय थे। कहा जाता है कि इनके पास प्राकृत-निबद्ध प्रज्ञापारमिता-सूत्र थे।[७६] इन प्राकृतमयी प्रज्ञापारिमिता का इस समय कोई पता नही चलता, किन्तु एतद्विषयक उल्लेख महत्त्वहीन नही है, विशेषत यदि हम अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता की यह उक्ति स्मरण करे कि प्रज्ञापारमिता का उद्भव दक्षिणापथ में होगा, जहाँ से वह पूर्वदिशा को प्राप्त होगी और अन्तत उत्तर मे समृद्धि प्राप्त करेगी।[७७] अष्टसाहस्रिका का लोकरक्ष ने चीनी मे १४८ ई० मे अनुवाद कर दिया था।[७८] इन सब

७४–द्रे०—ऊपर।
७५–विनय (ना०) चुल्लवग्ग, पृ० ४२५।
७६–ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३३५।
७७–अष्टसाहस्रिका, पृ० २२५–२६।
७८–द्रे०—ऊपर।

तथ्यो का निर्गलितार्थ यह प्रतीत होता है कि अन्ध्रदेशीय महासाघिको की पूर्वशैलीय एव वैतुल्यक शाखाओ मे ईसा पूर्व पहली शताब्दी मे महायान का जन्म हुआ। भागवतोक्त भक्ति के जन्म के सदृश महायान के दाक्षिणात्य जन्म के समर्थन मे यह स्मरणीय है कि महायान के अधिकाश प्रधान आचार्य दाक्षिणात्य ही थे।[७९] एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'सद्धर्म' के लोपाभिमुख होने पर शातवाहन नाम का दाक्षिणात्य नरेश महायान के वैपुल्य सूत्रो का प्रचार तथा धर्म-रक्षा करेगा।[८०] अन्ध्रापथ से महायान ने मगध की यात्रा की। मगध महासाघिको का प्राचीन केन्द्र था। पुनश्च अन्ध्र और मगध दोनो ही उस समय बौद्ध तीर्थयात्रा के विशेष प्रदेश थे एव अन्ध्र से उत्तरगामी मार्ग-पद्धति मगधाभिमुख थी।[८१] मगध से महायान की यात्रा परिचित व्यापार-पद्धति से उत्तरापथ की ओर सम्पन्न हुई। यह स्मरणीय है कि उत्तरापथ से मगध का मार्ग बौद्ध यात्रियो से सुसेवित था क्योकि सभी समुदायो के भिक्षु एव श्रद्धालु उपासक भगवान् बुद्ध की लीला-भूमि के दर्शनार्थी रहते थे। उत्तरापथ मे उड्डियान एव बामियान तक लोकोत्तरवादियो के आवास पाये जाते थे। पहली शताब्दी ईसवीय के समाप्त होते-होते महायान सुदूर उत्तर-पश्चिम में भारत की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था तथा दूसरी शताब्दी से सुग्ध, पर्थव और खोतनी भिक्षुओ के सहारे महायान मध्य एशिया तथा चीन मे प्रसारित हुआ।

यह कहा गया है कि कनिष्ककालीन सगीति मे वसुमित्र के साथ ५०० बोधिसत्त्वो का उल्लेख महायानियो की उपस्थिति सूचित करता है।[८२] दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि अभिधर्ममहाविभाषा मे महायान के सिद्धान्तो का अनुल्लेख यदि गज-निमीलिका नही तो अवश्य ही महायान का गन्धार और कश्मीर मे तत्कालीन अप्रचार

७९—द्र०—बारो, लेसेक्त, पृ० २९७–९८।

८०—नागार्जुन और शातवाहन पर द्र०—लेवि, जे० ए० १९३६ (जन०-मार्च) पृ० ६१–१२१ तु०—कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, जि० २, पृ० ३७७।

८१—य्वान-च्वाङ् कलिंग से दक्षिण-कोशल और वहाँ से अन्ध्र पहुँचा था, वील, ट्रैवेल्स, जि० ४, पृ० ४१४, ४२०, तु०—रघुवंश, सर्ग ४ में रघु का मार्ग, प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त का मार्ग।

८२—द्र०—काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, पृ० ३७३, इसके विरोध में तु०—तकाकुसु जे० आर० ए० एस० १९०५।

अथवा अल्प-प्रचार सूचित करता है।[८३] इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि महायान का प्रारम्भ न किसी स्वतन्त्र विनय को लेकर हुआ था, न उसके अपने पृथक् आवास थे। इसी परिस्थिति का बहुत पीछे इ-चिंग ने उल्लेख किया है।[८४] महायानसूत्रो में किसी दर्शन अथवा सिद्धान्त का एक स्वतन्त्र शास्त्रीय प्रस्थान के रूप मे प्रतिपादन नही है, प्रत्युत बुद्ध, बोधिसत्त्व और प्रज्ञा का प्रचलित ढग से अर्चन-साधन-प्रधान विवरण है। अतएव यह सम्भव है कि कनिष्क के समय मे इन सूत्रो के अभिमत का प्रसिद्ध महासाघिक लोकोत्तरवादी अभिमत से वैशिष्ट्य प्राचीन वैभाषिको ने ठीक-ठीक हृदयगम न किया हो। पृथक् शास्त्र के रूप मे महायान की स्थापना, नागार्जुन, असग आदि आचार्यों के कार्य से ही सम्पन्न हुई। हीनयानी वसुबन्धु, सघभद्र आदि के ग्रन्थो मे महायान के अनुल्लेख के विषय मे यह स्मरणीय है कि कोशकार ने अपने को सम्भवत विभाषा के ही विचार-जगत् में सीमित रखा है और उनके खण्डन-मण्डन-परायण परवर्ती व्याख्याकारो ने कोश की प्रशस्त चहारदीवारी के भीतर ही अपने बौद्धिक अभियान तथा प्रत्यभियान किये हैं।

महायान के इतिहास के इस प्रकार तीन युग निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) बीज-काल : तथागत की सम्बोधि से वैतुल्यको तक (२) सूत्र-काल : ई० पू० १ ली शताब्दी से ई० ३ री शताब्दी तक, (३) शास्त्र-काल . नागार्जुन से परवर्ती।

(२) महायान-सूत्र—पूर्वरूप

'अतिरिक्त' पिटक—ऊपर कहा जा चुका है कि महायानियो का यह अभ्युपगम कि उनके सूत्र बुद्धोपदिष्ट है, स्वीकार नही किया जा सकता। इस प्रसग मे असग, शान्तिदेव, मञ्जुघोष-हास-वज्र आदि की युक्तियो से[८५] केवल इतना प्रमाणित होता है कि महायान मे विस्तारित सिद्धान्तो का सूक्ष्म मूल सम्भवत प्राचीन सूत्रो में उपलब्ध है तथा हीनयानी सम्प्रदायो के साहित्य के कतिपय अश महायान साहित्य के पूर्व रूप समझे जा सकते हैं। बुद्धाब्द की पहली शती में सूत्र और विनय ही बुद्धवचन के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके अनन्तर परिनिर्वाण से दूसरी और तीसरी शताब्दियो में नाना हीनयानी सम्प्रदायो के विकास के साथ सूत्रपिटक और विनयपिटक के अतिरिक्त

८३—वारो, पूर्व० पृ० २९९–३००।

८४—तकाकुसु, इ-चिंग, पृ० ७, १४–१५।

८५—द्र०—ऊपर, तु०—इ० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२५।

अभिधर्मपिटक, 'सयुक्तपिटक', 'बोधिसत्त्वपिटक', एव 'धारणीपिटक' का अभ्युदय हुआ।[८६] अभिधर्मपिटक वस्तुत. 'अपोक्रिफल' (apocryphal, अप्रामाणिक) होते हुए भी प्रामाणिक माना गया। कुछ सम्प्रदायो मे केवल अभिधर्म ही प्रामाणिक समझा गया। कौक्कुटिको के अनुसार सूत्र और विनय की देशना उपायमात्र है।[८७] सर्वास्तिवादी वैभाषिको ने स्पष्टत यह न कहकर व्यवहार मे अभिधर्म पर ही अपने विशिष्ट अभिमत आधारित किये, यहाँ तक कि उनके विरोध मे सौत्रान्तिको को पुनः सूत्रो को दुहाई देनी पड़ी। अभिधर्म की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए स्थविरो को भी तथागत के एक प्रकार से 'गुह्योपदेश' और उसकी अपनी विलक्षण परम्परा की कल्पना करनी पडी जैसी कि महायानियो ने अपने साहित्य के विषय मे की है।[८८]

महासाघिको की बहुश्रुतीय शाखा के साहित्य मे अभिधर्मपिटक के अतिरिक्त 'बोधिसत्त्वपिटक' एवं 'सयुक्तपिटक' भी सगृहीत थे।[८९] धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अतिरिक्त 'बोधिसत्त्वपिटक' तथा 'धारणीपिटक' अथवा 'मन्त्रपिटक' भी विदित था।[९०] यह स्मरणीय है कि महाव्युत्पत्ति में भी 'बोधिसत्त्वपिटक' का उल्लेख प्राप्त होता है। यह सम्भवत तन्नामक उस ग्रन्थ का निर्देश करता है जो चीनी त्रिपिटक में उपलब्ध है एव महायान की महारत्नकूट कोटि का है।[९१] किन्तु महासाघिको का बोधिसत्त्वपिटक सम्भवतः यह एकमात्र ग्रन्थ न होकर एक सन्दर्भराशि थी। वैतुल्यको 'वैतुल्य' का ही रूपान्तर मानने पर महायान के 'वैपुल्य-सूत्रो' का महासाघिक वैतुल्यको से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[९२, ९३]

८६—बारो, ले० सेक्त, पृ० २९६।

८७—वही, पृ० ७९।

८८—द्र०—अट्ठसालिनी, पृ० १२–१५।

८९—बारो, ले सेक्त, पृ० ८१, तु० श्वानच्वांग, ऊपर उद्धृत।

९०—बारो, पूर्व, पृ० १९०, वाटर्स, श्वानच्वांग, ऊपर उद्धत।

९१—तु०—नन्ज्यो, केटेलोग, स्तम्भ १३, संख्या १२।

९२—तु०—लॉ, डिबेट्स कमेन्टरी, भूमिका, पृ० ६; जे० आर० ए० एस० १९०७।

९३—तु०—शान्ति भिक्षु, महायान, पृ० १०। 'निकायसंग्रह' से पता चलता है कि वैपुल्यवादियो ने वैपुल्यपिटक, अन्धको ने रत्नकूट, सिद्धार्थको ने गूढ वेस्सन्तर राजगिरिको ने अंगुलिमालपिटक (? अंगुलिमाल सूत्र, नंज्यो ४३४), पूर्वशैलियो ने राष्ट्रपालगर्जित (? राष्ट्रपालपरिपृच्छा नन्ज्यो ८७३), की रचना की।"

पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीय सम्प्रदायो की प्राकृत प्रज्ञापारमिता का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। आरम्भ मे पारमिताओ की सामान्यत प्रशसा और उनके साधन की ओर प्रेरणा एक प्रकार के कथा-साहित्य मे प्रकाशित हुई। इसी युग मे प्रज्ञारूप पारमिता के दार्शनिक प्रतिपादन की आवश्यकता का भी अनुभव हुआ होगा।

द्वादश अंग—पारमिताओ की महिमा सर्वप्रथम 'जातको' मे प्रकट होती थी। जातक पहले सूत्रान्तो से अभिन्न थे। पीछे उनका पृथक् सग्रह और सख्यावृद्धि सम्पन्न हुई।[१४] सर्वास्तिवादियो और महासाघिको ने सूत्र, गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, इतिवृत्तक, अद्भुतधर्म, जातक और वैतुल्य नाम के नवाङ्गो के अतिरिक्त अन्य तीन अगो का आविष्कार किया—निदान, अवदान, और उपदेश।[१५] कुछ विद्वानो को 'वैदल्य' का 'वैपुल्य' से तादात्म्य अभीष्ट है।[१६] निदान साहित्य में पारमिताओ की भावना के द्वारा बोधिसत्त्व की चर्या का उल्लेख विवक्षित होना चाहिए जैसा जातक ठवण्णना की निदानकथा में उदाहृत है, किन्तु वस्तुत. 'निदान' का औपोद्घातिक विवरण के अर्थ में व्यापक प्रयोग उपलब्ध होता है। अवदान (पालि, 'अपदान') से बोधिसत्त्व अथवा विशिष्ट बौद्ध गण के चरित से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ विवक्षित हैं। इनका एक विशाल साहित्य आविर्भूत हुआ जिसका एक डग हीनयान में है तो दूसरा महायान में। इस प्रसग में अवदानशतक और दिव्यावदान उल्लेखनीय है। अवदानशतक की रचना सम्भवत दूसरी शताब्दी ईसवीय में हुई थी।[१७] दिव्यावदान वर्तमान रूप में और भी उत्तरकालीन प्रतीत होता है, किन्तु इसके कुछ अश विशेष प्राचीन हैं। दिव्यावदान

१४–द्र०—राइज डेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया, पृ० १८९ प्र०, विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ११५ प्र०, तु०—दत्त, महायान, पृ० ७ प्र०।

१५–द्वादशांग—"सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।
उपदेशाद्भुतो धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः॥"
(हरिभद्र, आलोक पृ० ३५), तु०—पूसे, कोश, ५–६, पृ० १९४, दत्त, महायान, पृ० ९।

१६–केर्न, मैन्युएल ऑव् बुधिज्म।

१७–तीसरी शताब्दी ई० में अवदानशतक का चीनी अनुवाद हो गया था—नन्जियो, केटलॉग, १३२४।१, दूसरी ओर दीनार का उल्लेख (वैद्य (सं०) अवदानशतक, पृ० २०७) पहली शताब्दी से अर्वाचीनता द्योतित करता है। तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २७९।

का मूल सर्वास्तिवादियो का विनयपिटक है, पर इसमें अनेक स्थलो पर महायान का सकेत है।[९८]

पहले कहा जा चुका है कि मूल-विनय में बुद्ध की जीवनी के अश संगृहीत थे। महासाघिको में बुद्ध-जीवनी का महत्त्व विशेष रूप से माना गया। लोकोत्तरवादियो के विनयपिटक का एक अश महावस्तु के नाम से शेष है।[९९] इसमें बुद्ध की जीवनी का प्राधान्य है तथा इसे 'अर्धमाहायानिक' अथवा हीनयान और महायान के बीच की साहित्यिक कडी माना जा सकता है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में एक बुद्ध की जीवनी जो 'विद्वानो' में परिगणित थी पीछे विस्तृत और परिवर्तित होकर महायान का प्रसिद्ध वैपुल्य सूत्र 'ललितविस्तर' बन गया।[१००] धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में बुद्ध की एक जीवनी "अभिनिष्क्रमण-सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध थी। इसका तीसरी शताब्दी ईसवीय में चीनी में अनुवाद सम्पन्न हुआ।[१०१] स्थविरवादियो की जातकट्ठकथावण्णना की 'निदान कथा' भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इसका मूल सम्भवत उस अट्ठकथा की परम्परा में था जो पालि त्रिपिटक के साथ भारत से सिंहल पहुँची।[१०२]

महावस्तु—महावस्तु अपने को मध्यदेशीय महासांघिक लोकोत्तरवादियों का विनयपिटक घोषित करता है।[१०३] इस विशालकाय ग्रन्थ के तीन भाग हैं। पहले में दीपंकर आदि नाना अतीत बुद्धो के समय में बोधिसत्त्व की चर्या का वर्णन है। दूसरे में तुषित लोक में बोधिसत्त्व के जन्म-ग्रहण से प्रारम्भ कर सम्बोधि-लाभ तक का विवरण

९८—एक ओर शार्दूलकर्णावदान का चीनी अनुवाद ई० २६५ में सम्पन्न हो गया था, दूसरी ओर दिव्यावदान में कुमारलात की 'कल्पनामण्डितिका' का प्रचुर उपयोग है—तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २८४, प्र०, वैद्य, (सं०), दिव्यावदान, भूमिका, पृ० ९–१२।

९९—दे०—नीचे।

१००—तु०—ललित: १–१३—"तद्भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्।" तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २४८, चीनी अनुवादो पर नन्जियो, केटेलाग, संख्या १५९, १६०, तु०—वैद्य, ललित०, भूमिका, पृ० ११।

१०१—विन्टरनित्स, पूर्व० स्थल।

१०२—तु०—फ्राउवाल्नर, पूर्व पृ० १५५ प्र०।

१०३—सेनार (Senart) ने महावस्तु का ३ जिल्दो में सम्पादन किया था (पेरिस, १८८२–९७)। अंग्रेजी अनुवाद, जे० जे० जोन्स, जि० १, लण्डन, १९४९, जि० २, वही, १९५२, जि० ३।

किया गया है। तीसरे भाग में 'महावग्ग' के सदृश संघ के प्रारम्भिक उदय का वर्णन है। किन्तु इस मूल विवरण सूत्र मे विविध और वहु-संख्यक जातक, अवदान आदि प्रतिविद्ध एवं प्रक्षिप्त मिलते है यहाँ तक कि बहुधा मूल सूत्र खोजना दुष्कर ही रहता है। महावस्तु 'बौद्ध संस्कृत' अर्थात् प्राकृत-प्रभाव से भ्रष्ट संस्कृत में लिखा हुआ है।[१०४] इसकी रचना समुपबृंहण एवं प्रक्षेप के द्वारा अनेक शताब्दियो में सम्पन्न हुई। 'होरा-पाठको' तथा हूण और चीनी लिपियो के उल्लेख से ग्रन्थ की वर्तमान रूप में समाप्ति गुप्तकालीन सूचित होती है। किन्तु इसका प्रारम्भ कम-से-कम अर्धसहस्राब्दी पहले रखना होगा।[१०५] अनेक स्थलो में महावस्तु के सन्दर्भ पालि त्रिपिटक के अत्यन्त सन्निकट है, और मूल परम्परा से अपना सम्पर्क प्रकट करते हैं।[१०६] यह उल्लेखनीय हैं कि महा-वस्तु में दो शैलियो का भेद आविष्कृत किया गया है।[१०७] जिससे भी महावस्तु का अंशतः प्राचीनत्व समर्थित होता है।

महावस्तु को 'हीनयान और महायान के मध्य मे पुल' वताया गया है[१०८] बोधि-सत्त्व और वृद्ध की लोकोत्तरता का सिद्धान्त इसमें स्पष्ट प्रतिपादित है।[१०९] अतीत और प्रत्युत्पन्न बुद्धो की कल्पनातीत सख्या वृद्धि में असकोच भी 'माहायानिकता' का प्रदर्शन करता है, यद्यपि अनेक अतीत बुद्धो की सत्ता स्थविरवादियो ने भी स्वीकार की है, तथा सर्वास्तिवादियो ने अनेक बुद्धो की विभिन्न क्षेत्रो में समकालिक सत्ता सिद्धान्तित की है।[११०] बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्वो की दस भूमियो का उल्लेख महायान के अत्यन्त निकट

१०४—बौद्ध संस्कृत पर एजर्टन का कार्य उल्लेख्य है।

१०५—तु०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० २४६–४७, हरप्रसाद शास्त्री, आइ० एच० क्यू० १९२५, सेनार, (सं०) महावस्तु।

१०६—विन्दिश, दी कम्पोजितियॉन देस महावस्तु, पूसे, ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२९, जोन्स (अनु०) महावस्तु में पालि-अभिसम्बन्ध बहुधा प्रदर्शित हैं।

१०७—तु०—बिमला चरन लॉ, ए स्टडी ऑव् दि महावस्तु, कीयका 'ए नोट' इत्यादि, पृ० ७ प्र० जहाँ ओल्डेनबर्ग और विन्दिश के विवेचन पर संक्षिप्त टिप्पणी है।

१०८—पूसें, ई० आर० ई० पूर्व० स्थल।

१०९—विशेषतः द्र०—जोन्स (अनु०) महावस्तु जि० १, पृ० ११२–५१, सेनार (सं०) महावस्तु, जि० १, पृ० १४२–९३।

११०—ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२९।

है।[111] इस प्रसग मे यह कहा गया है कि बुद्धत्व के प्रार्थियो के लिए ही इस 'दशभूमिक' का उपदेश करना चाहिए।[112] दूसरी ओर महावस्तु में अवलोकितेश्वर, अमिताभ, आदि का परिचय नही है तथा उसका 'कथासाहित्य' एव प्रमुख सिद्धान्त हीनयान के मण्डल के अन्तर्गत है।[113]

ललितविस्तर—ऊपर कहा जा चुका है कि अपने को 'वैपुल्य-सूत्र' स्थापित करते हुए भी 'ललितविस्तर' मूलत सर्वास्तिवादियो की बुद्ध-जीवनी थी।[114] यह सम्भव है कि कभी इसका आधार भी प्राकृत-निबद्ध परम्परा थी। प्राकृत का प्रभाव 'ललित-विस्तर' की पद्य-गाथाओ में स्पष्ट सलक्षित किया जा सकता है। गद्य के प्राचीनतर अशो में भी इस प्रकार का प्रभाव अलक्ष्य नही है। ये अश बहुधा पालि त्रिपिटक के प्राचीन अशो से आश्चर्यजनक सामञ्जस्य प्रदर्शित करते हैं।[115] ऐसा अनुमान युक्त प्रतीत होता है कि पालि और ललितविस्तर की परम्पराएँ किसी एक समान मूल की ऋणी हैं।

ललितविस्तर का प्रारम्भ और उपसहार स्पष्ट रूप से महायानिक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ललितविस्तर नाम के वैपुल्य-सूत्र के उपदेश के लिए बुद्ध से सहस्रो भिक्षुओ और बोधिसत्त्वो की परिषद् में नाना देवताओ की अभ्यर्थना तथा मौन के द्वारा उसका बुद्ध से स्वीकार वर्णित है। अन्त मे 'ललितविस्तर' का माहात्म्य गान किया गया है। बीच मे तुषित लोक से बोधिसत्त्व के बहुत विमर्श के अनन्तर मातृ-गर्भ में अवतार से आरम्भ कर सम्बोधि के अनन्तर धर्मचक्र प्रवर्तन तक का वृत्तान्त निरूपित किया गया है। प्राचीन विवरण से अधिकाश स्थलो में विशेषत. अभिनिष्क्रमण के अनन्तर मेल

१११–महावस्तु, जि० १, पृ० ६४ प्र०, महावस्तु (अनु० जोन्स) जि० १, पृ० ५३ प्र०, तु०—दत्त, महायान, पृ० २८६ प्र०, वहाँ इन दस भूमियो की अन्य सूचियों से तुलना प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है।

११२–महावस्तु, जि० १, पृ० १९३, वही, (अनु० जोन्स), जि० १, पृ० १५१।

११३–वही, पृ० ३३०, तु०—जोन्स, पूर्व, जि० १, भूमिका, पृ० १३ प्र०।

११४–ललितविस्तर, सम्पादित, राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा, १८७७, (अशुद्ध संस्करण), लेफमान द्वारा, १९०२, १९०८, प० वैद्य द्वारा, १९५८।

११५–उदा० तु०—ललित०, पृ० १८१–१८४, और मज्झिम (ना०), जि० १, पृ० २९९–३०२।

खाते हुए भी अनेक नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं।[116] वर्णन शैली में एक व्यापक माहायानिक 'वैपुल्य' अथवा विस्तार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

महायानसूत्र—विस्तार और परिचय

जैसा ऊपर देखा गया है, हीनयान का आगम अपेक्षाकृत सीमित और परिगणित है तथा उसका स्थविरवादी सस्करण अपने मूल रूप में प्रायः सम्पूर्णतया रक्षित है। महायान के सूत्रो और शास्त्रो का विपुल विस्तार इस समय काल-महिम्ना सस्कृत में अधिकाशत. उपलव्व न होते हुए भी उसके अनेक सकेत प्राप्त होते हैं। अपने मूल रूप में अवशिष्ट महत्त्वपूर्ण माहायानिक सूत्रों और शास्त्रो की संख्या दो दर्जन से विशेष अधिक नही है।[117] कुछ ग्रन्थो का इधर चीनी अथवा तिब्बती अनु-

११६—तु०—ललित, भूमिका (वैद्य), पृ० १०, विन्टरनित्स, जि० १, पृ० २५१-५२।

११७—मूलरूप में उपलब्ध मुख्य महायान सूत्र—प्रज्ञापारमिताएँ: शतसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० बिब्र०, इन्ड० १९०२-१४), पञ्चविंशतिसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० न० दत्त, लन्दन, १९३४), अष्टसाहस्रिका (बिब० इन्ड० १८८८ वोगिहारा का "अभिसमयालङ्कारालोक" का संस्करण, टोकियो, १९३२-३५), प्रज्ञापारमिताहृदय (सं० मैक्समूलर और नन्जियो, १८८४), सप्तशतिका (सं० तुच्चि०, रोम, १९२३; सं० मसुदा, जे० टी० यू०, १९३०), दशसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० कौनो, ऑस्लो, १९४१); अर्धशतिका (सं० लोइमान, स्त्रासबुर्ग, १९१२; कियोटो, १९१७), सुविक्रान्तविक्रामिपरिपृच्छा प्रज्ञा० (सं०, मत्सुमोटो; सं० हिकाटा, १९५८); समाधिराज (गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स), आर्यमैत्रेयव्याकरण (वही, जि० ४), वज्रच्छेदिका (सं०, मैक्समूलर, १८८८; गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स, जि० ४, कलकत्ता, १९५९); सद्धर्मपुण्डरीक (पीटर्सबर्ग, १९०८ प्र०); करुणापुण्डरीक (कलकत्ता, १८९८); कारण्डव्यूह (कलकत्ता, १८७३); सुखावतीव्यूह (ऑक्सफोर्ड, १८८३); सुवर्णप्रभास (कलकत्ता, १८९८; कियोटो, १९३१); राष्ट्रपालपरिपृच्छा (पीटर्सबर्ग, १९०१); काश्यपपरिवर्त (खंडित, शंघाई, १९२९); लंकावतार (कियोटो, १९२३); दशभूमिकसूत्र (यूट्रेक्ट, १९२६); गण्डव्यूह (सं० इजुमि, ओटानि विश्वविद्यालय, कियोटो)। मूल में उपलब्ध मुख्य महायान शास्त्र—नागार्जुन, मध्यमककारिका (प्रसन्नपदा के साथ सं०, पीटर्सबर्ग, १९०३ प्र०); मैत्रेयनाथ, अभिसमया-

वादो से "उद्धार" भी किया गया है।[118] दूसरी ओर 'शिक्षासमुच्चय' में प्राय १०० सूत्र-ग्रन्थो से उद्धरण उपलब्ध होते है।[119] महाव्युत्पत्ति मे १०५ सूत्रो के नाम संकीर्तित

लंकार (लेनिनग्राड, १९२९, टोकियो, १९३२–३५), इस पर हरिभद्र का आलोक, बड़ौदा, १९३२; असंग, महायानसूत्रालंकार (पेरिस, १९०७); योगाचारभूमिशास्त्र (अंशतः प्रकाशित, कलकत्ता, १९५७); वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (पेरिस, १९२५); दिङ्नाग, न्यायप्रवेश (बड़ौदा, १९३०), धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक (इलाहाबाद, १९४४; पटना, १९५३; रोम, १९६०), न्यायबिन्दु (चौखम्बा सं० सी०; पटना, १९५५); शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार (बिब० इन्ड्र, १९०१–१४; दरभंगा, १९६०), शिक्षासमुच्चय (पीटर्सबर्ग, १९०२), शान्तिरक्षित, तत्त्वसंग्रह (कमलशील की पंजिका के साथ, बड़ौदा, १९२६)।

११८–यथा आर्यदेव, चतुःशतक (अपूर्ण, विश्वभारती, १९३१; मूल के कुछ अंश, मेम० एशियाटिक सो० बं०, कलकत्ता, १९१४), चित्तविशुद्धिप्रकरण (पटेल, विश्वभारती)।

११९–शिक्षासमुच्चय में उद्धृत महायानसूत्रों की सूची––

(१) अक्षयमतिसूत्र
(२) अङ्गुलिमालिक
(३) अध्याशयसंचोदनसूत्र
(४) अनन्तमुखनिर्हारधारणी
(५) अपूर्वसमुद्गतपरिवर्त (सूत्र ?)
(६) अपरराजाववादकसूत्र
(७) अवलोकनासूत्र
(८) अवलोकितेश्वरविमोक्ष
(९) आकाशगर्भसूत्र
(१०) आर्यसत्यकपरिवर्त (सूत्र?)
(११) उग्रपरिपृच्छा या उग्रदत्त०
(१२) उदयनवत्सराजपरिपृच्छा
(१३) उपायकौशल्यसूत्र
(१४) उपालिपरिपृच्छा
(१५) कर्मावरणविशुद्धिसूत्र
(१६) कामापवादक सूत्र
(१७) काश्यपपरिवर्त
(१८) क्षितिगर्भसूत्र
(१९) गगनगंजसूत्र
(२०) गण्डव्यूह
(२१) गोचरपरिशुद्धिसूत्र
(२२) चतुर्धर्मकसूत्र
(२३) चन्द्रप्रदीपसूत्र
(२४) चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा
(२५) चुन्दाधारणी
(२६) जम्भलस्तोत्र
(२७) ज्ञानवतीपरिवर्त
(२८) ज्ञालवैपुल्यसूत्र

(२९) तथागतकोशसूत्र
(३०) तथागतगुह्यसूत्र
(३१) तथागतबिम्बपरिवर्त
(३२) त्रिसमयराज
(३३) त्रिस्कन्धक
(३४) दशधर्मसूत्र
(३५) दशभूमिकसूत्र
(३६) दिव्यावदान
(३७) धर्मसंगीतिसूत्र
(३८) नारायणपरिपृच्छा
(३९) नियतानियतावतारमुद्रासूत्र
(४०) निर्वाण (?—सूत्र?)
(४१) पितापुत्रसमागम
(४२) पुष्पकूटधारणी
(४३) प्रज्ञापारमिता—"महती", अष्टसाहस्रिका,
(४४) प्रव्रज्यान्तरायसूत्र
(४५) प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्यसूत्र
(४६) प्रातिमोक्ष
(४७) बृहत्सागरनागराजपरिपृच्छा
(४८) बोधिचर्यावतार
(४९) बोधिसत्त्वपिटक
(५०) बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष
(५१) बुद्धपरिपृच्छा
(५२) भगवती
(५३) भद्रकल्पिकसूत्र
(५४) भद्रचरीप्रणिधानराज
(५५) भिक्षुप्रकीर्णक
(५६) भैषज्यगुरुवैडूर्यप्रभसूत्र
(५७) मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूहालंकारसूत्र
(५८) मञ्जुश्रीविक्रीडितसूत्र
(५९) महाकरुणापुण्डरीकसूत्र
(६०) महामेघ
(६१) महावस्तु
(६२) मारीची
(६३) मालासिंहनाद
(६४) मैत्रेयीविमोक्ष
(६५) रत्नकरण्डसूत्र
(६६) रत्नकूट
(६७) रत्नचूडसूत्र
(६८) रत्नमेघ
(६९) रत्नराशिसूत्र
(७०) रत्नोल्काधारणी
(७१) राजाववादकसूत्र
(७२) राष्ट्रपालपरिपृच्छा
(७३) लङ्कावतारसूत्र
(७४) ललितविस्तर
(७५) लोकनाथव्याकरण
(७६) लोकोत्तरपरिवर्त
(७७) वज्रच्छेदिका
(७८) वज्रध्वजपरिणामना
(७९) वाचनोपासिकाविमोक्ष
(८०) विद्याधरपिटक
(८१) विमलकीर्तिनिर्देश
(८२) वीरदत्तपरिपृच्छा
(८३) शालिस्तम्बसूत्र
(८४) शूरङ्गमसूत्र
(८५) श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रासूत्र
(८६) श्रावकविनय

है जिनमे अधिकाश महायान के है।[१२०] पर महायान-साहित्य की वास्तविक विपुलता चीनी और तिब्वती त्रिपिटको तथा चीनी और तिब्वती यात्रियो एवं इतिहासकारो की कृतियो को देखने से ही विदित होती है।

(८७) श्रीमालासिंहनादसूत्र	(९३) सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश
(८८) सद्धर्मपुण्डरीक	(९४) सर्ववज्रधरमन्त्र
(८९) सद्धर्मस्मृत्युपस्थान	(९५) सागरमतिपरिपृच्छा
(९०) सप्तमैथुनसंयुक्तसूत्र	(९६) सिंहपरिपृच्छा
(९१) समाधिराज (चन्द्रप्रदीप)	(९७) सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र
(९२) सर्वधर्मवैपुल्यसंग्रहसूत्र	(९८) हस्तिकक्ष्यसूत्र

१२०—महाव्युत्पत्ति की सूची में त्रिपिटक, सूत्र, अभिधर्म, विनय आदि नाम हीनयान के साहित्य का संकेत करते हैं। स्पष्टतः हीनयानी ग्रन्थों को छोड़कर इस सूची में निम्नोक्त ग्रन्थराशि का परिचय दिया गया है—शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, अष्टसाहस्रिका, सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, पंचशतिका प्रज्ञापारमिता, त्रिशतिका प्रज्ञापारमिता, अवतंसक, बोधिसत्त्वपिटक, ललितविस्तर, समाधिराज, पिता-पुत्र समागम, लोकोत्तरपरिवर्त्तन, सद्धर्मपुंडरीक, गगनगंज, रत्नमेघ, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, विमलकीर्ति निर्देश, गंडव्यूह, घनव्यूह, आकाशगर्भ, अक्षमितिनिर्देश, उपायकौशल्य, धर्मसंगीति, सुविक्रांतविक्रामी, महाकरुणापुण्डरीक, रत्नकेतु, दशभूमिक, तथागतमहाकरुणानिर्देश, द्रुमकिन्नरराजपरिपृच्छा, सूर्यगर्भ, बुद्धभूमि, तथागताचिन्त्यगुह्यनिर्देश, शुरंगमसमाधिनिर्देश, सागरनागराजपरिपृच्छा, अजातशत्रु-कौकृत्य-विनोदन, संधिनिर्मोचन, बुद्धसंगीति, राष्ट्रपाल-परिपृच्छा, सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश, रत्नचूडपरिपृच्छा, रत्नकूट, महायान-प्रसाद-प्रभावन, महायानोपदेश, आर्य ब्रह्मविशेष-चिन्तापरिपृच्छा, परमार्थ-संवृत्ति-सत्य-निर्देश, मंजुश्री-विहार, महापरिनिर्वाण, अवैवर्त-चक्र, कर्म-विभंग, रत्नोल्का, गोचर-परिशुद्ध, प्रशांतविनिश्चय-प्रातिहार्य-निर्देश, तथागतोत्पत्ति-संभव-निर्देश, भवसंक्रांति, परमार्थधर्म-विजय, मंजुश्री-बुद्धक्षेत्र-गुणव्यूह, बोधिपक्ष-निर्देश, कर्मावरण-प्रतिप्रस्रब्धि, त्रिस्कन्धक, सर्ववैदल्यसंग्रह, संघाटसूत्र, तथागत-ज्ञान-मुद्रा-समाधि, वज्रमेरु-शिखरकुटागारधारणी, अनवतप्त-नागराज-परिपृच्छा, सर्वबुद्धविषयावतारज्ञानालोकालंकार, व्यासपरिपृच्छा, सुबाहुपरिपृच्छा,

नन्जियो के द्वारा संगृहीत चीनी त्रिपिटक की सूची[121] में सूत्र-पिटक अथवा सूत्र-काण्ड के अभ्यन्तर ५४१ महायान-सूत्रो का उल्लेख है। ये सूत्र सात वर्गों में विभक्त हैं—(१) पन्-ज्रो अथवा प्रज्ञापारमिता, (२) पाओ-चि, अथवा रत्नकूट, (३) ता-चि, अथवा महासन्निपात, (४) ह्वा-येन, अथवा अवतंसक, (५) न्ये-पन्, अथवा परिनिर्वाण, (६) वु-ता-पु-वाइ-चु-ई-चि, अथवा इन पाँच वर्गो के बाहर विविध अनूदित सूत्र, (७) तन्-इ-र्चि, अथवा अन्य सकृद् अनूदित सूत्र। पहले वर्ग में एकाधिक प्रज्ञापारमिता सूत्र संगृहीत है, दूसरे में ४९ सूत्र हैं जिनमें बृहत् सुखावतीव्यूह भी सम्मिलित है, तीसरे में चन्द्रगर्भ, क्षितिगर्भ, आकाशगर्भ आदि सूत्र सकलित है, चौथे में अवतसक सूत्र के दो अनुवाद तथा उसके अनेक खण्ड पृथक् रूप से उपलब्ध होते हैं, पाँचवें में परिनिर्वाण सम्बन्धी अनेक सूत्र है, छठें में सद्धर्मपुण्डरीक, सुवर्णप्रभास, ललितविस्तर, लङ्कावतार आदि सूत्र हैं, तथा सातवें में शूरङ्गम, महावैरोचन आदि सूत्रो का संग्रह है।

नन्जियो की सूची के विनयपिटक में उल्लिखित महायान ग्रंथो में सर्वाधिक महत्त्वशाली एक 'ब्रह्मजालसूत्र' है जिसका दीघनिकाय के ब्रह्मजाल से कोई सम्बन्ध नही है। चीनी ब्रह्मजालसूत्र एक प्रकार से महायान का विनय है। 'नन्जियो की सूची मे 'अभिधर्मपिटक' के अन्तर्गत महायान-ग्रन्थों में नागार्जुन, असङ्ग आदि के विरचित शास्त्र संगृहीत हैं। कजूर और तजूर नाम के तिब्वती सग्रहो मे[122] चीनी संग्रह से अनेक अंशो

सिंह-परिपृच्छा, महासाहस्रप्रमर्दन, उग्रपरिपृच्छा, श्रद्धाबलाधान, अंगुलिमालीय, हस्तिकक्ष्य, अक्षयमति-परिपृच्छा, महास्मृत्युपस्थान, शालिस्तम्ब, मैत्री-व्याकरण, भैषज्य-गुरुवैडूर्यप्रभ, अर्थविनिश्चय, महाबलसूत्र, वीरदत्त-गृहपति-परिपृच्छा, रत्नकरंडक, विकुर्वाणराजपरिपृच्छा एवं ध्वजाग्रकेयूर।

इनमें ९ ग्रन्थ विशेष रूप से पूजनीय माने जाते हैं। ये सब "वैपुल्य सूत्र" कहे जाते हैं एवं इनके नाम इस प्रकार हैं—अष्ट-साहस्रिका, प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास गंडव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज एवं दशभूमीश्वर।

१२१—बी० नन्जियो, ए कैटेलॉग ऑव दि चाइनीज ट्रेन्सलेशन ऑव दि बुधिस्ट त्रिपिटक (ऑक्सफोर्ड, १८८३)।

१२२—कंजूर में ११०८ तथा तंजूर में ३४५८ ग्रन्थ संगृहीत हैं। इनके "ज़ाइलोग्रेफ" (Xylograph) पहले तिब्बत में अनेकत्र, तथा पीकिंग में तैयार होते थे। कंजूर तथा तंजूर के पीकिंग संस्करण का सम्पूर्ण संग्रह पेरिस और ओटानी विश्वविद्यालय, जापान, में उपलब्ध है। ओटानी विश्वविद्यालय ने इस संस्करण को विशाल पुस्तकराशि के रूप में मुद्रित कर दिया है।

मे सादृश्य है। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट अवतसक, परिनिर्वाण आदि दोनो में उपलब्ध है, किन्तु तिब्वती सग्रह मे चीनी की अपेक्षा प्राचीन सूत्र कम है, तन्त्र तथा व्याख्या-साहित्य अधिक।

ऊपर के विवेचन से तथा चीनी अनुवादो की तिथियो से प्रतीत होता है कि महायानसूत्रो का रचनाकाल सामान्यत पहली शताब्दी ईसा-पूर्व से चौथी शताब्दी तक मानना चाहिए।[123] यद्यपि ये सूत्र कहे जाते है तथापि शैली मे पुराणो के निकट है। विस्तार से प्रतिपादन एव एक ही बात को बारबार दुहराना इनकी विशेषता है। सब प्रकार की अतिशयोक्ति भी इन ग्रन्थो मे प्रचुरमात्रा मे उपलब्ध होती है। बहुधा दीर्घ समासो का प्रयोग भी प्राप्त होता है। पिछले हीनयान के पिटक का ज्ञान भी इनमें पुरस्कृत है। प्राय हीनयानसम्मत नाना धर्मों की अपारमार्थिकता का द्योतन ही इन ग्रन्थो का लक्ष्य है जिसके साथ शून्यता का प्रतिपादन एव बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो की अलौकिक महिमा का ख्यापन अभेद्य रूप से जुडे हुए है।

प्रज्ञापारमिता सूत्र

प्रज्ञापारमिता सूत्रो के अनेक छोटे-बडे सस्करण प्राप्त होते है और ये महायान सूत्रो मे कदाचित् सबसे प्राचीन है। इनमे शून्यता का अनेकधा प्रतिपादन किया गया है। बुद्ध एव उनके किसी शिष्य विशेषत सुभूति के परस्पर सवाद के आधार पर इन सूत्रो की रचना हुई है। इन सूत्रो की प्राचीनता का सकेत इससे उपलब्ध होता है कि नन्जियो के अनुसार १४८ ई० के लगभग ही लोकरक्ष ने 'दशसाहस्रिका' प्रज्ञापारमिता का चीनी में अनुवाद कर दिया था।[124] नागार्जुन के द्वारा प्रज्ञापारमिताशास्त्र की व्याख्या से भी इन सूत्रो की प्राचीनता सिद्ध होती है। नागार्जुन की व्याख्या पञ्चविंशति० की बतायी गयी है, किन्तु कदाचित् अष्टसाहस्रिका की रही हो।[125] अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे कहा गया है कि पारमिताओ का उपदेश करनेवाले ये सूत्रात तथागत के निर्वाण के अनन्तर दक्षिण मे तथा वहाँ से पूर्व की ओर प्रचारित होगे

१२३–चीनी, अनुवादो पर द्र०—नन्जियो, पूर्व०; बागची, ल कानो बुद्धीकआंशीन, जि० (पेरिस, १९२७, १९३८), विन्टरनित्स, पूर्व०, बहुत्र।

१२४–अष्टसाहस्रिका, द्र०—दत्त, महायान, पृ० २२३–२५; तु०—एडवर्ड कोन्ज, दि प्रज्ञापारमिता लिटरेचर (१९६०), पृ० २६, ५०–५१।

१२५–लामोत, लत्रेते, भूमिका; दत्त, वहीं।

एवं पूर्व से उत्तर की ओर उनका प्रचार होगा।[१२६] तारानाथ के अनुसार प्रज्ञापारमिता का महापद्म के अनन्तर उडीसा (ओडिविश) में आविर्भाव हुआ।[१२७] पूर्वशैलीयो की प्राकृत प्रज्ञा का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।[१२८] श्वाञ्वाग ने बारह विभिन्न प्रज्ञापारमिताओ का अनुवाद किया था जिसमे शतसाहस्रिका से लेकर सार्धशतिका तक सगृहीत हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि चीनी त्रिपिटक के पहले वर्ग में विभिन्न प्रज्ञापारमिताएँ सन्निविष्ट है। कंजूर मे भी शतसाहस्रिका, पंचविंशति साहस्रिका, अष्टादशसाहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, अष्टशतिका, सप्तशतिका, पंचशतिका, वज्रच्छेदिका, अल्पाक्षरा एवं एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता का सग्रह है। संस्कृत मे शतसाहस्रिका, पचविंशति, अष्टसाहस्रिका, सार्धद्विसाहस्रिका, सप्तशतिका, वज्रच्छेदिका, अल्पाक्षरा, एवं प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र उपलब्ध होते है।[१२९] यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि इन सब में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम है। तारानाथ के अनुसार इसका पहले मजुश्री ने प्रचार किया।[१३०] इसी के विस्तार एव सक्षेप के द्वारा विपुलतर एव अल्पतर प्रज्ञापारमितासूत्रों की उत्पत्ति माननी चाहिए।[१३१] सम्भोगकाय एव भूमियो

१२६–अष्टसाहस्रिका, पृ० २२५—"इमे खलु पुनः शारिपुत्र षट्पारमिताप्रतिसंयुक्ताः सूत्रान्तास्तथागतस्यात्ययेन दक्षिणापथे प्रचरिष्यन्ति दक्षिणापथात् पुनरेव वर्तन्यां प्रचरिष्यन्ति वर्तन्याः पुनरुत्तरापथे प्रचरिष्यन्ति—"। इसके विपरीत नागार्जुन के महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र के अनुसार बुद्ध ने प्रज्ञापारमिता का पूर्व में अर्थात् मगध में उपदेश किया, उनके निर्वाण के अनन्तर प्रज्ञा० ने दक्षिणापथ का अवलम्बन किया, वहाँ से उसकी पश्चिम यात्रा सम्पन्न हुई, तथा अन्ततः बुद्धाब्द की पञ्चशती होने पर प्रज्ञा० उत्तरापथ पहुँची—द्र०—लामात लत्रेते, जि० १, पृ० २४–२५।

१२७–तारानाथ, पृ० ५८ सौत्रान्तिकों के अनुसार यह अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता थी (वहीं)।

१२८–द्र०—कौन्ज, पूर्व, पृ० ९।

१२९–प्रज्ञापारमिता सम्बन्धी साहित्य का 'विस्तृत निर्देश—कौन्ज, पूर्व० पृ० ३७–११७।

१३०–तारानाथ, वहीं।

१३१–अन्य मत (क) मूल प्रज्ञापारमिता के संक्षेप के द्वारा अल्पतर प्रज्ञाओं की क्रमिक उत्पत्ति, यथा नेपाली परम्परा जो मूल प्रज्ञापारमिता को सवा लाख

के विषय में मौन भी अष्टसाहस्रिका को शत० और पचविंशति० से प्राचीन सिद्ध करता है।[132]

अष्टसाहस्रिका में ३२ परिवर्त अथवा विवर्त है। गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते हुए भगवान् बुद्ध के अनुभाव से स्थविर सुभूति को महाप्रज्ञापारमिता का प्रतिभान हुआ और उन्होने शारिपुत्र को एक अद्भुत सर्वसहारी मायावाद एवं अद्वयवाद का उपदेश किया जिसमें समस्त सूत्र का सार संगृहीत है। परमार्थत. सभी कुछ शून्य है। 'प्रज्ञापारमिता' एवं 'वोधिसत्त्व' इन शब्दो का भी कोई वास्तविक अर्थ नही है। भावना करने वाला चित्त स्वयं अचित्त एव भास्वर है। निर्विकारता एवं निर्विकल्पता ही अचित्तता है[133]। कोई भी 'धर्म'—प्रज्ञापारमिता तक—स्वभाव-संयुक्त नही है। स्वभाव भी नि स्वभाव है। अविद्यमान धर्मों की विद्यमानतया प्रतीति ही अविद्या है। न महायान और न बुद्ध वास्तविक है। सब धर्मो का अनुत्पाद और अद्वैत ही सत्य है। अतएव सभी धर्मों में अनिश्रय ही प्रज्ञापारमिता का मर्म है।

शतसाहस्रिका में ७२ परिवर्त्त हैं। इसका भी गृध्रकूट में तथागत की सभा से प्रारम्भ होता है। किन्तु अष्टसाहस्रिका की अपेक्षा इसमें अतिशयोक्ति और वर्णाढ्यता अत्यधिक है। अधिकाश में **अष्टसाहस्रिका** का विस्तार होते हुए भी इसमें कुछ नवीन विकास द्रष्टव्य है। **पंचविंशतिसाहस्रिका** अपने मूल रूप में लुप्त हो चुकी है, किन्तु **मैत्रेयनाथ** ने इसका सार **'अभिसमयालंकार'** में सगृहीत किया था एवं पीछे **'अभिसमया-लंकार'** के अनुसार सशोधित एक सस्करण **पंचविंशति०** का प्रस्तुत हुआ था[134]। यह 'सशोधित' सस्करण मूल रूप में उपलब्ध है। **अष्टादशसाहस्रिका** एवं दश० भी मूल रूप में लुप्त है। **वज्रच्छेदिका** उपलब्ध है और स्वल्पाकार है। इसमें कहा गया है—'योऽसौ तथागतेन धर्मोऽभिसम्बुद्धो देशित. अग्राह्य. सोऽनभिलाप्य: न स धर्मोनाधर्म.'[135]।

श्लोकों का बताती है (द्र०—विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ३१७) (ख) अथवा संक्षेप मूल प्रज्ञापारमिता के संमुपबृंहण से विपुलतर प्रज्ञाओं का आविर्भाव तथा तुचि, सप्तशतिका, भूमिका। तु०—सत्सुमोटो, दी प्रज्ञा-पारमिता लितेरातूर, कोन्ज, पूर्व०, पृ० १७–१८, दत्त, महायान, ३२८–३२।

१३२–समुचित विवेचन द्र०—दत्त०, पूर्व०पृ०, ३२५—८।

१३३–अष्ट०, पृ० ४–६; तु०—शत०, पृ० ४९५।

१३४–हरिभद्र अथवा सिंहभद्र के द्वारा धर्मपाल के समय में—द्र०—तारानाथ, पृ० २१९; तु०—बुदोन, जि० २, पृ० १५६–६०।

१३५–गिलगित मैनस्क्रिप्ट्स, जि० ४, पृ० १४६।

अवतंसकसूत्र के नाम से चीनी त्रिपिटक और 'कजूर' में विपुलाकार सूत्र उपलब्ध होते हैं। चीनी त्रिपिटक में अवतंसकसूत्र तीन शाखाओ में मिलता है जो कि क्रमश. ८०,६० और ४० चीनी जिल्दो में सम्पन्न है। पहली दो शाखाओं के सस्कृत मूल अप्राप्य हैं। तीसरी को 'गण्डव्यूह-महायानसूत्र' का अनुवाद बताया गया है। बुदोन के अनुसार अवतंसक में मूलत. १००,००० अध्याय थे जिनमें से केवल ४० शेष रहे[१३६]। **गण्डव्यूहमहायानसूत्र** मे सुधन नाम के कुमार का बोधिसत्त्व मजुश्री की प्रेरणासे सम्बोधि की खोज में परिभ्रमण वर्णित किया गया है[१३७]। अन्त में समन्तभद्र अथवा अमिताभ बुद्ध की कृपा से उसकी लक्ष्यपूर्ति होती है।

यह स्मरणीय है कि इन सूत्रो के आधार पर ही चीन में 'अवतसक' एवं जापान में 'के-गान' सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए जिनमें मजुश्री का विशेष महत्त्व है। तथागत की सागरमुद्रा से अवतसक-सिद्धान्त का जन्म माना जाता है। अनुश्रुत्या इस सिद्धान्त का उपदेश भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि के समनन्तर ही दिया था, किन्तु उस समय लोग उसे समझ नही पाये। धर्मकाय, धर्मतथता अथवा बुद्धस्वभाव को ही परमार्थ माना गया है। सब धर्मों में व्यावहारिक नानात्व, किन्तु सम्भेद होते हुए भी पारमार्थिक समता है। इस सिद्धान्त को योगाचार का एक विकास मानना चाहिए।

दशभूमिक-सूत्र अथवा **दशभूमीश्वर-सूत्र** भी कभी-कभी अवतसक का अंग माना जाता है। इसमे बोधिसत्त्व वज्रगर्भ के द्वारा बुद्धत्वप्राप्ति की भूमियो अथवा अवस्थाओं का उपदेश किया गया है। यह स्मरणीय है कि **महावस्तु** एवं **शतसाहस्रिका** में भी भूमि-विवरण मिलता है, किन्तु यहाँ अधिक विकसित और परिष्कृत है। इस सूत्र का प्राचीनतम चीनी अनुवाद धर्मरक्ष के द्वारा २९७ ई० मे हुआ था।

चीनी और तिब्बती त्रिपिटको में 'रत्नकूट' नाम से ४९ सूत्रो का सग्रह उपलब्ध होता है। तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट-धर्म-पर्याय' का कनिष्क के पुत्र के समय में आविर्भाव हुआ एव उसमें १००० काण्ड थे[१३८]। असग तथा शान्तिदेव के द्वारा 'रत्नकूट'

१३६—बुदोन, जि० २, पृ० १६९।

१३७—सुजुकि और इजुमि (सं०), गण्डव्यूहसूत्र (नवीन संशोधित संस्करण), उदा० प्रारम्भिक गाथाएं, ६–७; तु०—दिव्यावदान—सुधन कुमारावदान।

१३८—तारानाथ, पृ० ६३।

के उद्धरण प्राप्त होते हैं[139]। बुदोन के अनुसार 'रत्नकूट' के मूलत १००,००० अध्याय थे जिनमे से केवल ४९ शेष हैं[140]। (बृहत्) सुखावतीव्यूह, अक्षोभ्य-व्यूह, मजुश्री-बुद्ध-क्षेत्र-गुण-व्यूह। बोधिसत्त्व-पिटक, पिता-पुत्र-समागम, काश्यप-परिवर्त, तथा "राष्ट्रपाल-परिपृच्छा, उग्रपरिपृच्छा, अक्षयमतिपरिपृच्छा" आदि अनेक 'पृच्छाएँ' 'रत्नकूट' मे सगृहीत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत रत्नकूट नाम का एक धर्म-पर्याय-विशेष था, कालान्तर मे वही नाम एक सूत्र-सग्रह पर सक्रान्त कर दिया गया। कदाचित् काश्यपपरिवर्त ही मूल रत्नकूट था[141]। चीनी मे एक अल्पाकार रत्नकूट-सूत्र भी है जिसमे रत्नकूटसमाधि का विवरण है।

सस्कृत मे सुखावती-व्यूह के नाम से दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, एक बृहत् और एक सक्षिप्त[142]। दोनो मे अमिताभ बुद्ध का गुणगान है, किन्तु बृहत्-सुखावती मे कर्म का महत्त्व अक्षुण्ण है जब कि सक्षिप्त सुखावती मे मृत्यु के समय अमित का नाम-चिन्तन-मात्र बुद्ध-क्षेत्र मे उपपत्ति के लिए पर्याप्त समझा गया है[143]। बृहत्-सुखावती का प्राचीनतम चीनी अनुवाद ई० १४७-८६ के बीच सम्पन्न हुआ था। संक्षिप्त-सुखावती का प्राचीनतम अनुवाद कुमारजीव ने ४०२ ई० मे किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सुखावती-व्यूह को 'अमितायुससुत्र' अथवा 'अमितायुर्व्यूह-सूत्र' भी कहा जाता था। ये सूत्र जापान के 'जोड़ो' अथवा चीनी 'चि' एव 'शिन' सम्प्रदाय के प्रधान ग्रन्थ है। इस सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार तथागत ने सुखावती व्यूह का लोक मे प्रकाश अपने परिनिर्वाण के कुछ ही पहले किया था। काश्यप-परिवर्त अशत अगुत्तर-निकाय की याद दिलाता है। अन्यत्र बोधिसत्त्वो के गुणो का निरूपण है तथा शून्यता को नाना उपमाओ से समझाया गया है। उग्रपरिपृच्छा का १८१ ई० मे चीनी अनुवाद हो गया था। राष्ट्रपालपरिपृच्छा का अनुवाद ई० ५८९ तथा ई० ६१२ के बीच हुआ।

१३९—सूत्रालंकार, पृ० १६५, शिक्षा, पृ० ५२, ५४ इत्यादि।

१४०—बुदोन, वहीं।

१४१—फोन-श्तेल होल्स्ताइन के द्वारा मूल किन्तु खण्डित रूप में सपादित, शघाई. १९२६।

१४२—दोनो मैक्समूलर द्वारा सम्पादित (एनेक्डोटा आक्सोनियन्सिया, आर्यन सीरिज, जि० १, भा० २, १८८३)।

१४३—सुखावतीव्यूह, पृ० १४—२१।

इसमें अनेक जातक-कथाओं के उल्लेख के अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक ह्रास का सजीव चित्रण किया गया है।

सुखावती-व्यूह और अमितायुर्ध्यान-सूत्र मे[१४४] कुछ बुद्ध अमिताभ के साथ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का गुण-कीर्तन किया गया है। अनुवाद-मात्र-रक्षित **अक्षोभ्य-व्यूह** में अक्षोभ्य बुद्ध के क्षेत्र का विवरण है। **कारण्डव्यूह** मे[१४५] अवलोकितेश्वर की महिमा का विस्तार है। **कारण्डव्यूह** अथवा **अवलोकितेश्वर-गुण-कारण्ड-व्यूह** का एक प्राचीनतर गद्यमय रूप है तथा दूसरा अपेक्षाकृत उत्तरकालीन पद्यमय रूप है। पद्यात्मक कारण्डव्यूह मे एक प्रकार का ईश्वरवाद वर्णित है क्योंकि उसमें 'आदिबुद्ध' को ही ध्यान के द्वारा जगत्स्रष्टा कहा गया है[१४६]। आदिबुद्ध से ही अवलोकितेश्वर का आविर्भाव हुआ तथा अवलोकितेश्वर की देह से देवताओ का। गद्यात्मक **कारण्डव्यूह** मे आदिबुद्ध का उल्लेख नही है। यहाँ अवलोकितेश्वर की करुणा का प्रभूत विस्तार है। उनकी कृपा से अवीचि नरक का दिव्य रूपान्तर हो जाता है तथा प्रेत भूख-प्यास से मुक्त हो जाते हैं। अवलोकितेश्वर पचाक्षरी विद्या—ॐ मणिपद्मे हु-को धारण करते हैं।

करुणापुण्डरीक नाम का[१४७] सूत्र भी यहाँ उल्लेख्य है जिसमे पद्मोत्तर बुद्ध के पद्म-नामक लोक का वर्णन है। अवलोकितेश्वर की महिमा **शूरंगमसूत्र** (नजियो, सख्या ३९९) मे भी देखी जा सकती है। योगाचार की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका निदान अशत **शार्दूलकर्णावदान** के सदृश है। प्रथम अध्याय में सुकराती ढग के प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रभास्वर और विमल चित्त की पारमार्थिकता का प्रतिपादन है। वही तथागतगर्भ अथवा आलयविज्ञान है जिससे परिकल्पित आवरण के द्वारा ससार की प्रवृत्ति होती है। कहा जाता है कि सुवर्णप्रभाससूत्र[१४८] का चीन मे काश्यप मातग ने मिग-ति (ई० ५८-७५) के शासन-काल मे व्याख्यान किया था। धर्मरक्ष ने इसका चीनी अनुवाद ४१२-२६ ई० मे प्रस्तुत किया जो सस्कृत मूल के सदृश है। ई० ७०३ मे इ-त्सिग ने भारत से आनीत मूल का ३१ परिवर्तो मे अनुवाद किया जब कि धर्मरक्ष के अनुवाद मे १८ परिवर्त हैं। इस सूत्र के खोतनी और उइगुर अनुवादो का पता

१४४–द्र०—एस० बी० ई० जि० ४९, भाग २।

१४५–सं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८७३।

१४६–तु०—सुत्रालंकार, ९, ७७।

१४७–प्रकाशित, कलकत्ता, १८९८।

१४८–सं० इजुमि, कियोटो, १९३१।

चलता है। **सद्धर्मपुण्डरीक** तथा **प्रज्ञापारमिता** का **सुवर्णप्रभास** के वर्तमान रूप पर प्रभाव स्पष्ट है। निदानपरिवर्त को छोड कर पहले छ. परिवर्त ही कदाचित् मौलिक है। सर्षपमात्र भी बुद्ध धातु असम्भव कही गयी है क्योकि तथागत की धर्मकाय अमर है और लोक मे केवल उनकी निर्मितकाय का परिनिर्वाण देखा जाता है[१४९]।

योगाचार के लिए **लंकावतारसूत्र** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुप्तो के उल्लेख के कारण अपने वर्तमान रूप मे यह सूत्र चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नही हो सकता। ४४३ ई० में इसका पहला चीनी अनुवाद हुआ था जिसमे प्रथम, नवम और दशम परिवर्त उपलब्ध नही होते। नवम धारणीपरिवर्त है, दशम सगाथक, जिसमे ८०० से अधिक श्लोक है। स्पष्ट ही ये अश मूल सूत्र के अभ्यन्तर नही थे। सूत्र का दार्शनिक कलेवर दूसरे से सातवे परिवर्त तक विशेष रूप से विस्तृत है। पाँचवाँ और सातवाँ परिवर्त अल्पाकार है, चौथे मे बोधिसत्त्वभूमियो की चर्चा है। फलत दूसरा, तीसरा और छठाँ परिवर्त ही ग्रन्थ के मुख्य भाग है। इस मुख्याश को असग और वसुबन्धु के पूर्व का मानना चाहिए। इस प्रकार **लंकावतार** की रचना को दूसरी से पाँचवी शताब्दियो के अन्तराल मे रखना चाहिए। यह उल्लेख्य है कि इस सूत्र मे तथागतगर्भ के सिद्धान्त को भी एक प्रकार का उपायकौशल ही कहा है। सब कुछ प्रतिभासात्मक अथवा विकल्पात्मक भ्रान्तिमात्र है, केवल निराभास एव निर्विकल्प चित्त ही सत्य है, यही **लंकावतार** का मुख्य प्रतिपाद्य है।

समाधिराज अथवा **चन्द्रप्रदीपसूत्र** का आशय सदृश है। इसमें सर्वधर्मसमता का सर्वप्रथम अनुवाद कदाचित् अन-शिकाओ ने ई० १४८ मे किया था। इसमे तीन सगीतियो का उल्लेख भी मिलता है।

महायानसूत्रो मे एक ओर शून्यता के प्रतिपादन के द्वारा विशुद्ध निर्विकल्पज्ञान का उपदेश किया गया है, दूसरी ओर, बुद्ध की महिमा और करुणा के प्रतिपादन के द्वारा भक्ति उपदिष्ट है। दूसरी कोटि मे **सुखावतीव्यूह कारण्डव्यूह** आदि सूत्र अन्तर्गत है। इनमे सर्वाधिक महत्त्व **सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र** का है। इसमे गद्य और गाथाएँ मिले-जुले रूप मे उपलब्ध है। प्राय गाथाओ की भाषा प्राचीनतर प्रतीत होती है और सम्भवत. पधानसुत्त अथवा पव्वज्जसुत्त के समान मूल **सद्धर्मपुण्डरीक** गाथामय रहा हो जिसमे व्याख्या के रूप मे गद्य का समावेश और वृद्धि कल्पनीय है। २१ वे से २६ वे परिवर्त तक अपेक्षाकृत परवर्ती भाग प्रतीत होता है जिसमे गाथाएँ बहुत कम मिलती है।

१४९–सुवर्णप्रभास, पृ० १३–१४।

नागार्जुन ने इस सूत्र का उल्लेख किया है तथा २२३ ई० में इसका चीनी अनुवाद हुआ था। इसका रचनाकाल सम्भवत ईसवी सन् के आरम्भ के निकट मानना चाहिए। पाण्डुलिपियों और चीनी अनुवादों को देखने से सूझता है कि कदाचित् इस सूत्र की दो शाखाएँ थीं जिनमें एक अपेक्षाकृत स्वल्पाकार थी।

निदानपरिवर्त में **सद्धर्म०** को वैपुल्यसूत्रराज कहा गया है। 'उपायकौशल' में कहा है कि आपातत तीन यान हैं जबकि अन्तत एक बुद्धयान ही मानना चाहिए। श्रावक और प्रत्येक बुद्ध तथागत का आशय ठीक समझने के अधिकारी नहीं है, अतएव उनके लिए निर्वाण का मार्ग प्रदर्शित किया गया। अनेक परिवर्तों में इसका विस्तार एव उदाहरण दिये गये हैं। मार्गभेद वास्तविक नही, उपायमात्र है, हीनयान का लक्ष्य है एक विश्राममात्र।

अध्याय ९

बुद्ध और बोधिसत्त्व का रूपान्तर

बुद्ध की विभूति—त्रिकायवाद का वास्तविक मूल

भगवान् बुद्ध के समसामयिक उन्हे मरणधर्मा मनुष्य ही मानते थे। उनके शिष्य उन्हे सिद्ध, बुद्ध, महापुरुष समझते हुए भी उनके जन्म, शैशव, दार-परिग्रह, सन्तानोत्पत्ति, रोग, जरा एव मरण को अन्य मनुष्यो के सदृश और वास्तविक मानते थे। जन्म से मरण तक ये सब धर्म भौतिक देह के नियत अनुबन्धी हैं। भौतिक देह कर्मजन्य है, कर्ममय है—यह उपनिषदो मे, प्राचीन बौद्धो मे तथा अन्य परिव्राजको मे अभ्युपगत था। शाक्यमुनि के अन्तिम जन्म के पहले अनादि ससार-प्रवाह मे उनके असख्य पूर्व-जन्म स्वीकार करने होगे। इन पूर्वजन्मो के कर्म ने ही उन्हे अन्तिम जन्म की साधना के योग्य देह प्रदान की जो महापुरुषो के लक्षणो से समन्वित थी। सम्बोधि मे अशेष कर्मबीजो के दग्ध हो जाने से 'परिनिर्वाण' के साथ ही देह से उनकी अत्यन्त-निवृत्ति सम्पन्न हो गयी।

तथागत के मूल शिष्यो मे एव स्थविरवादियो मे यही धारणा प्रचलित रही है। किन्तु इसमे अनेक कारणो से सन्देह का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। ससारवादियो मे प्राय भौतिक देह के अतिरिक्त एक अभौतिक जीव अथवा आत्मा स्वीकार किया जाता था। इस जीव अथवा आत्मा के ही देह से सयोग अथवा वियोग होने पर जन्म, मृत्यु अथवा मोक्ष निष्पन्न होते हैं। बुद्ध-वचन मे आत्म-सत्ता मौन-कवलित है। अत देह का प्रतियोगी तत्त्व चित्त ही माना जाता था। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि निर्वाण में देह और चित्त-सन्तति का अत्यन्त निरोध होने पर क्या शेष रहता है? कुछ शेष रहता है, यह निश्चित है क्योकि तथागत ने उच्छेदवाद का स्पष्ट निषेध किया था। परिनिर्वाण के अनन्तर यदि तथागत की सत्ता अवर्णनीय है तो परमार्थत जीवन-काल मे भी वैसी ही मानना युक्त होगा। देहात्मक उपाधि से निर्दिष्ट सत्ता प्रज्ञप्तिमात्र, सवृतिमात्र है। तथागत की प्रातिभासिक सत्ता लोकवत् काय-चित्त-प्रतिमयुक्त है, उनकी पारमार्थिक सत्ता अवर्णनीय है। पहले यह कहा जा चुका है कि इस पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप का मूल बुद्धवाणी मे कुछ-कुछ वैसा ही सकेत है जैसा

उपनिषदो के अद्वैतपरक वचनों में आत्मा अथवा ब्रह्म का। सम्बोधि अथवा निर्वाण में द्वैताश्रित तर्क अथवा वाणी अवगाहन नही करती। इसी कारण सम्बुद्ध को 'ब्रह्मभूत' 'धर्मभूत', तथा 'धर्मकाय' कहा गया है। सम्बोधि में 'धर्म' की ही अधिगति होती है। 'धर्म' ही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप, वास्तविक बुद्ध है। प्रकारान्तर से इसे द्वैतातीत चित्त अथवा विज्ञान कहा जा सकता है—'अप्रतिष्ठित', 'विसंस्कारगत,' 'अनन्त', 'सर्वत.-प्रभ'। इसे सम्बोधि अथवा प्रज्ञा से भिन्न नही किया जा सकता। बुद्ध के सम्बोधिसार पारमार्थिक स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उन्हें मनुष्य अथवा देवता, मार अथवा ब्रह्मा सबसे विलक्षण मानना चाहिए[1]। ये सब त्रिलोकी के अन्त.पतित है, बुद्ध तदुत्तीर्ण। यही धारणा महायान में बुद्ध की 'स्वाभाविक-काय' अथवा 'धर्म-काय' का प्राचीन आधार है। वेदान्त के निर्विशेष सद्रूप निर्गुण ब्रह्म अथवा निर्विशेष चिद्रूप आत्म-तत्त्व से इसका दृष्टिभेद एवं साधन-भेद के कारण प्रतिपत्तिभेद होते हुए भी पारमार्थिक अभेद है।

प्राचीन काल से ही योगियो में यह परम्परा प्रचलित रही है कि योगाभ्यास से नाना सिद्धियो का लाभ होता है जिनमें भौतिक देह का रूपान्तर एक विशेष स्थान रखता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है 'न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु.—प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम्।" इस प्रकार की 'योगाग्निमय' अथवा 'सिद्ध' देह को साधारण पार्थिव देह कैसे माना जाय? जो योगी यथेष्ट रूप धारण कर सकता है, यथेष्ट जन्म-ग्रहण कर सकता है, जरा-मरण का वर्जन कर सकता है, यहाँ तक कि देहान्तर का यथेष्ट निर्माण कर सकता है, उसकी अपनी अजर, अमर, इच्छानुरूप देह को ऐश्वर्य-सम्पत्ति अथवा शक्तिमात्र के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? यही ऐश्वर्य-विग्रह महायान मे सम्भोग-काय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस रूप मे बुद्ध ईश्वर-तुल्य प्रतीत होते है।

साधको और सिद्धो के जीवनचरित के पर्यालोचन से यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि उनमे वैराग्य, शान्ति, अथवा शुद्धि समान रूप से होते हुए भी ज्ञान और ऐश्वर्य में भेद बना रहता है। इस कारण जहाँ अर्हत् और बुद्ध का भेद करना स्वाभाविक था, वही यह प्रश्न भी अनिवार्य था कि क्या बुद्ध-सदृश ऐश्वर्यशाली महापुरुष को कभी भी वस्तुत. अज्ञानी अथवा असमर्थ माना जा सकता है? क्या यह मानना ठीक नहीं होगा कि उनका लोक-जीवन केवल अनुग्रह के लिए प्रकाशित एक प्रकार की लीलामात्र

१—तु०—अंगुत्तर (रो०), जि० २, पृ० ३८।

है ? यदि कोई मनुष्य साधना के द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त करता देखा जाता है तथा अनेक अन्य मनुष्य आपाततः उसी साधना से समान फल नहीं प्राप्त करते, तो यह मानना उचित होगा कि वह मनुष्य वस्तुतः 'ईश्वर' का ही 'अवतार' है। 'ईश्वर' ही अपनी 'माया' अथवा अचिन्त्य-शक्ति से लोक में अवतीर्ण होते हैं तथा लोकसग्रह के लिए 'कर्म' करते हैं। लौकिक बुद्ध को भी ऐश्वर्यशाली अलौकिक बुद्ध का 'अवतार' अथवा 'निर्माण' मानना चाहिए। बौद्धो के निर्माण-काय को ही योगदर्शन में निर्माण-चित्त कहा गया है[2]। बाहर से कायवत् प्रतीत होते हुए भी यह वस्तुतः चित्त ही है। कर्मजन्य न होने के कारण शुद्ध और अभ्रान्त उपदेश का माध्यम यही हो सकता है। कपिल ने इसी के सहारे पञ्चशिख को उपदेश किया था। एक प्राचीन बौद्ध सन्दर्भ में भी 'मनोमय काय' के द्वारा साक्षात् उपदेश का उल्लेख है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि तथागत का अद्वय-ज्ञान और अलौकिक योग-बल ही महायान के 'त्रिकाय'—धर्मकाय, सम्भोगकाय, तथा निर्माणकाय—का वास्तविक मूल हैं। इन तीन कायो की तुलना क्रमशः 'ब्रह्म', 'ईश्वर' तथा 'अवतार' से की जा सकती है।

रूपकाय और धर्मकाय—हीनयानी सम्प्रदायो मे तथा प्रारम्भिक महायान-सूत्रो मे केवल दो कायो की ही चर्चा है—रूपकाय तथा धर्मकाय। अलग-अलग सन्दर्भो मे इन दोनो शब्दो का भी नाना विभिन्न अर्थो मे प्रयोग किया गया है। पीछे, विशेषतः विज्ञानवादी ग्रन्थो मे, त्रिकायवाद का स्पष्ट और उपर्युक्त शब्दो मे विवरण उपलब्ध होता है।

अपने दर्शनार्थी वक्कलि से तथागत की उक्ति—'अल वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्म पस्सति सो म पस्सति। यो म पस्सति सो धम्म पस्सति[3]।'—मे उनकी भौतिक देह को 'पूतिकाय' कहा गया है तथा धर्म को ही उनकी वास्तविक देह बताया गया है। यहाँ धर्म से तात्पर्य सम्भवतः देशना अथवा शासन से है। अन्यत्र धर्म-शासन को ही बुद्धस्थानीय मानकर उनके अनन्तर शास्तृपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। परवर्ती स्थविरवादी आचार्यो ने बुद्ध की रूप-काय एव धर्मकाय के भेद का उल्लेख

२—योगसूत्र, ४.४; द्र०—म० म० गोपीनाथ कविराज, निर्माणकाय, सरस्वती भवन स्टडीज़, जि० १।

३—संयुत्त (ना०) जि० २, पृ० ३४१।

किया है।[4] रूप-काय भौतिक देह है, महापुरुष-लक्षण, व्यञ्जनानुव्यञ्जन-प्रतिमण्डित। धर्म-काय उनका उपदिष्ट धर्म है अथवा उनकी विशुद्ध पुण्य-गुण-राशि है जिसमे शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, एव विमुक्तिज्ञानदर्शन नाम के पाँच स्कन्ध सगृहीत है। यह विचारणीय है कि यहाँ धर्म-काय का **दो भिन्न प्रकार** से निरूपण किया गया है। **अट्ठसालिनी** मे 'निर्मित' बुद्धो का उल्लेख है तथा अभिधर्म का परामर्श करते हुए बुद्ध की देह से छ वर्णों की रश्मियो के निर्गमन का भी उल्लेख है।[5] ये दोनो बाते सम्भवत. महायान-सूत्रो का प्रभाव द्योतित करती है।

सर्वास्तिवाद में बुद्ध—सर्वास्तिवादियो के आगमो मे देशित-धर्म-राशि के रूप में बुद्ध की धर्म-काय का विवरण मिलता है। **दिव्यवदान** में भी रूप-काय और धर्म-काय का भेद उल्लिखित है। श्रोण कोटिकर्ण की उक्ति है—'दृष्टो मयोपाध्यायानुभावेन स भगवान् धर्मकायेन, नोतु रूपकायेन[6]।' स्थविर उपयुक्त की भी ऐसी ही उक्ति दी गयी है—'यदहं वर्षशतपरिनिर्वृते भगवति प्रव्रजित', तद्धर्मकायो मया तस्य दृष्ट। त्रैलोक्यनाथस्य काञ्चनाद्रिनिभस्तस्य न दृष्टो रूपकायो मे[7]।' रूप-काय अनित्य है, किन्तु मृन्मयी देव-प्रतिमा के समान उसकी आकृति भी पूजनीय है। यह दृष्टिकोण ऊपर उल्लिखित 'किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन' से बहुत भिन्न है। पहले केवल धर्मकाय अथवा धर्म-शासन पर आग्रह था, यहाँ रूप-काय अनित्य होते हुए भी दर्शनीय तथा अर्चनीय मानी गयी है। यह दृष्टि-भेद एव भक्ति का उदय ही बुद्धप्रतिमा के आविर्भाव का प्रधान कारण था।

अभिधर्मकोश में बुद्ध-सम्बन्धी सर्वास्तिवादी विचारों का चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है। कोश के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि केवल बुद्ध ही सर्वज्ञ हैं। प्रत्येक बुद्ध और श्रावक क्लिष्ट-सम्मोह से मुक्त होते हुए भी अक्लिष्ट-सम्मोह से अत्यन्त-विनिर्गत नही होते। वे आवेणिक आदि बुद्ध-धर्मो को नही जानते, देशत. और कालत अति-विप्रकृष्ट अर्थो का ज्ञान नही रखते, तथा रूपादि धर्मो के भी अनन्त-प्रभेदो के ज्ञान से रहित हैं। इसके समर्थन में यशोमित्र एक सूत्र से उद्धृत करते हैं—"जानीषे त्व शारिपुत्र तथागतस्य शीलस्कन्ध समाधिस्कन्धं प्रज्ञास्कन्ध विमुक्तिस्कन्ध विमुक्तिज्ञानदर्शन-

४—द्र०—विसुद्धिमग्गो, सद्धम्मसंगहो; तु०—दत्त, महायान, पृ० १०१-२।

५—द्र०—ऊपर।

६—दिव्यावदान (ना०), पृ० ११।

७—वही, पृ० २२५।

स्कन्धमिति भगवता पृष्टेन स्थविरशारद्वतीपुत्रेणोक्त नोहीद भगवन्निति।"[८] अपनी ज्ञानमहिमा के कारण केवल बुद्ध ही सब जीवो मे कुशल-मूल पहिचान सकते है एव जगत् का दु ख-पक से उद्धार कर सकते है।[९]

आवेणिक धर्म--बुद्ध के अपने आवेणिक (असामूहिक, पृथक्, विशिष्ट) धर्म १८ है--दश बल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान, एव महाकरुणा। यशोमित्र इसे वैभाषिको का मत बताते है। अन्य आचार्यो के अनुसार आवेणिक धर्म इस प्रकार है--'नास्ति तथागतस्य स्खलित नास्ति रवित(=सहसा क्रिया), नास्ति द्रवता(=क्रीडाभिप्रायता), नास्ति नानात्वसज्ञा (=सुखदु खादु खासुखेषु विषयेषु रागद्वेषमोहतो नानात्वसज्ञा), नास्त्यव्याकृतमन, नास्त्यप्रतिसख्यायोपेक्षा, नास्त्यतीतेषु प्रतिहत ज्ञानदर्शनम्, नास्त्यनागतेषु प्रतिहत ज्ञानदर्शन, नास्ति प्रत्युत्पन्नेषु प्रतिहत ज्ञानदर्शनम्, सर्व कायकर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्व वाक्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्व मनस्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, नास्ति छन्दहानि, नास्ति वीर्यहानि, नास्ति स्मृतिहानि, नास्ति समाधिहानि, नास्ति प्रज्ञाहानि, नास्ति विमुक्तिज्ञानदर्शनहानि[१०]।' महाव्युत्पत्ति मे भी इनका अल्प-भेद के साथ उल्लेख है। निर्देश का क्रम भिन्न है, एव 'नास्ति द्रवता' के स्थान पर 'नास्ति मुषितस्मृतिता' है, तथा 'नास्त्यव्याकृतमन' के स्थान पर 'नास्त्यसमाहितचित्तम्' है। **महावस्तु**, तथा पालि **अभिधानप्पदीपिका** एव **जिनालकार** मे भी सदृश आवेणिकसूचियाँ दी गयी है। माहायानिक बोधिसत्त्वभूमि मे आवेणिक १४० कहे गये है---३२ लक्षण, ८० अनुलक्षण, ४ सर्वाकारविशुद्धि, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ आरक्षण, महाकरुणा, असम्प्रमोष धर्मता, वासना-समुद्घात, तथा सर्वाकार-वर-ज्ञान। यह विचारणीय है कि इस सूची मे 'रूप-काय' के लक्षण भी आवेणिक-धर्मो मे सगृहीत है। शेष सूचियो मे केवल 'धर्म-काय' के ही लक्षण परिगणित है।

दस बल---तथागत के दस बलो के **पटिसम्भिदामग्ग** और **विभङ्ग** मे, तथा **महावस्तु** मे प्राचीन उल्लेख मिलते है। **महाव्युत्पत्ति** मे इनकी सूची इस प्रकार दी हुई है--स्थानास्थानज्ञानबल, कर्मविपाकज्ञानबल, नानाधिमुक्तिज्ञानबल, नानाधातुज्ञानबल, इन्द्रियपरापरज्ञानबल, सर्वत्रगामिनी-प्रतिपज्ज्ञानबल, सर्व-ध्यान-विमोक्ष-समाधि-समापत्ति-सक्लेश-व्यवदान-व्युत्थान-ज्ञान-बल, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञानबल, च्यत्युप-

८--स्फुटार्था, पृ० ४--५।

९--स्फुटार्था, वहीं।

१०--वही, पृ० ६४०--४१।

पत्तिज्ञानवल, आस्रवक्षयज्ञानवल। कुछ क्रम-भेद से यही कोश मे कहा गया है[११]—यशोमित्र ने इस प्रसग मे एक प्राचीन सूत्र का विस्तृत उद्धरण दिया है[१२]। यह स्मरणीय है कि महावग्ग मे बुद्ध को 'दशवल' कहा है। संयुत्तनिकाय मे एक संयुत्त ही 'दसवल संयुत्त' कहा गया है। स्थानास्थानज्ञानवल का अर्थ है—सम्भव और असम्भव का ज्ञान। यह विपयभेद से दशविध है। इसके दस विषय इस प्रकार है—चित्तसम्प्रयुक्त-कामधातुक-सस्कृत-धर्म,चित्त-सम्प्रयुक्त-रूप-धातुक—,—अरूप—,—अनास्रव—; चित्त-विप्रयुक्त-कामधातुक—, चित्तविप्रयुक्त-रूपधातुक—, —अरूप—, —अनास्रव—, कुशलासस्कृत, अव्याकृतासस्कृत। कर्म और कर्म-फल का ज्ञान अष्टविध है। नानाधिमुक्तिज्ञान से तात्पर्य विभिन्न सत्त्वो की विविध रुचि एवं अभीप्सा के ज्ञान से है। इस प्रसग मे 'धातु' का अर्थ है—'पूर्वाभ्यासवासनासमुदागत आशय' अर्थात् पूर्व अभ्यास से उत्पादित स्वभाव। बुद्ध सत्त्वो के विविध वासनात्मक स्वभाव को जानते है। इन्द्रियपरापरज्ञान का अर्थ है नाना सत्त्वो की श्रद्धा, वीर्य और इन्द्रियो की समर्थता अथवा असमर्थता का बोध। सर्वत्रगामिनी प्रतिपदाएँ निरयादिगामिनी हैं। ध्यान चार है, विमोक्ष आठ, समाधि तीन, समापत्ति असज्ञि० और निरोध तथा नौ अनुपूर्व विहारसमापत्तियाँ है। पूर्वनिवास तथा च्युत्युपपाद का ज्ञान सवृत्तिज्ञान है।

ये दसवल चैतसिक हैं। इनके अनुरूप बुद्ध का शरीर-वल भी विपुल अथवा अप्रमाण है, यह कायिक वल स्प्रष्टव्य आयतन के अन्तर्गत है। इसका प्रमाण विविध रूप से निर्धारित किया गया है। एक मत से बुद्ध का कायिक वल एक 'नारायण' के समान है। एक प्राकृतहस्ती से दस गुना वल गन्धहस्ती में होता है, उमसे दसगुना महानग्न में, महानग्न से दस गुना प्रस्कन्दी में, प्रस्कन्दी से वराङ्ग मे, वराङ्ग से चाणूर और चाणूर से नारायण में। एक अन्य मत से दस चाणूर केवल अर्धनारायण के वरावर होते हैं। मतान्तर से बुद्ध-काय की १८ सन्धियों में से प्रत्येक में इतना वल है। बुद्ध के शरीर की अस्थि सन्धियाँ 'नागग्रन्थि' अथवा 'नागपाश' कही जाती हैं। प्रत्येक बुद्ध की देह मे शङ्कला-सन्धियाँ होती हैं, चक्रवर्ती की शङ्कुसन्धियाँ होती हैं। दार्ष्टान्तिक आचार्य के मत मे बुद्ध का कायवल भी उनके मानस वल के समान अनन्त है। इस काय-वल को महाभूत-विशेष अथवा भौतिक कहा गया है। किन्तु यह भौतिक

११—कोश, ७.२८–२९।
१२—स्फुटार्था, पृ० ६४१।

(अथवा उपादाय रूप) प्रसिद्ध सप्तविध भौतिको से अपने श्लक्ष्णत्व आदि के कारण विलक्षण है।

चार वैशारद्य--तथागत के चार वैशारद्य इस प्रकार है—(१) सर्व-धर्माभिसम्बोधिवैशारद्य, (२) सर्वास्रवक्षयज्ञानवैशारद्य, (३) अन्तरायिकधर्मव्याकरण वैशारद्य, (४) नैर्याणिक प्रतिपद्व्याकरण वैशारद्य। इनमे पहला वैशारद्य स्थानास्थानज्ञानबल से सम्बन्ध रखता है, दूसरा आस्रवक्षयज्ञानबल से, तीसरा कर्मविपाकज्ञानबल से, तथा चौथा सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबल से।

वैशारद्य के अर्थ है 'निर्भयता' अथवा भरोसा। 'निर्भयता हि वैशारद्यम्'। वैभाषिको के मत से 'इन ज्ञानो से निर्भय होते हैं', अतएव ज्ञान ही वैशारद्य है। वसुबन्धु के मत से 'ज्ञानकृत तु वैशारद्य न ज्ञानमेवेति।' ज्ञानरूप चैतसिक-धर्म भयरूप चैतसिक धर्म का प्रतिपक्षभूत है। ज्ञान हेतु है, निर्भयता फल। अत दोनो भिन्न हैं।

स्मृत्युपस्थान स्मृतिसम्प्रज्ञानात्मक है। सूत्र के अनुसार स्मृत्युपस्थान तीन हैं—शुश्रूषमाण शिष्यो को उपदेश देते हुए बुद्ध को नन्दि, सौमनस्य अथवा चित्त का उत्प्लव नही होता; अशुश्रूषमाण शिष्यो को उपदेश देने मे उन्हे अक्षान्ति, अप्रत्यय अथवा चित्त की अनभिराद्धि नही होती, शुश्रूषु और अशुश्रूषु शिष्यो की मिश्र-परिषद् मे भी वे उपेक्षक और स्मृतिमान् रहते है। इस प्रकार की उपेक्षा अशत बुद्ध के श्रावको मे भी होते हुए भी मानना होगा कि शुश्रूषा के विषय मे नन्दि-द्वेष का सवासन-प्रहाण बुद्ध के लिए ही सम्भव है।

महाकरुणा—बुद्ध की महाकरुणा साधारण श्रावक की करुणा से विभिन्न है[१३]। महाकरुणा सवृति की प्रज्ञा है, करुणा अद्वेष है। पुण्य और ज्ञान के महान् सम्भार से महाकरुणा का समुदागम होता है। तीन दु खताओ को महाकरुणा लक्षित करती है, करुणा केवल दु खदु खता को ही आकारित करती है। तीनो धातुओ के सत्त्व महाकरुणा के आलम्बन है। यह स्मरणीय है कि वसुमित्र के अनुसार सर्वास्तिवादियो के मत से बुद्ध की करुणा का आलम्बन 'सत्त्व' नही होते क्योकि वे स्कन्ध-सन्ततियो पर आरोप-मात्र हैं। महाकरुणा सब सत्त्वो के हित-सुख मे समत्व-पूर्वक व्यापृत है एव समस्त अन्य करुणा से अधिमात्र है। प्रज्ञास्वभाव होने के कारण ही महाकरुणा सस्कार-दु खताकार एव तीक्ष्णतर है।

करुणा अद्वेष है महाकरुणा अमोह। करुणा दु ख का एक आकार ग्रहण करती

१३–कोश, ७.३३।

है, महाकरुणा तीन। करुणा कुछ लोगो को आलम्बन वनाती है, महाकरुणा सब को। करुणा की भूमि ध्यानचतुष्टय है, महाकरुणा की चतुर्थध्यान। करुणा पृथग्जन, श्रावक एव प्रत्येक बुद्धो में आश्रय पाती है, महाकरुणा बुद्ध मे। करुणा कामधातु विषयक वैराग्य से उत्पन्न होती है, महाकरुणा भवाग्रविषयक वैराग्य से। करुणा परित्राण नही करती, महाकरुणा परित्राण करती है। 'करुणया श्रावकादय करुणायन्त एव केवलम् अनुग्ल्यायन्त्येवेत्यर्थ'। न ससारभयात् परित्रायन्ते।' करुणा केवल दु खितो की ओर अभि-मुख है, महाकरुणा सब की ओर।

बुद्ध केवल जम्बूद्वीप में ही हो सकते हैं। अनेक बुद्धो की सत्ता हीनयान-सम्मत थी। सर्वास्तिवादी विभिन्न बुद्धो की नाना क्षेत्रो मे[१४] समकालिक सत्ता भी स्वीकार करते थे। विभाषा के अनुसार समस्त बुद्धो की सख्या गगा-तीर के सैकत-कणो से भी अधिक है। सब बुद्धो की सम्भार, धर्मकाय, जाति और शरीर के प्रमाण आदि में समता नही है। स्थविरवादी भी शरीर, आयु एव प्रभा में बुद्धो की वैमात्रता अथवा भेद स्वीकार करते थे।

यशोमित्र के अनुसार 'अनास्रवधर्मसम्भार-सन्तानो धर्मकाय आश्रयपरिवृत्तिर्वा।' आश्रय-परिवृत्ति का अर्थ है नाम-रूप का परिवर्तन अर्थात् विशुद्ध नव-निर्माण। बोधि-कारक अशैक्ष धर्म ही बुद्ध का धर्मकाय है। इन धर्मों में क्षयज्ञान, अनुत्पाद-ज्ञान, सम्यग्दृष्टि तथा उनके परिवारभूत पाँच अनास्रव स्कन्ध सगृहीत हैं। बुद्ध की धर्मकाय ही शरण्य है। बुद्ध की रूप-काय अन्तत बोधिसत्त्व की रूप-काय से अभिन्न है। यह लक्षणो और अनुव्यञ्जनो से युक्त, नारायण-बल से समन्वित, आभ्यन्तर अवलोकन मे वज्रसारास्थिशरीरतासम्पद् से सम्पन्न, तथा वहिर्वा अवलोकन मे रश्मि-प्रभास्वर है।

यह स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादी मत में बुद्ध को अद्भुत शक्तिशाली विलक्षण पुरुष स्वीकार किया गया है जिसकी देह भौतिक है, चित्त सर्वज्ञ। बुद्ध महाकारुणिक हैं और उनके प्रति भक्ति स्वाभाविक है।

महासाघिक मत—महासाघिको में बुद्ध की रूप-काय को अनन्त और अनास्रव माना जाता था। अनेक कल्पो में पुण्य के प्रभाव से उन्हे यह शरीर प्राप्त हुआ था। परमार्थ के अनुसार यह अनन्तता त्रिविध है—आकार-कृत, सख्या-कृत, एव हेतु-कृत।[१५] बुद्ध बड़े-छोटे नाना आकारों में, एव यथेष्ट सख्या के शरीरो में प्रकट होते हैं तथा असख्य कुशल-मूलो से उत्पादित धर्मो से उनकी काय घटित है। लोक में दृश्य

१४—तु०—कोश, ३.९६।
१५—बारो, पूर्व, पृ० ५९।

उनकी काय वास्तविक न होकर केवल निर्माण-काय है। उनकी वास्तविक रूप-काय अमर है और उनकी आयु अनन्त। अनन्त करुणा को चरितार्थ करने के लिए अनन्त आयु चाहिए ही। जन्म, बोधि, निर्वाण आदि की विभिन्न लीलाओ को बुद्ध निर्माण अथवा मायिक सृष्टि की तरह प्रदर्शित करते हैं। वस्तुत वे अपनी पूर्व-जन्मार्जित 'सम्भोग-काय' में स्थित रहते हैं। यह स्मरणीय है कि 'सम्भोग-काय' का उल्लेख वसुमित्र मे न होकर उसकी परवर्ती व्याख्या मे उपलब्ध होता है। बुद्ध नित्य समाधिस्थ हैं। एक ही क्षण मे उनका चित्त सब कुछ जान सकता है। उनके क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के प्रवाह मे कोई विच्छेद नही होता। बुद्ध सब दिशाओ मे स्थित और सब द्रव्यो मे विद्यमान हैं। बिना कुछ कहे ही वे धर्म-देशना करते हैं।

महासांघिक मत में बुद्ध लोकोत्तर घोषित किये गये हैं, क्योंकि वे अनास्रव और अमर हैं। उनकी एक मायिक निर्माणकाय है, एक वास्तविक रूप-काय जो माहायानिक सम्भोग-काय से तुलनीय है। रूप -काय का अर्थ यहाँ सर्वथा विलक्षण है। बुद्ध की सिद्धि तथा विशुद्धि उन्हें महादेवोपम बना देती है। बुद्ध की रूपकाय विपाकजन्य थी अथवा नही, इस पर हीनयानी सम्प्रदायो मे मत-भेद था। सर्वास्ति-वादियो मे उसे विपाकज माना जाता था जैसा कि **विभाषा**, **कोश** और **व्याख्या** से स्पष्ट है[१६]। देवदत्त-कृत सघभेद तथा बुद्ध-लोहितोत्पाद को शाक्य-मुनि के पूर्व-कर्म का विपाक बताया गया है। **मिलिन्दपञ्ह** मे एक विलक्षण मत की उद्भावना की गयी है। पूर्व-कर्म के अतिरिक्त अनेक अन्य कारणो से भी तात्कालिक भोग का बहुधा प्रादुर्भाव होता है। इन्ही बाह्य एव आगन्तुक कारणो से बुद्ध के रोग, क्षत आदि उत्पन्न हुए थे। यह स्मरणीय है कि इस मत का बीज प्राचीन है एव आगमो मे उपलब्ध होता है[१७]।

महासांघिक बुद्ध एव बोधिसत्त्व को 'उपपादुक' मानते थे, सर्वास्तिवादी जरायुज। 'उपपादुक', 'औपपादुक', 'औपपातिक', अथवा 'उपपत्तिक' सत्त्वो की बौद्ध साहित्य में अनेकत्र चर्चा उपलब्ध होती है। जो सत्त्व सकृत् उत्पन्न होते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ अविकल और अहीन हैं और जो सर्व अग-प्रत्यग से उपेत हैं, इन्हे उपपादुक कहते हैं क्योकि वह उपपादन-कर्म मे प्रवीण है,क्योकि वह सकृत्(कलिलादि अनुक्रम से नहीं,शुक्र-शोणित उपादान के बिना) उत्पन्न होते हैं। देव, नारक, अन्तराभव ऐसे सत्त्व हैं[१८]।

१६–न० दत्त, महायान, पृ० १०९।
१७–मिलिन्द, पृ० १३७–४०।
१८–कोश, ३, पृ० २७–२८।

सर्वास्तिवादियो के अनुसार चरमभविक बोधिसत्त्व को उपपत्तिवशित्व प्राप्त होता है, किन्तु तब भी वह जरायुजोपपत्ति पसन्द करते है। इसके दो कारणो का निर्देश किया गया है। यह देखकर कि मनुष्य होकर भी बोधिसत्व ने सिद्धि प्राप्त की है, मनुष्यो का उत्साह बढता है। यदि बोधिसत्त्वो की जरायुजोपपत्ति न होती तो लोगो को उनके कुल का ज्ञान न होता और वे कहते 'यह मायावी कौन है, देव या पिशाच ?" वैसे भी अन्य तीर्थिक तथागत को मायावी बताते है। दूसरे, बोधिसत्त्व जरायुजयोनि से इसलिए उत्पन्न होते हैं कि निर्वाण के अनन्तर उनकी शरीर-धातु का अवस्थापन हो सके। इन शरीर-धातुओ की पूजा से हजारो मनुष्य तथा अन्य सत्व स्वर्गापवर्ग का लाभ करते है। यह स्मरणीय है कि औपपादुक सत्त्वो का शरीर बाह्य बीज के अभाव से मृत्यु के पश्चात् निरवशेष लुप्त हो जाता है।

सक्षेपत यह कहा जा सकता है कि सभी हीनयानी यह मानते थे कि साधको की तीन कोटियाँ है—श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, तथा बोधिसत्त्व। श्रावक पुण्यात्मा पुरुष है जो बुद्ध का उपदेश प्राप्त कर अर्हत्त्व तक प्रगति करते है। प्रत्येक बुद्ध बोधि प्राप्त करते है, किन्तु वे न शिष्य होते है, न गुरु। बोधिसत्त्व अनेक जन्मो में अर्जित पुण्य और ज्ञान के सहारे अपनी परमभविक विशिष्ट रूप-काय प्राप्त करते है तथा सम्यक् सम्बुद्ध हो कर अपने विलक्षण ज्ञान, बल, महाकरुणा आदि के द्वारा अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध से विशिष्ट होते हैं। स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी बुद्ध की एक मनुष्योचित्त, जरायुज और विपाकज 'रूप-काय' अथवा भौतिक देह मानते थे तथा उसके अतिरिक्त एक 'धर्म-काय' जो कि तथागत की उपदेश-राशि अथवा उनके विशुद्ध गुणो का नाम था। महासाधिक बुद्ध और बोधिसत्व को सर्वथा लोकोत्तर उपपादुक एव अधिष्ठानऋद्धि सम्पन्न मानते थे और उनकी लोक-दृष्टि देह को मायिक अथवा 'निर्मित' तथा उनकी वास्तविक 'रूप-काय' को माहायानिक 'सम्भोग-काय' के सदृश अनन्त और अमर मानते थे।

महासाधिक 'रूप-काय' पूर्व-पुण्यो का परिणाम, अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त प्रभामय, तथा आधिष्ठानिक ऋद्धि के द्वारा यथेष्ट स्थान पर यथेष्ट रूप-धारण में समर्थ है। यही माहायानिक 'सम्भोग-काय' का पूर्व-रूप है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि सूत्रो में इसका नामत. उल्लेख नही है, किन्तु बुद्ध-काय की समस्त लोक-धातुओंको आलोकित करनेवाली प्रभास्वरता का इनमें बहुधा वर्णन किया गया है। महासाधिक 'निर्माणकाय' का महायान में सर्वथा स्वीकार कर लिया गया है। 'धर्म-काय' का 'धर्म' के साथ महायान में पुनर्व्याख्यान हुआ। 'धर्मता' या परमार्थ को ही अन्ततः 'स्वाभाविक-काय' अथवा धर्म-काय कहा गया।

महायान-सूत्र और शास्त्र

सद्धर्मपुण्डरीक के 'तथागतायुष्प्रमाण' नाम के पन्द्रहवें परिवर्त में तथागत बोधिसत्त्वो से कहते है—"तेन हि कुलपुत्रा. शृणुध्वमिदमेवरूप ममाधिष्ठानबलाधान यदय कुलपुत्रा. सदेवमानुषासुरो लोक एवं सजानीते। साम्प्रत भगवता शाक्यमुनिना तथागतेन शाक्यकुलादभिनिष्क्रम्य गयाह्वये महानगरे बोधिमण्डवराग्रगतेनानुत्तरा सम्यक्सम्बोधिरभिसम्बुद्धेति। नैव द्रष्टव्यम्। अपि तु खलु पुन. कुलपुत्रावहूनि मम कल्पकोटिनयुतशतसहस्राप्यनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धस्य—यत. प्रभृत्यह कुलपुत्रा अस्या सहाया लोकधातौ सत्वानां धर्मं देशयाम्यन्येषु च लोकधातुकोटिनयुतशतसहस्रेषु। ये च मया कुलपुत्रा अत्रान्तरा तथागता अर्हन्त सम्यक्सम्बुद्धा परिकीर्तिता. दीपकरतथागतप्रभृतयस्तेषा च तथागतानामर्हता सम्यक्सम्बुद्धाना परिनिर्वाणानि मयैव तानि कुलपुत्रा उपायकौशल्यधर्मदेशनाभिनिर्हारनिर्मितानि। तावच्चिराभिसम्बुद्धो परिमितायुष्प्रमाणस्तथागत. सदा स्थित। अपरिनिर्वृतस्तथागत परिनिर्वाणमादर्शयति वैनेयवशेन[१९]।"

अर्थात् असख्य कल्प पहले ही बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया था। उनकी आयु अपरिमित है तथा उन्होने वस्तुत अभी परिनिर्वाण में प्रवेश नही किया है। अथवा यह कहा जाय कि उन्होने ससार और परिनिर्वाण के भेद से व्यतीत सत्य का साक्षात्कार किया है। तथापि वे नानारूपो मे प्रकट होकर लोक-हित के लिए उपदेश करते हैं। यह मत पूर्वोक्त महासाघिक मत का अनुवाद-सा प्रतीत होता है। 'एतादृशं ज्ञानवल ममेद प्रभास्वर यस्य न कश्चिदन्त आयुश्च मे दीर्घमनन्तकल्पं समुपार्जित पूर्वं चरित्व चर्यम्[२०]॥'

सुवर्णप्रभास-सूत्र में भी कहा गया है कि अर्चा के लिए बुद्ध के शरीर की सरसो भर भी धातु प्राप्त नही हो सकती क्योकि उनकी देह मानव-देह नही है। बुद्ध की केवल धर्म-काय वास्तविक है, लोक-समक्ष प्रकाशित उनका शरीर निर्माण-काय है[२१]। यह स्मरणीय है कि सुवर्णप्रभास के इ-चिंग के अनुवाद में तथा उइगुरी अनुवाद में तीनो कायो पर एक अध्याय उपलब्ध होता है[२२]।

१९—सद्धर्मपुण्डरीक (कलकत्ता, १९५३), पृ० २०६—७।
२०—वहीं, पृ० २१३।
२१—दे०—ऊपर।
२२—त्रिकाय पर द्र०—नोबेल, सुवर्ण प्रभासोत्तमसूत्र, (लाइदेन, १९५८), जि० १, पृ० ४१ प्र०।

पहले कहा जा चुका है कि प्रज्ञापारमिता-सूत्रो मे प्राचीनतम **अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता** है। इसमे केवल रूप-काय तथा धर्म-काय का उल्लेख मिलता है। रूप-काय पूर्व-कर्म का विपाक है, किन्तु विशिष्ट-गुण-शाली है। नागार्जुन के **प्रज्ञापारमिता शास्त्र** में भी दो कायो का उल्लेख है। रूप-काय मानव-काय है जो शाक्य-कुल मे उत्पन्न हुई थी। धर्म-काय का आविर्भाव राजगृह में हुआ था[२३]। चीनी **परिनिर्वाणसूत्र** या **सन्धिनिर्मोचन सूत्र** में नागार्जुन की प्रदर्शित दिशा का ही अनुसरण किया गया है। यह सम्भव है कि नागार्जुन के 'सत्य-द्वय' की दृष्टि से रूप-काय और सम्भोग-काय का भेद अनुल्लेख्य है। **पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता** के आधार पर उसके विशद प्रतिपादन के लिए **'अभिसमयालङ्कारकारिका'** की रचना हुई थी। पीछे पञ्चविंशति-साहस्रिका स्वय इन कारिकाओ के अनुसार 'संशोधित' की गयी। यह संशोधित संस्करण ही इस समय संस्कृत मे उपलब्ध होता है। इसमें बुद्ध की अनन्त ज्योतिर्मय देह का 'आसेचनक आत्मभाव' के नाम से वर्णन किया गया है। पञ्चविंशति-साहस्रिका मे 'साम्भोगिक-काय' का पीछे संयोजित उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार बोधिसत्त्व बोधि के अनन्तर व्यञ्जनानुव्यञ्जन-युक्त भास्वरकाय के सहारे बोधिसत्त्वो को महायान का उपदेश देते है जिससे उनकी धर्म में अभिरुचि हो। यही सम्भोग-काय है।

मैत्रेयनाथ की **अभिसमयालंकारकारिका** में चार कायो का वर्णन है—स्वाभाविक-काय जो पारमार्थिक है, धर्म-काय जो बुद्धोकी अपने लिए काय है, सम्भोग-काय जो समुन्नत बोधिसत्वो के उपदेश के लिए है, तथा निर्माण-काय जो श्रावको के उपदेश के लिए है[२४]। इनमें पिछली तीन काय सांवृत है। बोधिसत्व की समस्त चर्या निर्माण-काय के द्वारा सम्पन्न होती है। यह निर्माण-काय वस्तुत. धर्म-काय से भिन्न नहीं है।

लंकावतार सूत्र में धर्मता बुद्ध, निष्यन्दबुद्ध, तथा निर्माणबुद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है[२५]। यहाँ कहा गया है कि चित्तमात्रता का बोध होने पर निर्माणकाय का लाभ होता है। निर्माणकाय कर्म-प्रभव नही है और न उसमें क्रिया अथवा संस्कार हैं। निर्माणकाय बल, अभिज्ञा, एवं वशित्व से युक्त है। निर्माणकाय के द्वारा ही बुद्ध देशना-रूप तथागत-कृत्य सम्पादित करते हैं। इस निर्माणकाय की योगि-गण-प्रसिद्ध निर्माण-चित्त से तुलना करनी चाहिए। 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' इस योग-सूत्र पर

२३—द्र०—पूसें, सिद्धि, जि० २, पृ० ७८४—८५।
२४—अभिसमयालंकारालोक, पृ० ५२३ प्र०।
२५—लंकावतार, पृ० २८, ३४, ५७।

व्यास-भाष्य मे कहा गया है—'अस्मितामात्र चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति तत. सचित्तानि भवन्ति।' इसके विवरण मे तत्त्ववैशारदी में उद्धृत पुराण-वाक्य दर्शनीय है—"एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वर । भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येक. पुनस्तत. ॥ तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि । एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुन ॥ योगीश्वर, शरीराणि करोति विकरोति च । प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्र तपश्चरेत् ॥ सहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥" साख्य-परम्परा के अनुसार निर्माणचित्त के अधिष्ठान के द्वारा ही कपिल ने ज्ञान का उपदेश किया। वार्तिककार ने विष्णु आदि के अशावतारो को निर्माणचित्त कहा है। योग-शास्त्र में पाँच प्रकार के निर्माण-चित्तो का उल्लेख है जिनमें ध्यानजन्य निर्माण-चित्त कर्माशयहीन होते हैं। सम्भोगकाय के स्थान पर लकावतार में निष्यन्दबुद्ध अथवा धर्मतानिष्यन्द बुद्ध का उल्लेख है। इस देह का उपयोग परिकल्पित लक्षण तथा परतन्त्र-लक्षण के उपदेश मे होता है। सब पदार्थों की स्वप्नवत्ता समझाने तथा प्रज्ञापारमिता अथवा सद्धर्मपुण्डरीक के उपदेश के लिए बुद्ध इस देह का आश्रय करते हैं। इस उल्लेख से निष्यन्दबुद्ध का ज्योतिर्मय, आसेचनक काय से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस देह को 'विपाकज' माना जाता है। बोधिसत्त्वो के पूर्व पुण्यो से यह अर्जित है। इसी कारण इसका नाम सम्भोगकाय प्रसिद्ध हुआ। महायानसूत्रालंकार के अनुसार बुद्ध-काय त्रिविध है। 'स्वाभाविकधर्म-काय आश्रयपरावृत्तिलक्षण है। साम्भोगिक (काय) जिससे (बुद्ध) परिषद्-मण्डलो मे धर्म-सम्भोग करते हैं। नैर्माणिक जिस निर्माण से (बुद्ध) सत्त्व-हित करते हैं। इनमें साम्भोगिक (काय) सब लोक-धातुओ में परिषद्-मण्डल, बुद्ध-क्षेत्र, नाम, शरीर और धर्मसम्भोग-क्रिया के द्वारा विभिन्न है। स्वाभाविक (काय) सब बुद्धो की निर्विशेषक होने के कारण सम है, दुर्ज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, तथा साम्भोगिक-काय से सम्बद्ध होकर सम्भोग-विभुत्व एव यथेष्ट भोग-दर्शन में हेतु है। नैर्माणिक-काय बुद्ध-निर्मित है तथा उसके अप्रमेय-प्रभेद है। साम्भोगिक स्वार्थसम्पत्तिलक्षण है, नैर्माणिक परार्थसम्पत्तिलक्षण। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ दोनो का सम्पन्न होना यथाक्रम साम्भोगिक और नैर्माणिक कायो मे प्रतिष्ठित है। निर्माण-काय वीणा-वादन आदि शिल्प, जन्म (परिग्रह), सम्बोधि निर्वाण आदि के प्रदर्शन के द्वारा शिष्यो को मुक्त करने का महान् उपाय है। इन तीन कायो से बुद्धो का सर्व-काय-सग्रह मानना चाहिए। इनसे स्वार्थ, परार्थ और उनका आश्रय निर्दशित हो जाता है। ये तीनो काय आश्रय, आशय और कर्म से निर्विशेष हैं। धर्म धातु से अभिन्न होने के कारण उनका आश्रय समान है। पृथक् बुद्धाशय का अभाव है। कर्म तीनो के साधारण हैं। इन तीन कायो में तीन प्रकार की नित्यता समझनी चाहिए

जिसके कारण तथागत नित्य-काय कहलाते हैं। स्वाभाविक काय की स्वभाव से नित्य होने के कारण प्रकृति से नित्यता है, साम्भोगिक की धर्म-सम्भोग के अविच्छेद के कारण अस्रंसनत. (अच्युतित.) नित्यता है, नैर्माणिक की अन्तर्व्यय में पुन -पुन· निर्मिति दृष्ट होने के कारण प्रबन्ध-नित्यता है[२६]।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि मे वसुबन्धु का कहना है[२७]—'स एवानास्रवोधातुरचिन्त्यः कुशलोध्रुव.। सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽय महामुने'॥ धर्मकाय अनास्रव धातु है, अचिन्त्य, कुशल ध्रुव, सुख, विमुक्तिकाय। यह परिनिष्ठित और अनास्रव-धातु आश्रयपरावृत्ति का फल है। बोधिसत्त्व के बुद्ध बनने में अनित्य और सास्रव स्कन्धो की परावृत्ति होकर प्रबन्धनित्य, अनास्रव स्कन्धो की प्राप्ति होती है। यही तथागत की सुवर्ण-काय है। 'आश्रयस्य परावृत्ति सर्वसङ्कल्पवर्जिता। ज्ञान लोकोत्तरं चैतद्धर्मकायो महामुने.॥' काय त्रिविध अर्थ का सकेत करता है—स्वभाव, आश्रय, तथा सञ्चय। धर्मकाय में पाँच धर्म सगृहीत हैं—अनास्रव धर्म-धातु तथा चार ज्ञान। स्वाभाविक-काय सब धर्मों का सम स्वभाव है, शान्त और प्रपञ्चातीत तथा अन्य कायो का आश्रय। इसे धर्म-काय भी कहा गया है। सम्भोग-काय द्विविध है—स्व-सम्भोग-काय तथा परसम्भोगकाय। स्व-सम्भोग-काय तीन असख्येय कल्पो में अर्जित पुण्य और ज्ञान के सम्भार से निर्वर्तित अनन्त भूत-गुण-सम्पन्न शुद्ध, नित्य और व्यापक रूप-काय है। सन्तति-रूप होने के कारण यह स्वाभाविक-काय से भिन्न है। यह विपुल धर्म-सुख का शाश्वत भोग करती है। समता-ज्ञान में तथागत पर-सम्भोग-काय को दस भूमियो के बोधिसत्त्वो के लिए प्रकट करते हैं। यह विभूतियाँ प्रकाशित करती हैं, धर्म-चक्र प्रवर्तित करती है, और सशय-सूत्र छिन्न करती है कि बोधिसत्त्व धर्म-सुख का सम्भोग करें। कृत्यानुष्ठानज्ञान के मध्य में तथागत असख्य और विविध निर्माण-काय प्रतिभासित करते हैं। ये काय अलब्ध-भूमिक बोधिसत्त्व तथा दोनो यानो के पृथग्जनों को उनके आशय के अनुकूल धर्म-देशना से हित-सुख पहुँचाते हैं।

दोनो ही सम्भोग-काय रूप-काय है। यह रूप अत्यन्त सूक्ष्म, विशुद्ध और सीमाहीन होते हुए भी सप्रतिघ है। दोनो कायो में वर्ण-रूप-सस्थान तथा शब्द है। किन्तु स्व-सम्भोग-काय में महापुरुष लक्षण नहीं है। परसम्भोगकाय में निर्माणकाय के समान चित्त अपना वास्तविक नही है। स्वसम्भोगकाय में चित्त, चैत्त, और रूप तीनों वास्तविक

२६—सूत्रालंकार, पृ० ४५–४६।

२७—द्र०—लेवि, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० ४३–४४, पूसें, सिद्धि, जि० २, पृ० ६९६ प्र०।

है। चैत्त यहाँ पर चार ज्ञान हैं—आदर्श-ज्ञान, समताज्ञान, प्रत्यवेक्षणाज्ञान, तथा कृत्यानुष्ठानज्ञान[२८]।

बोधिसत्त्व—हीनयान मे और महायान मे

'बोधिसत्त्व' शब्द का 'भावी बुद्ध' के लिए प्रयोग प्राचीन पालि साहित्य मे, बहुत स्थानो पर उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले इसका प्रयोग केवल सम्बोधि से पूर्व शाक्यमुनि को सूचित करने के लिए ही होता था। शाक्यमुनि के असख्य पूर्व-जन्मो की जातक-साहित्य के द्वारा प्रसिद्धि होने पर बोधिसत्त्व-चरित भी विस्तृततर हो गया। साथ ही शाक्यमुनि के अतिरिक्त अन्य अतीत बुद्धो की कल्पना के कारण सम्बोधि से पूर्व अवस्था मे उनके लिए भी बोधिसत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ। प्राचीन पालि सन्दर्भों में सात बुद्धो के नाम मिलते हैं—विपस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोनागमन, कस्सप, और गोतम। दीघनिकाय के महापदानसुत्तन्त मे इन बुद्धो के विषय मे सूचना दी गयी है तथा उनके उत्पाद का समय और उनकी जाति, गोत्र, आयु, बोधि-वृक्ष, श्रावक-युग, श्रावक-सन्निपात, अग्र-उपस्थाता, माता-पिता तथा जन्म-स्थान का उल्लेख है। इसके अनन्तर विपस्सी बुद्ध का जीवन-चरित विस्तार से बताया गया है जो कि सभी मुख्य बातो मे शाक्यमुनि के सदृश है। यह कहा गया है कि सभी बुद्धो की जीवनी समान होती है, केवल विस्तर-भेद ही उनमे पाया जाता है। बुद्धो के जीवन की यह व्यापक समानता 'धम्मता' (=धर्मता) कही गयी है। यह धर्मता है कि बोधिसत्त्व तुषित-लोक से च्युत होकर स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त अवस्था में ही मातृ-कुक्षि मे प्रवेश करते है। अन्य निर्दिष्ट धर्मताएँ इस प्रकार है—बोधिसत्त्व के मातृ-कुक्षि मे प्रवेश के समय समस्त लोको में सहसा अनन्त प्रकाश फैल जाता है, चार देवपुत्र गर्भ में बोधिसत्त्व की रक्षा करते है। उस समय उनकी माता शील का पालन करती है, काम-राग से मुक्त होती है, और सब प्रकार से सुखी तथा नीरोग होती है। गर्भस्थ बोधिसत्व को उनकी माता स्पष्ट देख पाती है। बोधिसत्त्व के जन्म के सप्ताह के अनन्तर उनकी माता का देहान्त हो जाता है और वह तुषित-लोक मे उत्पन्न होती है। बोधिसत्त्व का जन्म ठीक दस मास गर्भ मे रहकर होता है तथा उनके प्रसव के समय उनकी माता खडी रहती है। प्रसव के अनन्तर बोधिसत्त्व का पहले देवता और पीछे मनुष्य प्रतिग्रहण करते हैं। नव-जात बोधिसत्त्व को चार देवपुत्र उनकी माता के सामने स्थापित करते हैं। जब बोधि-सत्त्व का जन्म होता है उन पर और उनकी माता पर अन्तरिक्ष से दो उदक-धाराएँ

२८—पूसें, सिद्धि, जि० २, पृ० ७०५ प्र०।

गिरती है—एक शीत और एक उष्ण। तत्काल उत्पन्न वोधिसत्त्व सात पग धरते हैं तथा वाग् उच्चारित करते है 'मैं लोक मे श्रेष्ठ हूँ, यह अन्तिम जन्म है, अब पुनर्भव नही होगा।' उनके जन्म के समय पुन अनन्त ज्योति प्रकट होती है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत बुद्धवस मे शाक्यमुनि के पूर्व चौवीस बुद्धो का वर्णन किया गया है। नये नाम इस प्रकार है—दीपकर, कोण्डञ्ञ, मगल, सुमन, रेवत, सोभित, अनोमदस्सी, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, समेध, सुजात, पियदस्सी, अत्थदस्सी, धम्मदस्सी, सिद्धत्थ, तिस्स और फुस्स।

बुद्धघोष की जातकट्ठवण्णना की निदानकथा मे वोधिसत्त्व की चर्या का वर्णन उस समय से किया गया है जब सुमेध ब्राह्मण ने दीपकर बुद्ध के युग मे बुद्धत्व के लिए सकल्प (अभिनीहार) किया। बुद्धत्व का सकल्प सिद्ध होने के लिए आठ बातो की आवश्यकता होती है—मनुष्यत्व, पुरुषत्व, हेतु, शास्तृदर्शन, प्रव्रज्या, गुण-सम्पत्ति, अधिकार तथा छन्द। नाना जन्मो मे दस पारमिताओ की भावना के द्वारा ही यह सकल्प चरितार्थ होता है। पालि 'पारमी' भाव-वाचक है और उसके अर्थ है 'परमत्व', श्रेष्ठ्य, पूर्णत्व। इस अर्थ मे 'पारमी' शब्द का प्रयोग प्राचीन सन्दर्भो मे भी उपलब्ध होता है। जातकादि साहित्य में 'दस पारमियो' (=दस पारमिताएँ) का वर्णन मिलता है। ये दस पारमिता इस प्रकार है—दान-पारमी, सील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, खन्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता, उपेखा। ये ही हृदय में प्रतिष्ठित बुद्ध-कारक धर्म है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत चरियापिटक के ३५ जातको मे पारमिताओ की भावना ही उदाहृत है।

सर्वास्तिवादी अभिधर्मकोश के अनुसार वोधिसत्त्व-सञ्ज्ञा उस समय से होती है जब से ३२ महापुरुषलक्षणो के निर्वर्तक कर्म का करना प्रारम्भ होता है। तब से वोधिसत्व सदा उच्चकुल में उत्पन्न होता है, पूर्णेन्द्रिय होता है, पुरुष होता है, जाति-स्मर होता है, और अवैवर्तिक होता है। अन्तिम सौ कल्पो मे वोधिसत्व जम्बू-द्वीप में ही होते है। उनकी देह के एक-एक लक्षण सौ-सौ पुण्यों से उत्पन्न होते है। कृपापूर्वक सबको सब कुछ देकर उनकी दानपारमिता पूरी होती है। बिना कोप के अगच्छेद भी सहने से उनकी क्षान्ति और शील की पारमिता पूरी होती है। एक पैर पर खड़े होकर सात अहोरात्र तिष्य बुद्ध की स्तुति से उनकी वीर्य-पारमिता पूर्ण होती है। उनके अनन्तर ध्यान और प्रज्ञा की पारमिताएँ उनसे भावित होती है। वोधिसत्त्व गर्भ में प्रवेश, स्थिति और निष्क्रमण सम्प्रज्ञानपूर्वक करते है। तीन 'असंख्य'-कल्पों मे बुद्धत्व प्राप्त होता है।

महासांघिक लोकोत्तरवादियो ने बुद्ध के साथ बोधिसत्त्व को भी लोकोत्तर बताया। उनके मत से बोधिसत्त्व श्वेत-गज के रूप मे मातृ-गर्भ में प्रवेश करते हैं, तथा जरायुजो के समान उनका गर्भ मे क्रमश विकास नही होता। वे पूर्णेन्द्रिय रूप मे ही गर्भस्थ होते है तथा मातृ-कुक्षि के दाहिनी ओर से उनका प्रसव होता है। अपनी चर्या के दूसरे असख्येय-कल्प से वे आर्यत्व प्राप्त करते हैं तथा उनमें कामसज्ञा, व्यापाद-सज्ञा, एव विहिसा-सज्ञा उत्पन्न नही होती। सब सत्त्वो के 'परिपाचन' का प्रणिधान किये होने के कारण बोधिसत्त्व दुर्गति मे भी जन्म-ग्रहण करने का सकल्प करते है। अपने ऐश्वर्य से वे यह सकल्प पूरा कर सकते है। प्रथम असख्येय-कल्प में बोधिसत्त्व 'अनियत' होते हैं, दूसरे मे 'नियत', तीसरे मे 'व्याकृत'।

महावस्तु मे लोकोत्तरवाद की दृष्टि से बोधिसत्त्व की चर्या का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमे उसकी अलौकिकता. पारमिताओ तथा 'भूमियो' का विवरण प्राप्त होता है। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद तथा प्राचीन आगमो मे बोधिसत्त्व को विलक्षण और अद्भुत महापुरुष मानते हुए भी मनुष्य माना जाता था, किन्तु महासांघिको ने उनका सर्वथा अलौकिक विवरण दिया है। बोधिसत्त्व औपपादुक हैं, लोकानुवर्तन के कारण ही मनुष्यवत् प्रतीत होते हैं, उनका 'रूप' 'मनोमय' है, अथवा, एकव्यावहारिको के मत से, उनमे 'रूप' है ही नही। वैतुल्यको ने यहाँ तक कह दिया कि तुषितलोक से मायादेवी के गर्भ मे केवल एक निर्माण-काय का ही अवतार हुआ।

महायान मे हीनयान की बोधिसत्त्व-विषयक दृष्टि का स्वाभाविक विकास पाया जाता है। हीनयान मे बुद्ध और बोधिसत्त्व असाधारण माने जाते थे और उनके आदर्श तथा मार्ग का सफल अनुकरण सबके लिए सम्भव नही माना जाता था। दूसरो ओर असाधारण होते हुए भी बोधिसत्त्व मनुष्य-कोटि से उत्तीर्ण नही है। और फिर एक से अधिक बुद्ध और बोधिसत्त्व स्वीकार करते हुए भी हीनयान मे अनागत बुद्धो का तथा वर्तमान बोधिसत्त्वो का स्थान नगण्य है। महायान मे महासांघिक-दर्शित मार्ग से बुद्ध और बोधिसत्त्वो की असाधारणता स्पष्ट ही अलौकिकता मे परिवर्तित हो गयी, किन्तु दूसरी ओर उनका आदर्श सबके लिए अनुकरणीय बताया गया। वर्तमान बोधिसत्त्व और भावी बुद्धो का ही महायान मे प्राधान्य है। यह युक्तियुक्त भी लगता है कि जिस मार्ग का बुद्ध ने स्वय अनुसरण किया उसी का उनके अनुगामी भी करें। बोधिसत्त्व-चर्या में पारमिताओ और भूमियो के सिद्धान्त का महायान मे विशेष विकास हुआ।

हीनयान मुख्यत भिक्षुओ का धर्म है। अर्हत्त्वप्रार्थी श्रावकगण प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण कर विनय के अनुशासन का पालन करते हुए शीलविशुद्धि पूर्वक शमथ

और विपश्यना के द्वारा मार्ग मे प्रवेश करते थे। उनके विकास की चार अवस्थाएँ अथवा 'भूमियाँ' प्रसिद्ध थी—स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, तथा अर्हत्। प्रत्येक मार्ग के फल-प्राप्त और 'प्रतिपन्नक' मे भेद करने से चार के स्थान पर आठ आर्य पुद्गल गिने जा सकते है।

महायान में वोधिसत्त्व-चर्या के अभिलाषी एक ओर हीनयान-प्रसिद्ध विनय के नियमो को भी प्राय अनुपालनीय मानते थे, दूसरी ओर पारमिताओ की पूर्ति को भी, जिसका भिक्षु-जीवन से विशेष अभिसम्वन्ध नही है। वहुत समय तक महायान का कोई अपना विशिष्ट वोधिसत्त्व-विनय नही था। इ-चिंग का कहना है कि हीनयान तथा महायान का एक ही विनय है। अत माहायानिक सूत्र और शास्त्रो मे 'वोधिसत्त्वो' को कई स्थलो पर चेतावनी दी गयी है कि वे विनय को अवहेलनीय न समझे। शान्ति-देव के द्वारा उपायकौशल्यसूत्र से उद्धृत ज्योतिर्माणवक की कथा इस प्रसग मे स्मरणीय है। ज्योतिर्माणवक ने स्त्री पर करुणा कर अपना ४२,००० वर्ष का ब्रह्मचर्य खण्डित कर दिया। 'पश्य कुलपुत्र यदन्येषा निरयसवर्तनीय कर्म तदुपायकुशलस्य वोधिसत्त्वस्य ब्रह्मलोकोपपत्तिसवर्तनीयमिति'। (शिक्षा, पृ० १६७)।

प्रारम्भ मे विनय-भेद न होते हुए भी वोधिसत्त्वचर्या के आग्रह से क्रमश महा-यानियो के लिए एक विशिष्ट आचरण का आदर्श अकुरित हुआ। 'करुणा' और 'अहिसा' का कठोर विरागता की अपेक्षा इसमे उत्कृष्टतर स्थान था। मास-भक्षण का निषेध इसी प्रवृत्ति का फल मानना चाहिए। शान्तिदेव ने एक वोधिसत्त्वप्रातिमोक्षसूत्र को उद्धृत किया है। चीनी बुद्धजातकसूत्र तथा शिक्षासमुच्चय भी एक प्रकार से वोधि-सत्त्व-विनय कहे जा सकते है।

महायान में उपासको का स्थान ऊंचा उठ गया। बौद्ध विहारो में भी कदाचित् महायान की भावुकता तथा 'उपायकौशल' के सिद्धान्त से समर्थित अपवाद-परायणता के द्वारा नियम-शैथिल्य का प्रचार हुआ। कश्मीर मे अनेक विहारो में भिक्षुओ के कलत्र-पुत्र आदि की चर्चा राजतरगिणी में प्राप्त होती है। महायान की तान्त्रिक-शाखा के विकास से इस प्रकार की प्रवृत्ति को विशेष वल मिला।

हीनयान मे चतुर्भूमिक आर्य-मार्ग प्रसिद्ध है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। महाव्युत्पत्ति मे श्रावक-चर्या का प्रकारभेद तथा नाम-भेद के साथ इन प्रकार सग्रह प्रदर्शित किया है—स्रोत-आपन्न, सप्तकृद्भव-परम, कुलकुल, सकृदागामी, एक-वीचिक, अनागामी, अन्तरापरिनिर्वायी, उपपद्यपरिनिर्वायी, साभिसस्कारपरिनिर्वायी, अनभिसस्कारपरिनिर्वायी, ऊर्ध्वस्रोत, कायसाक्षी, श्रद्धानुसारी, धर्मानुसारी, श्रद्धा-

विमुक्त, दृष्टिप्राप्त, समयविमुक्त, असमयविमुक्त, प्रज्ञाविमुक्त, उभयतोभागविमुक्त। इसके अतिरिक्त महाव्युत्पत्ति मे सात श्रावक-भूमियो का उल्लेख भी मिलता है—शुक्ल-विदर्शना-भूमि, गोत्रभूमि, अष्टमकभूमि, दर्शनभूमि, तनुभूमि, वीतरागभूमि, कृतावीभूमि। पहली भूमि स्पष्ट ही पृथग्जन-भूमि है जब कुशल-मूलो का सचय होता है। गोत्रभू की अवस्था को कही पृथग्जन और कही आर्य की अवस्था कहा गया है। तीसरी और चौथी भूमियाँ स्रोत-आपत्ति का मार्ग और फल है। आर्य-सत्यो के बोध के द्वारा इनका लाभ होता है। अभिधर्मकोश मे इस बोध के १६ क्षण प्रतिपादित किये गये हैं। सकृदागामी की अवस्था ही राग, द्वेष और मोह की तनु-भूमि है। अनागामी की अवस्था वीतरागभूमि है तथा अर्हत् की कृतावी भूमि।

महावस्तु मे, जो कि हीनयान और महायान का मध्यवर्ती है, बोधिसत्त्व की 'चार चर्यायो' और 'दस भूमियो' का निर्देश प्राप्त होता है। 'प्रकृतिचर्या' मे बोधिसत्त्व के सहज गुण प्रकाशित करते है, 'अनुलोम चर्या' मे इस सकल्प के अनुकूल वे कार्य सम्पन्न करते है, तथा 'अनिवर्तनचर्या' मे वे उस सुदृढ भूमि को प्राप्त करते है जहाँ से पीछे लौटना नही होता। इसी भूमि मे दीपकर बुद्ध ने बोधिसत्त्व की भावी बुद्धत्व-प्राप्ति का 'व्याकरण' अथवा भविष्यवाणी की थी। महावस्तु मे निर्दिष्ट 'दस भूमियाँ' इस प्रकार हैं—दुरारोहा, बद्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्तविस्तरा, रूपवती, दुर्जया, जन्म-निदेश, यौवराज्य, अभिषेक। इन भूमियो का विवरण महावस्तु मे स्पष्ट और सुविविक्त नही है। बोधिचित्त के प्रणिधान से बोधिसत्त्वो की पहली भूमि का आरम्भ होता है। उनके पिछले पाप क्षीण हो जाते है, किन्तु सातवी भूमि तक वे 'पृथग्जन' ही रहते हैं। यह अवश्य है कि अपने लक्ष्य के वैशिष्ट्य के कारण उन्हे इस अवस्था मे भी 'आर्य' अथवा 'प्राप्तमूल' कहा जा सकता है। पाप-कर्म की सम्भावना बोधिसत्त्व के लिए अभी भी बनी रहती है, किन्तु उनका पुण्य-साम्राज्य निरन्तर बढता रहता है। आठवी भूमि से बोधिसत्त्व के कृत्य सर्वथा विशुद्ध हो जाते हैं। आठवी भूमि से अनिवर्तनीयता लागू होती है। अब से बोधिसत्त्व चक्रवर्ती राजा होकर धर्म का उपदेश करते हैं। अन्तिम जन्म-ग्रहण के लिए मातृ-गर्भ मे प्रवेश के साथ दसवी भूमि का आरम्भ होता है।

अष्टसाहस्रिका, पञ्चविंशतिसाहस्रिका तथा शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिताओ मे 'भूमियो' का विवरण कुछ अधिक परिष्कृत और विकसित प्रतीत होता है। यह उल्लेखनीय है कि शतसाहस्रिका मे दस हीनयानीय भूमियो के नाम दिये गये है—शुक्लविदर्शनाभूमि, गोत्रभूमि, अष्टमकभूमि, तनुभूमि, वीतरागभूमि, कृतावीभूमि, प्रत्येक बुद्धभूमि, बोधिसत्त्वभूमि, बुद्धभूमि। इनमे पहली सात भूमियाँ ऊपर निर्दिष्ट

महाव्युत्पत्ति की सूची मे उपलब्ध होती है। बोधिसत्त्व की भूमियो का परिनिष्पन्न विवरण 'दशभूमिकसूत्र' में मिलता है। इस सूत्र का चीनी अनुवाद ई० २०५-३१६ के बीच सम्पन्न हुआ था। 'बोधिसत्त्वभूमि', 'सूत्रालकार' तथा 'मध्यमकावतार' मे भूमि-विवेचन 'दशभूमक सूत्र' का ऋणी है। हीनयान की साधना का पर्यवसान पुद्गल-नैरात्म्य के बोध के द्वारा अर्हत्त्व की प्राप्ति में होता है। यही हीनयान का चतुर्थ मार्ग-फल अथवा सप्तमी भूमि है। इतनी प्रगति पहली छ. माहायानिक भूमियों में सम्पन्न होती है। इसके अनन्तरवर्ती चार भूमियो में महायान की धर्म-नैरात्म्य तथा बुद्धत्व की ओर विशिष्ट साधना अग्रसर होती है।

बोधिसत्त्वचर्या—बोधिसत्त्व की चर्या तीन भागो में विभक्त की जा सकती है—परिकर्म अथवा उपचार जो कि आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा तथा तय्यारी की अवस्था है, पहली सात बोधिसत्त्व-भूमियाँ, अन्तिम तीन भूमियाँ। पहली अवस्था बोधिसत्त्व-भूमि में 'प्रकृतिचर्या' कही गयी है और द्विधा विभक्त की गयी है—गोत्रभूमि तथा अधिमुक्तिचर्या। पूर्व-कर्म के सम्पिण्डित प्रभाव से व्यवस्थित नैतिक और आध्यात्मिक स्वभाव ही 'गोत्र' कहलाता है। महायान में सम्प्रस्थित होने के लिए एक विशेष प्रकार की अभ्युन्नत आध्यात्मिक प्रवृत्ति आवश्यक है—द्वेष-पराङमुख, सहिष्णु, करुण, भद्रशील। असङ्ग का कहना है—'कारुण्यमधिमुक्तिश्च क्षान्तिश्चादि प्रयोगत। समाचार शुभस्यापि गोत्रे लिङ्गं निरूप्यते॥ चतुर्विध लिङ्ग बोधिसत्वगोत्रे। आदि-प्रयोगत एव कारुण्य सत्वेषु। अधिमुक्तिर्महायानधर्मक्षान्तिर्दुष्करचर्याया सहिष्णुतार्थेन। समाचारश्च पारमितामयस्य कुशलस्येति'। (सूत्रालकार, ३ ५) अर्थात् बोधि-सत्त्वगोत्र के चार लक्षण है—प्राणियों पर करुणा, महायान के प्रति स्पृहा, और उत्साह, कठोर चर्या में सहिष्णुता, पारमितारूप कुशल-कर्म का आचरण। बोधिसत्त्व-गोत्र की तुलना सोने और जवाहिरात की खान से की गयी है। जैसे सुवर्ण-गोत्र प्रभूत, प्रभा-स्वर, निर्मल और कर्मण्य सुवर्ण का आश्रय होता है, ऐसे ही बोधिसत्त्व गोत्र अप्रमेय-कुशलमूलो का, ज्ञान का, क्लेश-नैर्मल्य-प्राप्ति का, तथा अभिज्ञादिप्रभाव का आश्रय है। महारत्नगोत्र जात्य, वर्णसम्पन्न, संस्थानसम्पन्न, तथा प्रमाणसम्पन्न रत्नो का आश्रय है। बोधिसत्त्व-गोत्र भी महाबोधि, महाज्ञान, आर्यसमाधि, तथा जन-कल्याण का आश्रय है। (वही, पृ० १२-१३)।

अधिमुक्ति अथवा अध्याशय बुद्धत्व की अभीप्सा है। करुणा तथा प्रज्ञा का कुछ विकास होने पर बार-बार यह आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न होती है तथा गोत्रस्थ व्यक्ति को बोधिसत्त्वोचित कर्मों के पास ले जाती है। महाव्युत्पत्ति में अधिमुक्तिचर्याभूमि के

साथ चार अवस्थाओ का उल्लेख है—आलोकलब्ध , आलोकवृद्धि , तत्त्वार्थैकदेशनानुप्रवेश , तथा आनन्तर्यसमाधि ।

पहली बोधिसत्त्वभूमि शुद्धाशयभूमि अथवा 'प्रमुदिता' है। इसमें पृथग्जनत्व छूट कर आर्यत्व का प्रारम्भ होता है तथा 'नियाम' की प्राप्ति होती है। स्पष्ट ही हीनयान की स्रोत आपत्ति से यह अवस्था तुलनीय है। इसमें बोधिचित्त के उत्पाद के द्वारा साधक परमार्थत बोधिसत्त्व तथा सम्बोधिपरायण हो जाता है। उसके पाँच भय निवृत्त हो जाते हैं तथा वह अनेक "महाप्रणिधान" करता है—(१) सब बुद्धो के सर्वथा पूजन का, (२) बुद्धशासन के परिरक्षण का, (३) तुषित-भवन-वास से लेकर महापरिनिर्वाण तक सब बुद्ध-कर्मों के 'उपसक्रमण' का, (४) सब बोधिसत्त्वभूमियो और-पारमिताओ की चर्या का, (५) सब सत्त्वो के आध्यात्मिक 'परिपाचन' (विकास मे सहायता) का, (६) सब लोकधातुओ और दिग्-विभागो के विभेद के प्रत्यक्ष का, (७) सब बुद्ध-क्षेत्रो के परिशोधन का, (८) महायान में अवतरण का, (९) अमोघ-घोषता का, (१०) जन्म-ग्रहण से महापरिनिर्वाण तक के कर्मो के लोकोपदर्शन का। इसी भूमि से बोधिसत्त्व मे भूमियो की परिशुद्धि के कारक दस-धर्मो का प्रकाश होता है—त्याग, करुणा, अपरिखेद, अमान, सर्वशास्त्राध्यायिता, विक्रम, लोकानुज्ञा, और धृति। स्थानान्तर में इन धर्मो की दूसरी सूची इस प्रकार दी गयी है—अध्याशय, सर्वसत्त्व-समचित्तता, त्याग, कल्याण-मित्र-सेवना, धर्मपर्येष्टि, अभीक्ष्ण नैष्क्रम्य, बुद्धकायस्पृहा, धर्म-विवरण, मानस्तम्भननिर्घातन, सत्यवचन। बोधिसत्त्व बुद्धो का प्रत्यक्ष तथा उनके शासन का पालन करते हैं। विभिन्न भूमियो मे इनमें नाना प्रभाव अथवा बलो का आविर्भाव होता है—निष्क्रमण का सामर्थ्य, समाधियो का बल, बुद्धो के दर्शन की शक्ति, निर्मित-कायो का पहिचानना, लोक-धातुओ को कँपाना, अथवा अवभासित करना, निर्माण-काय प्रदर्शित करना, अनेक कल्पो तक जीवित रहना।

दूसरी भूमि 'विमला' अथवा अधिशील-विहार कही गयी है। इसमें दस चित्ताशयो के विकास से प्रतिष्ठा होती है—ऋजु, मृदु, कर्मण्य, दम, शम, कल्याण, असंसृष्ट, अनपेक्ष, उदार, और माहात्म्य। तीसरी भूमि अधिचित्त-विहार अथवा प्रभाकरी कही गयी है जिसमे भावनीय चित्ताशय इस प्रकार हैं—शुद्ध, स्थिर, निर्विद्, अविराग, अविनिवृत्, दृढ, उत्तप्त, अतृप्त, उदार और माहात्म्य। इस भूमि में बोधिसत्त्व ध्यान, ब्रह्म-विहार, अभिज्ञा आदि का अभ्यास करते हैं। उनके अकुशलमूल तथा दृष्टि-सयोजन सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। यह स्मरणीय है कि विसुद्धिमग्ग के अनुसार भी अधिचित्त-विहार अनागामिता को ले जाता है। पाच ओरम्भागीय सयोजनो का इस प्रकार क्षय हो जाता है।

चौथी भूमि 'अर्चिष्मती' है, पाचवी 'सुदुर्जया', छठी अभिमुखी। ये तीनो अधिप्रज्ञ-विहार है। अर्चिष्मती मे बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना होती है, सुदुर्जया में आर्य-सत्यो की, अभिमुखी मे प्रतीत्यसमुत्पाद की। अर्चिष्मती मे प्रवेश दस 'धर्मालोको' के द्वारा होता है। ये धर्मालोक नाना धातुओ मे प्रतिवेध है—सत्त्वधातु, लोकधातु, धर्मधातु, आकाशधातु, विज्ञानधातु, कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु, उदाराध्याश-याधिमुक्तिधातु, माहात्म्याध्याशयाधिमुक्ति धातु। इस भूमि मे सत्कायदृष्टि छूट जाती है। सुदुर्जया मे प्रवेश चित्ताशयविशुद्धिसमता के लाभ के द्वारा होता है। इस समता के विषय अनेक है—अतीतानागतप्रत्युत्पन्न बुद्धो के शासन, शील, दृष्टि-विचिकित्सा-प्रहाण इत्यादि। इस भूमि मे बोधिसत्त्व गणित आदि लौकिक शास्त्रो का भी अध्ययन करते है। अर्चिष्मती मे वीर्यपारमिता का तथा सुदुर्जया मे ध्यान-पारमिता का विशेष अभ्यास सम्पन्न होता है। अभिमुखी मे दस प्रकार की समता का बोध होता है—अनिमित्त, अलक्षण, अनुत्पाद, अजात, विभिक्त, आदिविशुद्ध, निष्प्रपच, अनाव्यूह-निर्व्यूह, मायास्वप्नप्रतिभासप्रतिश्रुत्कोपम, भावाभावाद्वय। इस अवस्था तक छः पार-मिताओ का अभ्यास परिनिष्ठित होता है।

सातवी भूमि 'दूरङ्गमा' कही गयी है। इसमें पिछली भूमियो की परिणति होती है। इसमें आभोग और अभिसस्कार शेष रहते हुए भी निर्निमित्त विहार होता है। बोधिसत्त्व को इस भूमि मे सर्वथा सक्लेश अथवा अक्लेश नही कहा जा सकता।

'अचला' भूमि मे अनुत्पत्तिकधर्मक्षान्ति का आविर्भाव होता है तथा अनाभोग-निर्निमित्त-विहार सम्पन्न होता है। स्वय अचल होते हुए भी लोकोत्तर-वशिता से बोधिसत्त्व अप्रमाणकायविभक्ति तथा सत्वपरिपाचन करते है। 'साधुमती' में बोधि-सत्त्व शान्तविमोक्षो से असन्तुष्ट हो प्रतिसविद्-विहार करते है। 'धर्ममेघा' नाम की दसवी भूमि में बोधिसत्त्व का सर्वज्ञता मे अभिषेक होता है। तथागत-नि सृत प्रभा से यह अभिषेक सम्पन्न होता है। इसके अनन्तर बोधिसत्त्व को इस एक प्रकार से बुद्ध अथवा तथागत कहा जा सकता है यद्यपि उनमे तारतम्य-भेद अभी बना रहता है।

असग ने इन भूमियो के नाम इस प्रकार समझाये है—

"पश्यता बोधिमासन्नां सत्त्वार्थस्य च साधनं।
तीव्र उत्पद्यते मोदो मुदिता तेन कथ्यते॥
दौः शील्याभोगवैमल्याद्विमला भूमिरुच्यते।
महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी॥
अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षा. प्रदाहकाः।
अर्चिष्मतीति तद्योगात्सा भूमिर्द्वयदाहतः॥

सत्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा।
धीमद्भिर्जीयते दु.खं दुर्जया तेन कथ्यते ॥
आभिमुख्याद् द्वयस्येह संसारस्यापि निर्वृतेः।
उक्ताह्यभिमुखी भूमिः प्रज्ञापारमिताश्रयात् ॥
एकायनपथश्लेषाद्भूमिर्दूरंगमा मता।
द्वयसंज्ञाविचलनादचला च निरुच्यते ॥
प्रतिसंविन्मतिसाधुत्वाद्भूमिः साधुमती मता।
धर्ममेघाद्वयव्याप्तेर्धर्माकाशस्य मेघवत् ॥"

इस पर विचार करने से यह ज्ञात होगा कि इन भूमियो से अधिकाश के नामो मे अन्वर्थता प्रस्फुट नही है। विमला, अचला, तथा धर्ममेघा अपवाद हैं। वस्तुतः बोधिसत्त्व-भूमियो का स्वरूपत आविष्कार प्राचीन है, उनका इस प्रकार नामकरण उत्तरकालीन। पहले भी प्रकारान्तर से विदित होने के कारण इन भूमियो के परिष्कृत नामकरण मे अन्वर्थता सदैव अपेक्षित नही थी।

पारमिताएँ—चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार मे भूमियो का पारमिताओ के साथ इस प्रकार सम्बन्ध प्रतिपादित किया है—प्रमुदिता, दानपारमिता, विमला, शील, प्रभाकरी, क्षान्ति, अर्चिष्मती, वीर्य, सुदुर्जया, ध्यान, अभिमुखी, प्रज्ञा, दूरङ्गमा, उपायकौशलपारमिता, अचला, प्रणिधान, साधुमती, बल, धर्ममेघा; ज्ञान। महा-व्युत्पत्ति मे ये दस पारमिताएँ परिगणित हैं।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बोधिचित्तोत्पाद के साथ बुद्धो और बोधिसत्त्वो की 'अनुत्तरपूजा' का विधान था। इसमे बुद्धादि की वन्दना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना, अध्येषणा, याचना आदि सगृहीत है। बोधिसत्त्वचर्या का एक बडा और महत्त्वपूर्ण भाग प्रसिद्ध छ पारमिताओ की भावना है। इनमे प्रथम और शीर्षस्थान दान अथवा करुणा का है। यही पारमिता महायान की प्रवर्तिका है। यही परम 'उपाय' और 'सग्रहवस्तु' है। बोधिचित्त का उत्पादन इसकी चरम अभिव्यक्ति है। बोधिसत्त्व को अपने कार्यो का अन्तिम नियामक करुणा की ही भावना मानना चाहिए। 'निषिद्धमप्यनुज्ञात कृपालोरर्थदर्शिन ॥'

शील-भावना का प्रयोजन आत्मभावरक्षा है जिससे बोधिसत्त्व पर-कल्याण मे समर्थ हो सके। शील अरक्षित होने पर निन्दा, अनादर, अथवा दुर्गति का कारण बन जाता है, जोकि धर्म-प्रचार को असम्भव बना देते हैं। शील निवृत्तिरूप भी है, प्रवृत्तिरूप भी। शील के मुख्य अग हैं—अनपत्रपा, ह्री, अत्यय के पश्चात् सुधार, तथा धर्म के लिए आदर।

क्षान्ति त्रिविध है—दुःखाधिवासनाक्षान्ति, परापकारमर्षणक्षान्ति, धर्मनिध्यान-क्षान्ति। इनमे पहली क्षान्ति दुःख का सहना है, दूसरी क्षमा है, तीसरी धर्मस्वभाव का बोध है। जब उपदेश-श्रवण से धर्म-निध्यान-क्षान्ति उत्पन्न होती है, तो उसे 'घोषानुगाक्षान्ति' कहा जाता है, विचार से उत्पन्न होने पर 'आनुलोमिकी'। इसका परम रूप अनुत्पत्तिक-धर्म-क्षान्ति है।

वीर्य अथवा कुशलोत्साह के विना बोधिचित्त का विकास ही न हो पायेगा। एतदर्थ छन्द, शुभछन्द, अथवा धर्मच्छन्द की भावना आवश्यक है। अपनी दुर्बलताओ के प्रति आत्मवशिता का भान पुरस्कृत करना चाहिए। कर्म मे रति होनी चाहिए तथा अप्रमाद।

ध्यानपारमिता मे परम्परागत ध्यान और समापत्तियाँ, चार अथवा दो सत्यों का अनुसन्धान, तथा स्मृत्युपस्थान सगृहीत है। शान्तिदेव ने इस प्रसग मे 'परात्मसमता' तथा 'परात्मपरिवर्तन' की भावना का वर्णन किया है।

प्रज्ञापारमिता या पारमार्थिक ज्ञान बोधिसत्त्वो मे केवल बीजावस्था मे ही सम्भव है। इसकी फलावस्था केवल बुद्धो में उपलब्ध होती है।

अध्याय १०

महायान का दर्शन—शून्यवाद

महायान के पूर्व शून्यता

एक प्रकार से माध्यमिक दृष्टि एव शून्यता अथवा नैरात्म्य की धारणा प्राचीनतम काल से ही बौद्ध धर्म मे उपलब्ध होती है। मूल बुद्धदेशना मे सत् और असत्, दोनो का ही निराकरण किया गया है तथा परमार्थ को अनभिलाप्य बताया गया है। परमार्थ की सत् और असत् के परे अनिर्वचनीयता ही माध्यमिक दृष्टि की विशेषता है। मनुष्य की तर्कबुद्धि सत्य के सम्यक् बोध मे अक्षम है क्योकि वह सदैव अन्तग्राहिणी है। वह अपरिच्छिन्न, अनन्त सत्य को आत्मसात् नही कर पाती। तर्कबुद्धि के इस अस्ति-नास्ति-युक्त नाना पदार्थमय जगत् की अपारमार्थिकता उपनिषदो में कुछ स्थलो पर प्रतिपादित की गयी है, तथा प्रकारान्तर से यही परम्परा बौद्ध धर्म के अभ्यन्तर उद्गत एव विकसित हुई। बुद्ध के मूल उपदेशो मे द्वैतमय जगत् का मिथ्यात्व स्पष्टत प्रतिपादित नही था। अत प्राय प्राचीन हीनयानी सम्प्रदायो मे भी शून्यता एव नैरात्म्य को एक सीमित अर्थ मे ग्रहण किया गया है। मनुष्य एक प्रकार का 'सघात' एव 'सन्तान' है, एक प्रवाहगत समूह। उसके विभिन्न 'स्कन्धो' मे किसी स्थिर आत्मा अथवा जीव की कल्पना नही करनी चाहिए। देह, इन्द्रियाँ अथवा मन पृथक्-पृथक् सत्ता रखते है जिनकी समष्टि ही लोकप्रचलित आत्मा अथवा अह की प्रतीति का आधार है। यही पुद्गल-नैरात्म्य कहा जाता है। स्कन्ध, धातु, आयतन आदि मे किसी जीव अथवा पुद्गल का अभाव ही तद्गत शून्यता है। फलत हीनयान मे शून्यता अथवा नैरात्म्य का अर्थ प्राय जीव अथवा आत्मा का अभाव-मात्र है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रो मे

प्रज्ञापारमिता-सूत्रो में शून्यता अथवा नैरात्म्य की इस धारणा का विस्तार किया गया है। किसी भी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नही है। यह स्वभावशून्यता ही वास्तविक शून्यता अथवा नैरात्म्य है। इस अर्थ-विस्तार से न केवल जीव अथवा आत्मा का लोप हो जाता है अपितु समस्त पदार्थों का भी। अतएव इसे 'धर्मनैरात्म्य' भी कहा

जाता है। जहाँ प्रज्ञापारमिता-सूत्रों मे एक ओर अभावात्मक शून्यता का यह सर्वग्राही विराट् रूप प्रदर्शित है वही दूसरी ओर शून्यता को प्रज्ञापारमिता से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। प्रज्ञापारमिता वस्तुत निर्विकल्पक साक्षात्कारात्मक ज्ञान है जिसमे समस्त भेद, द्वैत, प्रमेयता एव अभिधेयता, प्रलीन हो जाती है। 'निर्विकल्पे नमस्तुभ्य प्रज्ञापारमितेऽमिते।'

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के प्रारम्भ में ही सुभूति की यह अद्भुत उक्ति मिलती है कि 'तमप्यह भगवन् धर्म्मं न समनुपश्यामि यद्धुत प्रज्ञापारमिता नाम।' सुभूति का आशय यह है कि अस्तित्व एव नास्तित्व पारमार्थिक बोध के बहिर्भूत है। वस्तुत. बोधिचित्त अचित्त ही है। इस 'अचित्त-चित्त' में अस्तिता एवं नास्तिता की उपलब्धि नही होती। यह 'अचित्तता' निर्विकार एव निर्विकल्प है। यही वास्तविक प्रज्ञापारमिता है। इसके विपरीत अविद्या है जो अविद्यमान् धर्मो की ही सत्त्व-कल्पना करती है। साधारण लोक अविद्या में निमग्न हैं। वे अविद्यमान जगत् की कल्पना कर अस्ति और नास्ति के दो अन्तो में अभिनिविष्ट होते है और इस प्रकार संसारी बनते हैं। वस्तुतः सब धर्म मायामात्र है। सब धर्मो की मायोपमता का यह सिद्धान्त अत्यन्त गंभीर है तथा इससे नये बोधिसत्त्व तक उद्विग्न हो जाते हैं। शून्यता ही वास्तविक गंभीरता है। कोई भी पदार्थ वस्तुत उपलब्ध नही होता, न वस्तुत उत्पन्न होता है, न वस्तुत. निरुद्ध होता है; केवल अज्ञानयुक्तचित्त में ही नानात्व भासित होता है। समस्त व्यावहारिक जगत् विकल्प-सापेक्ष, विकल्पित है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में अनेक स्थलो पर १८ प्रकार की शून्यता का उल्लेख है—अध्यात्म-शून्यता, बहिर्धा-शून्यता, अध्यात्म-बहिर्धा-शून्यता, शून्यता-शून्यता, महा-शून्यता, परमार्थ-शून्यता, संस्कृत-शून्यता, असंस्कृत-शून्यता, अत्यन्त-शून्यता, स्वलक्षण-शून्यता, अनवराग्र-शून्यता; अनवकार-शून्यता, प्रकृति-शून्यता, सर्वधर्म-शून्यता, अनुपलम्भ-शून्यता, अभाव-शून्यता, सर्वभाव-शून्यता, एव अभाव-स्वभाव-शून्यता। यह स्पष्ट है कि शून्यता के ये नाना प्रकार शून्यता के अभ्यन्तर किसी प्रकार का वास्तविक वर्गीकरण उपस्थित नही करते। यदि शून्यता को केवल अभाव कहा जाय तो प्रश्न उठता है 'किसका अभाव?' इसके उत्तर में नाना पदार्थों का परिगणन कर उनका अभाव बताया जा सकता है। अभाव को स्वयं एक पदार्थ माननेवाले नैयायिक भी उसे भाव-सापेक्ष मानते हैं तथा नाना अभावो का उनके 'प्रतियोगियो' के उल्लेख के द्वारा पृथक् निर्देश करते है और ऐसा प्रतीत होता है कि भाव-जगत् की छाया के समान एक अभाव-जगत् भी कल्पनीय है। किन्तु माध्यमिकों को न अभाव की पदार्थता स्वीकार्य है, न भाव की। विभिन्न भाव-पदार्थों के अभाव को शून्यता कहने के साथ-

साथ वे अभाव एव शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन करते है तथा उसे शून्यता से अभिन्न मानते है। यदि किसी पूर्व अभ्युपगत स्वभाव के विना केवल विशुद्ध अभाव निरर्थक है तो यह भी मानना होगा कि स्वभाव का निर्धारण विना अभाव के आवरण के असम्भव है। स्वभाव-परिच्छेद स्वय प्रतिषेधपूर्वक है—'डिटरमिनेशियो एस्ट निगेशियो (determinatio est negatio)'। असत्ता की रेखा से ही अशेष सत्तामय जगत् का चित्र आलिखित होता है। यही स्वभाव-शून्यता पारमार्थिक शून्यता है।

प्रज्ञापारमिता-सूत्रो मे शून्यता के सिद्धान्त का सुश्लिष्ट एव तार्किक प्रतिपादन नही किया गया है। अनन्त पुनरुक्ति के द्वारा हीनयान-सम्मत विभिन्न धर्मों का मिथ्यात्व एव विकल्पग्राही चित्त की परमार्थ मे अनुपयोगिता वहाँ उद्घोषित की गयी है। उन्हे पढने से पाठक के मन मे वरावर यह धारणा उत्पन्न होती है कि 'स्वभाव' मिथ्या है एव सत्य का निर्विकल्प चित्त मे ही साक्षात्कार हो सकता है, यद्यपि यह साक्षात्कारात्मक वोध अनिर्वचनीय है। यहाँ तक कि स्वय इस बोध की सत्ता के विषय मे चर्चा भी इसे जागतिक एव असत्य बना देती है। इसीलिए सुभूति ने ऊपर उद्धृत उक्ति मे प्रज्ञापारमिता का भी अपलाप किया है। शून्यता सचमुच अग्निवत् सर्वग्रासिनी है, यहाँ तक कि आत्मग्रासिनी भी और उसका निष्कर्ष मौन मे ही हो सकता है जैसा कि **विमलकीर्तिसूत्र** मे प्रतिपादित है जहाँ बोधिसत्त्व विमलकीर्ति ने मजुश्री आदि के द्वारा तत्त्वनिरूपण के आग्रह का उत्तर वज्रमौन के द्वारा दिया।

अन्य महायानसूत्र—जिस प्रकार **उपनिषदो** मे अथवा प्राचीन हीनयानी सूत्र-साहित्य मे विविध दार्शनिक वीज उपलब्ध होते है, उसी प्रकार महायान-सूत्रो में भी अनेक परवर्ती वौद्ध दार्शनिक परम्पराओ की मूलप्रेरणा देखी जा सकती है। इन सूत्रो के अनुसार वोद्धिसत्त्व को चाहिए कि वह हीनयान-प्रोक्त सव धर्मो मे नैरात्म्य अथवा शून्यता की भावना करे। इस प्रकार के उपदेश की द्विधा व्याख्या की जा सकती है। एक ओर यह कहा जा सकता है कि जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ, अथवा वौद्धिक विचार के द्वारा व्यवस्थापित तत्त्व, अपारमार्थिक है, उनमे कोई स्थिर, पृथक् स्वभाव नही है। यह विशुद्ध धर्म-नैरात्म्य है अथवा धर्म-शून्यता है। दूसरी ओर इसीको प्रकारान्तर से कहा जा सकता है—सव धर्म कल्पित अथवा विकल्प-सापेक्ष है। किन्तु ऐसा कहने पर यह ध्वनित होता है कि विकल्पात्मक चित्त ही प्रापचिक आडम्वर का सूत्रधार है। वोधिसत्त्व की योगचर्या मे भावना का स्थान तथा योगलब्ध निर्माणशक्ति चित्त के अद्भुत महत्त्व का समर्थन करते है। इस प्रकार वोधिसत्त्व-चर्या से सम्वद्ध धर्म-नैरात्म्य की भावना का दार्शनिक आधार द्विविध सिद्ध होता है—सव 'धर्मो' की असारता, तथा चित्त की प्रधानता। **लकावतार, घनव्यूह, सन्धिनिर्मोचन** आदि

सूत्रों में इस चित्तवादी दूसरे पक्ष का न्यूनाधिक स्पष्टता से विवरण दिया गया है। पहले शून्यवादी पक्ष का नागार्जुन ने विस्तृत एवं युक्तियुक्त प्रतिपादन किया। दूसरे योगाचार-विज्ञानवादी-पक्ष का विस्तार सर्वप्रथम मैत्रेयनाथ ने किया। यह स्मरणीय है कि शून्यवाद तथा योगाचार-विज्ञानवाद दोनों का ही एक संयुक्त मूल है तथा उनका प्रारम्भिक विभेद अल्प था। इसके समर्थन में यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य आर्यदेव के चतुश्शतक को 'बोधिसत्त्व-योगाचार-शास्त्र' कहा गया है। इस पर एक ओर आचार्य वसुबन्धु ने व्याख्या लिखी थी, दूसरी ओर मैत्रेयनाथ ने नागार्जुन के 'भवसंक्रान्ति' पर व्याख्या लिखी तथा नागार्जुन से असंग, वसुबन्धु एवं स्थिरमति में उद्धरण पाये जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती काल में माध्यमिक, योगाचार एवं सौत्रान्तिकों के पारस्परिक प्रभाव से अनेक 'संकीर्ण' मतों का आविर्भाव हुआ; उदाहरणार्थ, शान्त-रक्षित को माध्यमिक भी कहा जा सकता है, विज्ञानवादी भी। स्वयं मैत्रेयनाथ की रचनाओं में उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासंगिक तथा अभिसमयालंकार को योगाचार—माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है। असंग ने भी मध्यमककारिकाओं पर मध्यमकानुसार नाम की व्याख्या लिखी जिसका गौतम प्रज्ञारुचि ने चीनी में अनुवाद किया। वस्तुतः मैत्रेय तथा असंग, दोनों की रचनाओं में शून्यवाद के अविरोध से योगाचार का प्रतिपादन किया गया है।

नागार्जुन-जीवनी

लंकावतारसूत्र,[1] महामेघसूत्र, महाभेरीसूत्र एवं मंजुश्रीमूलकल्प में नागार्जुन के विषय में भविष्यवाणी उपलब्ध होती है। लंकावतार के अनुसार नाग नाम का भिक्षु परिनिर्वाण के बहुत समय पश्चात् दक्षिणापथ में सत् और असत् का प्रतिषेध करते हुए महायान का प्रचार करेगा। चीनी परम्परा के अनुसार नागार्जुन आचार्य-परम्परा में बारहवें थे तथा उनका काल परिनिर्वाण के ७०० वर्ष पश्चात् था। महामेघसूत्र के अनुसार परिनिर्वाण के ४०० वर्ष अनन्तर एक लिच्छवि नाग नाम का भिक्षु बनेगा तथा धर्म का विस्तार करेगा। वही पीछे प्रसन्नप्रभाव नाम की लोकधातु में ज्ञानाकरप्रभ नाम का बुद्ध हुआ, यह कहा गया है। महामेघ में यह भी उपलब्ध होता है कि दक्षिणापथ में कुपिल नाम के जनपद में विपत्ति-चिकित्सक नाम का राजा होगा। उसके ८० वर्ष के होने पर अनुत्तर धर्म लुप्तप्राय हो जायगा। उसी समय सुन्दरमति नाम की सुद्र नदी के उत्तरी तट पर महावालक ग्राम के निकट एक लिच्छवि कुमार उत्पन्न होगा तथा धर्म की व्याख्या करेगा। यह कुमार नागकुल प्रदीप नाम के बुद्ध के सम्मुख

१—लंकावतार, पृ० २८६ बुदोन, पृ० १२९–३०

प्रणिधान करेगा। यह स्पष्ट नही है कि यहाँ नागार्जुन की ओर सकेत है। यह भी कहा गया है कि **महाभेरीसूत्र** मे नागार्जुन के द्वारा ८वी भूमि की प्राप्ति उल्लिखित है।

कुमारजीव ने नागार्जुन की जीवनी चीनी मे लगभग ४०५ ई० में अनूदित की थी[२]। इसके अनुसार नागार्जुन दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उन्होने न केवल वेदो का अध्ययन किया अपितु अन्य अनेक विद्याओ मे अपूर्व गति प्राप्त की। अलौकिक शक्ति के द्वारा वे अदृश्य हो सकते थे। अपने तीन मित्रो के साथ उन्होने इस विद्या के अपप्रयोग के द्वारा राजकीय अवरोध मे अनुचित प्रवेश किया, किन्तु उनके पदचिह्नो के सहारे यह अपराध पकडा गया। नागार्जुन के तीनो मित्रो को दण्ड हुआ, वे स्वय मन ही मन भिक्षु बनने का सकल्प कर भाग निकले। इस सकल्प के अनुकूल उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की तथा त्रिपिटक ९० दिन में पढ लिये एव उसके अर्थ हृदयगम कर लिये तथापि असन्तुष्ट रहने पर उन्होने और सूत्रो की खोज की। अन्तत हिमालय में उन्हें एक स्थविर भिक्षु से महा-यान-सूत्र-लाभ हुआ। नागराज की सहायता से उन्हे इस महायानसूत्र पर एक व्याख्या भी उपलब्ध हुई। इसके अनन्तर उन्होने ३०० वर्षो से अधिक सद्धर्म का प्रचार किया। नागार्जुन का समकालीन एक राजा था जिसे उन्होने सिद्धि-प्रदर्शन के द्वारा सद्धर्म मे दीक्षा दी। उन्होने नाना शास्त्रो की रचना की जिनमें तन्त्र एव चिकित्साशास्त्र भी उल्लिखित है।

श्वाच्वाग (वाटर्स, जि० २, पृ० २००–६) के अनुसार दक्षिण कोसल की राज-धानी के अनतिदूर अशोक के द्वारा निर्मित एक प्राचीन स्तूप था। इससे सम्बद्ध सघा-राम में नागार्जुन बोधिसत्त्व निवास करते थे। उस समय सातवाह नाम का राजा शासन करता था और वह नागार्जुन का भक्त था। यही सिंहल से समागत देव बोधि-सत्त्व ने आर्य नागार्जुन के दर्शन किये। नागार्जुन रसायन-शास्त्र में सिद्ध थे। उन्होने अत्यन्त दीर्घ आयु प्रदान करनेवाली एक सिद्धवटी का आविष्कार किया था। सातवाह राजा ने भी इसका सेवन किया और उनके पुत्र ने पिता की दीर्घ आयु से त्रस्त होकर बोधिसत्त्व नागार्जुन से उनके सिर की दक्षिणा माँगी, जिसे आचार्य ने पूरा किया। इस स्थान से दक्षिण-पश्चिम की ओर श्वाच्वाग ने भ्रमरगिरि नाम के पर्वत का उल्लेख किया है। यही सातवाहन राजा ने नागार्जुन के लिए एक सघाराम का उत्खनन किया। इस विहार के विवरण से इसकी प्रभूत समृद्धि झलकती है। इसके निर्माण मे नागार्जुन की अलौकिक शक्ति ने राजा की सहायता की थी। धान्यकटक मे श्वाच्वाग ने नागा-

२–द्र०—वासिलिएफ, देर बुद्धिस्मुस।

र्जुन के परवर्ती अनुयायी भावविवेक के निवास का उल्लेख किया है। यह स्मरणीय है कि जग्गयपेट के स्तूप के निकट प्राप्त एक लेख में भदन्त नागार्जुनाचार्य का उल्लेख मिलता है। राजतरगिणी मे कश्मीर के षड्र्हद्वन (आधुनिक हारवन) को नागार्जुन का निवास वताया गया है।

वुदोन (पृ० १२०–३०) के अनुसार वुद्ध के परिनिर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् दक्षिणापथ के विदर्भ जनपद मे एक समृद्ध, किन्तु सन्तानहीन ब्राह्मण रहता था। उसे स्वप्न में आभास हुआ था कि वह यदि १०० ब्राह्मणो को धार्मिक भोज मे निमन्त्रित करे तो उसके पुत्र उत्पन्न होगा। इसका अनुसरण करने पर उसे पुत्रलाभ हुआ। इस पुत्र के विपय मे ज्योतिर्विदो ने कहा कि वह १० दिन से अधिक कदाचित् जीवित न रह पाये। पुनरपि १०० ब्राह्मणो को खिलाने से आयु की वृद्धि सम्भव वतायी गयी। सातवे वर्ष के निकट होने पर, जवकि इस वालक का निधन ज्योतिर्विदो द्वारा वताया गया था, उसके माता-पिता ने उसे एक सेवक के साथ परिभ्रमण के लिए वाहर भेज दिया ताकि वे स्वय उसकी मृत्यु को देखने से वच जायँ। इस प्रकार घर से प्रव्रजित वह वालक क्रमश नालदा के द्वार तक पहुँचा। वहाँ उससे प्रभावित होकर सारह नाम के ब्राह्मण ने उसपर अनुकम्पा की और उसे वास्तविक प्रव्रज्या प्रदान की। वालक को अमितायु के मडल मे दीक्षित किया गया और अमितायु–धारणी का उपदेश किया गया। इसके प्रभाव से वालक का अनिष्ट कट गया। नालदा के विहारस्वामी राहुलभद्र के अनुग्रह से उसे उपसम्पदा प्राप्त हुई तथा उसका भिक्षु के रूप मे श्रीमान् नाम हुआ। कुछ समय पश्चात् नालदा मे भारी अकाल पडा। इस अवसर पर श्रीमान् ने रसायन की सहायता से स्वर्ण प्राप्त किया तथा उसके द्वारा सघ का कार्य कथचित् अतिवाहित हो पाया, किन्तु सघ में यह वात विदित होने पर श्रीमान् को दडित किया गया और यह आज्ञा दी गयी कि वह एक करोड विहारो का निर्माण करे। उस समय शकर नाम के भिक्षु ने न्यायालकार नाम का एक ग्रन्थ लिखा, तथा सवको तर्क में पराजित किया। उस भिक्षु को परास्त करने के लिए श्रीमान् ने धर्म की व्याख्या की तथा उसके सुनने के पश्चात् श्रोताओ में से दो वालक पृथ्वी के नीचे सहसा अन्तर्हित हो गये। यह पता चला कि वे दोनो नाग थे। इसके अनन्तर श्रीमान् ने नागलोक में अवतरण किया और वहाँ धर्म का उपदेश किया। नागलोक मे ही वे शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता तथा स्वल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता अपने साथ ले आये तथा उन्होंने एक करोड विहारो का निर्माण किया। इसी समय से वे नागार्जुन नाम से विख्यात हुए। पीछे पुण्ड्रवर्धन में स्वर्ण उत्पादित कर उन्होंने प्रभूत भिक्षा-वितरण किया, वहाँ उनका अनुगृहीत ब्राह्मण अपनी मृत्यु के अनन्तर नागबोधि

नाम के आचार्य के रूप मे पुन उत्पन्न हुआ। वहाँ से नागार्जुन पटवेश नाम के पूर्वी जनपद मे गये तथा अनेक चैत्यो का निर्माण किया। राढजनपद मे भी उन्होने ऐसा ही किया। फिर वे उत्तर-पूर्व गये। वहाँ जेतक नाम के एक वालक के विपय मे उन्होने यह भविष्यवाणी की कि वह राजा वनेगा। पूर्व देश मे उन्होने एक वृक्ष की शाखा पर अपने वस्त्र लटकाये और धोये। इसके पश्चात् जव वह वालक राजा वन गया उसने नागार्जुन को बहुत-से रत्न दिये। नागार्जुन ने उसे प्रत्युपहार दिया। नागार्जुन ने वज्रासन के लिए हीरक जाल के समान एक वृत्ति वनायी तथा श्रीधान्यकटक के चैत्य का निर्माण किया। उन्होने माध्यमिक दर्शन के प्रसार के लिए तर्कानुकूल माध्यमिक शास्त्र का प्रणयन किया तथा अनेक माध्यमिक स्तोत्र लिखे। व्यावहारिक पक्ष मे उन्होने सूत्रसमुच्चय मे आगमो के अनुकूल उपदेश किया, स्वप्न-चिन्तामणि-परिकथा मे गोत्रस्थ श्रावको को समुत्तेजित-सम्प्रहर्षित किया, सुहृल्लेख मे उन्होने उपासकधर्म वताया तथा वोधिगण नाम के ग्रन्थ मे भिक्षुधर्म प्रकाशित किया। तन्त्रसमुच्चय, वोधि-चित्तविवरण, पिडीकृतसाधन, सूत्रमेलापक, मडलविधि, पचक्रम आदि ग्रन्थो को उन्होने तान्त्रिक दृष्टि से लिखा। योगशतक आदि उनके चिकित्साविषयक ग्रन्थ है। नीति शास्त्र मे उन्होने जनपोषणविन्दु तथा प्रज्ञाशतक की रचना की। रत्नावली मे राजाओ के उपयोग के लिए महायान के सिद्धान्त और चर्या का निर्देश किया। इसके अतिरिक्त उन्होने प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र, धूपयोगरत्नमाला आदि ग्रन्थो का निर्माण किया। व्याख्याओ मे उन्होने गुह्य-समाज-तन्त्रटीका, शालिस्तम्व-कारिका आदि लिखे।

उस समय अन्तीवाहन अथवा उदयनभद्र नाम के राजा का शक्तिमान् नाम का कुमार था। शक्तिमान् ने अपनी माता से यह सुना कि उसके पिता ने नागार्जुन की सहायता से अमृत की प्राप्ति की थी। इस पर कुमार श्रीपर्वत गया जहाँ आचार्य नागार्जुन निवास करते थे। आचार्य कुमार को उपदेश देने लगे। कुमार ने नागार्जुन का सिर काटना चाहा, किन्तु असफल रहा। आचार्य ने कहा—'कभी कुश के द्वारा एक कोड़ा मुझसे मार डाला गया था, उसके पाप मेरे ऊपर है। अतएव एक कुश से मेरा सिर काटा जा सकता है।' इस पर कुमार ने कुश से उनका सिर काट लिया। आचार्य की छिन्न ग्रीवा से यह सुनायी दिया—'अव मै सुखावती-लोक-धातु चला जाऊँगा, किन्तु पीछे पुन इस देह मे लौट आऊँगा।' वह कुमार उनका सिर ले गया, किन्तु उससे एक यक्षी ने उसे लेकर आचार्य की देह से एक योजन की दूरी पर स्थापित कर दिया। देह और सिर क्रमश एक-दूसरे के पास आते गये और अन्तत पुन जुड गये।

यदि इन सब विभिन्न परम्पराओ का आलोचन किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि नागार्जुन कदाचित् दूसरी शताब्दी ई० में हुए थे, तथा कनिष्क एव एक शातवाहन राजा के समकालीन थे। उनका मूल स्थान अन्ध्रापथ मे सम्भवत धान्यकटक के समीप अथवा श्रीपर्वत पर मानना चाहिए। उनका नालदा एव कश्मीर से भी सम्बन्ध प्रतीत होना है। कदाचित् प्रसिद्धि के अनुकूल उन्होने पर्याप्त परिभ्रमण किया था। यह सम्भव है कि शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन के अतिरिक्त एक अथवा एकाधिक अन्य आचार्य भी नागार्जुन के नाम से परवर्ती काल में प्रसिद्ध हुए जो कि तान्त्रिक एव रासायनिक थे, किन्तु जिन्हें दार्शनिक नागार्जुन से पृथक् स्मरण रखना कालान्तर मे कठिन हो गया।

नागार्जुन की रचनाओ में **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र,**[३] **मध्यमककारिका,**[४] तथा **विग्रह-व्यावर्तनी**[५] का विशेष महत्त्व है। **महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र** में एक प्रकार के नवीन 'माहायानिक अभिधर्म' की भूमिका है। मैत्रेयनाथ के समान नागार्जुन ने भी **प्रज्ञापार-मितासूत्रों** को एक रीतिवद्ध रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। किन्तु वस्तुत: उनके शून्यवाद से इस किसी भी प्रकार के 'अभिधर्म' अथवा रीतिवद्ध दर्शन का सामंजस्य नही हो सकता। सम्भवत इसी कारण माध्यमिक-दर्शन परम्परा में **महाप्रज्ञापार-मिताशास्त्र** का स्थान नगण्य है। **माध्यमिककारिकाओ** मे तथा **विग्रहव्यावर्तनी** में नागार्जुन ने अपने विलक्षण तर्क के द्वारा समस्त अभिधर्म तथा तर्क का खण्डन किया है।

नागार्जुन की तर्कपद्धति—शून्यता के सिद्धान्त का रीतिवद्ध दार्शनिक प्रतिपादन सर्वप्रथम नागार्जुन ने किया। उन्होने प्रज्ञापारमिता-सूत्रो का सार खीचकर एक नवीन दर्शनशास्त्र की रचना की। उन्होने तर्क से ही तर्क का खण्डन किया तथा शून्यता को प्रतीत्यसमुत्पाद से अभिन्न बताया। उनके शब्दो में 'य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥' उनके समक्ष एक बडी समस्या थी—'शून्यता' स्वीकार करने पर तर्क ही नही किया जा सकता क्योकि शून्यवादी किसी भी पक्ष को अपना ले तो शून्यता की ही हानि हो जाती है। जब 'प्रतिज्ञा'

३—चीनी त्रिपिटक में "ता चिक्लडेन्ट" नाम से अनुवाद मिलता है। द्र०—ऊपर। उसका फ्रेंच अनुवाद लामॉत के द्वारा, "ल त्रेते द ला ग्रांद वर्तु द साजेस"।

४—अभी तक विब्लियोथेका बुद्धिका में पूसँ का संस्करण ही सर्वोत्तम है।

५—द्र०—जे० बी० ओ० आर० एस०, २४–२; मेलांग शिन्वा ए बुद्धीक, जि० ९, १९४८–५१, पृ० ९९–१५२; नवनालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन्स, जि० १।

ही नही की जा सकती तो युक्ति के द्वारा उसका साधन दूर की बात है। वस्तुत. शून्यता का उपदेश सब 'दृष्टियों' से छुटकारे के लिए है। यदि कोई शून्यता को भी दृष्टि बना लेता है तो वह असाध्य है—'शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता नि सरण जिनै । येषा तु शून्यता दृष्टि. तानसाध्यान्बभाषिरे ॥' समस्त शून्यवाद विकल्पात्मक तर्क-बुद्धि को सत्य के क्षेत्र से बाहर रख देता है। अतएव नागार्जुन शून्यता की सिद्धि तर्कबुद्धि एव उसके स्वीकृत सिद्धान्त के निरास के द्वारा करते है। किसी भी वस्तु की सत्यता स्वीकार नही की जा सकती क्योकि उसे स्वीकार करने पर अपरिहार्य रूप से विरोध प्रसक्त हो जाता है। इस प्रकार के तर्क को नागार्जुन और उनके अनुयायी 'प्रसगापादन' अथवा 'प्रासगिक' कहते थे। आधुनिक अभिधा में नागार्जुन की प्रणाली डायलेक्टिकल (dialectical) थी। उद्योतकर आदि ने माध्यमिक-सम्मत इस प्रकार की तर्क-प्रणाली को केवल 'नास्तिक वितडा' कहकर उसका खण्डन किया है।

शून्यता की न्यायतः प्रतिपाद्यता : पूर्वपक्ष—विग्रहव्यावर्तनी नाम के अल्पकाय ग्रन्थ में नागार्जुन ने शून्यवाद की न्यायत प्रतिपाद्यता पर विचार किया है। प्रारम्भ में ही उन्होने अपने विरोध में दी गयी प्रधान युक्ति का उल्लेख किया है—'यदि सभी पदार्थों में अपना स्वभाव अविद्यमान है तो तुम्हारे शब्द भी स्वभावहीन होने के कारण स्वभाव के खण्डन मे असमर्थ है, और दूसरी ओर यदि तुम्हारी बात स्वभावयुक्त है तो तुम्हारी पिछली प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है।' चन्द्रकीर्त्ति ने भी इस शका को इस प्रकार प्रकट किया है—सब पदार्थों के अनुत्पाद का सिद्धान्त प्रमाणजन्य है अथवा अप्रमाणजन्य ? पहले विकल्प मे प्रमाणो के लक्षण आदि प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरे विकल्प में 'सिद्धान्त' ही असिद्ध रहता है। रूप से माना जा सकता है। इस मौलिक कठिनाई का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने के लिए नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्तनी में अपने प्रतिपक्ष का विस्तार करते हुए षट्कोटिक आपत्ति का उल्लेख किया है—(१) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तो उनकी शून्यता के प्रतिपादक वाक्य 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह भी शून्य है क्योकि वह भी सब पदार्थों मे अन्तर्गत है और उसके शून्य होने पर सब पदार्थों की अशून्यता अक्षत रहती है और ऐसी स्थिति में 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह प्रतिषेध अनुप-पन्न हो जाता है।(२) दूसरी ओर यदि यह मान लिया जाय कि सर्वशून्यता की उक्ति उपपन्न है तो वह उक्ति स्वय शून्य हो जायेगी तथा शून्य उक्ति के द्वारा शून्यता का प्रति-पादन नही हो पायेगा। (३) और यदि सब पदार्थ शून्य है तथा इसके साथ ही इस शून्यता की उक्ति शून्य नही है तो यह उक्ति सर्वत्र असगृहीत होगी। अर्थात् पदार्थ-समष्टि के बहिर्भूत होगी। पदार्थ अशून्य हो नही सकता तथा शून्यता की उक्ति अशून्य है—ये दोनो परस्पर असमजस है। (४) यदि शून्यता की उक्ति को सगृहीत माना

जाय और उसके साथ ही सब पदार्थों को शून्य, तो वह उक्ति पुन शून्य हो जायगी अथच प्रतिषेध मे अक्षम। (५) यदि उक्ति शून्य है, किन्तु शून्य होते हुए भी उसके द्वारा अशून्यता का प्रतिषेध किया जा सकता है तो शून्य होते हुए भी सब पदार्थ अर्थक्रिया मे समर्थ हो जायेंगे, किन्तु तब शून्यता अस्तिता का नामान्तर होगी, जोकि दृष्टान्त-विरुद्ध है। (६) यदि सब पदार्थ शून्य है तथा कार्य करने मे असमर्थ है तो शून्यता की प्रतिपादक उक्ति के शून्य होने के कारण सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध युक्त नही है। सक्षेप में यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि शून्यवाद के समर्थन मे सदैव तार्किक विषमता उत्पन्न हो जाती है—सब शून्य मानते हुए अन्तत कुछ शून्य और कुछ अशून्य मानना पडता है और इस प्रकार की विषमता मे कोई हेतु नही दिया जा सकता।

मान लीजिए शून्यवादी की ओर से यह कहा जाय कि शून्यता का स्थापन ऐसा ही है जैसे कोई कहे 'शब्द मत करो' किन्तु यह कहने मे स्वय अनिवार्यतया शब्द करे। ऐसे स्थल में शब्द के द्वारा शब्द का निवारण होता है। इसी प्रकार से सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध समझना चाहिए। किन्तु शून्यवादी की यह युक्ति स्वीकार्य नही है। वस्तुत उस दृष्टान्त में वर्तमान शब्द से अनागत शब्द का प्रतिषेध किया जाता है, किन्तु यहाँ शून्यता की उक्ति से अशेष पदार्थों का निषेध किया जाता है जिनमे उक्ति स्वय अभ्यन्तर है। यदि शून्यवादी की ओर से यह कहा जाय कि उसके द्वारा किये गये सब पदार्थों के प्रतिषेध का प्रतिपक्षी के द्वारा किया गया यह प्रतिषेध भी अनुपपन्न मानना चाहिए तो यह भी स्वीकार्य नही हो सकता क्योकि सब पदार्थों का प्रतिषेध शून्यवादी की प्रतिज्ञा है, उसके विपक्षी की नही।

शून्यवादी यह भी नही कह सकता कि मै पदार्थों को प्रत्यक्षत उपलब्ध करके तदनन्तर उनका निषेध करता हूँ क्योकि उसकी दृष्टि मे प्रत्यक्ष ही निषिद्ध है। यही असहाय स्थिति अनुमान एव अन्य प्रमाणों की माननी चाहिए।

यदि शून्यवाद माना जाय तो जो ११९ कुशल धर्म आचार्यो के द्वारा परिगणित है उनका भी परित्याग करना होगा। सूत्रो में निर्वाण एव बोधि की ओर ले जाने वाले अनेक धर्मो का निर्देश है, वे भी सब शून्य हो जायेंगे।

यदि सब पदार्थ नि स्वभाव होते तो उनके पृथक्-पृथक् नाम ही नही होते। सदैव नाम का आधार कोई न कोई वस्तु देखी जाती है तथा निर्वस्तुक नाम असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि नाम का आधार स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव पदार्थों का नही है तो प्रश्न उठता है कि "यह विलक्षण स्वभाव किसका है?"

यह भी स्मरणीय है कि प्रतिषेध उसी का होता है जिसकी सत्ता प्राप्त हो। जैसे यह कहने पर कि 'घर में घडा नही है' यह मान लिया जाता है कि घडा कहीं हो सकता

था अथवा अन्यत्र है। इस युक्ति से विदित होता है कि शून्यवादी के द्वारा स्वभाव का प्रतिषेध स्वय स्वभाव को सिद्ध करता है। यदि किसी पदार्थ का स्वभाव है ही नही तो उसका प्रतिषेध ही क्यो किया जाता है ? यह कोई नही कहता कि आग ठढी नही है। शून्यवादी ही सब पदार्थों के निषेध मे इतना व्याकुल क्यो हो ? यह कहा जा सकता है कि जैसे कोई बुद्धिमान् एव दयालु व्यक्ति मृगतृष्णा से त्रस्त मूढ लोगो को बताये कि यहाँ पानी नही है, ऐसे ही शून्यवादी भी अविद्या-ग्रस्त जनता को शिक्षा देना चाहता है। किन्तु ऐसा कहने पर छ प्रकार के पदार्थों की सत्ता इस दृष्टान्त से स्वय प्रतिपादित हो जाती है—भ्रान्ति, उसका विषय, उसका आश्रय (भ्रान्त पुरुष), प्रतिषेध, उसका विषय, तथा प्रतिषेधक पुरुष। इन छ पदार्थों के सिद्ध होने से शून्यता के सिद्धान्त की हानि हो जाती है। यदि भ्रान्ति तथा उसके आश्रय और विषय न भी स्वीकार किये जायँ तब तक प्रतिषेध तथा उसके आश्रय और विषय स्वीकार करने ही होगे। यदि इनको अस्वीकार कर दिया जायगा तो सब पदार्थों की सत्ता स्वय सिद्ध हो जायेगी।

वस्तुत सब पदार्थों की शून्यता सिद्ध ही नही की जा सकती है क्योकि उसमे कोई हेतु नही दिया जा सकता। हेतु दिया जा सकता तो वह शून्य न होता। बिना हेतु के कोई सिद्धि नही होती। यदि बिना हेतु के ही स्वभाव-प्रतिषेध सिद्ध हो जाय तो स्वभाव का अस्तित्व भी उसी प्रकार से अहेतुक सिद्ध हो जायगा। यदि हेतु का अस्तित्व माना जाय तो उसके द्वारा साध्य अस्वाभाव्य अयुक्त हो जायगा। अन्त मे, सब पदार्थों का प्रतिषेध इसलिए अनुपपन्न है क्योकि वह प्रतिषेध्य के न पहले हो सकता है न पीछे और न साथ। यदि प्रतिषेध पहले माना जाय तो प्रतिषेध्य के अभाव मे प्रतिषेध होगा किसका। यदि प्रतिषेध को प्रतिषेध्य के पश्चात् माना जाय तो यह समझ में नही आता कि प्रतिषेध्य के होने पर प्रतिषेध से होगा क्या। यदि प्रतिषेध और प्रतिषेध्य दोनो साथ हो तो उनमे किसी प्रकार का कार्यकारणभाव स्वीकार नही किया जा सकता। इस प्रकार नागार्जुन ने विस्तार से शून्यवाद के विरोध मे पूर्वपक्ष की युक्तियो का प्रतिपादन किया है, एव और अधिक विस्तार से इन उक्तियो का खडन।

नागार्जुन का उत्तर

शून्यवादी को अपने वचन की शून्यता अभीष्ट है, किन्तु उसके वचन और अन्य पदार्थ हेतु-प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा रखते हुए समान-कोटिक हैं और सभी समान रूप से शून्य हैं। वस्तुत प्रतिपक्षी ने शून्यता का सिद्धान्त ठीक समझा नही। पदार्थों का प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है, क्योकि जिसकी सत्ता परतन्त्र अथवा परापेक्ष होती है

उसका अपना वास्तविक स्वभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थों का वास्तविक स्वभाव हो तो उन्हें हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा न हो। उनकी यह निःस्वाभावता ही शून्यता है। शून्यवादी का वचन भी प्रतीत्यसमुत्पन्न है और इसी प्रकार शून्य है जैसे कि अन्य पदार्थ। रथ, पट, घट आदि पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण जलसंधारण आदि अपना-अपना कार्य करते हैं। ऐसे ही शून्यवादी की उक्ति भी प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण निःस्वभाव होती हुई भी पदार्थों की निःस्वभावता के साधन में अपना कार्य करती है। जिस प्रकार जादू का बनाया एक आदमी वैसे ही दूसरे का प्रतिषेध करे ऐसे ही शून्यवादी के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का निषेध है।

शून्यता प्रतिपादक वाक्य न स्वाभाविक है और न यहाँ पर तार्किक विषमता उत्पन्न होती है। सभी पदार्थ शून्य हैं और उनकी शून्यता का प्रतिपादक वाक्य भी शून्य है, किन्तु इन सबकी शून्यता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण है। स्वभाव का प्रतिषेध उस प्रकार का नहीं है जैसा 'शोर मत करो' इस वाक्य में शब्द का प्रतिषेध। प्रतिपक्षी के दिये हुए दृष्टान्त में शब्द के द्वारा शब्द का व्यावर्तन किया जाता है। यह दृष्टान्त तब सार्थक होता यदि निस्स्वभाव वाक्य के द्वारा निस्स्वभाव पदार्थों का निवर्तन किया जाता, किन्तु यहाँ निस्स्वभाव वचन के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध किया गया है। प्रतिषेध इस प्रकार है जैसे कोई माया-निर्मित पुरुष माया-निर्मित स्त्री में अनुरक्त अन्य पुरुष को उसकी भ्रान्ति बताये एवं वारण करे। शून्यता-प्रतिपादक वाक्य निर्मितकोपम है, निषिद्ध्यमान पदार्थ निर्मितक-स्त्री के समान हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ध्वनि-निवारण के दृष्टान्त में हेतु साध्यसम है क्योंकि ध्वनि की सत्ता ही नहीं है। सच बात तो यह है कि शून्यवादी व्यवहार-सत्य को स्वीकार करते हुए ही स्वभाव-शून्यता का प्रतिपादन करता है। व्यवहार-सत्य को स्वीकार किये बिना धर्म का उपदेश नहीं किया जा सकता।

"व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥"

यदि शून्यवादी की कोई प्रतिज्ञा है तब तो उसमें दोष उद्भावित किया जा सकता है, किन्तु शून्यवादी किसी प्रतिज्ञा को उपस्थापित करता ही नहीं। सभी पदार्थ शून्य एवं अत्यन्त उपशान्त हैं, ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा ही सम्भव नहीं है, प्रतिज्ञा के लक्षण की प्राप्ति किस प्रकार होगी। यदि प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से अथवा उनमें से किसी एक से शून्यवादी कुछ उपलब्ध कर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को पुरस्कृत करे तभी तद्विषयक उपालम्भ न्याय्य होगा, किन्तु वस्तुतः शून्यवादी न प्रमाणोपलब्ध किसी विषय की

चर्चा करता है, न उसके आधार पर किसी प्रकार की प्रवृत्ति की। दूसरी ओर यदि प्रतिपक्षी नाना अर्थों की प्रमाणत प्रसिद्धि बतलाता है तो उसे यह भी बतलाना चाहिए कि उन प्रमाणो की प्रसिद्धि किस प्रकार होगी। यदि यह कहा जाय कि प्रमाणो से प्रमेय-सिद्धि होती है तथा एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण की तो अनवस्था प्रसक्त हो जाती है। और यदि प्रमाणो की प्रसिद्धि बिना प्रमाण के हो सकती है तो प्रमेयों की क्यो नही हो सकती ? यदि यह कहा जाय कि अग्नि के समान प्रमाण अपने को तथा अपने से भिन्न प्रमेयो को प्रकाशित करता है तो यह उत्तर देना होगा कि यह दृष्टान्त विषम और भ्रान्तिमूलक है। अग्नि अपने को प्रकाशित नही करती क्योकि प्रकाशन अप्रकाशित का होता है। उदाहरणार्थ, अन्धेरे में अनुपलब्ध घटप्रकाश होने पर प्रकट हो जाता है। अग्नि इस प्रकार कभी भी अप्रकाशित नही मानी जा सकती। यदि एक बार यह मान भी लिया जाय कि अग्नि अपने को प्रकाशित करती है तो यह क्या नही कहा जा सकता कि अग्नि दूसरे के साथ-साथ अपने को भी जला देती है। यह भी क्या नही माना जा सकता कि अन्धेरा अपने को तथा अन्य पदार्थों को बराबर ढँक लेता है। प्रकाश अन्धेरे का अपाकरण है। जहाँ अग्नि होती है वहाँ अन्धेरा होता ही नही और न अग्नि में ही अन्धेरा होता है। अतएव यह कहना निस्सार है कि अग्नि अपने को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करती है। यदि यह कहा जाय कि अग्नि के पहले अन्धेरा होता है जिसका अग्नि अपनी उत्पत्ति के साथ अपाकरण कर देती है तो यह दिखलाना होगा कि अग्नि की उत्पत्ति के समय उसका अन्धेरे से सम्पर्क होता है। यह स्पष्ट ही असम्भव है। यदि बिना अन्धकार से सम्पर्क हुए अथवा बिना उसकी प्राप्ति के ही अग्नि के द्वारा उसका निवारण होता है तो यहाँ पर उपस्थित अग्नि से ही अशेष लोकधातुओं में अन्धकार हट जाता।

पुनश्च, यदि प्रमाणो की सिद्धि स्वत मानी जाय तो उन्हें प्रमेयो की भी अपेक्षा न होगी। यदि प्रमेय-निरपेक्ष रूप से प्रमाण-सिद्धि मान ली जाय तो ये स्वत–सिद्ध प्रमाण किसी भी प्रमेय के साधन न होगे। दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि प्रमाणो की सिद्धि प्रमेयापेक्ष होती है तो सिद्ध-साधन का दोष उपस्थित हो जाता है क्योकि अपेक्षा सिद्ध-वस्तु की ही रह सकती है। असिद्ध वस्तु का अन्याभिसम्बन्ध असम्भव है। पुनश्च यदि प्रमाणो की सिद्धि प्रमेयापेक्ष होती है तो प्रमेय-सिद्धि प्रमाणनिरपेक्ष माननी होगी और इस प्रकार की निरपेक्ष प्रमेय-सिद्धि होने पर प्रमाण-सिद्धि सर्वथा व्यर्थ होगी। प्रमाण-सिद्धि प्रमेयापेक्ष होने पर प्रमाण और प्रमेय का परस्पर व्यत्यय हो जाता है क्योकि तब प्रमेयो से प्रमाण सिद्ध होते हैं न कि प्रमाणो से प्रमेय। यदि दोनों

की सिद्धि परस्परापेक्ष मानी जाय तो दोनो की ही असिद्धि माननी होगी। क्यो तव एक ओर प्रमेय प्रमाण-सिद्ध होगे, किन्तु वे प्रमाण स्वय साध्य रहेंगे। दूसरी ओर प्रमाण प्रमेय-सिद्ध होगे, किन्तु वे प्रमेय स्वय साध्य होगे। यदि पिता से पुत्र उत्पाद्य हो और पुत्र से पिता तो न पिता उत्पन्न होगा न पुत्र, और ऐसी स्थिति में यह भी नही तय हो पायेगा कि कौन पुत्र है और कौन पिता। सच तो यह है कि प्रमाणो की सिद्धि न स्वत. होती है, न परस्पर, न प्रमेयो से, और न अकस्मात्।

शुक्ल धर्मो के विषय मे आचार्यो के द्वारा परिगणन अवश्य किया गया है, किन्तु इन धर्मो के स्वभाव का प्रविभक्त निर्देश नही किया जा सकता। यह नही कहा जा सकता कि यह कुशल-विज्ञान का स्वभाव है, यह अकुशल विज्ञान का स्वभाव। अतएव यह कहना ठीक नही कि पृथक्-पृथक् धर्मस्वभाव का धर्मज्ञ लोगो ने उपदेश किया है। यदि कुशलधर्मो का कुशलस्वभाव प्रतीत्य उत्पन्न होता है तो वह उनका 'स्वभाव' न होकर परभाव ही होगा; और यदि यह कहा जाय कि कुशल धर्मों का स्वभाव निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होता है तो आध्यात्मिक जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। तब ब्रह्म-चर्यवास के स्थान पर धर्मों का अपना निरपेक्षवास रहेगा। प्रतीत्यसमुत्पाद के खण्डित होने पर सद्धर्म का अनिवार्य रूप से खण्डन हो जायगा क्योकि बुद्ध भगवान् ने कहा है "भिक्षुओ, जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है"। जब निरपेक्ष रूप से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत धर्मो के स्वभाव होगे तो आर्यसत्यों को मिथ्या मानना होगा। धर्म और अधर्म तथा लौकिक व्यवहार भी असम्भव हो जायगा क्योकि तब हेतु-निरपेक्ष सभी भाव नित्य होगे। भलाई या बुराई के घटने-बढ़ने का प्रश्न नही होगा और न दु ख से मोक्ष तक की चर्चा का। बुद्ध भगवान् की प्रसिद्ध देशना 'सभी सस्कार अनित्य हैं' मिथ्या हो जायगी, सभी सस्कृत धर्म असंस्कृत हो जायेंगे।

पदार्थों के नामयुक्त होने से उनका स्वभाव सिद्ध नही होता क्योकि नाम स्वयं नि स्वभाव हैं।

शून्यवादी धर्मों के स्वभाव का प्रतिषेध करते हुए धर्म-विनिर्मुक्त किसी पदार्थ का स्वभाव स्वीकार नही करते। ऐसी स्थिति में निस्स्वभाव धर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य स्वभाव के स्वीकार का उपालम्भ अयुक्त हो जाता है। यह आपत्ति भी निराधार है कि जिसकी सत्ता प्राप्त है उसी का प्रतिषेध किया जा सकता है और अतएव स्वभाव का स्वीकार किये बिना शून्यता का उपदेश नही हो सकता। क्योकि यदि ऐसा है तब तो विपक्षी के द्वारा शून्यता का प्रतिषेध ही शून्यता को सिद्ध कर देता है। यदि शून्यता के प्रतिषेध्य होते हुए भी वह प्रतिषिध्यमान शून्यता शून्यता नही है,

तो सत् का ही प्रतिषेध होता है, यह सिद्धान्त खडित हो जाता है। पुनश्च शून्य-वादी न किसी का प्रतिषेध करता है न उसके लिए कोई प्रतिषेध्य है, अतएव यह कहना व्यर्थ है कि उसके प्रतिषेध में ही विधि पुरस्कृत है। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि उक्ति के बिना भी असत् का प्रतिषेध प्रसिद्ध है। अतएव निस्स्वभावत्व का स्थापन व्यर्थ है। इसके उत्तर में शून्यवादी का कहना है कि "सब पदार्थ निस्स्वभाव हैं," यह उक्ति पदार्थों को निस्स्वभाव नही बनाती, किन्तु स्वभाव के पूर्वसिद्ध अभाव का ज्ञापन करती है। उदाहरण के लिए देवदत्त के घर में न होने पर यदि कोई कहे "देवदत्त घर में हैं" और इस पर अन्य कोई पुरुष उसका निषेध करते हुए कहे—"नही हैं" तो उसका निषेध-वचन देवदत्त का अभाव उत्पन्न नही कर सकता, केवल उसे प्रकाशित करता है।

पूर्वोक्त मृगतृष्णा के दृष्टात पर शून्यवादी का कहना है—यदि मृगतृष्णा में जलबुद्धि स्वाभाविक हो तो वह प्रतीत्यसमुत्पन्न नही होगी। वस्तुत मृगतष्णा, विपरीत-दर्शन तथा अयोनिशोमनस्कार की अपेक्षा रखते हुए ही यह जलबुद्धि उत्पन्न होती है। अभिनिवेश स्वाभाविक हो तो उसकी निवृत्ति किस प्रकार होगी? स्वभाव अनिवर्तनीय है। ऐसे ही अन्य ग्राह्य आदि धर्मो मे भी शून्यता समझनी चाहिए।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि नै स्वाभाव्य के कारण हेतु के ही असिद्ध होने से शून्य-वाद की सिद्धि असम्भव है। इसके उत्तर मे भी वही तर्क उपयोगी है जैसा ऊपर षट्क-प्रतिषेध में प्रयुक्त हुआ है। प्रतिषेध और प्रतिषेध्य के परस्पर सम्बन्ध की अनुपपत्ति मे शून्यवादी का उत्तर है कि यह सच है कि त्रिकाल मे न प्रतिषेध सम्भव है न प्रतिषेध्य, किन्तु यह वस्तुत· शून्यवाद का समर्थन ही है।

इस प्रकार शून्यवाद की तार्किक सम्भावना पर विचार करते हुए नागार्जुन का अन्त में कहना है कि जो शून्यता को मानता है उसके सभी पुरुषार्थ सुरक्षित रहते हैं। शून्यता को मानने वाले प्रतीत्यसमुत्पाद को हृदयगम करते हैं और इस प्रकार चार आर्यसत्य तथा श्रामण्यफल उन्हें उपलब्ध होते हैं। इसी आधार पर उनके समस्त लौकिक व्यवहार भी व्यवस्थित हो जाते हैं।

माध्यमिक कारिकाएँ—प्रतीत्यसमुत्पाद—माध्यमिक कारिकाओ का प्रारम्भ प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा बुद्ध की प्रसिद्ध वन्दना से होता है। "अनिरोधमनुत्पाद-मनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥ यः प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपचोपशम शिवम्। देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदता वरम्॥" प्रतीत्यसमु-त्पाद को यहाँ "प्रपचोपशम" एव "शिव" कहा गया है तथा आठ विशेषणो से उसकी अतर्क्यता एवं अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की गयी है। प्रतीत्यसमुत्पाद की अनेक

व्याख्याएँ प्रचलित थी, यथा "हेतुप्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा पदार्थों का उत्पाद", "भगुर पदार्थों का उत्पाद", "इदम्प्रत्ययता।" नागार्जुन के लिए पदार्थों की "आपेक्षिकता" उनकी स्वभावशून्यता को द्योतित करती है एव प्रतीत्यसमुत्पाद को मानने वाला सब पदार्थों को मायोपम समझता है। इससे अविद्या निवृत्त होती है तथा दुःख के "द्वादशांग" छिन्न हो जाते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा व्यावहारिक जगत् का प्रतिषेध इन आठ विशेषणों से प्रकाशित किया गया है—अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम एवं अनिर्गम। अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद में न निरोध होता है न उत्पाद, न उच्छेद होता है, न शाश्वत स्थिति, न उसमें पदार्थों की एकता है न अनेकता, न आगति होती है न निर्गति। विरुद्ध धर्मों का निषेध प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता द्योतित करना है। तर्क-बुद्धि प्रत्येक पदार्थ को धर्म-विशेष से विशेषित कर तद्-विपरीत धर्म से उसकी व्यावृत्ति करती है। इस दृष्टि से जो वस्तु एक नहीं है उसे अनेक होना चाहिए, जो उच्छिन्न नही होती उसे शाश्वत होना चाहिए, किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद में इस प्रकार का तर्क नही लगता। इसका कारण यह है कि शून्य में विशेषण लगा देने से शून्यगुणित अको के तुल्य विशेषणो का विरोध भी शून्यसात् हो जाता है। आचार्य गौडपाद ने कहा है कि मायामय बीज से उत्पन्न हुआ मायामय अकुर न शाश्वत कहा जा सकता है न नश्वर। "प्रपचोपशम" में प्रपच शब्द का अर्थ वाक् अथवा उसके द्वारा प्रतिपाद्य समस्त अभिधेय-मडल मानना चाहिए। इस प्रकार प्रपचोपशम का अर्थ सर्व-वाग् विषय का अतिक्रमण होता है। चित्त-चैत्त की अप्रवृत्ति तथा ज्ञान-ज्ञेय-व्यवहार की निवृत्ति होने पर जाति, जरा, मरण आदि अशेष उपद्रव के अभाव के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद को "शिव" कहा गया है। अनिरोध आदि विशेषण न केवल प्रतीत्यसमुत्पाद की अतर्क्यता सूचित करते हैं अपितु उत्पाद, निरोध, एकत्व, अनेकत्व तथा गमनागमन आदि तर्कबुद्धिसुलभ धर्मों की अपारमार्थिकता भी द्योतित करते हैं। लौकिक बुद्धि के द्वारा विकल्पित उत्पादनिरोधयुक्त जगत् की अपारमार्थिकता तथा परमार्थ की अवाच्यता, दोनो ही प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित होते हैं। यही शून्यवाद का सार है और माध्यमिक कारिकाओं के प्रारम्भ में ही इस प्रकार निर्दिष्ट है।

पदार्थों की उत्पत्ति का खंडन—उत्पाद, निरोध आदि मिथ्या विकल्पों के खण्डन में प्रवृत्त होते हुए नागार्जुन पहले उत्पाद को लेते हैं। उनका कहना है—

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥"

अर्थात् किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति कभी भी नही होती, न अपने से, न दूसरे से, न दोनो से, और न अकस्मात्। चार प्रकार के प्रत्यय बताये गये है—हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, अनन्तर-प्रत्यय एव अधिपति-प्रत्यय। इनके अतिरिक्त और कोई पाँचवा प्रत्यय स्वीकार्य नही है। वस्तु का अपना स्वभाव उसके प्रत्ययो में विद्यमान नही होता है, उस स्वभाव के अविद्यमान होने पर परतः उत्पत्ति असम्भव हो जाती है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय स्वयं पदार्थ को उत्पन्न नही करते, किन्तु क्रिया के द्वारा करते है। उदाहरणार्थ, चक्षु आदि प्रत्यय विज्ञानजनक क्रिया के निष्पादक होने के कारण प्रत्यय कहे जा सकते हैं। इस प्रकार नागार्जुन का कहना है कि "न तो क्रिया प्रत्यययुक्त है न प्रत्ययवियुक्त, एव प्रत्यय भी न क्रियायुक्त है न क्रियारहित।" उपर्युक्त उदाहरण में क्रिया विज्ञान के उत्पन्न होने पर अभीष्ट हो सकती है अथवा उसके उत्पन्न होने के पहले अथवा विज्ञान की उत्पद्यमान अवस्था में। विज्ञान के उत्पन्न होने पर क्रिया की कल्पना अयुक्त है क्योंकि तब क्रिया का निष्पादकत्व ही व्यर्थ होगा। विज्ञान के उत्पन्न होने के पहले उसकी उत्पादन क्रिया सुतरा अयुक्त है क्योकि वह कर्तृविहीन होगी। उत्पद्यमान विज्ञान की कल्पना ही अयुक्त है, क्योकि उत्पन्न एवं अनुत्पन्न के अतिरिक्त कोई तीसरी कोटि सुबोध नही है। प्रत्ययवियुक्त क्रिया की कल्पना स्पष्ट ही अनुपयोगी है। वस्तुतः उसकी योग्यता ही अज्ञात रहेगी। जैसे क्रिया के साथ प्रत्ययो का सम्बन्ध जोड़ना कठिन है ऐसे ही प्रत्ययो के साथ क्रिया का सम्बन्ध भी दुर्घट है।

यदि यह कहा जाय कि चक्षु आदि प्रत्ययो की अपेक्षा से विज्ञान उत्पन्न होता है अतएव चक्षु आदि प्रत्यय कहे जाते है तो यह बतलाना पड़ेगा कि जबतक विज्ञान की उत्पत्ति नही होती तबतक चक्षु आदि अप्रत्यय ही क्यो न माने जायँ और यदि वे अप्रत्यय होगे तो उनसे उत्पत्ति ही किस प्रकार होगी। यदि यह कहा जाय कि पहले वे अप्रत्यय है किन्तु पीछे किसी अन्य प्रत्यय की अपेक्षा से वे स्वय प्रत्यय बन जाते है, तो भी युक्त न होगा, क्योकि जिस अन्य प्रत्यय की उनको अपेक्षा होगी उसका प्रत्ययत्व सिद्ध करना उतना ही कठिन होगा। पुनश्च चक्षु आदि प्रत्यय सद्भूत विज्ञान के कल्पित किये जा सकते है अथवा असद्भूत विज्ञान के। दोनो ही प्रकार से अयुक्तता प्रकट होती है—यदि विज्ञान स्वय सत् है तो उसको प्रत्यय की आवश्यकता नही है। यदि विज्ञान असत् है तो उसका प्रत्यय होगा ही कैसे? इस प्रकार जब न सत्, न असत्, न सदसत् पदार्थ की उत्पत्ति मानी जा सकती है तब उनका उत्पादक हेतु किस प्रकार माना जा सकता है?

चक्षुर्विज्ञान आदि के विषय रूपादि को आलम्वन-प्रत्यय कहा जाता है। आलम्वन प्रत्यय विद्यमान धर्म (=चित्त-चैत) का हो सकता है अथवा अविद्यमान धर्मो का। दोनो ही विकल्पो मे आलम्वन प्रत्यय अनावश्यक अथवा असम्वद्ध है। वस्तुत चित्त-चैत्तो की सालम्बनता सावृत ही हैं। कारण के अव्यवहित निरोध को कार्य की उत्पत्ति का समनन्तर प्रत्यय कहा जाता है। किन्तु कार्यभूत अङ्कुरादि धर्मो के अनुत्पन्न होने पर वीजादि कारण का निरोध अनुपपन्न है। बीज आदि के अनिरुद्ध होने पर समनन्तर-प्रत्यय अनवकाश है। दूसरी ओर, प्रत्यय के निरोध होने पर उसकी प्रत्ययता किस प्रकार बनी रहेगी ? अधिपति प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"यस्मिन् सति यद्भवति" अर्थात् जिसके होने पर कार्य होता है। अविपति प्रत्यय कार्य के विशिष्ट स्वरूप का नियामक होता है। नागार्जुन का कहना है कि स्वभाव के अभाव मे स्वभाव का नियामक कौन होगा ? निस्स्वभाव पदार्थों की सत्ता ही नही है अतएव इदप्रत्ययता से लक्षित अधिपति प्रत्यय की कल्पना उपपन्न नही है। प्रत्ययो में व्यस्त अथवा समस्त रूप में कार्य की सत्ता नही दिखायी जा सकती, अत उन प्रत्ययो से उनमे अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार मानी जा सकती है ? यदि यह कहा जाय कि इन प्रत्ययो मे न होते हुए भी कार्य उनसे उत्पन्न होता है तो फिर वह कार्य अप्रत्यय से भी क्यो नही उत्पन्न होता ? यहाँ सांख्यो के सत्कार्यवाद तथा वैशेपिको के असत्कार्यवाद का खण्डन किया गया है। सत्कार्यवाद मे कार्य की उत्पत्ति व्यर्थ हो जाती है, असत्कार्यवाद में असम्भव। कार्य प्रत्ययमय है और प्रत्यय अप्रत्यय रूप है। ऐसी स्थिति में उन प्रत्ययो से उत्पन्न कार्य प्रत्ययमय कैसे होगा ? अर्थात् पट के तन्तुमय होने के लिए यह आवश्यक है कि तन्तु स्वयं स्वभावसिद्ध हो। अत कार्य न प्रत्ययमय है न अप्रत्ययमय, वस्तुत जब कार्य ही नहीं है तो प्रत्यय अप्रत्यय की कल्पना अनावश्यक है।

गति का प्रतिषेध—उत्पत्ति के प्रतिपेध के अनन्तर नागार्जुन दूसरे प्रकरण में गति के प्रतिपेध के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। गति की सिद्धि के लिए गन्तव्य मार्ग की सिद्धि आवश्यक है। गन्तव्य मार्ग को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—जिसका अतिक्रमण हो चुका है, जिसका अतिक्रमण शेष है। गन्तव्य के अतिक्रान्त भाग में गमन उपरत हो चुका है, अनतिक्रान्त भाग में आरम्भ ही नही हुआ है। अतएव वर्तमान क्षण में गमन का गन्तव्य के किसी भी भाग से सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। फलत. वर्तमानकालिक गमन असिद्ध है। वर्तमानकालिक गमन के असिद्ध होने पर गमन की त्रैकालिक असिद्धि अनिवार्य है।

यह शका की जा सकती है कि गन्तव्य अध्वा को 'गत' 'अगत' तथा 'गम्यमान', इन तीनो भागो मे विभक्त कर 'गम्यमान' भाग मे गमन की कल्पना करनी चाहिए। किन्तु 'गम्यमान' गन्तव्य मे गमन के लिए गमन के पूर्व ही गन्तव्य को 'गम्यमान' होना चाहिए। ऐसी स्थिति मे या तो 'दो गमन' मानने होगे या गति के अभाव मे भी गम्यमानता की सिद्धि माननी होगी। दो गमन मानने पर दो गन्ता मानने होगे। वस्तुत. 'गत' और 'अगत' अध्वो में गति का योग नही है, 'गम्यमान' अध्वा की सिद्धि स्वय गमनसापेक्ष है। गम्यमानता गतिपूर्वक है, गति गन्तव्यपूर्वक।

गमन गन्ता की भी अपेक्षा रखता है, किन्तु गन्तृत्व स्वय गतिसापेक्ष है। यदि गमन के पूर्व ही गन्ता सिद्ध है तो 'द्विगमन'-प्रसग पुन. उपस्थित होगा। यदि गन्ता सिद्ध ही नही है तो तदाश्रित गमन भी असिद्ध होगा। यदि गन्ता और गमन एक है तो कर्तृ-कर्म-विरोध उपस्थित होगा। यदि गन्ता अन्य है, गमन अन्य, तो वे घट-पट सदृश हो जायेगे। गन्ता गतिरहित भी होगा, गति गन्तृरहित भी।

गमनारम्भ भी गन्तव्यसापेक्ष होने के कारण उपर्युक्त रीति से अनुपपन्न है। स्थिति के निरोध से गति का आरम्भ कहा जाता है, किन्तु यह निरोध स्थिति काल मे भी असम्भव है, उसके अनन्तर भी। वस्तुत गति स्थितिसापेक्ष है, स्थिति गतिसापेक्ष। दोनो ही असिद्ध है। नागार्जुन के इस गति-विचार मे स्थूल गति को क्षणिक पारमाणविक गति में विश्लेषित कर यह प्रदर्शित किया गया है कि जहाँ आपातत एक अविच्छिन्न क्रियाप्रवाह प्रतीत होता है वहाँ वस्तुत क्षणानुपूर्वी के समानान्तर एक स्थित्यानुपूर्वी देखी जा सकती है जिसमे गति उतनी ही अवास्तविक है जितनी नटराज की मूर्ति मे। गतिशील वस्तु प्रत्येक क्षण मे कही-न-कही अवस्थित अर्थात् उपलब्ध होती है। यहाँ तक नागार्जुन तथा ग्रीक दार्शनिक ज़ेनो के विचार समानान्तर है। किन्तु नागार्जुन स्थिति की प्रतीति को भी अलातचक्रवत् भ्रान्त मानते है।

इन्द्रिय-परीक्षा—तृतीय प्रकरण मे चक्षु-आदि इन्द्रियो की परीक्षा की गयी है। अभिधर्म के अनुसार दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्श तथा मन, छ इद्रियाँ है। उनके द्रष्टव्य आदि गोचर है। ये ही सुप्रसिद्ध द्वादश आयतन है। नागार्जुन का कहना है कि इद्रियो को विषयो का ग्राहक नही माना जा सकता क्योकि वे स्वय अपने ग्रहण मे असमर्थ है। पुनश्च दर्शन आदि विषय-ग्रहण को उसी रीति से अनुपपन्न सिद्ध किया जा सकता है जिस रीति से ऊपर गमन को अनुपपन्न सिद्ध किया गया है। इन्द्रियो को विषयोपलब्धि का करण भी नही माना जा सकता क्योकि तब उनके अतिरिक्त एक कर्त्ता अपेक्षित होगा जिसे अपनी उपलब्धि मे असमर्थ मानते हुए भी विषयो की उपलब्धि में समर्थ

मानना होगा। दर्शनादि व्यापार को असगत मानकर क्रियारहित धर्ममात्र की उत्पत्ति का पक्ष भी नही लिया जा सकता क्योंकि इस प्रकार का निष्क्रिय धर्म आकाशकुसुम के समान असत्य होगा।

स्कन्ध-परीक्षा—चतुर्थ प्रकरण में स्कन्ध-परीक्षा की गयी है। रूपस्कन्ध के अन्तर्गत रूप, शब्द आदि भौतिक गुण है, उनके कारण महाभूत है। बिना भूत-भौतिक के कार्यकारणभाव के रूपस्कन्ध की सिद्धि नही हो सकती। किन्तु कार्य-कारण-भाव की अनुपपन्नता ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। पुनश्च कार्य न कारण के सदृश अभीष्ट है, न विसदृश। रूप के कारण चार महाभूत कठिन, द्रव, उष्ण तथा तरल स्वभाव के है। आभ्यन्तर भौतिक धर्म पांच इन्द्रियां रूपप्रसादात्मक है, बाह्य भौतिक रूपादि का स्वभाव विविध इन्द्रियग्राह्य है। भूत और भौतिको के लक्षण में स्पष्ट ही भेद है। किन्तु भेद होने पर कार्यकारण नियम ही दुर्बोध है। रूपस्कन्ध के समान ही अन्य स्कन्ध तिरस्कार्य है।

पंचम प्रकरण में धातुपरीक्षा की गयी है। छ धातुएं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा विज्ञान है। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये है। यथा, आकाश का अनावरण अथवा अनवरोध। किन्तु लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध दुरुपपाद है। यदि लक्ष्य और लक्षण भिन्न है तो पृथ्वी और काठिन्य पृथक्-पृथक् उपलब्ध होंगे, यदि वे अभिन्न है तो लक्षण निराश्रय अथवा लक्ष्य अलक्ष्य हो जायेंगे। यदि लक्ष्य लक्षण-रहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति न होगी, यदि लक्ष्य लक्षणसहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति अनावश्यक होगी। लक्षण के बिना लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, लक्ष्य की उपलब्धि के बिना लक्षण किया नही जा सकता। तात्पर्य यह है कि आकाश आदि तत्त्व केवल लक्षण-गोचर है, किन्तु ऐसी स्थिति में उनके लक्षण ही काल्पनिक हो जाते है। सौत्रान्तिक आकाश को अभावमात्र मानते है। किन्तु जब भाव ही असिद्ध है तो अभाव कैसे सिद्ध होगा? 'जो अल्पबुद्धि पदार्थों के अस्तित्व एव नास्तित्व को मानते है वे शिवात्मक, प्रपंचोपशम को नही देखते है।'

षष्ठ प्रकरण रागरक्त-परीक्षा है। यह शका की जा सकती है कि तथागत ने राग आदि क्लेशो का अस्तित्व बताया है, अतः स्कन्ध आदि उपपन्न है। नागार्जुन का कहना है कि राग और रक्त (=रागयुक्त) का सम्बन्ध अनुपपन्न है। यदि राग की उत्पत्ति के पूर्व पुरुष रागरहित है तो उसमें राग की उत्पत्ति होगी ही नही, अन्यथा अर्हतो में रागोत्पत्ति सम्भव होगी। दूसरी ओर राग के पूर्व ही पुरुष रक्त अथवा रागयुक्त किस प्रकार होगा? यदि राग और रागयुक्त चित्त को सहोत्पन्न माना जाय तो उन्हें

बैल के दो सींगो के तुल्य निरपेक्ष मानना होगा। राग और रक्त का सहभाव न उनके एकत्व के साथ सगत है, न उनके पृथक्त्व के साथ।

सप्तम प्रकरण मे **संस्कृतपरीक्षा** है। उत्पाद, व्यय, तथा स्थित्यन्यथात्व को तीन सस्कृतलक्षण बताया गया है। किन्तु इन लक्षणो के पृथक्-पृथक् प्रयोग से सस्कृतत्व निरूपित नही हो सकता और इनका एक साथ प्रयोग किया नही जा सकता। पुनश्च, यदि उत्पाद आदि में उत्पाद आदि लक्षण प्रयुक्त किये जायँ तो अनवस्था प्रसक्त होगी, यदि नही, तो वे असस्कृत हो जायगे। उत्पाद आदि विरुद्ध लक्षणो की एक ही वस्तु में प्रवृत्ति भी दुर्घट है। उत्पाद आदि पृथक्-पृथक् भी अनुपपन्न है। वस्तुत. उत्पाद, स्थिति एव भग माया, स्वप्न अथवा गन्धर्वनगर के समान हैं।

आठवें प्रकरण में **कर्मकारक परीक्षा** है। कर्त्ता, क्रिया, एव कर्म का उसी प्रकार निराकरण सुलभ है जैसे गन्ता, गमन, एव गन्तव्य का। कर्त्ता के बिना कर्म असम्भव है, कर्म के बिना कर्तृत्व असिद्ध। यदि कर्म के पूर्व कर्त्ता विद्यमान है तो पहला ही कर्म दूसरा कर्म होगा। यदि कर्त्ता नही है तो कर्म का प्रारम्भ ही न होगा।

सामितीय कहते हैं कि दर्शन, श्रवण आदि के पूर्व ही उनके उपादाता की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। इसका **पूर्वपरीक्षा** नाम के नवम प्रकरण में खण्डन है। कर्म और कर्ता, गमन और गन्ता के समान ही उपादान और उपादाता परस्पर सापेक्ष होने के कारण नि स्वभाव हैं। यह आपत्ति की जा सकती है कि सापेक्ष होने से ही किसी वस्तु को शून्य नही माना जा सकता। उदाहरण के लिए अग्नि इन्धन की अपेक्षा कर प्रज्वलित होती है, तथापि अग्नि का दाहकत्व स्वभाव अक्षुण्ण रहता है। इसके निराकरण के लिए **अग्नीन्धनपरीक्षा** नाम के दशम प्रकरण की रचना हुई है। यदि अग्नि इन्धन से पृथक् है तो नित्यप्रज्वलित रहेगी; न उसे जलाना होगा, न वह बुझेगी। यदि अग्नि इन्धन से पृथक् नही है तो इन्धन को जलाना न होगा, न इन्धन जलेगा। अन्यथा कर्तृ-कर्म-विरोध उपस्थित होगा। अग्नि और इन्धन परस्पर सापेक्ष हैं तथा नागार्जुन के लिए उनका दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के समान असिद्ध है। नागार्जुन से तर्क करना कठिन है क्योकि वे सब दृष्टान्तो को ही असिद्ध मानते हैं।

एकादश प्रकरण का नाम **पूर्वापरकोटिपरीक्षा** है। तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ ! जन्म-मरण रूप ससार अनादि है। अविद्या से आच्छादित तथा तृष्णा से बँधे हुए जीवो के आवागमन की पूर्व कोटि का पता नही चलता।" इससे विदित होता है कि अनादि ससार की सत्ता है। अतएव ससारी आत्मा की भी सत्ता माननी चाहिए। इस शका के उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि तथागत ने ससार को अनवराग्र बताया है अर्थात्

ससार का न आदि है और न अन्त। ऐसी स्थिति में संसार का मध्य ही कैसे स्वीकार किया जा सकता है? ससार के अभाव में ससारी भी निराकृत हो जाता है। पुनश्च यदि पहले जन्म की सत्ता सिद्ध हो और पीछे जरा-मरण की तो जन्म, जरामरण से रहित हो जायगा तथा सब अमर हो जायँगे। यदि जरामरण पहले हो और जन्म पीछे तो अहेतुक जन्म का जरा-मरण किस प्रकार होगा अर्थात् फिर से सबकी अमरता प्रसक्त हो जाती है। जरा-मरण और जन्म को समानकालिक भी नही माना जा सकता क्योकि वे परस्पर विरुद्ध है। यही नही, सहभूत जन्म और मरण बैल के दो सीगो के समान निरपेक्ष तथा अहेतुक हो जायगे। इस तर्क से यह सूचित होता है कि न केवल संसार की अपितु किसी भी पदार्थ की पूर्वकोटि अथवा सत्ता स्वीकार नही की जा सकती।

वारहवाँ प्रकरण दु.ख-परीक्षा है। यह कहा जा सकता है कि दु ख की सत्ता से आत्मा की सत्ता सूचित होती है। पाँच उपादान स्कन्ध दु ख कहलाते है। यह दु ख निराश्रय नही हो सकता, अतएव आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। इसके उत्तर में नागार्जुन दु ख की सत्ता का ही खण्डन करते हैं। दु ख स्वयकृत हो सकता है, अथवा परकृत, अथवा स्वयकृत-एव-परकृत, अथवा अहेतुक। दु ख पिछले जन्म के स्कन्धो की अपेक्षा रखकर उत्पन्न होते हैं। अन्यापेक्षया उत्पन्न होने के कारण स्कन्धात्मक दु ख को स्वयकृत नही माना जा सकता। दु ख को परकृत भी नही माना जा सकता क्योकि पिछले जन्म के कारणात्मक स्कन्धो को इस जन्म के कार्यात्मक स्कन्धों से भिन्न व्यवस्थित नही किया जा सकता। यहाँ पर कार्य और कारण की भेदाभेद-व्यवस्था को अनुपपन्न सूचित किया गया है। यह कहा जा सकता है कि दु ख का कारण दु ख अभिप्रेत नही हैं, अभिप्राय यह है कि पुरुष स्वय अपने कर्म से दु ख की उपलब्धि करता है। इसके उत्तर में नागार्जुन का प्रश्न है कि यह पुरुष कौन-सा है—वह जो दु ख की उपलब्धि करता है अथवा वह जो उसके कारणभूत कर्म का कर्ता है। दु ख की उपाधि एक पुरुष को सूचित करती है, कर्म की उपाधि दूसरे पुरुष को। यहाँ पुरुष की केवल प्रज्ञप्तिकृत अथवा औपाधिक सत्ता स्वीकृत है। ऐसी स्थिति में दु ख को स्वयकृत अथवा अभिन्न-पुरुष-कृत किस प्रकार माना जा सकता है? मनुष्य-पुद्गल के द्वारा किये कर्म का दु ख नारक-पुद्गल भोग करता है। इस दु ख को स्वकृत मानना अनुपपन्न है। दूसरी ओर यदि एक पुरुष को कर्ता दूसरे को भोक्ता मानकर दु ख को परकृत माना जाय तो भी कठिनाई दुर्निवार है। वस्तुत. ऐसी स्थिति में दु ख की अन्यत्र उत्पत्ति तथा अन्यत्र सक्रान्ति स्वीकार करनी होगी। स्वयंकृत दु ख के अप्रसिद्ध होने पर अन्यकृत दु ख की उत्पत्ति ही न होगी क्योकि जो अन्य पुरुष दु ख को उत्पादित करता है उसके लिए दु ख स्वयकृत होगा। परकृत दु.ख 'पर' के लिए स्वयकृत होगा। यदि दु ख न

स्वकृत है, न परकृत तो उभयकृत भी नही हो सकता। अहेतुक दु ख आकाशकुसुम की सुगन्ध के समान है। न केवल दु ख अपितु समस्त घट, पट आदि पदार्थ इसी प्रकार न स्वकृत है न परकृत, न उभयकृत, न अहेतुक।

तेरहवाँ प्रकरण **संस्कार-परीक्षा** है। तथागत ने सब सस्कारो को नश्वर और मिथ्या कहा है। वस्तुत यदि सब सस्कार मिथ्या है तो नश्वर कौन है? जब सस्कार है ही नही तो उनका विनाश कैसे होगा? अतएव तथागत की उक्ति को शून्यता की सूचना मानना चाहिए। यह शका हो सकती है कि निस्स्वभावता को स्वभाव की विनाशिता कहा जा सकता है। किन्तु यदि स्वभाव है तो उसका अन्यथाभाव नही हो सकता और यदि स्वभाव नही है तो उसके अन्यथाभाव का प्रश्न ही नही उठता। वस्तुत. अन्यथाभाव ही अनुपपन्न है। जो युवा है, वह बूढा नही होता, जो बूढा है वह बूढो क्या होगा? यदि दूध, दही बन जाता है तो दूध को ही दही मान लेना चाहिए, अन्यथा दूध से अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु दही बनेगी। निस्स्वभावता अथवा शून्यता को किसी प्रकार का स्वभाव न मानना चाहिए। यदि कोई वस्तु अशून्य हो तब शून्य भी कोई वस्तु हो सकती है। जब अशून्य ही नही है तो शून्य किस प्रकार होगा? तथागत ने शून्यता को सब दृष्टियो से मुक्ति का मार्ग कहा है। जो शून्यता को ही दृष्टि बना लेते है उनको असाध्य मानना चाहिए।

चौदहवे प्रकरण का नाम **संसर्ग-परीक्षा** है। द्रष्टा, दर्शन एव द्रष्टव्य, ये तीन दो-दो करके अथवा तीनो साथ ससर्ग मे नही आ सकते। सस्कारो के ससर्ग का उपदेश वन्ध्यापुत्रो के ससर्ग के समान है। अन्योन्यससर्ग के लिए अन्यत्व सिद्ध होना चाहिए। किन्तु अन्यत्व अन्योन्यसापेक्ष है। घट का पट से अन्यत्व तभी सिद्ध होगा जब पट का घट से अन्यत्व पूर्वसिद्ध रहेगा। 'यदि अन्य (यथा घट) अन्य (यथा पट) से अन्य है तो वह (घट) अन्य (पट) के बिना ही अन्य रहेगा, किन्तु वह अन्य, अन्य के बिना अन्य नही है, अतएव उसकी सत्ता नही है', अर्थात् यदि घट पट से अन्य है तो पट के बिना भी घट मे अन्यत्व सिद्ध होगा। किन्तु इस प्रकार का पट-निरपेक्ष घटगत अन्यत्व असम्भव है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि बौद्धो के अनुसार शब्दो का अर्थ अपोहात्मक होता है अर्थात् घट शब्द एक निश्चित स्वभावविशेष की ओर सकेत न कर पर-भाव की व्यावृत्ति सूचित करता है। घट शब्द का अर्थ घट न होकर पट, कट आदि का अभाव है। नागार्जुन के अन्यत्व-खण्डन मे एक प्रकार का अत्यन्त अपोहवाद सूचित है। अन्यत्व न अन्य मे हो सकता है, न अनन्य मे। अन्य में अन्यत्व की कल्पना किसी प्रकार के अतिशय का आधान नही करती, अनन्य में उसकी कल्पना ही नही की जा

सकती। अन्यत्व की अवस्थिति अन्य में हो सकती है, किन्तु अन्यत्व की अवस्थिति के विना अन्य की सिद्धि ही नहीं होगी।

पन्द्रहवें प्रकरण में **स्वभावपरीक्षा** है। नागार्जुन के लिए वास्तविक स्वभाव को अकृत्रिम तथा निरपेक्ष होना चाहिए; किन्तु इसके विपरीत यथार्थ में सभी तथाकथित स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं सापेक्ष हैं। अतएव उन्हें अवास्तविक या शून्य मानना चाहिए। स्वभाव के अभाव मे परभाव भी नही हो सकता। स्वभाव और परभाव के न होने पर भाव नही हो सकता तथा भाव के न होने पर अभाव भी नही हो सकता। स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव, इनको मानने वाले बुद्धशासन को ठीक नही पहचानते। यदि स्वभाव की हेतुप्रत्यय से उत्पत्ति हो तो वह कृत्रिम हो जायगा। अतः स्वभाव की उत्पत्ति, विनाश या अन्यथाभाव असम्भव है। किन्तु यह शुद्ध अस्तित्ववाद ही शाश्वतवाद है जिसका तथागत ने नास्तित्ववाद या उच्छेदवाद के समान खण्डन किया है। **कात्यायनाववादसूत्र** का सब बौद्ध संम्प्रदायो में पाठ मिलता है। इस सूत्र में तथागत ने अस्तित्व और नास्तित्व का प्रतिषेध कर मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश किया है जोकि स्वभावशून्यता का उपदेश है।

सोलहवां प्रकरण **बन्धनमोक्षपरीक्षा** है। ससार के प्रतिषेध के लिए नागार्जुन का कहना है कि यदि संस्कार संसरण करते हैं तो वे नित्य होगे या अनित्य। नित्य होने पर वे निष्क्रिय एवं अससारी हो जायेंगे। अनित्य होने पर वे उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट हो जायेंगे और अतएव संसरण में असमर्थ होगे। संस्कारो के स्थान पर यदि जीव को ससारी बताया जाय तो भी इसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होगी। यदि ससारी इस जन्म के स्कन्धों का त्याग कर जन्मान्तरीय स्कन्धो का उपादान करे तो अन्तराल में उसका अभाव मानना होगा। यदि अत्यागपूर्वक उपादान किया जाय तो एक साथ ही दो ससारियो की सत्ता माननी होगी। ससार के समान निर्वाण भी न सस्कारो का हो सकता है, न जीव का। अतएव न बन्धन वास्तविक है न मोक्ष। संसार और निर्वाण दोनों ही कल्पित हैं।

सत्रहवां प्रकरण **कर्मफलपरीक्षा** है। कर्म का मूल 'चेतना' अथवा मानसिक संकल्प है। इस सकल्प से उत्पन्न वाचिक एवं कायिक क्रिया 'अविज्ञप्ति' नाम का सूक्ष्म रूप-धर्म, तथा 'परिभोगमय' दान भी कर्म माने जाते है। कर्म और कर्मफल का सम्बन्ध उपपादित करने के लिए 'अविप्रणाश' नाम के चित्तविप्रयुक्त धर्म की कल्पना की जाती है। कर्म एक प्रकार का ऋण है, 'अविप्रणाश' ऋणपत्र के समान है। इस कल्पना से कर्म की अनित्यता उसके फल की अनिवार्यता से समञ्जस हो जाती है। इस समस्त

अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन का कहना है कि यदि कर्म को स्वभावयुक्त माना जायगा तो वह शाश्वत तथा अ-कार्य हो जायगा। पाप, पुण्य आदि भी नित्यव्यवस्थित हो जायगे। पुनश्च कर्म के कर्ता तथा भोक्ता का भेद अथवा अभेद व्यवस्थापित नही किया जा सकता। अतएव कर्म को नि स्वभाव या शून्य मानना चाहिए। कर्म की सत्ता ऐसी ही है जैसे कोई मायानिर्मित पुरुप अन्य का निर्माण करे। क्लेश, कर्म, देह, कर्ता तथा कर्मफल, सव गन्धर्वनगर, मरीचिका अथवा स्वप्न के समान है।

अठारहवाँ प्रकरण **आत्मपरीक्षा** है। यदि आत्मा स्कन्धो से अभिन्न है, तो वह उत्पत्ति-विनाशशील हो जायगा। यदि आत्मा स्कन्धो से भिन्न है तो विज्ञान आदि स्कन्ध, लक्षणो से रहित हो जायगे। अर्थात् स्कन्ध-भिन्न आत्मा में रूपण, अनुभव, निमित्तोद्ग्रहण, अभिसस्करण तथा विषय-प्रतिविज्ञप्ति का अभाव होगा। आत्मा के अभाव में आत्मीय का अभाव अनिवार्य है। आत्मा और आत्मीय के उपशम होने पर योगी निर्मम और निरहकार हो जायगा। किन्तु इस निर्मम और निरहकार पुरुप की भी वास्तविक सत्ता नही है, जो उसे विद्यमान मानता है वह अविद्या मे पड़ा है। अह और मम के क्षीण होने पर पुनर्जन्म क्षीण हो जाता है। कर्म और क्लेश के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म और क्लेश विकल्प से उत्पन्न होते है, विकल्प प्रपच से, समस्त प्रपच शून्यता में निरुद्ध हो जाता है। तथागत ने कही आत्मा का उपदेश किया है, कही अनात्मा का और कही आत्मा एव अनात्मा दोनो का प्रतिषेध किया है। यह उनका उपायकौशल है। चित्त-गोचर के निवृत्त होने पर समस्त अभिधेय भी निवृत्त हो जाता है। अर्थात् परमार्थ अवाङ्मनसगोचर है। धर्मता निर्वाण के समान अनुत्पन्न एव अनिरुद्ध है। बुद्ध का अनुशासन यह है कि सव तथ्य है, सव अतथ्य है, तथ्य एव अतथ्य दोनो है तथा वस्तुत न अतथ्य है और न तथ्य है। तत्त्व का लक्षण यह है कि वह निरपेक्ष, शान्त, निष्प्रपच, निर्विकल्प तथा नानात्वरहित है। जो कुछ सापेक्ष है उसका अपना स्वभाव नही है, न उसका परभाव हो सकता है। न वह उच्छिन्न है, न शाश्वत। वुद्ध शासन का मर्म यही है कि परमार्थ न एक है न अनेक, न नित्य और न अनित्य।

उन्नीसवे प्रकरण मे **काल-परीक्षा** है। यह माना जाता है कि अतीत, अनागत तथा वर्तमान, इन तीन रूपो मे काल की विज्ञप्ति है। नागार्जुन का कहना है कि वर्तमान और भविष्य अतीत की अपेक्षा ही निर्धारित किये जा सकते है। किन्तु यदि वे वस्तुत अतीत की अपेक्षा रखते तो उन्हे भी अतीत मे होना चाहिए था। जव अतीत था तव वर्तमान और भविष्य नही थे। जव वे थे ही नही तो उन्हें अपेक्षा किस प्रकार हो सकती थी ? जिस समय वर्तमान और भविष्य सत्ता-लाभ करते है, उस समय अतीत नष्ट हो गया था।

वस्तुत. काल के तीनो विभाग परस्पर सापेक्ष हैं, किन्तु हो नही सकते क्योंकि जब एक होता है तो दूसरे नही होते। यह कहा जा सकता है कि काल की सत्ता क्षणादि परिमाण से सूचित होती है। किन्तु क्षण आदि से अतिरिक्त यदि कोई स्थिर काल हो तभी क्षण आदि के द्वारा उसके परिमाण का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार का कूटस्थ काल सर्वथा असिद्ध है। दूसरी ओर यह भी नही कहा जा सकता कि क्षणादि के द्वारा किसी नित्य काल की अभिव्यक्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि संस्कृत पदार्थों की अपेक्षा काल की सत्ता होती है तो भी यह स्मरणीय है कि इन पदार्थों की सत्ता स्वयं असत्य है।

वीसवे प्रकरण का नाम **सामग्री-परीक्षा** है। हेतुप्रत्यय-सामग्री की सत्ता का निराकरण करते हुए नागार्जुन का कहना है कि यदि सामग्री में फल विद्यमान है तो सामग्री से वह उत्पन्न किस प्रकार होता है? और यदि वह सामग्री में विद्यमान नहीं है तो उसे सामग्री से उत्पन्न किस प्रकार कहा जा सकता है? हेतु-फल-भाव की अनुपपन्नता उपर्युक्त रीति से ही यहाँ पुन. विस्तारित है। **संभव-विभव-परीक्षा** नाम के इक्कीसवे प्रकरण में भी उत्पत्ति तथा विनाश को असंभव प्रतिपादित किया गया है।

वाईसवें प्रकरण में **तथागत-परीक्षा** है। तथागत के अस्तित्व का नागार्जुन ने उसी प्रकार निराकरण किया है जैसे आत्मा के अस्तित्व का। न तथागत स्कन्धात्मक हो सकते हैं न स्कन्धातिरिक्त। स्कन्धो के सहारे उनकी प्रज्ञप्तिमात्र होती है। स्कन्धापेक्ष होने के कारण वे निस्स्वभाव हैं। तथागत की इस शून्यता में किसी अन्य वस्तु की अशून्यता अभिप्रेत नही है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि तथागत न शून्य हैं न अशून्य, न दोनो, और न दोनो का अभाव। इस स्वभाव-शून्यता के कारण ही निरोध के अनन्तर बुद्ध रहते हैं अथवा नही, इस प्रकार की चिन्ता अयुक्त है। जो बुद्ध को प्रपंचातीत तथा अव्यय प्रपंचित करते हैं, वे प्रपंच से ही विहत हैं, वे तथागत को नही जानते। तथागत का वही स्वभाव है जो जगत् का, दोनो ही निस्स्वभाव हैं।

तेईसवाँ प्रकरण **विपर्यासपरीक्षा** नाम का है। राग, द्वेष, और मोह की उत्पत्ति में संकल्प साधारण कारण है तथा शुभ आकार, अशुभ-आकार एवं विपर्यास क्रमश· विशिष्ट कारण हैं। किन्तु शुभ. अशुभ आदि की अपेक्षा उत्पन्न होने के कारण क्लेश नि स्वभाव हैं। आत्मा की शून्यता के कारण भी वे निराश्रय हैं। रूप, रस आदि षड्विध बाह्य वस्तु भी स्वप्नोपम हैं। अतएव क्लेश निरालम्बन हैं। यदि अनित्य को नित्य समझना अविद्या है तो शून्य को अनित्य समझना क्या अविद्या नहीं है?

चौबीसवें प्रकरण में **आर्यसत्यों की परीक्षा** की गयी है। यह शंका हो सकती है कि शून्यता का स्वीकार करने पर उत्पत्ति और निरोध, असत्य हो जाते हैं, अत. आर्यसत्य

भी मिथ्या मानने होगे। ऐसी स्थिति मे आर्यफल, आर्य-पुरुष, सघ, धर्म एव वुद्ध की भी सत्ता असम्भव हो जायेगी। न केवल तीनो रत्न शून्यता से विनष्ट हो जाते हैं अपितु समस्त लौकिक व्यवहार भी। उसके उत्तर मे नागार्जुन का कहना है कि इस प्रकार की शका शून्यता के अज्ञान के कारण है। तथागत ने सवृत्ति सत्य तथा परमार्थसत्य, इन दोनो सत्यो का उपदेश किया है। इन दो का विभाग ठीक न जानने पर गम्भीर बुद्ध-शासन मे प्रवेश नही हो सकता। व्यवहार का सहारा लिये बिना परमार्थ का उपदेश सम्भव नही है। परमार्थ के ज्ञान के विना निर्वाण की प्राप्ति नही होती। शून्यता का असम्यक् ज्ञान वैसे ही घातक सिद्ध होता है जैसे दुर्गृहीत सर्प अथवा दुष्प्रसाधित विद्या। यही कारण है कि सबोधि के अनन्तर तथागत ने धर्मोपदेश के प्रति अरुचि का अनुभव किया। शून्यता पर आक्षेप करना व्यर्थ है। शून्यता के न मानने पर तथा नाना वस्तु-स्वभाव स्वीकार करने पर हेतु-प्रत्यय-भाव तथा उत्पत्ति और निरोध का क्रम सम्भव है। दूसरी ओर प्रतीत्यसमुत्पाद का ही नामान्तर शून्यता हे। सापेक्ष व्यपदेश तथा मध्यमा-प्रतिपद् भी वही है। कोई भी वस्तु अप्रतीत्य उत्पन्न नही होती, अत कोई भी वस्तु अशून्य नही है। वस्तुत शून्यता के न मानने पर ही आर्यसत्य आदि के अभाव का दोष सिद्ध होता है। यदि सब कुछ स्वभाव-सिद्ध है तो अनित्यात्मक दु ख, समुदय, निरोध तथा मार्ग असम्भव हो जायेंगे। जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वही दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग को भी देखता है।

पच्चीसवाँ प्रकरण **निर्वाणपरीक्षा** नामक है। यह शका की जा सकती है, यदि सब कुछ शून्य है, न किसी की उत्पत्ति होती है न विनाश, तो किसके प्रहाण अथवा निरोध के द्वारा निर्वाण सम्भव होगा? इस शका के उत्तर मे नागार्जुन का प्रतिप्रश्न है कि यदि सब कुछ अशून्य अथवा स्वभावसिद्ध है, न किसी की उत्पत्ति होती है न विनाश, तो भी किसके प्रहाण व निरोध के द्वारा निर्वाण सम्भव है? वस्तुत निर्वाण अप्रहीण एव असम्प्राप्त है, अविच्छिन्न एव अशाश्वत, अनिरुद्ध एव अनुत्पन्न। निर्वाण को भावरूप नही कहा जा सकता क्योकि अस्तित्व जरा-मरण आदि के अतिरिक्त नही हो सकता। यदि निर्वाण भावात्मक माना जाय तो निर्वाण सस्कृत एव सोपादान हो जायगा। यदि निर्वाण भावात्मक नही तो उसे अभावात्मक भी नही माना जा सकता। अभाव सापेक्ष एव सोपादान होता है। निर्वाण को वैसा नही माना जा सकता। निर्वाण न भाव है, न अभाव। उत्पत्ति, निरोध का सापेक्ष क्रम ससार कहा जाता है। उसी की निरपेक्षतया अप्रवृत्ति को निर्वाण कहते है। ससार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नही है। परमार्थ समस्त उपालम्भ एव प्रपच का उपशम है। वस्तुत बुद्ध भगवान् ने कभी किसी के लिए किसी धर्म का उपदेश नही दिया।

छब्बीसवें प्रकरण मे **द्वादशायतन का प्रसंग** है। यह प्रसिद्ध है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते है। सस्कारो से जन्मान्तर मे विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, विज्ञान से नाम-रूप का, नामरूप से षडायतन का, षडायतन से संस्पर्श का, स्पर्श से वेदना का, वेदना से तृष्णा का, तृष्णा से उपादान का, उपादान से भव का, भव से जाति का, जाति से जरा-मरण का। इस प्रकार बारह कारणों की परम्परा से दु.ख की उत्पत्ति होती है। हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा ससार की प्रवृत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। संसार का मूल कारण अविद्या है, अविद्या का अर्थ है शून्यता का अज्ञान। शून्यता का ज्ञान होने पर ससार-प्रवाह का निरोध हो जाता है। तत्त्वदर्शी के लिए अविद्या नित्य प्रहीण है। नागार्जुन का अभिप्राय यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक उत्पत्ति एवं निरोध को सूचित नहीं करता, अपितु सब धर्मों की अन्योन्य सापेक्षता को। संसार की उत्पत्ति अविद्या-पुरुष से है। नाना पदार्थ एवं उनकी उत्पत्ति-निरोध अज्ञान होने पर ही प्रतिभासित होते हैं।

सत्ताईसवे प्रकरण का नाम **दृष्टिपरीक्षा** है। बुद्ध भगवान् के समय में पूर्वान्त तथा अपरान्त के विषय में अनेक प्रकार के विवाद प्रचलित थे, इन्हें ही यहाँ दृष्टि कहा गया है। सब दृष्टियो का शून्यता के अभ्युपगम से निरोध हो जाता है।

आर्यदेव—आर्यदेव अथवा देव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। उन्हें काणदेव अथवा नीलनेत्र भी कहा गया है। कुमारजीव ने इनकी जीवनी का चीनी अनुवाद लगभग ४०५ ई० मे सम्पन्न किया था। आर्यदेव के विषय में यह कहा गया है कि वे दक्षिणापथ के ब्राह्मण थे[१]। उनके समय में महेश्वर की एक बहुत ऊँची स्वर्णमयी प्रतिमा थी जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसके सामने की हुई कामना अवश्य पूरी होती है। इस मूर्ति को छलनामात्र सिद्ध करने के लिए आर्यदेव ने उसकी बायी आँख निकाल ली, किन्तु पीछे अपनी निरहकारता सिद्ध करने के लिए उन्होने स्वयं अपनी एक आँख को निकाल लिया। श्वांच्वाग के अनुसार देव बोधिसत्त्व सिहल से नागार्जुन के दर्शन के लिए आये थे। परस्पर वादसवाद के अनन्तर नागार्जुन ने आर्यदेव को अपना धार्मिक उत्तराधिकारी स्वीकार किया। बुदोन के अनुसार आर्यदेव का सिहल में औपपादुक रूप से आविर्भाव हुआ था। वहाँ के राजा ने उनका पालन-पोषण किया। पीछे नागार्जुन के वे प्रधान शिष्य तथा धर्मदायाद बन गये। आर्यदेव ने नालंदा जाकर मातृचेट नाम के माहेश्वर आचार्य से तर्क किया तथा सद्धर्म की रक्षा की। बुदोन के अनुसार इस प्रसग में श्रीपर्वत से नालंदा जाते हुए मार्ग में आर्यदेव ने वृक्ष-देवता को अपनी एक आँख का दान कर

१—द्र०—तारानाथ, पृ० ८३–८६; बुदोन, पृ० १३०–२; वाटर्स, जि० २, पृ० १००–१, २००–२।

दिया। परम्परा के अनुसार आर्यदेव ने आठवी भूमि प्राप्त की थी। एक अनुश्रुति उनकी मृत्यु उनके द्वारा पराजित एक तीर्थिक शिष्य के हाथो बताती है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार आचार्य आर्यदेव सिंहलद्वीप मे उत्पन्न हुए थे और वहाँ युवराज होकर पीछे वही प्रव्रजित हुए तथा दक्षिण में आकर आचार्य नागार्जुन के शिष्य बने। उनके रचित ग्रन्थो में **माध्यमिक-चतुश्शतिका, माध्यमिक-हस्तबाल-प्रकरण, स्खलित-प्रमथन-युक्ति-हेतु-सिद्धि,** तथा **ज्ञानसारसमुच्चय** का उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होने तन्त्र पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे यथा **चर्यामेलयनप्रदीप चित्तावरण-विशोध, चतु:पीठतंत्रराजमंडल-उपायिका-विधिसार-समुच्चय, चतु.पीठसाधन, ज्ञानडाकिनीसाधन** तथा **एकद्रुमपंचिका।** यह सम्भव है कि वज्रयानी आर्यदेव माध्यमिक आर्यदेव से भिन्न हो।

आर्यदेव का प्रधान ग्रन्थ **चतु:शतक** है जिसका डा० वैद्य तथा महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री ने तिब्बती अनुवाद से अशत उद्धार किया है। **चित्तविशुद्धिप्रकरण** तथा **हस्तवालप्रकरण** के उद्धार का भी यत्न किया गया है।

शून्यवाद के लिए आर्यदेव के चतु शतक का महत्त्व नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओ के ही अनन्तर है। **चतु:शतक** को **बोधिसत्त्व-योगाचार-शास्त्र** भी कहा गया है। इस नाम से नागार्जुन और आर्यदेव की कृतियो का भेद सूचित होता है। **माध्यमिक-कारिकाओं** में शून्यता का तार्किक प्रतिपादन मात्र किया गया है। **चतु:शतक** में शून्यता के प्रतिपादन को बोधिसत्त्वचर्या के साथ समन्वित किया गया है। नागार्जुन ने शून्यता को परमार्थसत्य बताकर उसके साथ एक व्यावहारिक या सवृतिसत्य भी स्वीकार किया था। आर्यदेव ने इस देशनाभेद को अधिकारभेद के साथ समन्वित कर बोधिसत्त्व को योगचर्या का एक निश्चित क्रम प्रदर्शित किया है जिसमें शून्यता का स्थान चरम है। महायानसूत्रो में शून्यता और योग का सम्बन्ध निश्चित है, किन्तु उसकी दार्शनिक व्याख्या अस्पष्ट है। नागार्जुन की प्रधान कृति में साधना का व्यावहारिकपक्ष उपेक्षित है। आर्यदेव में साधन और दर्शन, योग एव शून्यता का पूर्ण सामंजस्य है।

चतु:शतक में १६ प्रकरण हैं। पहला प्रकरण नित्य-ग्राह्य-प्रहाणोपायसन्दर्शन है, जिसमें रूप-आदि स्कन्धो को हेतुप्रत्यय-सम्भूत होने के कारण अनित्य सिद्ध किया गया है। दूसरा प्रकरण सुख-ग्राह-प्रहाणोपायसन्दर्शन है जिसमें अनित्य वस्तुओ की दु खात्मकता प्रतिपादित है। तीसरा प्रकरण शुचि-ग्राह-प्रहाणोपायसन्दर्शन है जहाँ दु खात्मकता से अशुचित्व का प्रदर्शन है। चतुर्थ प्रकरण में आत्मग्राह के निराकरण का उपाय वर्णित है, पाँचवें में बोधिसत्त्वचर्या का विवरण है, छठे में क्लेशो के प्रहाण का उपाय सन्दर्शित है, सातवे में मनुष्य-सुलभ अभीप्ट भोगो से मुक्ति का उपाय निरूपित है, आठवें में शिष्यचर्या का वर्णन है, नवम में नित्यार्थ प्रतिषेध की

भावना प्रदर्शित है, दशम में आत्मप्रतिषेध है, एकादश में कालप्रतिषेध है, द्वादश में दृष्टिप्रतिषेध, त्रयोदश में इन्द्रियार्थप्रतिषेध, चतुर्दश में अन्तग्राहप्रतिषेध, पंचदश में सस्कृतार्थप्रतिषेध, तथा षोडश में गुरुशिष्याविनिश्चय भावना का निरूपण है।

चतुःशतक पर धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति की व्याख्याएँ विदित हैं। धर्मपाल ने समस्त ग्रन्थ को दो तुल्य भागो में विभक्त किया था। पूर्वार्ध की २०० कारिकाओ मे धर्मशासन है, अपरार्ध विग्रहशतक है जिसमें तर्क तथा खण्डन का प्राधान्य है। धर्मपला ने केवल उत्तरार्ध पर व्याख्या की थी। चन्द्रकीर्ति ने समस्त को एक इकाई मान कर व्याख्या की है। पूर्वार्ध में प्रत्येक कारिका के साथ एक-एक दृष्टान्त उल्लिखित है। इन दृष्टान्तो को मूलत. आचार्य धर्मदास ने सयोजित किया था।

आर्यदेव का कहना है कि बौद्ध मत सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय नही है। ब्राह्मण धर्म में बाह्य उपासना का प्राधान्य होने के कारण वह स्थूलबुद्धि जनता को आकर्षित करता है। जैनधर्म जाड्यप्रधान है तथा पूर्वजन्म के अपुण्य का फल है। वास्तविक धर्म सक्षेप में अहिंसा ही है तथा शून्यता ही निर्वाण है। किन्तु शून्यता का उपदेश सब के लिए नही है। हीन अधिकारियो के लिए दान का उपदेश है, मध्यम अधिकारियो के लिए शील का, उत्तम अधिकारियो लिए शान्ति का। शान्ति की प्राप्ति स्वभावशून्यता के बोध से ही सम्भव है। यह सूक्ष्मतम होते हुए भी प्रकारान्तर से सरलतम है क्योकि इसमें किसी प्रकार का कर्म आवश्यक नही है। शून्यता का ज्ञान ब्रह्मवत् नित्यसिद्ध एवं निर्गुण परमार्थ का ज्ञान है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। भेद-जगत् की वास्तविकता की प्रतीति ही अज्ञान है। शून्यता उसकी निवर्तक है।

शून्यता की सिद्धि के लिए आर्यदेव ने भी रूपादि स्कन्धो का तथा काल, नित्य परमाणु एव आत्मा का खण्डन किया है। अनेक स्थलो पर नागार्जुन की युक्तियो का अनुवादमात्र है, किन्तु तथापि आर्यदेव की तर्कशैली में एक नवीनता है। नागार्जुन ने प्राय. सर्वत्र "तत्त्वान्यत्वविकल्प" को उपस्थापित कर उभयथा अनुपपत्ति पुरस्कृत की है। फलतः जिस युक्ति से नागार्जुन ने गति का निषेध किया है उसी से 'दर्शन' का, जिस युक्ति से आत्मा का निषेध किया है उसी से तथागत का। नागार्जुन के 'प्रसगापादन' में व्यापक एकरसता है जो निराकरणीय विषयो के तथा मतो के वैलक्षण्य की उपेक्षा कर देती है। आर्यदेव अनेकत्र अपने प्रतिषेधो में विशिष्ट विपक्षियो के द्वारा प्रस्तावित युक्तियो का विचार करते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने वैशेषिकों के नित्य परमाणु-वाद का विस्तार से खण्डन किया है तथा इस प्रसंग में विपक्ष के दोषो का आविष्कार किया है।

नागार्जुन तथा आर्यदेव की तर्कप्रणाली प्रसगानुमान पर आश्रित है। वे स्वय किसी प्रकार का अभ्युपगम नही करते, किन्तु अशेप अभ्युपगमो मे विरोध की प्रसक्ति प्रदर्शित करते है। विरोध से अन्तर्ग्रस्त होने के कारण अस्तित्व-नास्तित्व, कार्य-कारण आदि सभी पक्ष निराकृत हो जाते है। शून्यवादी को सव मतो और वादो का प्रहाण अभीष्ट है। शून्यता स्वय कोई पदार्थ अथवा वाद नही है।

उत्तरकालीन प्रवृत्तियाँ--इस प्रकार का तर्क कठिनाइयो से मुक्त नही है। यदि शून्यवादी न किसी प्रमाण को मानता है, न प्रमेय को, तो उसके विपुलाकार ग्रन्थो का प्रतिपाद्य ही क्या हो सकता है? परमत के खण्डन के लिए भी उभयसिद्ध दृष्टान्त अपेक्षित है जो कि शून्यवादी को इष्ट नही है। पुनश्च सर्वप्रमाणसिद्ध जगत् का अपलाप करते हुए शून्यवादी का निरपवाद नास्तिकता के गर्त मे निपात अनिवार्य है। नागार्जुन ने **विग्रहव्यावर्तनी** मे इन आपत्तियो का उत्तर देने की चेप्टा की है। शून्यवादी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को सवृतिसत्य मानता है, किन्तु उसकी सापेक्षता के कारण उसकी स्वभावशून्यता जानता है। अविद्या के गर्भ मे सवृत जगत् की व्यावहारिक सत्ता अप्रतिपिद्ध है, किन्तु इस जगत् की विचारक्षमता उसकी पारमार्थिक शून्यता द्योतित करती है। शून्यता नास्तिता न होकर स्वप्नोपमता है।

किन्तु इससे पूर्ण समाधान नही होता। यदि व्यवहार मे स्वविरोव है तो इस स्वविरोधिता की उक्ति स्वविरोधी है अथवा नही? पुनश्च, यदि सव धर्म मिथ्या एव स्वप्नोपम है तो यह स्वप्नोपमता विद्यमान है अथवा नही? मैत्रेयनाथ ने अभूत-परिकल्प (=मिथ्या कल्पना) का अस्तित्व स्वीकार कर विज्ञानवाद की प्रतिप्ठा की। ससार भ्रान्त अनुभवमात्र है, किन्तु यह भ्रान्ति अविद्यमान नही है। यही नही, इस भ्रान्ति का आश्रय परावृत्त होकर वोधि को व्यक्त करता है। इस मत मे परमार्थ को एक प्रकार से व्यवहार का आधार कह सकते है। दूसरी ओर शून्यवाद के विरुद्ध तार्किक शकाओ के समाधान के लिए तथा सम्भवत विज्ञानवाद के प्रभाव से स्वातन्त्रिक-माध्यमिक मत का आविर्भाव हुआ।

स्वातन्त्रिक शाखा--आचार्य भावविवेक अथवा भव्य ने माध्यमिको की स्वातन्त्रिक शाखा की प्रतिप्ठा की। उन्होने **माध्यमिककारिकाओ** पर **प्रज्ञाप्रदीप** नाम की व्याख्या लिखी जो तिब्बती मे शेष है। **माध्यमिक-हृदय-कारिका** नाम के एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी उन्होने प्रणयन किया जिस पर उन्होने **तर्कज्वाला** नाम की व्याख्या स्वय लिखी[७]। **तर्कज्वाला** का सस्कृत-मूल उपलब्ध, किन्तु अप्रकाशित है।

७--द्र०--वाटर्स, जि० २, पृ० २२१-२३।

भव्य के **करतलरत्न** तथा **मध्यमकार्थसंग्रह** नाम के ग्रन्थो का सस्कृत मे उद्धार किया गया है। उनकी दो और कृतियाँ विदित है—**मध्यमकावतारप्रदीप**, तथा **मध्यमकप्रतीत्यसमुत्पाद**।

भावविवेक ने शून्यवाद के समर्थन मे 'स्वतन्त्र अनुमान' उद्भावित किये है। इन स्वतन्त्र अनुमानो मे 'पक्ष' को 'परमार्थत' इस विशेषण से विशेषित किया गया है, हेतु मे विपक्षव्यावृत्ति नही है, तथा अनुमितिप्रसज्यप्रतिपेधात्मक है। उदाहरण के लिए भव्य का एक 'स्वतन्त्र प्रयोग' इस प्रकार है—'परमार्थत आध्यात्मिक आयतन स्वत उत्पन्न नही है, क्योकि वे विद्यमान है, यथा चैतन्य'। यहाँ परमार्थत' विशेषण इसलिए दिया गया है कि चक्षु-आदि आयतनो का सावृत उत्पाद प्रतिषेध्य नही है। 'स्वत उत्पाद' के निषेध में 'परत उत्पाद' अभीप्सित न होने के कारण यहाँ 'प्रसज्य-प्रतिषेध' अगीकार्य है न कि 'पर्युदास प्रतिषेध'।

'स्वतन्त्रानुमान' के समर्थन के साथ भव्य ने 'प्रसगानुमान' का निराकरण किया है। इस सम्बन्ध में उन्होने आचार्य बुद्ध-पालित का विशेष रूप से खण्डन किया है। बुद्ध-पालित भावविवेक के ज्येष्ठ समकालीन थे तथा 'प्रासगिक माध्यमिक' मत के प्रतिष्ठाता थे। बुद्धपालित ने **माध्यमिक कारिकाओं पर मध्यमकवृत्ति** नाम की व्याख्या लिखी थी। भावविवेक का कहना है कि प्रसगानुमान मे हेतु और दृष्टान्त का अभाव है, परोक्त दोष का परिहार भी नही है, तथा प्रसगवाक्य को उलटकर विपरीत अर्थ सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बुद्धपालित ने इस प्रसग का आपादन किया है—'पदार्थ स्वत उत्पन्न नही होते, क्योकि उनकी उत्पत्ति व्यर्थ होगी, और (उत्पत्ति मानने पर) उत्पत्ति कभी निवृत्त नही होगी।' इसको इस प्रकार उलटा जा सकता है—'पदार्थ परत उत्पन्न है, क्योकि तब उनकी उत्पत्ति एव निरोध सावकाश होगे'। यह स्मरणीय है कि नैयायिको के अनुसार भी 'प्रसग' को हेतु के अभाव मे अनुमान नही माना जा सकता। अनुमान से बहिष्कृत होने पर प्रसग का किस प्रमाण मे अन्तर्भाव होगा ?

भावविवेक के स्वतन्त्रानुमान का आधार प्रसग मे दोषापत्ति ही नही है, अपितु परमार्थ एव सवृति के विषय में मतपरिष्कार है। भाव-विवेक के अनुसार परमार्थ भी द्विविध है संवृति भी। एक ओर 'अपर्याय-परमार्थ' है, दूसरी ओर 'पर्याय-परमार्थ।' 'अपर्याय परमार्थ' अनभिसंस्कार, लोकोत्तर, अनास्रव, एव अप्रपंच है। 'पर्यायपरमार्थ' साभिसंस्कार, तथा प्रपंचानुगत है। यही 'कल्पनानुलोमिक परमार्थज्ञान' है। संवृति में भी 'तथ्यसंवृति' तथा 'मिथ्यासंवृति' ये दो भेद है। परमार्थाभिमुख देशना तथ्यसंवृति है। तथ्यसंवृति परमार्थ की शब्द और तर्क के स्तर पर अभिव्यक्ति है।

परमार्थ और संवृति के इन अवान्तर भेदो की कल्पना से भावविवेक ने उनके मध्य की खाई पूरने का यत्न किया है। 'तथ्यसंवृति' तथा 'पर्यायपरमार्थ' प्रतीयमान मिथ्या जगत् से प्रपचातीत अनिर्वाच्य सत्य तक पहुँचने के पुल है। 'अपर्याय परमार्थ' तथा 'पर्यायपरमार्थ' की तुलना वेदान्त के निरुपाधिक एव सोपाधिक ब्रह्म से की जा सकती है। यह स्मरणीय है कि माया (=संवृति) के भी वेदान्त मे दो भेद हैं—विद्या तथा अविद्या। वस्तुत मिथ्या से सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान को आवश्यक रूप से मध्यस्थ मानना होगा। अन्यथा परमार्थ निरर्थक शब्द मात्र रहेगा। ज्ञान के भी दो भेद मानना अनिवार्य है—परोक्ष तथा अपरोक्ष। असत्य मे ग्रस्त लोक की परमार्थ की ओर प्रवृत्ति उपदेशमूलक परोक्ष ज्ञान के बिना नही हो सकती। यह परोक्ष ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान के आकर्षण का सूत्र सिद्ध होता है। अपरोक्ष ज्ञान परमार्थ का साक्षात् द्वार है। भावविवेक के मत मे यही दृष्टि अन्तर्भूत है।

प्रासंगिक मत—स्वातन्त्रिक मत के खण्डन का तथा प्रासंगिक मत के उद्धार का श्रेय आचार्य चन्द्रकीर्ति को है। चन्द्रकीर्ति धर्मपाल के शिष्य कहे गये है, अतएव उन्हे छठी शताब्दी मे मानना चाहिए। तारानाथ के अनुसार उनका जन्म दक्षिणापथ के समन्त नाम के स्थान मे हुआ था। शैशव मे ही उन्होने विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। नागार्जुन की कृतियो का परिशीलन उन्होने आचार्य बुद्धपालित तथा भव्य के शिष्य कमलसिद्धि के निर्देशन मे किया। तदनन्तर नालन्दा मे चिरकाल तक निवास कर उन्होने नाना ग्रन्थो की रचना की। बुदोन (पृ० १३४-३६) के अनुसार चन्द्रकीर्ति का जन्म दक्षिण मे समन नाम के स्थान मे हुआ था। उनमे अनेक अलौकिक शक्तियाँ बतायी गयी है, यथा वे चित्रलिखित गाय का दोहन कर सकते थे तथा पाषाण के स्तम्भ का बिना उसे स्पर्श किये प्रक्षेप कर सकते थे। चन्द्रकीर्ति के प्रधान ग्रन्थ **मध्यमकावतार, माध्यमिककारिकाओ पर प्रसन्नपदा** नाम की व्याख्या, तथा आर्यदेव के चतु शतक पर व्याख्या है।

चन्द्रकीर्ति का कहना है कि माध्यमिक का कोई भी स्वपक्ष नही है तथा सभी पदार्थ उसके लिए स्वभावशून्य हैं। ऐसी स्थिति मे माध्यमिक हेतु अथवा दृष्टान्त का अभिधान नही कर सकता। प्रसग अनुमान नही है। परोक्त अनुमान मे प्रसग का आपादन होता है, प्रसग का साधन नही। प्रसगापत्ति विपक्षी के मत को व्याहत सिद्ध करती हैं। इससे शून्यवादी का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। उसे नि शेष मनो का प्रहाण ही अभीष्ट है। चन्द्रकीर्ति भी संवृति को 'लोकसंवृति' एव 'अलोकसंवृति' मे विभक्त करते है, किन्तु इन दोनो ही विभागो को भावविवेक की मिथ्यासंवृति के अन्तर्गत मानना चाहिए।

अध्याय ११

महायान का दर्शन—योगाचार, विज्ञानवाद

'योगाचार' और 'विज्ञानवाद'

विद्यारण्य स्वामी ने सर्वदर्शनसंग्रह मे 'योग' और 'आचार' के अर्थ क्रमश गुरु के उपदेश मे अप्राप्त की प्राप्ति के लिए पर्यनुयोग तथा उपदिष्ट अर्थ का अंगीकार बताये हैं। उनके मत से बाह्यार्थ की शून्यता का अंगीकार करने से तथा आन्तरिक की शून्यता का पर्यनुयोग करने से ही 'योगाचार' यह नाम प्रसिद्ध हुआ[1]। किन्तु यह व्युत्पत्ति अश्रद्धेय है। इसके विपरीत भास्कराचार्य सत्य के समीपतर है—'शमथविपश्यनायुगनद्धवाही मार्गो योग इति योगलक्षणम्। शमथ इति समाधिरुच्यते। विपश्यना सम्यग्दर्शनलक्षणा। यथा युगनद्धौ बलीवर्दौ वहतस्तथा यो मार्ग सम्यग्दर्शनवाही स योगः। तेनाचरतीति योगाचार उच्यते'[2]। अर्थात् शमथ और विपश्यनात्मक योग मार्ग का आचरण ही 'योगाचार' का मर्म है। यह लक्षण अधिक व्यापक हो जाता है। वस्तुत 'योगाचार' सम्प्रदाय में योगचर्या का एक विशिष्ट क्रम और उससे सम्बद्ध दार्शनिक भावना अंगीकृत है। प्रज्ञापारमिता, लंकावतार, आदि सूत्रो में विभिन्न बोधिसत्व-भूमियो की प्राप्ति का मार्ग दिग्दर्शित है जिसका मैत्रेयनाथ के अभिसमयालंकार तथा असग के योगाचारभूमिशास्त्र में विस्तृत निरूपण है। योगाचारभूमिशास्त्र को इस सम्प्रदाय का मूल शास्त्र कहा गया है।[3] असंग के महायानसंग्रह के अनुसार योग के द्वारा परमार्थ ज्ञान की

१—"शिष्यैस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम्—गुरूक्तभावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चांगीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात्तेषाञ्चिद्योगाचारप्रथा।" (सर्वदर्शनसग्रह, पृ० १२, आनन्दाश्रम०)।

२—ब्रह्मसूत्र, २.२ २८ पर भाष्य।

३—वासिलिएफ, बुद्धिस्मुस, जि० १, पृ० ३१७।

ओर अग्रसर होना ही योगाचार का लक्षण है[४]। अन्यत्र **बोधिसत्त्वभूमि** के अनुकूल योगचर्या ही योगाचार का लक्षण उपदिष्ट है। दूसरी ओर समस्त त्रैधातुक को चित्तमात्र अथवा विज्ञानमात्र घोषित करने के कारण उन्हे 'विज्ञानवादी' कहा जाता है[५]। वसुवन्धु की **विज्ञप्तिमात्रताविंशिका** और **त्रिंशिका** मे 'योगाचार' का यह 'दार्शनिक पक्ष' विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। सक्षेप मे मैत्रेय, असग और वसुवन्धु की रचनाओ ने योगाचार-विज्ञानवाद को एक निश्चित सम्प्रदाय और दार्शनिक प्रस्थान का एक रूप दिया। वसुवन्धु के अनन्तर यह सम्प्रदाय अनेक शाखाओ मे वँट गया तथा दिङ्नाग एव धर्म-कीर्ति ने कुछ परिवर्तन के साथ इसे एक प्रौढ न्यायसम्मत दर्शन का आकार प्रदान किया[६]। विज्ञानवाद के मूल का अनुसन्धान करते हुए उसका वेदान्त से सामीप्य स्मरणीय है। दोनो मे ही समस्त प्रपच के मूल मे ज्ञान अथवा विज्ञान को अवस्थित माना जाता है। औपनिषद दर्शन के लिए शान्तरक्षित का कहना है—'तेषामल्पापराध तु दर्शन नित्यतोक्तित[७]।' अर्थात् नित्यत्व का स्वीकार ही वेदान्त का 'अल्प अपराध' है। शारीरक भाष्य मे बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शकराचार्य ने बौद्धो की ओर से यह आशका प्रकट की है—'साक्षिणोऽवगन्तु स्वय सिद्धतामुपक्षिपता स्वय प्रथते विज्ञान-मित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति।'[८] अर्थात् बौद्ध पक्ष ही शब्दान्तर से वेदान्त का पक्ष है। इसके उत्तर मे शकराचार्य ने कहा है कि बौद्ध मत मे विज्ञान को अनित्य एव सविशेष माना जाता है जवकि वेदान्त मे पारमार्थिक ज्ञान नित्य एव निर्विशेष है। पुनश्च भेदजगत् को मायिक और स्वप्नवत् मानते हुए भी वेदान्त मे उसके अभ्यन्तर साख्य का अनुसरण करते हुए ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य अर्थ की सत्ता का अपलाप नही किया जाता। दूसरी ओर यह स्मरणीय है कि शकराचार्य ने ग्राह्य-ग्राहक भाव से विरहित विज्ञान की चर्चा नही की है। वसुवन्धु प्रभृति आचार्यो की न्यायानुसार विश्लेषणा अभाग्यवश साख्यानुग वेदान्त से दूर पड़ती है, किन्तु लकावतार आदि सूत्रो मे वेदान्त से तुलनीय सैद्धान्तिक छाया वहुधा आभासित होती है। अज्ञान-विजृम्भित नानात्वयुक्त जगत् के पीछे एक द्वैतरहित निर्विकल्प ज्ञान की पारमार्थिक

४—वही, पृ० ३१६।
५—वही, पृ० ३१७।
६—दे०—नीचे।
७—द्र०—तत्त्वसंग्रह, ३३०—३१।
८—ब्रह्मसूत्र २.२.२८ पर।

न्यिनि है, यह धारणा दोनो में ही मर्मभूत और तुल्य है। किन्तु इसका प्रथम उन्मेष उपनिषदो मे उपलब्ध होता है। बौद्धो में इस धारणा का वास्तविक मूल तर्क न हो कर योगज अनुभूति ही थी, किन्तु क्रमश इसीकी तार्किक व्याख्या के द्वारा विज्ञानवादी दर्शन का विकास हुआ। इस तार्किक व्याख्या के प्रसग में पहले हीनयानी अभिधर्म के प्रभाव ने तथा पीछे बौद्धेतर दर्शनो के साथ सघर्ष ने विज्ञानवाद को अपने रहस्यवादी मूल से दूर पहुँचा दिया। दूसरी ओर, उपनिषदो के आशय का अद्वैत दर्शन में विकास बौद्ध दर्शन के प्रभाव से असंस्पृष्ट नही माना जा सकता। इसका स्पष्ट प्रमाण गौडपपाद की माण्डूक्यकारिकाएँ है जिनका औपनिषद मूल बौद्ध ऋण विस्तार से प्रतिपादित हो चुका है[९]। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद की एक रहस्यवादी अनुभूति के रूप मे प्रथम अभिव्यक्ति उपनिषदो मे हुई थी जिसकी कुछ प्रतिध्वनि प्राचीन बौद्ध सूत्रो मे एवं विस्तार महायान-सूत्रो मे उपलब्ध होता है। मैत्रेय-असंग एव वसुबन्धु ने इसी आधारपर योगाचार-विज्ञानवाद को एक पृथक् शास्त्र के रूप में उद्धृत तथा प्रतिष्ठापित किया।

उपनिषदो मे आत्मा अथवा ब्रह्म का स्वरूप सत्, अनिर्वचनीय, अथवा ज्ञान कहा गया है। ऐतरेय के अनुसार 'यदेतत् हृदय मनश्चैतत्। सज्ञानमाज्ञान विज्ञानं प्रज्ञान मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृति सङ्कल्प. क्रतुरसु कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'।[१०] अर्थात्, बौद्ध शब्दो मे, चित्त-चैत्त विज्ञान मे अभिन्न है। इसी उपनिषद् के अनुसार सब देवता, पच महाभूत, सब जीव, समस्त स्थावर और जगम प्रज्ञान मे प्रतिष्ठित है।' 'प्रज्ञानेत्रो लोक प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म[११]।' यही आशय बौद्धो के द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त है—'चित्तमात्र भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्'। अर्थात् तीनो लोक धातु चित्तमात्र है। कौषतकि ब्राह्मणोपनिषद् म सब विषयो को प्रज्ञापेक्ष कहा गया है। सब भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्रो में वैसे ही अर्पित है, जैसे रथनाभि में[१२] से अर। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी एवं जनक को दिये हुए उपदेशो में आत्मा का स्वरूप अविनाशी, किन्तु द्वैतरहित विज्ञानघन बताया गया है[१३]। यह स्मरणीय है कि उपनिषदो मे विज्ञान अथवा प्रज्ञान का महत्त्व आत्म-स्वरूप होने से सापेक्ष ही है, आत्मनिरपेक्ष रूप मे नही। यह भी स्पष्ट है कि इन स्थलो

९—विधुशेखर भट्टाचार्य के द्वारा।

१०—ऐ० उ० ३.२।

११—वही ३.३।

१२—कौ० उ० ३.८।

१३—बृ० उ० ४.५।

में आत्मा का स्वरूपभूत अद्वैत ज्ञान ही अभिप्रेत है न कि वृत्तिज्ञान अथवा अन्त करण का धर्मविशेष। किन्तु इस प्रकार की भ्रान्ति की सम्भावना सुलभ हे तथा कदाचित् इसीलिए प्राचीन बौद्ध सूत्रो मे वार-वार विषयाक्रान्त विनश्वर चित्त का नैरात्म्य उद्घोषित है। इस प्रसग मे मज्झिमनिकाय मे उल्लिखित साति केवट्टपुत्त की भ्रान्ति का शास्ता के द्वारा निराकरण स्मरणीय है। किन्तु दूसरी ओर विज्ञान को एक स्थल पर 'अनन्त, सर्वत प्रभ' कहा गया है। अन्यत्र विज्ञान के 'अप्रतिष्ठित' होने का उल्लेख है तथा स्वय बुद्ध भगवान् को 'ज्ञानभूत' कहा गया है। किन्तु यह निस्सन्देह है कि हीनयानी आगम मे प्राय चित्त-विज्ञान को कार्य-कारण से नियन्त्रित एक दु खमय प्रवाह मान कर निरोद्धव्य ही बताया गया है[14]।

महासांघिक और सौत्रान्तिक कल्पनाएँ—हीनयान के सम्प्रदायो मे 'प्रज्ञप्तिवादियो' का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके सिद्धान्तो के पर्यालोचन से यह प्रतीत नही होता कि उनका विज्ञानवाद से कोई स्पष्ट सम्वन्ध था। महासाघिको के सिद्धान्तो मे अवश्य चित्त की प्रभास्वरता एव स्वभावविशुद्धि का प्रतिपादन मिलता है, तथा उनके रूपकाय के सिद्धान्त में एक प्रकार से विज्ञानमूलक मायावाद भी अन्तर्निहित है। उन्होने एक प्रकार के 'मूल विज्ञान' की कल्पना की थी। सौत्रान्तिको ने 'सूक्ष्म मनोविज्ञान' कल्पित किया था[15]।

महायानसूत्र—किन्तु परवर्ती विज्ञानवाद की सम्यक् अवतारणा महायान-सूत्रो मे सर्वप्रथम पायी जाती है। तिब्वती ज–य–शद्–प के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं—सन्धिनिर्मोचन, लकावतार, तथा घनव्यूह[16]। एक पुरानी धारा से प्रवाहित, किन्तु चिर-उपेक्षित विज्ञानवाद का बीज महायान-सूत्रो मे निरूपित बोधिसत्त्वो की योगचर्या के क्षेत्र मे एक आध्यात्मिक आवश्यकता से अकुरित हुआ। योगाचार विज्ञानवाद का यह अकुरोद्गम अथवा 'सूत्रकाल' लगभग ई० पू० पहली शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक मानना चाहिए। इसके अनन्तर तीसरी से पाँचवी शताब्दी तक मैत्रेय, असग, एव वसुवन्धु के कार्य से विज्ञानवाद की परिणति का युग अथवा 'शास्त्र-काल' मानना चाहिए। वसुवन्धु के अनन्तर न्यायानुसारी, परिवर्तित एव अनेक-प्रभेद-भिन्न विज्ञानवाद का युग है।

१४–द्र०—ऊपर।

१५–द्र०—ऊपर।

१६–ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ० ८४, पादटिप्पणी।

दर्शन सूत्रो में उल्लेख—विज्ञानवाद के आविर्भाव के इस काल-निर्णय से एक अन्य मीमांसित प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। न्यायसूत्रो के सर्वपृथक्त्व-निराकरण तथा सर्वशून्यतानिराकरण के प्रकरणो में आभिधर्मिक एव माध्यमिक दृष्टियो की सूचना उपलब्ध होती है, किन्तु विज्ञानवाद का तुल्य उल्लेख प्राप्त नही होता। बाह्यार्थभग-निराकरण के प्रकरण मे भी विज्ञानवाद-विदित कुछ युक्तियो का उल्लेख होते हुए भी वस्तुत शून्यवाद का ही निराकरण अभिप्रेत है। योगसूत्रो मे कैवल्यपाद के अन्तर्गत 'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्त पन्था' इत्यादि के द्वारा विज्ञानवाद का खण्डन मिलता है। शंकर और रामानुज के अनुसार ब्रह्मसूत्रो मे 'नाभाव उपलब्धे.' इत्यादि के द्वारा विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है, किन्तु ऐसा मानने पर शकर के अनुसार सूत्रकार के द्वारा शून्यवाद का अनुल्लेख मानना होगा तथा रामानुज के अनुसार 'सर्वथानुपपत्तेश्च' मे एक पृथक् अधिकरण स्वीकार करना होगा। दोनो ही दशाओ मे आपत्ति की जा सकती है। वस्तुत ब्रह्मसूत्रो मे भी न्यायसूत्रो के 'बाह्यार्थभङ्ग-निराकरण' के सदृश शून्यवाद के अभिमत प्रत्यक्षोपलब्ध जगत् के मिथ्यात्व का ही खण्डन मानना चाहिए, न कि विज्ञानवाद का।

इस प्रकार न्यायसूत्र एव ब्रह्मसूत्र दोनो योगसूत्रो से प्राचीन प्रतीत होते है। न्यायसूत्र सम्भवत प्राचीनतम है। उनका परिचय केवल कुछ सामान्य बौद्ध सिद्धान्तो से है यथा धर्मनानात्व अथवा धर्मशून्यता, क्षणभङ्ग एव नैरात्म्य। अतएव न्यायसूत्रो को ई० पू० पहली शताब्दी से अर्वाचीन न मानना चाहिए। ब्रह्मसूत्रो में सर्वास्तिवाद का विस्तृत परिचय [illegible] चित् ई० पहली अथवा दूसरी शताब्दी की ओर इंगित करता है। योगसूत्रो को इनसे भी परवर्ती मानना चाहिए। उनमे उल्लिखित लक्षण परिणाम आदि का चिन्तन भी सम्भवत सर्वास्तिवादी आचार्यों का ऋणी है।

सन्धिनिर्मोचन—सन्धिनिर्मोचनसूत्र माध्यमिको के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी मुख्यत योगाचार का प्रतिपादक है। इसके अनुसार भगवान् बुद्ध ने तीन धर्मचक्र प्रवर्तित किये है[17]। पहला चतुस्सत्य-धर्मचक्र-प्रवर्तन था जिसमें हीनयानी अभिनिविष्ट था। दूसरा अलक्षण-धर्म-चक्र-प्रवर्तन था जिसका विस्तार प्रज्ञापारमितासूत्रो में हुआ है। तीसरा परमार्थ-विनिश्चय-धर्म-चक्र-प्रवर्तन था जो सन्धिनिर्मोचन, लङ्कावतार, घनव्यूह आदि मे निरूपित है। हीनयानियो ने उत्पत्तिनि स्वभावता में [illegible] लक्षण का ग्रहण किया है। प्रज्ञापारमितासूत्रो में लक्षण-

[17]—वालेसर, डेर बुद्धिस्मुस, जि० १, पृ० १६३; ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३३, पृ० ९१।

नि स्वभावता के आधार पर परिकल्पितलक्षण का वर्णन किया गया है । परमार्थ-नि स्वभावता के आधार पर परि निष्पन्न लक्षण का विवरण इन्ही सन्धिनिर्मोचन आदि योगाचार सूत्रो मे द्रष्टव्य है[१८] ।

परमार्थ के विषय मे सन्धिनिर्मोचन में कहा गया है कि समस्त सस्कृतधर्म न सस्कृत है, न असस्कृत । असस्कृत धर्म भी इसी प्रकार असस्कृत नही कहे जा सकते । सब कुछ विकल्पमात्र, प्रज्ञप्तिमात्र, आभासमात्र है। परमार्थ विकल्पातीत है एव उसे एक अथवा अनेक नही कहा जा सकता। परमार्थत. सब पदार्थों में लक्षणसमता द्रष्टव्य है[१९] ।

घनव्यूह—घनव्यूह त्रैधातुक की सीमाओ के परे एक शुद्ध क्षेत्र है[२०] । घनव्यूह सूत्र मे आलयविज्ञान की महिमा निरूपित है। सब कुछ चित्तमात्र है तथा पाँच स्कन्ध कल्पित है । आलय से ही ससार का उद्गम मानना चाहिए । उसी में क्लिष्टाक्लिष्ट बीज विद्यमान है, किन्तु उसे आत्मा न समझना चाहिए । सब पदार्थों में तथागतगर्भ ही प्रतिबिम्बित है जैसे चन्द्रमा जल में। यही परमार्थ है। दूसरी ओर नाम तथा लक्षण के द्वारा मिथ्या प्रपच प्रतिभासित होता है ।

लंकावतार—लकावतारसूत्र में बाह्य पदार्थो की सत्ता को मायावत् प्रतीयमान बताया गया है। उनकी प्रतीति एव प्रविभाग काल्पनिक हैं। वस्तुत उनकी कभी उत्पत्ति ही नही हुई । जिस प्रकार दीवार पर तस्वीरे खिची हो ऐसे ही समस्त लोक-सन्निवेश है। समस्त जगत् दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान अथवा जल या चाँदनी में छाया के समान समझना चाहिए[२१]। इस प्रकार बाह्य जगत् की भ्रान्त प्रतीति चित्त के विकल्प से ही होती है। चित्त के अतिरिक्त शेष सब माया है—"मायोपमा सर्व-धर्माश्चित्तविज्ञानवर्जिता ।"[२२] इसीसे शून्यवाद और विज्ञानवाद का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। शून्यवाद में सभी पदार्थ निश्शेष रूप से मायोपम है, विज्ञानवाद में यह समस्त माया चित्त के ऊपर आरोपित है। चित्त-भित्ति पर ही जगच्चित्र विकल्प के द्वारा आलिखित है । यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि लकावतार मे अनेक स्थलो पर शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है और अतएव उसे विशुद्ध विज्ञानवाद का सूत्र-

१८—ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३२, पृ० ९३–९५ ।
१९—वासिलियेफ, पूर्व० पृ० १६२ ।
२०—वही, पृ० १७४।
२१—लंका, पृ० २० ।
२२—वही, पृ० २२ ।

ग्रन्थ नही मानना चाहिए। वस्तुत महायानसूत्रो मे बहुधा शून्यवाद एव विज्ञानवाद का स्पष्ट भेद प्रतिपादित नही हुआ। नागार्जुन, मैत्रेयनाथ आदि के प्रयत्नो से यह भेद प्रकट हुआ, किन्तु पुन परवर्ती काल मे शिथिल हो गया।

स्वभावत चित्त अत्यन्त परिशुद्ध, निराभास और अद्वय है। तथापि अनादि काल से वह अविद्या के आवरण से आच्छन्न है। अविद्या का मूल स्वरूप ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण द्वैत की प्रतीति ही है। चित्तमात्र के ही सत्य होने पर भी एक ओर ग्राहक-सत्ता तथा दूसरी ओर विविधाकार ग्राह्य जगत् की सत्ता अनादि वासना के आधार पर प्रतिभासित होती रहती है। वस्तुत ग्राह्य और ग्राहक रूप अनुभव के दोनो छोरो को उसकी परिधि के अभ्यन्तर ही प्रतीयमान मानना चाहिए।

अनादि प्रपच की वासना से वासित चित्त ही 'आलयविज्ञान' एव 'तथागतगर्भ' कहलाता है।[२३] इसी में समस्त कुशल एव अकुशल हेतु विद्यमान रहते हैं। यही नित्य और निरन्तर विद्यमान रहता हुआ सब जन्मो और गतियो का कर्ता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा दुरालक्ष्य है। इसी को ठीक न समझने के कारण आत्मवाद की भ्रान्ति प्रस्तुत होती है। आलयविज्ञान अथवा तथागतगर्भ की ही विशुद्धि अथवा परावृत्ति से परमार्थ की प्राप्ति होती है। 'तथागतगर्भ' को 'सर्वसत्त्वदेहान्तर्गत' कहा गया है जिससे वह आलय-समष्टि-सा प्रतीत होता है।

दूसरी ओर आलयविज्ञान से ही क्षणिक प्रवृत्ति-विज्ञानो की उत्पत्ति होती है जैसे सागर से तरगो की। विज्ञान आठ हैं[२४]—पाँच इन्द्रिय विज्ञान, विषय परिच्छेदात्मक मनोविज्ञान, अहकारात्मक मन, अविद्यात्मक आलय-विज्ञान। मन तथा मनोविज्ञान का प्राय वही कार्य है जो साख्य में बुद्धि-अहकार-मन का। पहले पाँच विज्ञान बाह्य विषयो के सम्पर्श से प्रवृत्त होते हैं। मनोविज्ञान इन विज्ञानो का समन्वय तथा उनका आलय-विज्ञान से सबन्ध स्थापित करता है। मन अहंकार और ममकार उपस्थित करता है। आलयविज्ञान को वासनाशय कहा जा सकता है।

इन आठो विज्ञानो के भेद को वास्तविक न समझकर केवल कार्यभेद अथवा व्यावहारिक समझना चाहिए। जैसे समुद्र एव तरगो में वास्तविक भेद नही है ऐसे ही आलय एव अन्य विज्ञानो में। 'चित्त', 'मन' एव 'विज्ञान' का भेद भी लक्षणार्थ विकल्पित है। कर्म सचित करने के कारण जो चित्त कहलाता है वही दृश्य जगत् को विशेषात्मक रूप से जानने के कारण विज्ञान कहलाता है।

२३—वही, पृ० ४६ प्र०, ७७–७८, २२०–२३।

२४—वही, पृ० ४६, १२६, २२९ इत्यादि।

परमार्थ की चित्तमात्रता का यह अर्थ नही है कि सुप्रसिद्ध वैयक्तिक चित्तधाराओ मे समस्त जगत् का कथचित् निमज्जन कर गजनिमीलिका को उदाहृत करना होगा। चित्त की वैयक्तिकता तथा 'प्रवर्तन' ग्राहक भेद के अभिनिवेश की अपेक्षा रखते हैं तथा हेतुप्रत्यय से प्रतिनियत है। वाह्य जगत् तथा व्यक्ति-भेद, दोनो ही प्रपच के अभ्यन्तर हैं तथा इस प्रपच का मूल तथागतगर्भ के 'आगन्तुक क्लेशो' मे है। एक ओर प्रापचिक भेदजगत् है, दूसरी ओर उसके मूल मे अद्वय और विशुद्ध चित्त। 'दो सत्यो' का सिद्धान्त यहाँ आभासित है।

इस प्रसग मे 'त्रिस्वभाव' का उल्लेख आवश्यक है। इनमें सर्वप्रथम 'परिकल्पित-स्वभाव' है जिसका प्रकट भ्रान्तियो मे समुल्लास होता है। व्यावहारिक जगत् मे सभी पदार्थ सापेक्ष है तथा हेतुप्रत्यय के अधीन। यही उनका 'परतन्त्र स्वभाव' है। ये दोनों ही स्वभाव पदार्थों की शून्यता अथवा मायिकता प्रदर्शित करते है। सब पदार्थों की वास्तविकता उनकी चित्तमात्रता ही है। इसी को 'परिनिष्पन्न स्वभाव' कहते हैं। यह 'निराभास' एव 'स्वसिद्ध' है। यही 'तथता' अथवा 'धर्मधातु' है तथा इसका बोध प्रज्ञा या आर्यज्ञान मे ही सम्भव है। 'त्रिस्वभाव' को ही प्रकारान्तर से 'पचधर्म' कहा गया है। 'पचधर्म' इस प्रकार हैं—निमित्त, नाम, सकल्प, सम्यग्ज्ञान, एव तथता। इनमे पहले तीन धर्म पहले दो स्वभावो में अन्तर्भूत है। शेष दो धर्म 'परिनिष्पन्न स्वभाव' है[२५]।

लकावतार के प्रारम्भ मे ही माहायानिक योग का तीर्थयोग से विभेद प्रकट किया गया है। योग का तात्पर्य अद्वय चित्तमात्रता के अभिसमय अथवा साक्षात्कार में है। इसे ही 'प्रत्यात्मगति' अथवा 'आर्यज्ञान' कहा गया है। बोधिसत्त्वो की योगचर्या की अनेक भूमियाँ है जिनमें छठी भूमि मे निरोध की समापत्ति होती है। सप्तमी भूमि मे बोधिसत्त्व सब पदार्थों की निस्स्वभावता का साक्षात्कार करते हैं। आठवी भूमि में वे विकल्पात्मक चित्त से सर्वथा निवृत्त होते हैं। स्वप्न से जागरण के समान वे प्रपच से मुक्त होते है, किन्तु बुद्धानुभाव से परिनिर्वृत नही होते। वे परमार्थ में स्थित होते हैं जहाँ न क्रम है, न क्रमानुसन्धि, जो निराभास चित्तमात्र है, एव जिसे विकल्प-विविक्त-धर्म कहा गया है।

लकावतार मे चार प्रकार के ध्यान बताये गये हैं—बालोपचारिक, अर्थप्रविचय, तथतालम्बन, ताथागत। हीनयानियो के पुद्गल-नैरात्म्य तथा धर्म-लक्षण में अभि-निवेश पूर्वक सज्ञानिरोध तक समस्त ध्यान पहले प्रकार के है। महायानियो के धर्म

२५—वही, पृ० ६७ प्र०, २२९ आदि।

नैरात्म्यपूर्वक ध्यान दूसरी कोट में संग्राह्य है। दोनो प्रकार के नैरात्म्य को विकल्पमात्र मानने से तयतालम्वन ध्यान निष्पन्न होता है। चतुर्थ ध्यान प्रत्यात्म आर्यज्ञान में प्रतिष्ठित है। इसी से तथागत भूमि में प्रवेश होता है तथा अचिन्त्य सत्वकल्याण का कार्य सम्पन्न होता है।

मैत्रेय और असंग—आर्य असग को ज्ञान देनेवाले वोधिसत्व मैत्रेय को एक ऐतिहासिक महापुरुष तथा योगाचार-विज्ञानवाद का वास्तविक प्रतिष्ठापक मानना ही न्याय्य प्रतीत होता है[२६]। श्वाञ्वाग के अनुमार असग ने तुपित लोक में वोधिमत्व मैत्रेय से **योगाचार्यशास्त्र, महायानसूत्रालंकार, मध्यान्तविभंगशास्त्र** आदि ग्रन्थ प्राप्त किये तथा पश्चात् उन्हें प्रचारित किया[२७]। परमार्थ के चीनी वसुवन्धु-चरित के द्वारा यह परम्परा छठी शताब्दी मे चीन पहुँच चुकी थी तथा उसी शताब्दी मे इसका उल्लेख धर्मपाल ने एव सातवी शताब्दी में प्रभाकरमित्र ने किया है। तिब्बती परम्परा से भी इसका समर्थन उपलब्ध होता है। तारानाथ और बु-दोन के अनुसार असंग ने मैत्रेय पच-धर्म की प्राप्ति की[२८]। ये पाँच शास्त्र इस प्रकार है—**अभिसमयालंकार, सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग, तथा महायानउत्तरतन्त्र**।

अभिसमयालंकार की पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम 'मैत्रेयनाथ' दिया हुआ है। इस युग मे महान् बौद्ध आचार्यो को वोधिसत्त्व कहने की प्रथा थी और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक 'वोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ' को नाम-साम्य ने पौराणिक, वोधिसत्त्व (अजित) मैत्रेय, से अभिन्न बना दिया। मैत्रेयनाथ का कालनिर्णय वसुवन्धु की तिथि पर निर्भर करता है। मैत्रेय नागार्जुन की '**भवसंक्रान्ति**' के व्याख्याता होने के कारण उनसे परवर्ती तथा असग-वसुवन्धु से पूर्ववर्ती थे। इस प्रकार उन्हे तीसरी अथवा चौथी शताब्दी मे रखना चाहिए।

मैत्रेय और असग का परस्पर सम्बन्ध कुछ वैसा प्रतीत होता है जैसा सुकरात और अफलातून का था। मैत्रेय ने अपना आशय सूत्रात्मक कारिकाओ में निबद्ध किया अथवा उपदेश किया, असग ने उसकी व्याख्या की। इस व्याख्या के सहारे ही मैत्रेय का आशय सुबोध एव प्रचारित हुआ। नागार्जुन के सदृश मैत्रेय का मुख्य कार्य भी प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर एक दार्शनिक प्रस्थान का प्रवर्तन था। नागार्जुन की अपेक्षा

२६—तुचि, डाक्ट्रिन्स आव् मैत्रेय (नाथ) एण्ड असंग, पृ० ७–८; विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ३५२–५३।

२७—श्वान्च्वांग, पृ० २४८, हि-लि०, पृ० ८५।

२८—तारानाथ, पृ० ११२; बु-दोन, जि० २, पृ० १४०।

मैत्रेय की रचनाएं योग चर्या से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है तथा निश्शेष-शून्यवाद से उनमें सिद्धान्त-पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। किन्तु तथापि माध्यमिक मत से उनका सर्वत्र विभेद नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, महायान उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासंगिक तथा **अभिसमयालंकार** को योगाचार-माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है[२९]।

महायान-सूत्रालंकार में मुख्यत बोधिसत्त्वचर्या का निरूपण उपलब्ध होता है तथा उसमें योगाचार का साधन पक्ष ही प्रधान है। समस्त ग्रन्थ २१ अधिकारो में विभक्त है जो इस प्रकार है—(१) **महायानसिद्ध्यधिकार**—इसमें महायान की श्रेष्ठता एवं प्रामाणिकता का प्रतिपादन है (२) **शरणगमनाधिकार** (३) **गोत्राधिकार**—आध्यात्मिक जीवन और अधिकार के भेद से मनुष्यो में नैसर्गिक प्रभेद अनुमेय हैं जिन्हें 'गोत्र' कहा गया है—'धातूनामधिमुक्तेश्च प्रतिपत्तेश्च भेदत । फलभेदोपलब्धेश्च गोत्रास्तित्वं निरूप्यते ॥' (३ २) (४) **चित्तोत्पादाधिकार**—बोधिसत्त्वो का बोधि अनुकूल चित्त का उत्पाद भूमिभेद से भिन्न होता है। वास्तविक चित्तोत्पाद प्रमुदिता भूमि में ही होता है। (५) **प्रतिपत्त्यधिकार**—बोधिसत्त्व के द्वारा पदार्थ-सम्पादन। (६) **तत्त्वाधिकार**—परमार्थ अद्वय है, अजात एव अप्रहीण, ग्राह्यग्राहकभाव से रहित विशुद्ध धर्मधातु। चित्तादन्यदालम्वनं ग्राह्य नास्तीत्यवगम्य बुद्धया तस्यापि चित्तमात्रस्य नास्तित्वावगमनं ग्राह्याभावे ग्राहकाभावात्। द्वये चास्य नास्तित्वं विदित्वा धर्मधातौ अवस्थानमतद्गतिर्ग्राह्यग्राहकलक्षणाभ्या रहित एवं धर्मधातु प्रत्यक्षतामेति[३०]।' (७) **प्रभावाधिकार**—बोधिसत्त्वो की छ. अभिज्ञाएं, सन्दर्शनकर्म, रश्मिकर्म इत्यादि। (८) **परिपाकाधिकार**—रुचि, प्रसाद आदि के परिपाकलक्षण। (९) **बोध्यधिकार**—क्रमश. आवरणक्षय से बोधि अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। बुद्धत्व तथता से अभिन्न होने के कारण सर्वधर्ममय है, किन्तु परिकल्पित धर्मस्वभाव की दृष्टि से बुद्धत्व में सर्वधर्माभाव है। पारमितादि साधन को दृष्टि से बुद्धत्व शुक्लधर्ममय है, किन्तु परिनिष्पन्न लक्षण से पारमितादि के द्वारा अनिर्देश्य एव अद्वयलक्षण है।

"सर्वधर्माश्च बुद्धत्वं धर्मो नैव च कश्चन ।
शुक्लधर्ममयं तच्च न च तैस्तन्निरूप्यते ॥" (९.४)

बुद्धत्व सर्वगत है, किन्तु उपयुक्त पात्र मे ही उसकी अभिव्यक्ति हो पाती है। बुद्ध कृत्य भी सहज रीति से बिना 'आभोग' (=प्रयत्न) अथवा 'प्रतिप्रस्रब्धि' (=शैथिल्य) के प्रवृत्त होता है। अनास्रव धातु में बुद्धो की आत्मा नैरात्म्य से अभिन्न है। बुद्धत्व

२९—ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ० ८३।
३०—पृ० २४।

भावाभाव-विलक्षण है। बुद्ध की विशुद्ध धर्मधातु मे एक प्रकार का वृत्तिभेद है, जो स्वाभाविक, साम्भोगिक, एव नैर्माणिक कायो की आख्या पाता है। बोधि की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्वो को सब कुछ कल्पना समझना चाहिए। 'जो परिकल्पित स्वभाव से अविद्यमानता है वही परिनिष्पन्नस्वभाव से परम विद्यमानता है। जो परिकल्पित स्वभाव का सर्वथा अनुपलम्भ है वही परिनिष्पन्न स्वभाव का परम उपलम्भ है[११]।' (१०) अधिमुक्त्यधिकार (११) धर्मपर्येष्ट्यधिकार—अभूतपरिकल्प अथवा परतन्त्रस्वभाव माया के समान है, उसमे ग्राह्यग्राहकभाव की द्वयभ्रान्ति ऐसे ही प्रतिभासित है जैसे माया में हाथी, घोड़े, आदि की आकृतिया। इस द्वयलक्षण कल्पना का अभाव परमार्थ है, उसकी उपलब्धि अभूतपरिकल्प की सवृतिसत्यता है[१२]। अस्तित्व और नास्तित्व माया के अन्दर ही सगत है[१३]।

आध्यात्मिक आयतन मायोपम है, बाह्य आयतन स्वप्नोपम तथा प्रतिबिम्बोपम। चित्त-चैत्त भ्रान्तिकारक होने के कारण मरीचिकोपम है। देशनाधर्म प्रतिध्वनि के समान है एव समाधिसनिश्रित धर्म स्वच्छ जल मे चन्द्रबिम्ब के समान है[१४]। वस्तुतः चित्तमात्र ही ग्राह्य-ग्राहक रूप से एव क्लिष्टाक्लिष्ट रूप से द्विधा प्रतिभासित होता है। यही विज्ञप्तिमात्रता है[१५]।

३१—"याऽविद्यमानता सैव परमा विद्यमानता।
सर्वथानुपलम्भश्च उपलम्भः परो मतः॥" (सूत्रालंकार, पृ० ४८)

३२—"यथा माया तथाभूतपरिकल्पो निरुच्यते।
यथा मायाकृतं तद्वत् द्वयभ्रान्तिर्निरुच्यते॥
यथा तस्मिन्न तद्भावः परमार्थस्तथेष्यते।
यथा तस्योपलब्धिस्तु तथा संवृतिसत्यता॥" (वही, पृ० ५९)

३३—"तस्मादस्तित्वनास्तित्वं मायादिषु विधीयते॥" (वही)

३४—सूत्रालंकार ११.३०।

३५—"चित्तं द्वयप्रभासं रागाद्याभासमिष्यते तद्वत्।
श्रद्धाभास न तदन्यो धर्मः क्लिष्टकुशलोऽस्ति॥
चित्तमात्रमेव द्वयप्रतिभासमिष्यते ग्राह्यप्रतिभासं ग्राहक-प्रतिभासं च।
यथा द्वयप्रतिभासादन्यो न द्वयलक्षण.।
इति चित्तं चित्राभासं चित्राकार प्रवर्तते॥
..तत्र निरमेव वस्तु तच्चित्राभासं प्रवर्तते।..." (पृ० ६३)

शब्दानुसार अर्थप्रतीति के आलम्बन तथा शब्दार्थवासना से उपस्थापित आलम्बन दोनो परिकल्पितलक्षण मे सगृहीत है, अथवा, नाम और अर्थ की अन्योन्यापेक्ष प्रतीति ही परिकल्पितलक्षण है। अर्थात् शब्दानुविद्ध समस्त अनुभव कल्पनामात्र है। ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण अभूतपरिकल्प ही परतन्त्र का लक्षण है। पाँचो इन्द्रियविज्ञान, मन, एव मनोविज्ञान तथा रूपादि इसी में सगृहीत है। परिनिष्पन्न लक्षण प्रकृतिपरिशुद्ध एव निर्विकल्प तथता है[३६]। यही सब धर्मो की नि स्वभावता एव अनुत्पत्ति है। (सूत्रालंकार, ११, ५०-५१)।

(१२) देशनाधिकार, (१३) प्रतिपत्त्यधिकार, (१४) अववादानुशासन्यधिकार—तीनो लक्षणो मे अनुगत शून्यता त्रिविध हे। परिनिष्पन्न स्वभाव प्रकृत्या शून्य है। (१५) उपायसहित कर्माधिकार, (१६) पारमिताधिकार (१७) पूजा-सेवा-प्रमाणाधिकार, (१८) बोधिपक्षाधिकार—इसमे प्रसगत सब सस्कारो का क्षणिकत्व तार्किक रीति से सिद्ध किया गया है तथा सभी सस्कारो को चित्त का फल कहा गया है। पुद्गलनैरात्म्य की भी युक्ति से सिद्धि की गयी है। (१९) गुणाधिकार(२०)-(२१) चर्याप्रतिष्ठाधिकार—इसमे बोधिसत्त्वभूमियो का विवरण दिया गया है।

यद्यपि **सूत्रालंकार** मे कही-कही, **अभिसमयालंकार** के तुल्य सक्षिप्त कारिकाएँ है तथापि प्राय कारिकाएँ विशद है एव गद्यमयव्याख्या के सन्निकट हैं। इस ग्रन्थ में मैत्रेय की अपेक्षा, असग का ही हाथ अधिक मानना चाहिए। शून्यवाद का सामीप्य भी पर्यालोचनीय है। परमार्थ की भावाभाव विलक्षणता पर बल दिया गया है, चित्तमात्रता पर नही। परमार्थ को बोधि, बुद्धत्व एव धर्मधातु कहा गया है। अनुभवसिद्ध और अभिलापससृष्ट नानाकार जगत् एक मायिक भ्रान्तिमात्र है, किन्तु इस भ्रान्ति का आधार हेतुप्रत्यय-नियत परतन्त्र-जगत् है जो, सर्वथा अभावात्मक न होते हुए भी पार-

३६—"यथा जल्पार्थसंज्ञाया निमित्तं तस्य वासना।
तस्मादव्यथ विख्यानं परिकल्पितलक्षणम्॥
यथानामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या।
असंकल्पनिमित्तं च परिकल्पितलक्षणम्॥
त्रिविधत्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः।
अभूतपरिकल्पो हि परतन्त्रस्य लक्षणम्॥
अभावभावता या च भावाभावसमानता।
अशान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम्॥"

(पृ० ६४--६५)

मार्थिक नही है। परमार्थ शब्दार्थकल्पना, सदसत्कल्पना अथवा ग्राह्यग्राहक-कल्पना के परे है। वह अद्वय और अनिर्वचनीय है तथा उसका ठीक परिचय बोधि मे ही हो सकता है। इस दर्शन का आधार तर्क न होकर योगानुभव है। तर्क के विषय मे **सूत्रालंकार** का कहना है—'बालाश्रयो मतस्तर्कः[३७]।' योगाचार का अनुभव शब्दार्थवासना से परिकल्पित भेदो को तथा जागतिक ज्ञान के विषयविषयिभेद को छोडकर एक अनिर्वचनीय और अद्वय ज्ञान मे परिनिष्पन्न होता है। इसके अनुकूल 'त्रिस्वभाव' एवं 'सत्यद्वय' के सिद्धान्तो का प्रतिपादन **सूत्रालंकार** मे देखा जा सकता है।

मध्यान्तविभंग तथा **धर्मधर्मता विभंग** मे **सन्धिनिर्मोचन** आदि सूत्रों के आधार पर विज्ञानवाद की व्याख्या उपलब्ध होती है। **धर्मधर्मता विभंग** मे निर्वाण को धर्मता कहा गया है तथा धर्मो को प्रकृतिनिर्वृत। धर्मों की व्यावहारिक सत्ता परतन्त्रलक्षण अथवा सापेक्ष है। माहायानिक योगचर्या धर्मो के साक्लेशिक आकार को छोड़ उनके वैयवदानिक आकार के प्रतिवेध मे परिनिष्ठित होती है[३८]।

मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यटीका मे स्थिरमति का कहना है—'अस्य कारिकाशास्त्रस्यार्यमैत्रेय प्रणेता।—वक्ता चास्याचार्यासग। तस्माच्छ्रुत्वाचार्यवसुबन्धुस्तस्य भाष्यमकरोत्[३९]।' इस शास्त्र के प्रणयन का तात्पर्य बुद्ध भगवान् के विषय मे निर्विकल्पज्ञान का उत्पादन है जोकि धर्मनैरात्म्य की देशना से ही हो सकता है। अतएव यथाभूत धर्म-नैरात्म्य का प्रतिपादन ही इस शास्त्र मे मुख्य है[४०]। इसके लिए सात पदार्थों का विवरण दिया गया है—लक्षण, आवरण, तत्त्व, प्रतिपक्षभावना, अवस्था, फलप्राप्ति, तथा यानानुत्तर्य। लक्षण का तात्पर्य सक्लेश और व्यवदान से है, आवरण का अकुशलधर्मो से, तत्त्व का दशविध अविपरीत तत्त्व से, प्रतिपक्षभावना का मार्ग से, अवस्था का २१ प्रकार की गोत्रावस्था आदि से, फल-प्राप्ति का १५ प्रकार के विपाक फलादि से, तथा यानानुत्तर्य का बोधिसत्त्वो के असाधारण यान से। इस व्याख्या के अनुसार ये सात पदार्थ अधिमुक्तिचर्याभूमि से प्रारम्भ कर बोधिसत्त्वचर्या के आवश्यक अगो और अवस्थाओ का द्योतन करते है। स्थिरमति ने इन सात पदार्थों की अनेक अन्य व्याख्याओ का उल्लेख किया है।

३७—"निश्चितोऽनियतोऽव्यापी सांवृतः खेदवानपि।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत्॥ (सूत्रालंकार, १.१२)

३८-४०—ओबरमिलर, ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१।

३९—सं० विधुशेखर भट्टाचार्य और तुचि, पृ० ३।

४०—वही, पृ० ६।

लक्षण के विपय में मैत्रेयनाथ का कहना है—'अभूत–परिकल्पोऽस्ति द्वय तत्र न विद्यते। शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते॥' (१ २)

इस कारिका का महत्त्व पर्यालोचनीय है क्योंकि इससे योगाचार का मर्म तथा शून्यवाद से उसका विभेद परिलक्षित होता है। स्थिरमति की व्याख्या इस प्रकार है—कुछ लोग मानते है कि सब धर्म शशविपाण के समान सर्वथा अविद्यमान है। इस सर्वापलाप के निपेध के लिए कहते हैं—'अभूत-परिकल्प है', अर्थात् स्वभावत है। यह शका की जा सकती है कि यह तो सूत्रविरोध होगा क्योकि सूत्र मे कहा गया है कि "सब धर्म शून्य है।" (किन्तु) विरोध नही है। क्योकि 'वहा द्वय (=द्वैत) नही है।' अभूत-परिकल्प ग्राह्यग्राहकरहित, शून्य है, (किन्तु) अतएव सर्वथा स्वभावत न हो, ऐसा नही है। इसलिए सूत्रविरोध नही है। (यह कहा जा सकता है कि) यदि ऐसा है तो द्वैत शशविपाण के समान सर्वथा अस्तित्वहीन होगा तथा अभूतकल्प परमार्थत स्वभावयुक्त होगा और इस प्रकार शून्यता के अभाव का प्रसग उपस्थित हो जायगा। (किन्तु) ऐसा नही है। क्योकि 'यहाँ शून्यता विद्यमान है'। अभूत परिकल्प में ग्राह्यग्राहक रहितता ही शून्यता है। (अत) शून्यता अविद्यमान नही है। (यह कहा जा सकता है कि) यदि अभूतपरिकल्प मे अद्वय शून्यता विद्यमान है तो हम मुक्त क्यो नही है ? और यह विद्यमान (शून्यता) गृहीत क्यो नही होती ? इस सशय के अपनयन के लिए कहा है उसमे भी यह विद्यमान है। 'अर्थात् शून्यता मे भी अभूत-परिकल्प विद्यमान है, इसलिए आप मुक्त नही है।' यह स्मरणीय है कि अभूतपरिकल्प का अर्थ है चित्त-चैत्त प्रवाह—"अभूतपरिकल्पाश्च चित्त-चैत्तास्त्रिधातुका ।"

इस कारिका और व्याख्या से प्राय वही अर्थ निर्गलित होता है जो ऊपर सूत्रालंकार (११ १५-१६) मे। द्वैत की प्रतीति केवल भ्रान्ति है, किन्तु उसका आधार सर्वथा मिथ्या नही है। द्वैत कल्पित है, किन्तु यह असत्य कल्पना (=अभूत परिकल्प) वास्तविक है। यह भ्रान्ति में ग्रस्त एक अनादि चित्त-चैत्त प्रवाह है जिसमे द्वैताभावरूप शून्यता विराजमान है, किन्तु जो स्वय इस शून्यता का आवरण किये हुए है। 'अभूत-परिकल्प' के हृदय मे 'शून्यता' है, 'शून्यता' को ढके हुए 'अभूतपरिकल्प'। दोनो ही विद्यमान है, किन्तु 'शून्यता' की प्राप्ति इस आवरण की विशुद्धि के द्वारा करनी होगी। 'अभूतपरिकल्प' और 'शून्यता' अविद्या और अद्वैत से तुलनीय है।

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अनुभूत जगत् अभूत परिकल्प अथवा वितथ-कल्पना मात्र है। यह मिथ्या विकल्प वास्तविक है, किन्तु इसमे प्रतिभासमान आत्माएँ अथवा बाह्य पदार्थ अवास्तविक है। वस्तुत स्वप्नवत् निरालम्बन विज्ञान ही वासना

के अनुकूल नाना पदार्थों को आभासित करता है। ग्राह्यग्राहक विकल्प की अवास्तविकता ही शून्यता है। वही मोक्षोपयोगी विशुद्ध आलम्बन है। किन्तु विकल्पात्मक विज्ञानधारा से वह वैसे ही प्रच्छादित है जैसे रज पटल से निर्मल आकाश।

यहाँ दो अन्तो का मध्य से प्रविभाग किया गया है। एक ओर सर्वशून्यता निराकृत है, दूसरी ओर रूपादि धर्मों की वास्तविकता। भूतनैरात्म्य एव विकल्पमात्रता में ही अद्वैतरूपा शून्यता संगृहीत है, किन्तु यह शून्यता महान् यत्न से विशोधनीय है। 'नास्त्ययत्नेन मोक्ष.'। अभूतपरिकल्प ही सक्लेश का लक्षण है, शून्यता व्यवदान का। अनादिकालिक ससार के प्रवाह में पतित चित्त-चैत्तसिक ही निर्विशेपतया अभूत परिकल्प है। ग्राह्यग्राहक विकल्प ही विशेष है। इस विकल्प का मिथ्यात्व ही शून्यता है। जैसे रज्जु सर्पत्वभाव से शून्य है, किन्तु रज्जुस्वभाव से नही, ऐसे ही इस शून्यता को आत्यन्तिक नही मानना चाहिए। जो जहाँ नही है वह उससे शून्य है जिस प्रकार अभूत परिकल्प में द्वैत। 'अतोऽभूतपरिकल्प द्वयेन शून्य पश्यति।' जो अवशिष्ट हैं वह सत् है, और अवशिष्ट है अभूतपरिकल्प और शून्यता। अभूतपरिकल्प में द्वैत की अविद्यमानता देखना ही 'अनध्यारोप' अर्थात् अध्यास का परित्याग है, अभूतपरिकल्प एव शून्यता का अस्तित्व देखना ही 'अनपवाद' अर्थात् निदशेप सत्ता के अपलाप का त्याग है। 'अध्यारोप' और 'अपवाद' के मध्य में ही शून्यता का अविपरीत लक्षण उद्भावित होता है।' 'यच्छून्य तस्य सदभावाद्येन शून्य तस्य तत्राभावात्' अर्थात् जो शून्य है उसका अस्तित्व है, जिससे वह शून्य है उसका अनस्तित्व है। सर्वास्तित्व और सर्वनास्तित्व से विलक्षण यही मध्यमा प्रतिपद है।

विज्ञान में ही वाह्य पदार्थ एव आतमा का प्रतिभास उत्पन्न होता है। आठ प्रकार के विज्ञान हैं—आलयविज्ञान, तथा सात प्रवृत्ति विज्ञान। आलय विज्ञान अर्थसत्त्वप्रतिभास-युक्त है तथा विपाक होने के कारण अव्याकृत है, तथा केवल प्रत्ययविज्ञान है। सब सास्रव धर्म बीज रूप से उसमें आलीन होते हैं। मन आत्मप्रतिभास तथा क्लिष्ट है। छ. विज्ञान विज्ञप्तिप्रतिभास तथा कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत हैं। इन विज्ञानो के साथ इनमे सम्प्रयुक्त चैत्त भी सग्राह्य हैं। केवल विज्ञान अथवा चित्त पदार्थों का सामान्यत निर्विशेप, ग्रहण करता है। चैत्त उनका विशेप ग्रहण करते हैं। 'तत्रार्थमात्र दृष्टिर्विज्ञानम्—अर्थविशेप-दृष्टिश्चैतसा वेदनादय—'। ये आठ विज्ञान ही परतन्त्रलक्षण अथवा अभूत-परिकल्प कहलाते हैं—"एव चाष्ट विज्ञान-वस्तुक: परतन्त्रोऽभूतपरिकल्प।" परिकल्पितस्वभाव रूप, चक्षु आदि अर्थात्मक है। परतन्त्रस्वभाव अथवा अभूत-परिकल्प हेतु-प्रत्यय-युक्त एव व्यावहारिक चित्त-चैत्त-प्रवाह

है। इसमे सब सस्कृत धर्म सगृहीत है। ग्राह्यग्राहक-भाव का अभाव ही परिनिष्पन्न-स्वभाव अथवा शून्यता है। इसके अन्य पर्याय है—तथता, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ, एव धर्मधातु।

शून्यता को ग्राह्यग्राहक अथवा द्वय का अभाव कहा गया है। इसका ठीक बोध आवश्यक है। ग्राह्य से तात्पर्य उन सब विषयो से है जो ज्ञान मे आलम्बन के रूप से प्रकट होते है। ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा अथवा बाह्य पदार्थो की सत्ता नही है यही विज्ञप्तिमात्रता है। विज्ञप्तिमात्रता के ठीक बोध से समस्त विज्ञेय विज्ञान मे विलीन हो जाते है। किन्तु यह परम सिद्धान्त नही है। विज्ञेय के अभाव मे विज्ञान स्वय तिरोहित हो जाता है, क्योकि ग्राह्य और ग्राहक की सत्ता सापेक्ष ही हो सकती है। पहले ज्ञान के विषयभूत अथवा ग्राह्य पदार्थो का लोप, पीछे उनके विषयिभूत अथवा ग्राहक विज्ञान का लोप, यही द्वयराहित्य अथवा शून्यता है। यह स्मरणीय है कि विज्ञान का अभाव केवल विज्ञातृत्व रूप मे अभिप्रेत है न कि नाना-प्रतिभास के रूप मे। विज्ञप्ति मात्र की अनुपलब्धि की भावना से 'लौकिकाग्रधर्म' नाम की समाधि का लाभ होता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि **मध्यान्तविभाग** मे शून्यता के सिद्धान्त को सर्वोपरि रक्षणीय माना है, किन्तु उसकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है कि बन्ध और मोक्ष तथा आध्यात्मिक साधन अथवा योगचर्या वास्तविक बने रहे। इस सिद्धान्त को 'विज्ञानवाद' न कहकर 'योगाचार' ही कहना चाहिए क्योकि इसमे परम स्थान विज्ञप्तिमात्रता का न होकर शून्यता के अनुकूल योगसाधन का ही है। यही दृष्टि ऊपर **सूत्रालकार** मे भी आभासित थी।

उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासगिक कृति कहा गया है[४१]। इस पर आर्यासग की उत्तरतन्त्र-व्याख्या विदित है। उत्तरतन्त्र को पाँच महायान सूत्रो पर आश्रित बताया जाता है—(१) तथागतमहाकरुणानिर्देश-सूत्र अथवा धारणीश्वर-राज-परिपृच्छा, (२) श्रीमाला-देवीसिंहनाद-सूत्र, (३) तथागत-गर्भ-सूत्र, (४) सर्वबुद्ध विषयावतारज्ञानालोकालकार सूत्र, (५) रत्न-दारिका-परिपृच्छा। तिब्बत मे जो-न-प सम्प्रदाय मे उत्तरतन्त्र के सिद्धान्त को प्राय ईश्वराद्वैत के समकक्ष बना दिया गया। इस व्याख्या-सरणि का त्सो-ख-प तथा उनके सम्प्रदाय ने पीछे खण्डन भी किया[४२]। इस ग्रन्थ का **रत्न गोत्र विभाग महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र** के नाम से जान्स्टन ने मूल मे सम्पादन किया है। (पटना, १९५०)। वे उसे असग की कृति नही मानते।

४१–ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ० ८३।

४२–वही, पृ० १०६।

उत्तरतन्त्र मे सात मुख्य विषयो का निरूपण है—बुद्ध, धर्म, सघ, गोत्र, वोधि वल, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान। वुद्धत्व के आठ गुणो का इस प्रकार विवरण दिया गया है—असस्कृतत्व, अनाभोग (=सकल्परहित क्रिया), पर-प्रत्ययागम्य, वोधि, करुणा, वल, स्वार्थसम्पत्ति, परार्थ सम्पत्ति (=रूपकाय)।[४३] जाति, स्थिति और विनाश से मुक्त होने के कारण वुद्ध असस्कृत हैं। स्वभावत नित्य-शान्त होने के कारण वे अनाभोग हैं। वे प्रत्यात्मगतिगोचर हैं, पर प्रत्यय-गम्य नही।

धर्म सत्, असत् आदि चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है[४४]। वह विकल्प का अगोचर है तथा उसमें क्लेश और कर्म का अभाव है। वह अद्वय, विशुद्ध, अनावरण, क्लेश-प्रतिपक्ष, क्लेश-विमोक्ष, तथा विमोक्ष-हेतु है। तथागत धर्म-धातु से अभिन्न हैं तथा सव सत्त्वो मे अन्तर्निहित हैं। वुद्धत्व का वीज सर्वत्र विद्यमान है तथा वह महायान के द्वारा विकासनीय है[४५]। सर्वप्रथम महायान में अधिमुक्ति आवश्यक है। तीर्थिको के लिए आवश्यक है कि वे प्रज्ञापारमिता के द्वारा नैरात्म्य सीखे। ससार को दु खमात्र समझने वाले श्रावको को गगनगञ्ज आदि समाधियो की भावना करनी चाहिए। प्रत्येक वुद्धो के लिए करुणा भावनीय है। धर्मकाय ही महायान का पर्यन्त है जिसमें नित्य-पारमिता, सुखपारमिता, आत्मपारमिता तथा शुद्धिपारमिता है[४६]।

अभिसमयालंकार का पूरा नाम है—"अभिसमयालकार-नाम-प्रज्ञापारमितोप-देशशास्त्रम्।" उत्तरतन्त्र के समान ही इसमें 'शून्यता' एव अद्वयता का प्राधान्य है। यह स्मरणीय है कि इसे योगाचार-माध्यमिकस्वातन्त्रिक कहा गया है[४७]। इसका आधार स्पष्ट ही प्रज्ञापारमितासूत्र थे[४८]। मध्यान्तविभाग के प्रतिकूल इसमें त्रि-स्वभाव अथवा आलयविज्ञान की चर्चा नही है। दूसरी ओर 'योगाचार' (=योगचर्या) की दृष्टि मे इसका महत्त्व स्पष्ट है। समस्त ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य 'अभिसमय' अथवा तत्त्व-साक्षात्कार का विवरण है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अभिसमया-लकार मे एक योगिगत्नाभिधर्म की मातृका सगृहीत है।

४३—वही, पृ० १२४; तु० रत्नगोत्रविभाग (सं० जॉन्स्टन), पृ० ७–८।
४४—ए० ओ०, पृ० १३१। ४५—रत्नगोत्रविभाग, पृ० ४०–४३।
४६—ए० ओ० पृ० १६६।
४७—वही, पृ० ८३; तु० ओवरमिलर, एनालिसिस ऑव दि अभिसमयालंकार, (फंस्ट–१), पृ० ii।
४८—द्र०—ऊपर।

हरिभद्र के अनुसार भगवान् मैत्रेय ने स्वयं प्रज्ञापारमितानय पर **अभिसमयालंकार** नाम से स्फुटतर कारिकाओ की रचना की। असग, वसुबन्धु तथा विमुक्तिसेन ने क्रमश इनकी व्याख्या की[४९]। विमुक्तिसेन की **अभिसमयालंकार-व्याख्या** का सस्कृत मूल भी विदित है[५०]।। हरिभद्र का **आलोक** माध्यमिक दृष्टि से लिखा गया है तथा विज्ञानवाद का विरोधी है।[५१] **अभिसमयालकार** मे अत्यन्त सक्षिप्त २७३ कारिकाएँ है जिनमे एक प्रकार से विषय-निर्देश मात्र किया गया है।

बुद्धिमान् लोग सर्वाकारज्ञता का मार्ग देखे तथा सूत्रार्थ का स्मरण कर दशात्मिका धर्मचर्या को सुख से प्रतिपन्न हो, यही **अभिसमयालंकार** का प्रयोजन ग्रन्थारम्भ में ही कहा गया है। इसके अनन्तर समस्त ग्रन्थ का पिण्डार्थ-निर्देश किया गया है—आठ पदार्थो के द्वारा प्रज्ञापारमिता समुदीरित है—सर्वाकारज्ञता, मार्गज्ञता, सर्वज्ञता, सर्वाकाराभिसम्बोध, मूर्धप्राप्ताभिसमय, अनुपूर्वाभिसमय, एकक्षणाभिसम्बोध, तथा धर्मकाय। समस्त ग्रन्थ इन्ही आठ अभिसमयो मे विभक्त है। पहले तीन पदार्थ सर्वज्ञता के प्रभेद है। इनके अनन्तर चार पदार्थ सर्वज्ञता के उपायभूत है (चत्वार. प्रयोगा)। अन्तिम पदार्थ मार्ग का चरम फल है।

सर्वाकारज्ञता के मार्ग में १० पदार्थ बोध्य है—बोधिचित्तोत्पाद अववाद, निर्वेधाग, प्रतिपत्त्याधार, प्रतिपत्त्यालम्बन, प्रतिपत्त्युद्देश, सन्नाहप्रतिपत्ति, प्रस्थान-प्रतिपत्ति, सम्भारप्रतिपत्ति, तथा निर्याणप्रतिपत्ति। बोधि–चित्तोत्पाद के विभिन्न प्रभेदो के लिए २२ उपमान प्रस्तुत किये गये है जिनका उल्लेख असग ने **महायानसूत्रालंकार** मे भी किया है तथा उनके मूल के लिए **अक्षयमतिसूत्र** का निर्देश किया है। इस प्रसग मे दूसरा पदार्थ 'अववाद' अथवा उपदेश है जिसके १० प्रभेद बताये गये है—प्रतिपत्त्यववाद, चतु सत्य०, रत्नत्रय० (=बुद्ध, धर्म, सघ), असक्ति०, अपरिश्रान्ति०, प्रतिपत्सम्परिग्रह, पचचक्षु० (=मासचक्षु, दिव्य०, प्रज्ञा०, धर्म०, बुद्ध०), अभिज्ञा०,

४९–अभिसमयालंकारालोक (सं० तुचि), पृ० १।

५०–एडवर्ड कौन्ज, अभिसमयालंकार, पृ० २।

५१–द्र० "ये तु धर्मधातुमेव सदा विशुद्धमद्वयं ज्ञानमालम्बनं मन्यन्ते तैः सदा विशुद्धत्वादुत्तरोत्तरविशुद्धिविशेषगमनं कथमिति वक्तव्यम्।" अधातु-कनकाकाशशुद्धिवच्छुद्धिरिष्यते" इतिचेत्। एवं तर्हि शुद्धं तात्विकं ज्ञानमिति प्रतिपक्षाभिनिवेशादर्थाक्षिप्तो विपक्षाभिनिवेशः। (अभिसमयालकारालोक. पृ० ७७)।

दर्शनमार्ग०, भावनामार्ग० । सघरत्न के निरूपण मे बीस प्रकार के आर्य समुल्लिखित हैं—श्रद्धानुसारी से लेकर प्रत्येक बुद्ध तक।

चार निर्वेधभागीय अग सत्य-दर्शन के समीप लौकिक भावना मार्ग की चरम स्थितियां है[५२]। इनमे बुद्ध और बोधिसत्त्वो का श्रावको और प्रत्येक बुद्धो की अपेक्षा वैशिष्ट्य आलम्बन, आकार, हेतु, सम्परिग्रह एव 'चतुर्विकल्पसयोग' के कारण होता है। उदाहरण के लिए अनित्यता आदि लक्षणो के आलम्बन होने पर बोधिसत्त्व उन्हे वस्तुगत मान कर अभिनिविष्ट नही होते। वे रूपादि स्कन्धो के उदय-व्यय को प्रज्ञप्तिमात्र मानते है। चार निर्वेधाग इस प्रकार है—ऊष्मगतावस्था, मूर्धावस्था, क्षान्त्यवस्था, तथा लौकिकाग्रधर्म। इनमे प्रत्येक त्रिविध है—मृदु, मध्य, अधिमात्र। ऊष्मगत अथवा आलोकलब्ध नाम की समाधि मे चित्तमात्रता का ईषत्स्पष्टज्ञान होता है। मूर्धावस्था मे यही ज्ञान मध्यस्पष्ट होता है। क्षान्त्यवस्था में विज्ञप्तिमात्रता का स्फुट बोध होता है। इसके अनन्तर ग्राह्यानुपलब्धि के सहारे विज्ञप्तिमात्र अथवा ग्राहक की भी अनुपलब्धि लौकिकाग्रधर्म में होती है। इन अवस्थाओ में अभी बोधिसत्त्व अधिमुक्तिचर्याभूमि मे विद्यमान पृथग्जन ही रहता है, किन्तु दृढ अधिमुक्ति अथवा निष्ठा के कारण अनेक गुणो से युक्त होता है।

महायानिक प्रतिपत्ति का आधार बोधिसत्त्व का प्रकृतिस्थ गोत्र है जो वस्तुत धर्मधातु से अभिन्न होते हुए भी सवृत्या १३ प्रकार का निर्दिष्ट है। ये गोत्र विभेद ४ निर्वेधाग, लोकोत्तर दर्शन एवं भावना मार्ग, प्रतिपक्षोत्पाद-विपक्षनिरोध, तत्सायुक्त विकल्पापगम, ससार एव निर्वाण मे अप्रतिष्ठित प्रज्ञा एव करुणा, श्रावकासाधारण धर्म, परार्थानुक्रम, तथा आससार निर्निमित्त एव अनाभोग परकार्यज्ञान के आधार निरूपित होते है। यह स्मरणीय है कि गोत्रभेद वास्तविक न होकर औपाधिक है—

"धर्मधातोरसम्भेदाद्गोत्रभेदो न युज्यते ।
आधेयधर्मभेदात्तु तद्भेदः परिगीयते ॥" (१.४०)

प्रतिपत्ति के आलम्बन सर्वधर्म हैं जो अनेकधा वर्गीकृत हैं। उनके उद्देश तीन हैं—सर्वसत्त्वाग्रता, प्रहाण, एव अधिगम। आलम्बन और उद्देश मे ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा शरसन्धान और लक्ष्यवेध में। उद्देश की निष्पत्ति के लिए प्रतिपत्ति अभिहित है। प्रतिपत्ति सर्वाकारता की ओर समुद्दिष्ट तथा षट्पारमिताओं में अभिव्यक्त किया है। सन्नाहप्रतिपत्ति एवं प्रस्थानप्रतिपत्ति 'प्रयोगात्मक' है तथा सम्भारभूमि एव अधिमुक्ति-

५२-५८—अभिधर्मकोश, ६.१७-२०।

चर्याभूमि मे सगृहीत हैं। अर्थात् ये आर्य भूमि में प्रवेश के लिए उपकारी हैं। सम्भारप्रतिपत्ति दया से प्रारम्भ कर धारणीपर्यन्त साक्षात् प्रयोजक है तथा अधिमात्र अग्रधर्म मे सगृहीत है। पहली अथवा प्रमुदिता भूमि में सम्भारप्रतिपत्ति दर्शन-मार्गात्मिका है। द्वितीयादि भूमि मे वह भावना मार्गस्वभावा है। निर्याण-प्रतिपत्ति भावना-मार्ग मे अधिष्ठित है। अन्तिम धर्मकाय के अभिसमय में 'क्रिया' नही होती। यह उल्लेखनीय है कि सम्भारप्रतिपत्ति के प्रसग में दस भूमियो का विवरण दिया हुआ है।

सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति के लिए मार्गज्ञता की प्राप्ति आवश्यक है। श्रावक, प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्त्व के मार्गो का अनित्यादि आकारत ज्ञान होता है। प्रत्येक-बुद्ध-मार्ग में ग्राह्यप्रहाण, किन्तु ग्राहकाप्रहाण के द्वारा श्रावको की तुलना में वैशिष्ट्य है। प्रत्येक बुद्ध बिना शब्द के ही उपदेश करने मे समर्थ हैं। बोधिसत्त्वो का दर्शनमार्ग प्रज्ञापारमिता ही है। चतु सत्यो मे प्रत्येक के विषय में धर्मज्ञानक्षान्ति, धर्मज्ञान, अन्वयज्ञानक्षान्ति, तथा अन्वयज्ञान इस प्रकार चतुर्धा ज्ञान होने के कारण यह १६ चित्तक्षणो मे निष्पन्न होता है। भावनामार्ग सास्रव और अनास्रव है। सास्रव में अधिमुक्ति, परिणामना, तथा अनुमोदना सगृहीत है, अनास्रव में अभिनिर्हार तथा अत्यन्त-विशुद्धि। परिणामना के अर्थ है समस्त पुण्यो को सम्बोधि के उपकारक की कोटि मे प्रदान करना। उपायकौशल के द्वारा सावृत दृष्टि से अपने और दूसरो के कुशलमूलो को अनुमोदित करना ही अनुमोदना है। अभिनिर्हार का स्वभाव सर्वज्ञता अथवा स्कन्ध-नैरात्म्य का यथाभूत ज्ञान है तथा उसकी श्रेष्ठता प्रज्ञापारमिता की है जिसके बिना बुद्धत्त्व अप्राप्य है। बुद्धसेवा, षट्पारमिताएँ तथा उपायकौशल अत्यन्तविशुद्धि के लिए अधिमोक्ष में उपकारक हैं। विशुद्धि के प्रतिपक्ष हैं—माराधिष्ठान, गम्भीर-धर्मता मे अधिमुक्ति का अभाव, स्कन्धादि में अभिनिवेश, तथा पाप-मित्र-परिग्रह। विशुद्धि का स्वभाव स्कन्धो मे आत्मात्मीय भाव के टूटने पर उनकी मायोपमता का बोध है। श्रावको की विशुद्धि क्लेशावरण के प्रहाण से होती है, प्रत्येक बुद्धो की विशुद्ध क्लेशावरण तथा ग्राह्यविकल्पात्मक ज्ञेयावरण के एक देश के प्रहाण से, बोधिसत्त्वो की यानत्रय के मार्गावरण के प्रहाण से, तथा बुद्ध की आत्यन्तिक विशुद्धि समस्त क्लेशावरण एव ज्ञेयावरण के प्रहाण से होती है।

सर्वज्ञता का अर्थ है सर्ववस्तुपरिज्ञान। यह द्विविध है—फलभूत प्रज्ञा का आसन्न वस्तुज्ञान तथा फलभूत प्रज्ञा का दूरीभूत वस्तुज्ञान। इनमें पहला महायानोचित करुणा से युक्त है, दूसरा धर्मो को पृथक् सत्ता मानता है। प्रज्ञा न ससार मे और न निर्वाण मे प्रतिष्ठित है। अतीतानागत प्रत्युत्पन्न धर्मो को अनुत्पन्न समझने के कारण उसके लिए सब समान हैं। श्रावको द्वारा शून्यता एव करुणा के अग्रहण के कारण प्रज्ञा उनने

दूरीभूत है। किन्तु बोधिसत्त्वो के उपायकौशल के वह आसन्न है। उसकी प्राप्ति के लिए विपक्ष-परिहार आवश्यक है—स्कन्ध शून्यता विषयक, त्रैयध्विक धर्मों के विषय में, बोधिपक्षो के विषय मे, अर्थात् उन्हे वास्तविक समझना परिहार्य है। इस परिहार के लिए दानादि में अनहकार, औरो का उसमें नियोजन, तथा सग का निषेध आवश्यक है। बुद्धादि विषयक आसक्ति भी पुण्यात्मक एव सूक्ष्म होते हुए भी अन्तत परिहार्य है। सब धर्म स्वभाव से ही विविक्त अथवा सगरहित है। उनके स्वभाव की अद्वयता का ज्ञान ही सगवर्जन है। धर्मस्वभाव दुर्बोध और अचिन्त्य है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रावको की चर्या के दशविध प्रयोग तथा बोधिसत्त्वो का षोडशक्षणिक दर्शन-मार्ग अभिहित है।

सर्वकाराभिसम्बोध में 'वस्तुज्ञान के प्रकारो' को आकार कहा गया है। अर्थात नाना आलम्बनो को वास्तविक समझनेवाली दृष्टियो के ये आकार प्रतिपक्षभूत हैं। सर्वज्ञता के त्रिविध होने के कारण ये आकार भी त्रिविध हैं। सर्वज्ञता के २७ आकार है जिनमें प्रथम तीन सत्यो मे प्रत्येक से ४ आकार सम्बद्ध है, मार्गसत्य से १५। इन १५ में ४ क्लेशावरण-प्रतिपक्ष है, ११ ज्ञेयावरणप्रतिपक्ष। मार्गज्ञतासम्बन्धी ३६ आकार है, तथा सर्वाकारज्ञता-सम्बन्धी ११०, जिनमे श्रावको के ३७, बोधिसत्त्वो के ३४, तथा बुद्धो के ३९ है। ये आकार विशिष्ट प्रयोगो से भावनीय है। इस भावना में अधिकार के लिए अतीत बुद्धो की सेवा, कुशलमूलसग्रह, कल्याणमित्र आदि आवश्यक हैं। भावना के प्रयोग अनेकविध है, यथा रूपादि स्कन्धो मे अनवस्थान तथा उनकी ओर उदासीनता। यहाँ पर २० प्रयोगो की आनुपूर्वी दी हुई है। इस भावना से १४ प्रकार के गुण प्राप्त होते है यथा मार की शक्तिहानि आदि। ४६ प्रकार के दोष इस प्रसग में परिहार्य है। इसके अनन्तर ज्ञान, विशेष, कारित्र तथा स्वभाव के लक्षण सगृहीत है। प्रत्येक प्रकार की सर्वज्ञता में १६ प्रकार के ज्ञान समुच्चित है। बोधिसत्त्वयान की विशेषता भी १६ प्रकार की है। बोधिसत्त्व की क्रिया के ११ लक्षण दिये हुये है। भावना का स्वभाव १६ लक्षणो में प्रतिपादित है।

इस सर्वाकाराभिसंबोध में अनिमित्तग्राही ज्ञान तथा दानादि बुद्ध धर्मों के प्रादुर्भाव का अनुस्मरण कौशल मोक्षभागीय कहा जाता है। यह पांच प्रकार का है—बुद्धादि में श्रद्धा, दानादि में वीर्य, हिताशय-सम्पादन रूप स्मृति, अविकल्पनात्मक समाधि, तथा धर्मों का सर्वाकारज्ञान रूप प्रज्ञा। इसके अनन्तर निर्वेधभागीयों की चर्चा है। दर्शनमार्ग के अतिक्रमण के पश्चात् बोधिसत्त्व सब धर्मों को स्वप्नोपम देख कर संसार और निर्वाण की समता का बोध प्राप्त करता है।

मूर्धाभिसमय मे वोधिसत्त्व के दर्शनमार्ग एव भावनामार्ग का विस्तृत वर्णन उपलव्ध होता है। मतो के क्षयज्ञान तथा अनुत्पादज्ञान को ही बोधि कहा गया है। इनकी प्राप्ति यथाक्रम अभिहित है। ज्ञेयावरण का क्षय ही समस्त चर्या का अन्त है। धर्मों की वास्तविक सत्ता होने पर इस प्रकार का आवरणक्षय असम्भव है। वस्तुत इस समस्त साधना मे न कुछ अपनेय है, न कुछ आक्षेप्तव्य, वस्तुतत्त्व को तत्त्वत देखना ही कर्तव्य है। इस यथार्थज्ञान से ही मुक्ति होती है।

अनुपूर्वाभिसमय मे दानादि पारमिताओ तथा वुद्धादि अनुस्मृतियो का उल्लेख है। इसमे व्यस्त और समस्त रूप से पूर्व-अधिगत धर्मो का आनुपूर्वी से अभिसमय किया जाता है।

एक क्षण मे सव धर्मो के अभिसम्वोध को एकक्षणाभिसमय कहा गया है। इसकी चार अवस्थाए निरूपित है। पहली मे सव (अविपाक) अनास्रवधर्मों का एक दाना-दिज्ञान मे तत्क्षण अववोध सिद्ध होता है। जव प्रतिपक्षहानि से वोधिसत्त्व की अवस्था केवल वैयवदानिक विपाकधर्मता के कारण सर्वथा शुक्लस्वभाव होती है तव समस्त विपाक प्राप्त अनास्रव धर्मो का एक क्षण मे ज्ञान होता है। यही प्रज्ञापारमिता है। तीसरी अवस्था मे धर्मो के अलक्षणत्व का तथा चौथी मे उनके अद्वय तत्त्व का एकक्षणा-भिसमय सम्पन्न होता है।

सर्वथा विशुद्धि को प्राप्त अनास्रव धर्म ही वुद्ध की स्वाभाविक काय हैं। ३७ वोधिपक्ष, ४ अप्रमाण, ८ विमोक्ष, ९ समापत्ति, १० कृत्स्न, ८ अभिभ्वायतन, १० वल, ४ वैशारद्य, ३ अरक्षण, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ असमोषधर्मता, वासना समुद्घात, महाकरुणा, १८ आवेणिक धर्म, तथा सर्वाकारज्ञता—ये धर्मकाय मे सगृहीत है। साम्भोगिक काय ३२ लक्षण और ८० व्यजनो से युक्त है। आससार जिस काय से वुद्ध जगद्धित का सम्पादन करते है वह निर्माणकाय है। इनमें पहली स्वाभाविक काय पारमार्थिक, शेष तीन तथ्यसवृति के रूप मे प्रतिभासित होती है तथा अधिकारियो को उनसे आध्या-त्मिक साहाय्य प्राप्त होता है।

असग योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप मे असग का नाम प्राय प्रसिद्ध है। इनके अनेक ग्रन्थ केवल चीनी अनुवाद मे अवशिष्ट है, यथा—**महायानसम्परिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, "महायानाभिधर्म-संगीति-शास्त्र"** (वस्तुत नन्जियो ११९९ ता० शेङ्-अ-फि-ता-मो-छि-लुन्-का सस्कृत अनुवाद **"अभिधर्मसमुच्चय"** होना चाहिए) तथा **वज्रच्छेदिका पर एक व्याख्या**। परमार्थ के द्वारा वसुवन्धु की चीनी मे उपलव्ध जीवनी के अनुसार पुरुषपुर के एक कौशिक गोत्र के ब्राह्मण परिवार में असग, वसु-वन्धु एव विरिञ्चिवत्स नाम के तीन भाई उत्पन्न हुए थे। प्रारम्भ मे तीनो सर्वास्ति-

वाद के अनुयायी थे। इस विवरण के अनुसार असंग ने वसुबन्धु को वृद्धावस्था में महायान की ओर प्रवर्तित किया था। बुदोन के अनुसार प्रसन्नशीला नाम की ब्राह्मणी तथा एक क्षत्रिय से असंग की उत्पत्ति हुई थी। उसी ब्राह्मणी तथा अन्य ब्राह्मण से कालान्तर में वसुबन्धु उत्पन्न हुए थे। वसुबन्धु कश्मीर में संघभद्र नाम के आचार्य के पास शिक्षा के लिए गये। असंग ने मैत्रेय की सहायता प्राप्त करने के लिए कुक्कुट-पाद पर्वत की गुहा में चिरकाल तक उनके प्रसादन का प्रयत्न किया। १२ वर्ष के अनन्तर उन्हें मैत्रेय का दर्शन प्राप्त हुआ। मैत्रेय के पूछने पर असंग ने यह बताया कि वे महायान के प्रचार के लिए ज्ञान चाहते हैं। मैत्रेय के साथ वह तुषित लोक गये जहाँ देव-गणना से उन्होंने एक क्षण निवास किया। यह एक क्षण मानव पचास वर्षों के बराबर है। योगचर्या-भूमि के व्याख्याता के अनुसार वे तुषित लोक में छ महीने रहे थे और मैत्रेय से शिक्षा प्राप्त की थी। इस प्रकार असंग ने प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र, योगचर्या, तथा अन्य महायान सूत्रों का परिशीलन किया। इसके अनन्तर उन्हें मैत्रेय के द्वारा विरचित पांच ग्रन्थों की प्राप्ति हुई। हरिभद्र ने भी इसका उल्लेख किया है कि असंग ने मैत्रेय से सीखा तथा यही परम्परा पीछे वसुबन्धु के द्वारा अग्रसर हुई। अभयाकरगुप्त की मर्मकौमुदी में भी इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। मनुष्यलोक में लौट आने पर असंग ने महायानसम्बन्धी अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जिसका संक्षेप उन्होंने अभिधर्मसमुच्चय में संगृहीत किया। तत्त्वविनिश्चय तथा उत्तरतन्त्र एवं संधिनिर्मोचन-सूत्र पर व्याख्याएं भी उन्होंने लिखी। उन्होंने बोधि-सत्त्वों की तीसरी भूमि प्राप्त की थी।

असंग की कृतियों में महायानसम्परिग्रह, अभिधर्मसमुच्चय तथा योगाचार-भूमिशास्त्र का योगाचार-सम्प्रदाय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। महायान-सम्परिग्रह का चीनी में बुद्धशान्त ने ई० ५३१ में, परमार्थ ने ई० ५६३ में तथा ह्वेन्-त्सांग ने ई० ६४८–४९ में अनुवाद किया। परमार्थ के अनुवाद के आधार पर "शे-लुन्" अथवा "सम्परिग्रह" सम्प्रदाय का चीन में प्रवर्तन हुआ जो कि वहाँ योगाचार विज्ञानवाद का पूर्वरूप था। महायानसम्परिग्रह में १० पदार्थों का विवरण है—आलय विज्ञान अथवा मूलविज्ञान, विज्ञप्तिमात्रता अथवा त्रिस्वभाव, विज्ञप्ति[illegible] का प्रवेश, ६ पारमिताएँ, १० भूमियाँ, शील, समाधि, प्रज्ञा [illegible]ज्ञान, तथा त्रिकाय। आलयविज्ञान में क्लिष्ट और अक्लिष्ट बीजों का संग्रह है जिससे [illegible] के [illegible] विज्ञान-प्रवाह प्रवृत्त होता है। [illegible] विज्ञान-प्रवाह के [illegible] [illegible] परिशुद्ध [illegible] होता है। [illegible] और [illegible]

होने से ही चित्त विशुद्ध होता है तथा विकल्प एव क्लेश से मुक्ति पाता है। अविकल्प ज्ञान मे ही परिनिष्पन्न लक्षण तथा अप्रतिष्ठित निर्वाण की प्राप्ति होती हे। आलय विज्ञान ही विशुद्ध एव परावृत्त होने पर तथता से अभिन्न हे।[५३] इस अवस्था मे उसे अमलविज्ञान अथवा नवमविज्ञान कहा गया हे।

बुदोन के अनुसार **अभिधर्मसमुच्चय** मे त्रैयानिक सिद्धान्तो का सग्रह है, किन्तु अभयाकरगुप्त के अनुसार उसे केवल महायान ग्रन्थ मानना चाहिए। **अभिधर्मसमुच्चय** मे **"महायानाभिधर्मसूत्र"** का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट ही महायानी अभिधर्म के प्रभाव से मुक्त नही थे। एक ओर नागार्जुन के **"महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र"** तथा मैत्रेय के **"अभिसमयालंकार"** मे **प्रज्ञापारमितासूत्रो** के आधार पर एक विलक्षण "अभिधर्म" की रचना का प्रयास है, दूसरी ओर असग तथा वसुवन्धु की रचनाओ मे सर्वास्तिवाद की अभिधर्म आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया गया है। वसुवन्धु का अभिधर्मज्ञान तथा सर्वास्तिवाद मे निष्ठा सुविदित है। योगाचार-अभिधर्म मे विज्ञानवाद तथा सर्वास्तिवाद के वेमे लजोड से अद्वैत वेदान्त तथा साख्यो के तत्त्वकलाप का सयोग तुलनीय है।

यह स्मरणीय है कि सर्वास्तिवादी अभिधर्म मे ७५ पृथक् धर्मो की सत्ता स्वीकार की जाती है—७२ सस्कृत तथा ३ असस्कृत। सस्कृत धर्मो मे ११ रूप, १ चित्त, ४६ चैत्त अथवा चित्तसम्प्रयुक्तसस्कार, तथा १४ चित्तविप्रयुक्त सस्कार परिगणित है। योगाचारसम्मत अभिधर्म मे १०० धर्मो का परिगणन किया गया हे—९४ सस्कृत तथा ६ असस्कृत। सस्कृत धर्मो मे ११ रूपधर्म, ८ विज्ञान, ५१ चैत्तसिक तथा २४ चित्त-विप्रयुक्त-सस्कार गिने गये है। ११ रूप धर्मो मे १० सुविदित है—५ इन्द्रियाँ तथा उनके ५ विषय। ११वाँ रूपधर्म "धर्मायतनसगृहीत रूप" है। इसीमे परमाणु अथवा ध्यानरूप का सग्रह होता हे। ७ विज्ञान स्थविरवादियो के तथा सर्वास्तिवादियो के परिचित है—५ चक्षुरादि इन्द्रियविज्ञान, मनोविज्ञान, तथा मनस्। सर्वास्तिवादी मनस् को शेष ६ विज्ञानो से पृथक् कोटि का नही मानते है जबकि स्थविर मनोधातु को ६ विज्ञानो से कार्यत तथा आश्रयत भिन्न मानते है। योगाचार भी स्थविरो के समान मनोधातु को ६ विज्ञानो से भिन्न स्वीकार करते है। इन सात के अतिरिक्त योगाचार आलयविज्ञान नाम के अष्टम विज्ञान की सत्ता स्वीकार

५३—यह स्मरणीय है कि कुछ विद्वान् 'परावृत्ति' और 'परिवृत्ति' में सैद्धान्तिक भेद की कल्पना करते है।

करते हैं। आलयविज्ञान ही व्यक्तित्व का अनादि एवं अनुच्छिन्न आश्रय है। वही वासना का आलय है तथा मनोगत व्यक्तित्वभान का आलम्बन।

सर्वास्तिवादियों के ४६ चित्तसम्प्रयुक्त संस्कारों के अतिरिक्त योगाचार ५ और स्वीकार करते हैं—अमोह, दृष्टि, मुषितस्मृतिता, असम्प्रजन्य, तथा विक्षेप। सर्वास्तिवादियों के १४ विप्रयुक्तसंस्कारों में "अप्राप्ति" को छोड़कर शेष १३ योगाचारों से स्वीकृत हैं। इनके अतिरिक्त ११ अन्य संस्कार योगाचार-परिगणित हैं—पृथग्जनत्व, प्रवृत्ति, प्रतिनियम, योग, जव, अनुक्रम, काल, देश, संख्या, सामग्री, तथा भेद।

योगाचारसम्मत ६ असंस्कृत धर्म इस प्रकार हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, आनिञ्ज्य, संज्ञावेदयित-निरोध, एवं तथता। इनमें पिछले तीन सर्वास्तिवाद के अविदित हैं। यह उल्लेखनीय है कि अभिधर्मसमुच्चय में तथता को त्रिविध कहा गया है—कुशलधर्मतथता, अकुशलधर्मतथता, एवं अव्याकृतधर्मतथता और इस प्रकार ८ असंस्कृत धर्म परिगणित हैं। आकाश रूपाभाव है, अप्रतिसंख्यानिरोध अविसंयोगात्मक निरोध है, तथा प्रतिसंख्यानिरोध विसंयोगात्मक निरोध है। आनिञ्ज्य की परिभाषा की गयी है—"शुभकृत्स्नवीतरागास्योपर्यवीतरागस्य सुखनिरोध।" संज्ञावेदयितनिरोध को आकिञ्चन्यायतन के ऊपर "अस्थावर चित्तचैतसिक धर्मों का तथा कुछ स्थावरों" का निरोध कहा गया है। कुशल धर्मतथता नैरात्म्य है। वही शून्यता, अनिमित्त, भूतकोटि, परमार्थ तथा धर्मधातु है। तथता की संज्ञा अनन्यथाभावता के कारण दी गयी है।

इन सभी धर्मों का स्कन्ध, धातु, तथा आयतन, इन तीन धर्मों में, तथा पाँच "ज्ञेयों" में संग्रह किया जा सकता है। पाँच ज्ञेय उपर्युक्त हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, चित्तविप्रयुक्त संस्कार, तथा असंस्कृत। इन धर्मों का तीन लक्षणों में भी संग्रह किया जा सकता है—परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण तथा धर्मता[illegible]लक्षण। इनमें पहला पुद्गल [illegible] की ओर संकेत करता है, दूसरा स्कन्धादि के प्रसिद्ध लक्षणों की ओर, तथा तीसरा उनके वास्तविक नैरात्म्य की ओर। योगाचारभूमिशास्त्र के अनुसार समस्त [illegible] [illegible] धर्मों के बीज [illegible] में सन्निविष्ट हैं। इन्हीं असंस्कृतों की गणना ६ अथवा ८ की जा सकती है। [illegible] [illegible], [illegible], [illegible] होने से [illegible] [illegible], [illegible] होने के [illegible] [illegible] तथा परमार्थ होने के कारण [illegible] है।

योगाचारभूमिशास्त्र का पूरा नाम योगाचार्यभूमिशास्त्र है तथा चीनी परम्परा के अनुसार यह मैत्रेयनाथ की कृति थी। तिब्बती परम्परा में नाम 'योगचर्या-

भूमिशास्त्र" हो गया है तथा ग्रन्थकार आर्यासग कहे गये हैं। इस शास्त्र के पाँच खण्ड हैं—वहुभूमिक वस्तु, निर्णय-अथवा विनिश्चय-सग्रह, वस्तुसग्रह, पर्यायसग्रह, तथा विवरणसग्रह। वहुभूमिक वस्तु मे १७ योगाचार-भूमियो का पुरुप, चर्या तथा फल की दृष्टि से विवरण है। पहली भूमि (१) पचविज्ञान-काय-सम्प्रयुक्त है, दूसरी (२) मनोभूमि है। ये दो समस्त साधना की आधार हैं। (३) सवितर्का-सविचारा, (४) अवितर्का-विचारमात्रा, तथा (५) अवितर्काअविचारा, ये तीन भूमियाँ साधन के मुख्य भेद प्रदर्शित करती हैं। (६) समाहिता तथा (७) असमाहिता, (८) सचित्ता तथा अचित्ता भूमियाँ विभिन्न अवस्थाएँ हैं। (१०) श्रुतमयी (११) चिन्तामयी तथा (१२) भावनामयी भूमियाँ चर्या का निर्देश करती हैं। त्रियान तथा द्विविध निर्वाण् फल है एव तद्विपयक भूमियाँ (१३) श्रावक भूमि, (१४) प्रत्येक-वुद्ध भूमि (१५) वोधिसत्त्वभूमि (१६) सोपधिका भूमि तथा (१७) निरुपधिका भूमि कही गयी हैं। ये १७ भूमियाँ ही सक्षेपत योगाचार-भूमि हैं। सोपधिशेप निर्वाण मे परिशुद्ध विज्ञान को कायसहित अवशिष्ट कहा गया है। निरुपधिशेप निर्वाण मे विज्ञान अपरिशेष निरुद्ध हो जाता है। यही निर्वाण-धातु अत्यन्तशान्त पद है जिसके लिए साधना का जीवन स्वीकार किया जाता है।

निर्णयसग्रह प्रथम खण्ड पर व्याख्या के तुल्य है। वस्तुसग्रह मे वहुभूमिक मे उल्लिखित विषयो के पिटकानुसार सग्रह का निर्देश है। पर्यायसग्रह मे नामानुकूल विभिन्न विषयो के विशेपत साक्लेशिक तथा वैयवदानिक धर्मों के पर्याय दिये गये हैं। विवरण सग्रह मे पूर्वोक्त शिक्षाक्रम का विस्तार है।

यह स्मरणीय है कि इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का १५वाँ परिच्छेद—वोधिसत्त्व-भूमि—महायानचर्या के लिए अतिशय महत्त्व का है। समस्त ग्रन्थ मानो एक महा-यानाभिधर्म-कोश तथा विश्वकोश का समिश्रण है। योगाचार का यह प्रमाणभूत शास्त्र है।

वसुबन्धु—ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ के अनुसार वसुवन्धु असग के अनुज थे तथा पुरुपपुर के एक ब्राह्मण परिवार मे उत्पन्न हुए थे। वुदोन के अनुसार उन्होने कश्मीर मे वैभाषिक आचार्य सघभद्र से शिक्षा प्राप्त की। परमार्थ ने उनके गुरु का नाम वुद्धमित्र तथा श्वान्च्वाग ने मनोरथ वताया है। साख्य आचार्य विन्ध्य-वास के द्वारा वुद्धमित्र अथवा मनोरथ के वाद मे पराजित होने पर विन्ध्यवास के विरोध मे वसुवन्धु ने **परमार्थसप्तति** नाम के ग्रन्थ की रचना की। विक्रमादित्य नाम के राजा ने वसुवन्धु को आश्रय प्रदान किया तथा सम्भवत उसके राज्यकाल

में वसुबन्धु ने अपने प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' की रचना की। विक्रमादित्य के पुत्र बालादित्य के वे शिक्षक थे तथा राज्य मे अभिषिक्त होने पर बालादित्य ने उन्हे अपने पास अयोध्या बुला लिया जहाँ वे ८० वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। वसुरात नाम के वैयाकरण के आक्षेपो का उन्होने परिहार किया, किन्तु वैभाषिक आचार्य सघभद्र के साथ वाद को वृद्धावस्था के कारण अस्वीकार कर दिया। "अभिधर्मकोश" मे वसुबन्धु की सौत्रान्तिक प्रवृत्ति प्रकट है। किन्तु असग के अनुरोध से उन्होंने महायान को स्वीकार किया तथा योगाचार सम्प्रदाय में दार्शनिक विज्ञानवाद को निश्चित एव शास्त्रीय रूप प्रदान किया। विज्ञानवाद की दृष्टि से वसुबन्धु की प्रधान रचनाएँ **मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य, त्रिस्वभावनिर्देश, विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका,** तथा **त्रिंशिका** हैं। बुदोन ने उन्हे **पचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण** आदि का रचयिता कहा है। उनके नाम से कुछ अन्य ग्रन्थ भी विदित हैं यथा, **सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र,** आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि। किन्तु यह सम्भव है कि इन ग्रन्थो के रचयिता एक दूसरे पूर्वाचार्य वसुबन्धु थे।

वसुबन्धु के कालनिर्णय पर विद्वानो में प्रचुर विवाद रहा है। परमार्थ तथा स्वान्-च्वाग के विवरण से वसुबन्धु परिनिर्वाण से १,००० अथवा ११०० वर्ष पश्चात् हुए थे। उनके द्वारा स्वीकृत निर्वाण के समय में भेद होने के कारण ये दोनों गणनाएँ वस्तुत एक ही फल देती है, और वह है वसुबन्धु का पाँचवीं शताब्दी ई० में होना। विक्रमादित्य तथा बालादित्य की समकालीनता से यह समर्थित होता है। दिङ्नाग का [illegible] भी इसी ओर संकेत करता है। पक्षान्तर मे यह कहा गया है कि एक परम्परा के अनुसार वसुबन्धु निर्वाण से ९०० वर्ष बाद हुए थे तथा कुमारजीव ने उनके अनेक ग्रन्थो का अध्ययन एव चीनी अनुवाद किया था। किन्तु इस प्रसग में यह स्मरणीय है कि यशोमित्र ने एक पूर्वाचार्य वृद्ध अथवा स्थविर वसुबन्धु का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि [illegible] उल्लेख उन्हीं की ओर समादिष्ट हो। ये वृद्ध वसुबन्धु मनोरथ के उपाध्याय थे तथा सम्भवत उन महायान-ग्रन्थों के प्रणेता [illegible] गया है। किन्तु इनके विषय में अधिक [illegible] परमार्थ [illegible] वसुबन्धु [illegible] [illegible]

[illegible] में वसुबन्धु का स्थान और देन—[illegible] [illegible]

चार" दर्शन का प्रवर्तन किया। उनकी रचनाओ मे **उत्तरतन्त्र** तथा **अभिसमयालकार** प्रधानतया माध्यमिक है, **मध्यान्तविभाग** प्रधानतया योगाचार। किन्तु **मध्यान्तविभाग** मे भी विज्ञप्तिमात्रता को पारमार्थिक नही माना गया है प्रत्युत् धर्मधातु को शून्यता से अभिन्न कहा गया है। आर्य असग ने सर्वास्तिवादी प्रभाव से योगाचार-अभिधर्म का विस्तृत प्रतिपादन किया जिसमे आलय-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का विवरण होते हुए भी विज्ञप्तिमात्रता के स्थान पर विविध धर्मलक्षणो का ही प्राधान्य प्रतीत होता है। धर्मो का यथाकथचित् विज्ञान-ससर्ग ही इस अभिधर्म का विज्ञानवाद कहा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि चित्तमात्रता, अष्ट-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का उल्लेख अवतसक, लकावतार आदि सूत्रो मे भी उपलब्ध होता है। इस "सौत्र विज्ञानवाद" का मैत्रेय एव असग की कृतियो मे योगचर्या की दृष्टि से प्रचुर विस्तार होते हुए भी विशुद्ध विज्ञानवादी दर्शन के रूप मे वास्तविक विकास सर्वप्रथम वसुबन्धु की रचनाओ मे ही देखा जा सकता है। वसुबन्धु को ही यथार्थ मे विज्ञानवादी दर्शनशास्त्र का प्रवर्तक मानना चाहिए।

सूत्रो मे विज्ञप्तिमात्रता को स्वप्न, माया आदि के दृष्टातो से उपपादित किया गया है। वसुबन्धु ने **विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका** मे इन दृष्टान्तो की तर्कसगति तथा बाह्यार्थ-स्वीकार का युक्ति-विरोध प्रकाशित किया है। विज्ञान का अर्थाकार प्रतिभास पूर्वविदित था, किन्तु उसके निश्चित तार्किक समर्थन के द्वारा वसुबन्धु ने योगचर्या के अन्तर्भूत तथा आगमानुसारी एक अध्यात्मवादी आग्रह को न्यायानुसारी सिद्धान्त का रूप प्रदान किया। **विज्ञप्तिमात्रतात्रिंशिका** मे वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता का बाह्यार्थवाद की छाया से अन्धकारित अभिधर्मकान्तार से स्पष्ट उद्धार किया तथा विज्ञप्तिमात्रता का धर्मधातु से अभेद व्यवस्थित किया। अभिधर्मस्वीकृत पचविध ज्ञेयो के विज्ञानपरिणाम के सिद्धान्त के द्वारा विज्ञानसात्करण मे वसुबन्धु ने अपनी पिछली सौत्रान्तिक प्रवृत्ति के प्रकारान्तर से प्रभाव का परिचय दिया है। वसुबन्धु के समय से ही ब्राह्मण-दर्शनो के समक्ष खण्डन-मण्डन-समर्थ प्रौढ बौद्ध-दर्शन का अभ्युदय मानना चाहिए।

लकावतारसूत्र मे यह अनेकधा अभिहित है कि चित्तमात्र ही सत्य है, वही वासना के बल से अर्थाकार प्रतिभासित होता है। "स्वचित्त दृश्यसस्थान बहिर्धा स्यायते नृणाम्। बाह्य न विद्यते दृश्यमतोऽप्यर्थो न विद्यते॥ *अर्थाभास नृणा* चित्त चित्त वै स्याति कल्पितम्। नास्त्यर्थश्चित्तमात्रेय निर्विकल्पो विमुच्यते॥" बाह्य पदार्थो की प्रतीति ऐसी ही है जैसे माया, स्वप्न, मृगतृष्णा, गन्धर्वनगर अथवा

तैमिरिक-दृष्ट केशादि—"एव हि दूषिता बालाश्चित्तचैत्तैरनादिकै.। मायामरीचिप्रभव भाव गृह्णन्ति तत्त्वत ॥" "इन्द्रियाणि च मायाख्या विषया. स्वप्नसन्निभा ।.." "गन्धर्वनगरं यद्वद्यथा च मृगतृष्णिका। दृश्य ख्याति तथा नित्य प्रज्ञया च न विद्यते।" "मायाहस्ती यथा चित्र पत्राणि कनका यथा। तथा दृश्य नृणा ख्याति चित्ते अज्ञानवासिते।"

इन्ही सिद्धान्तो एव दृष्टान्तो के तार्किक समर्थन के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता-त्रिंशिका की रचना हुई है।

समस्त जगत् को अनुभव के आधार पर दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—ज्ञान एव ज्ञेय। ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के बाहर अवस्थित तथा स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। वस्तुत यह प्रतीति भ्रान्ति है। ज्ञेय पदार्थ मिथ्या है तथा ज्ञानमात्र सत्य है। ज्ञान ही ज्ञेयरूप से प्रतिभासित होता है। यही विज्ञानवाद का मूल सिद्धान्त है।

पुरानी बौद्ध परम्परा का निर्वाह करते हुए वसुबन्धु "ज्ञान" के स्थान पर "विज्ञान" शब्द का ही प्रयोग करते हैं। उनके लिए विज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त एव मन पर्यायवाची शब्द हैं। चित्त अथवा मन में वेदना आदि मन के धर्म (=चैत्त, चित्त-सम्प्रयुक्त संस्कार) संगृहीत हैं।[५४]

विंशतिका की पहली कारिका में विज्ञप्तिमात्रता का मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादित है—"यह (त्रैधातुक) विज्ञप्तिमात्र है क्योंकि प्रतीति असत् पदार्थों की होती है जैसे तिमिररोगी को अविद्यमान केश अथवा चन्द्रमा का दर्शन।"[५५] इस

५४—"चित्तं मनोविज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः।
चित्तमत्र ससम्प्रयोगमभिप्रेतम् ॥" (विंशतिका)

५५—"विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥" (वही, का० १)
"असदर्थावभासनात्" "असत्ख्याति" का द्योतक न होकर वस्तुतः "आत्मख्याति" का द्योतक है। तु०—भामती, पृ० ११ "विज्ञानवादिनामपि [illegible] न बाह्य वस्तु [illegible] बाह्यं तत्र ज्ञानाकारस्यारोप ॥" "[illegible]" पद पर तु०—"[illegible]" (वही, पृ० ७-८)।

उक्ति को प्रमाणित करने के लिए वसुवन्धु माहायानिक आगम का उद्धरण देते हैं।[५६] यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि बौद्ध आचार्य केवल दो प्रमाण मानते थे—प्रत्यक्ष तथा अनुमान—तथापि इस प्रसिद्धि के विपरीत प्राचीन योगाचार मत मे आगम को भी प्रमाण माना जाता था।[५७] अथच इस कारिका मे प्रतीयमान विषयों का मिथ्यात्व विज्ञप्तिमात्रता की प्रतिज्ञा के लिए हेतुरूप से उपन्यस्त प्रतीत होता है तथा इसे "स्वभावानुमान" कहा जा सकता है।[५८] किन्तु वस्तुत वह विज्ञप्तिमात्रता का हेतु न होकर उसके अर्थ का विशदीकरण है क्योकि "विज्ञप्तिमात्र" पद में "मात्र" स्वय बाह्य पदार्थो का प्रतिषेध करता है।[५९]

विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त समस्त अनुभव को भ्रान्ति अथवा स्वप्न के समान निरालम्ब घोषित करता है। यह साहसमात्र न होकर एक न्यायसगत सिद्धान्त है, यह दिखलाने के लिए वसुवन्धु दूसरी कारिका मे अपने मत के विरोध में चार शकाएँ प्रकट कर दो अन्य कारिकाओ से उनका उत्तर देते हैं।

शंका—"यदि बाह्य अर्थ के बिना ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है तो उसमे देश और काल के नियम, चित्तसन्तति का अनियम, तथा व्यवहारसामर्थ्य युक्त नहीं है।" (कारिका–२)

समाधान—"देश आदि का नियम स्वप्नवत् सिद्ध है। चित्तसन्तति का अनियम प्रेतवत् सिद्ध है क्योकि सभी (प्रेत) कुत्सित-नदी आदि की उपलब्धि करते हैं। व्यवहारसामर्थ्य "स्वप्नोपघात"[६०] के समान तथा नरकवत् सिद्ध है। नरकपाल आदि

५६–"चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकमितिसूत्रात्।" (विंशतिका)
५७–द्र०—तुचि—डॉक्ट्रिन्स ऑव मैत्रेयनाथ एण्ड असग।
५८–तु०—भामती, पृ० २८०—"यो य. प्रत्ययः स सर्वोवाह्यानालम्बनो यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययस्तथा चैष विवाध्यासित प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। वाह्यानालम्वनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुवन्धिनी वृक्षतेर्वाशिशपात्वमात्रानुवन्धिनीति तन्मात्रानुवन्धिनी निरालम्बनत्वे साध्ये भवति प्रत्ययस्य स्वभावहेतु." इस अनुमान में व्याप्तिवाक्य स्वभावकथन (=एनालिटिकल जजमेन्ट) हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का स्वभाव लोकप्रसिद्ध नहीं है। शबरभाष्य में भी प्रत्ययत्व को स्वप्नवत् निरालम्बनत्व में हेतु दिया गया है (पृ० ८–१०)।
५९–"मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्।" (विंशतिका, वहीं)
६०–स्वप्ने द्वयसमापत्तिमन्तरेण शुक्रविसर्गलक्षणः स्वप्नोपघात.।" (वही)

के दर्शन से तथा उनके द्वारा पीडन के अनुभव से सभी (चारो)[६१] सिद्ध है।" (कारिकाएँ–३–४)[२]

दूसरी कारिका में भ्रान्ति तथा सत्य अनुभव में चार भेद प्रकाशित किये गये हैं। भ्रान्ति में देशगत एव कालगत नियम नही होते; भ्रान्ति व्यक्तिसापेक्ष होती है, सार्वजनिक नही; तथा भ्रान्ति के आलम्बनो से कोई वास्तविक कार्य सिद्ध नही हो सकता। कही भी और किसी भी समय किसी वस्तु की भ्रान्त प्रतीति सम्भव है; किन्तु उसका वास्तविक प्रत्यक्ष विशिष्ट देश एव विशिष्ट काल की अपेक्षा रखता है। मरुस्थल मे नदी की भ्रान्ति हो सकती है, आकाश में गन्धर्वनगर की, अफीम खाकर रात्रि के समय चन्द्रोदय को सूर्योदय समझा जा सकता है, १९६० में किसी बूढ़े लगड़े को तैमूर लग। भ्रान्ति में न देश का नियम है, न काल का। किन्तु प्रत्यक्ष में ये नियम अनिवार्य है। प्रतीति के बाहर पदार्थों की सत्ता मानने पर इन नियमो की सत्ता भी सुबोध है।[६२] पुनश्च यदि विषय-जगत् अवास्तविक एव कल्पित है, ज्ञानप्रवाह ही एक मात्र सत्य है तो ज्ञेय पदार्थों की प्रतीति को विशिष्ट चित्त-सन्तति अथवा व्यक्तिविशेष की अपेक्षा रखनी चाहिए। उदाहरण के लिए जिसकी आँख मे दोष होता है उसे ही अविद्यमान केश आदि का आभास होता है, सबको नही। कल्पना अथवा भ्रान्ति प्रातिस्विक होती है, विश्वजनीन नही। इसके विपरीत उपयुक्त देश-काल में प्रतिष्ठित सभी के लिए व्यवहार में एकरूपा दृश्य जगत् प्रतिभासित होता है। स्पष्ट ही अर्थ-प्रतिभास विशिष्ट देश-काल की अपेक्षा रखता है न कि विशिष्ट व्यक्ति की। यह उसका भ्रान्ति से वैलक्षण्य प्रकट करता है। फिर, यदि विषय कल्पित है, तो उनको अर्थक्रिया में असमर्थ होना चाहिए। जिस प्रकार स्वप्न मे देखे गये अन्न, पान, वस्त्र, विष, शस्त्र,

६१–"देशकालनियमादिचतुष्टयम्" (वही)।

६२–"अनर्था यदि विज्ञप्तिर्नियमो देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च॥
देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः।
सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने॥
स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः।
सर्वं नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने॥" (विंशतिका का० २–४)

६३–सौत्रान्तिकों का कहना है कि प्रातीतिक वैचित्र्य प्रतीति के बाहर हेतु की सत्ता सूचित करता है। विज्ञानवादी इस हेतु को वासना कहते हैं। [illegible] भावना, पृ० ३८०–८१।

आदि से भोजन, तृषा-निवृत्ति आवरण आदि की क्रियाएँ निष्पन्न नही होती ऐसे ही समस्त जगत् के पदार्थ गन्धर्व-नगर के समान असमर्थ होने चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। अत वाह्य पदार्थों को मानसिक कल्पना नही माना जा सकता।

इन शकाओ का आचार्य वसुवन्धु ने इस प्रकार उत्तर दिया है—देश-काल का नियम उसी प्रकार सिद्ध मानना चाहिए जैसे स्वप्न मे। एक चित्तसन्तति के अनियम अथवा व्यक्तिनिरपेक्षता के विषय मे स्मरणीय है कि स्वप्न मे भी विना वाह्य पदार्थों के ही जो जगत् उल्लसित होता है उसमे विशिष्ट देश-काल का नियम उस समय प्रतीत होता है। ऐसे ही कर्मविपाक तुल्य होनेपर प्रेतो को पूयपूर्ण नदी आदि समान दृश्य दीखते है यद्यपि वस्तुत उन दृश्यो की सत्ता नही होती। विभिन्न प्रेतो की अनुभव-धाराएँ पृथक्-पृथक् है एव उनके समक्ष कोई स्वतन्त्र बाह्य विषय नही है, तथापि कर्मविपाक के समान होने के कारण उन्हे समान दृश्य दीखते है। इन दोनो दृष्टान्तो से यह सिद्ध होता है कि वाह्य पदार्थों के अभाव मे भी अनुभव के अन्तर्भूत दृश्य-जगत् मे देश-काल का नियम प्रतीत हो सकता है तथा वैयक्तिक चित्त-सततियो का अनियम भी सम्भव है। काल्पनिक पदार्थों की अर्थक्रिया अथवा व्यवहारसामर्थ्य के विपय मे भी यह स्मरणीय है कि स्वप्न मे अथवा नरक मे वाह्य पदार्थों के अभाव मे ही दृश्यमान पदार्थो का कार्यसामर्थ्य प्रत्यक्ष होता है। स्वप्न मे वास्तविक कामिनी के अभाव मे भी अशुचि-मोक्ष उपलब्ध होता है। नरक मे नारक जीव नरकपाल आदि का प्रत्यक्ष करते है तथा उनसे पीडा का अनुभव भी। वास्तविक विपयो के अभाव मे भी नरक का अनुभव देश-काल का नियम, व्यक्ति-निरपेक्षता, तथा अपने अन्तर्गत पदार्थो का कार्यसामर्थ्य प्रदर्शित करता है। स्वप्न, प्रेतलोक, तथा नरक के दृष्टान्तो से स्पष्ट है कि विषयो के बिना भी केवल चित्त से ही एक नियत, अनेक साधारण, तथा समर्थ जगत् का भासित होना सम्भव है।

यह शका की जा सकती है कि नरक का दृष्टान्त युक्त नही है क्योकि नरक मे दृष्ट नरकपाल, पक्षी आदि को कर्मजन्य वास्तविक प्राणी माना जा सकता है। स्वर्ग मे पक्षियो का जन्म प्रसिद्ध भी है। इस शका के समाधान मे वसुवन्धु का कहना है—"स्वर्ग के समान नरक मे पक्षियो का जन्म नही होता और न प्रेतो का, क्योकि वे वहाँ के दु ख का अनुभव नही करते।[६४] यदि नरकपाल वस्तुत नरक में उत्पन्न

६४—"तिरश्चां सम्भव स्वर्गे यथा न नरके तथा।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दु ख नानुभवन्ति ते॥"

(विंशतिका, का० ५)

होते तो वे भी नारकीय वेदना से त्रस्त होते और कदाचित् अपने वन्दियो के साथ वहाँ से भाग निकलने का प्रयास करते। अत यह मानना चाहिए कि नारक प्राणियो को अपने कर्म के कारण अवास्तविक नरकपाल, आदि का आभास होता है। यह भी नही सोचना चाहिए कि कर्म-बल से भौतिक पदार्थ परिणत होकर नरकपाल आदि के आकार अवभासित करते है क्योकि "यदि उनके (नारको के) कर्म से वहाँ भौतिक परिणाम अभीप्ट है तो चित्त का परिणाम क्यो अभीप्ट नही है? कर्म की वासना अन्यत्र तथा उसका फल अन्यत्र क्यो माना जाय? क्यो न जहाँ कर्मवासना है वही कर्मफल की कल्पना की जाय?"[६५] कर्म के सस्कार चित्त मे सनिविप्ट है। कर्मफल की उत्पत्ति भी वही न्याय्य है। चित्त से उत्पन्न तथा चित्त मे आलीन कर्म के फल के भोग के लिए चित्त के बाहर कर्म से उत्पन्न पदार्थों की कल्पना मे स्पप्ट ही गौरव है।

इतने विमर्श से यह स्पप्ट हो जाता है कि विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त असगत अथवा दुस्साहसमात्र नही है। समस्त अनुभव की स्वप्नतुल्यता में किसी प्रकार का व्याघात अथवा युक्तिविरोध प्रदर्शित नही किया जा सकता। किन्तु विज्ञप्तिमात्रता के विरोध-परिहार मात्र से वह सिद्ध नही हो जाती। अब तक उसके समर्थन में केवल एक आगम की युक्ति दी गयी है। किन्तु यह शका की जा सकती है कि अन्यत्र तथागत ने रूपादि आयतनो का उपदेश किया है। अतएव बाह्य पदार्थों की कल्पना युक्त है।

इसके उत्तर मे वसुबन्धु का कहना है—"(तथागत के द्वारा) शिष्यो के प्रति रूपादि-आयतनों के अस्तित्व का उपदेश "उपपादुक-सत्त्वों" के उपदेश के समान आभिप्रायिक है।

जिस बीज से तथा जिस आकार को लेकर विज्ञान की प्रवृत्ति होती है उन्ही को उनको मुनि ने विज्ञान के द्विविध आयतन के रूप में बताया है।

इस प्रकार पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश (प्राप्त होता है)। किन्तु उन्होंने पु०

६५—"यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते॥
कर्मणो वासनान्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम्॥"
(वही, का० ६-७)

दूसरे प्रकार से उपदेश किया है (जिससे) धर्मनैरात्म्य मे कल्पित स्वभाव के द्वार से प्रवेश हो।[६६]"

तथागत ने शिष्यो के अधिकार के अनुसार विविध देशना की है। "आत्मा" में अभिनिविष्ट जनता के उद्धार के लिए उन्होने "आयतनो" का उपदेश किया है, किन्तु उत्तम अधिकारियो के लिए उन्होने इनका भी निषेध किया है। यह निषेध "आयतनो" के कल्पित स्वभाव का है, न कि सर्वथा। यहाँ वसुवन्धु ने तथागत के "उपायकौशल" को उपस्थित कर विज्ञानवाद को सर्वास्तिवाद से सत्यतर वताया है तथा "कल्पित-स्वभाव" का उल्लेख कर विज्ञानवाद का शून्यवाद से भेद प्रदर्शित किया है।

वस्तुत विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत एक व्यवस्थित तार्किक एव आध्यात्मिक विकास की ओर सकेत करना है। सामान्य लौकिक व्यवहार में घट, पट आदि पदार्थों को तथा उनके व्यवहर्ता पुरुषो को वास्तविक माना जाता है। हीनयान मे उनकी सत्ता को केवल शब्दजन्य भ्रान्ति मान इनके स्थान पर "द्वादश आयतनो" को सत्य स्वीकार किया गया। इस दृष्टि से घट-आदि पदार्थ क्षणिक, इन्द्रियग्राह्य रूप आदि "धर्मो" के प्रवाहशील समूहमात्र है तथा "पुरुष" अथवा "जीव" एक चित्तप्रवाह मात्र है जो एक ओर चक्षु आदि इन्द्रियो पर तथा दूसरी ओर रूप-आदि विषयो पर निर्भर है। इन्द्रियाँ आध्यात्मिक अथवा आन्तरिक आयतन ह, विषय वाह्य आयतन है। इन द्विविध आयतनो पर चित्त अथवा विज्ञान का प्रवाह आश्रित है। फलत आयतनो के उपदेश को हृदयगम करने से "पुद्गल नैरात्म्य" का बोध हो जाता है तथा घट-पट आदि का स्थूल एव स्थिर जगत् रूप-रस आदि की सूक्ष्म धाराओ मे विलीन हो जाता है। सामान्य लोक-व्यवहार की तुलना में यह हीनयानी दर्शन पर्याप्त रूप से "वैनाशिक" है। महायान में यही प्रवृत्ति और अधिक विकसित रूप में पायी जाती है। आत्मा के समान वाह्य पदार्थ भी निराकृत हो जाते है। यही "पुद्गल नैरात्म्य" के और आगे "धर्मनैरात्म्य" का

६६—"रूपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥
यतः स्वबीजाद् विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत् ॥
तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना ॥
(विंशतिका, का० ८–१०)

स्तर है। विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा ही धर्मनैरात्म्य मे प्रवेश सम्भव है। अतएव यह मानना चाहिए कि तथागत ने रूप-आदि आयतनो की सत्यता का उपदेश प्राथमिक अधिकारियो को पुद्‍गलनैरात्म्य की शिक्षा देने के लिए किया, किन्तु उत्तम अधिकारियों को उन्होंने महायान सूत्रो में विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा धर्मनैरात्म्य का उपदेश किया।

शून्यवादियो के विरोध में यह स्मरणीय है कि धर्मनैरात्म्य का अर्थ "धर्मों" का सर्वथा अभाव नही है। अभाव केवल उनके ग्राह्य-ग्राहकादि परिकल्पित स्वभाव का है, उनके अनिर्वचनीय स्वभाव का नही जोकि बुद्धज्ञान का विषय है। विज्ञप्तिमात्रता मे नैरात्म्य में प्रवेश होता है, स्वय विज्ञप्तिमात्रता का अभाव नही होता।

आगम-विरोध के उपर्युक्त परिहार में सत्य का एक तारतम्य मान लिया गया है जिसके अनुसार रूपादि के अस्तित्व की अपेक्षा रूपादि का नास्तित्व ही गभीरतर और वास्तविक सत्य है। यदि यह धारणा आग्रहमात्र नहीं है तो यह तर्कसम्मत होनी चाहिए। वस्तुत एकदेशी आगम के सहारे अन्य सम्प्रदायो से तर्क नही किया जा सकता। वसुबन्धु हीनयानी एव महायानी, दोनो आगमो मे सुपरिचित थे। मैत्रेय एव असग के समान वे केवल आगमानुसारी नही थे। पिछली कारिकाओं में उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता के विरुद्ध आक्षेपो का तर्क से परिहार किया है। अब अपने सिद्धान्त के समर्थन में आगममात्र से असन्तुष्ट होकर वे विशुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं।

विज्ञप्तिमात्रता के दो पक्ष हैं—विज्ञान का अस्तित्व, तथा विषय पदार्थों का नास्तित्व। इनमें पहले पक्ष की स्थापना माध्यमिकों के विरोध में उचित है। इसका आचार्य ने सूक्ष्म इंगित किया है—(१) नैरात्म्य का अर्थ कल्पित स्वभाव का निराकार है, सर्वथा अस्तित्व का नहीं, (२) विज्ञप्तिमात्र के द्वारा ही इस [illegible] स्वभाव में प्रवेश सम्भव है, (३) धर्मों का अनिर्वचनीय स्वभाव बुद्धगोचर है। किन्तु यहाँ माध्यमिकों के निराकरण का विस्तृत प्रयत्न नहीं किया गया है। माध्यमिकों की [illegible] तर्क-प्रणाली के समक्ष यह होना भी कठिन। कदाचित् इसी कारण [illegible] ने भी [illegible] में [illegible] मान लिया है।

बाह्य पदार्थों के [illegible] के लिए वसुबन्धु परमाणुवाद का [illegible] करते हैं— [illegible]

१ [illegible]

[illegible]

परमाणुओं का सयोग न होने पर उनके सघात में किसका सयोग होगा यह भी नही है कि परमाणुओ के निरवयव होने के कारण उनका सयोग सिद्ध नही होता।

परमाणु को वितत मानने पर उसका एकत्व अयुक्त है। परमाणु को अविनत मानने पर छाया एव अवरोध कैसे होगे ? और यदि पिण्ड परमाणुओ से अन्य नही है तो वे (छाया एव रोध) पिण्ड के धर्म भी नही हो सकते।[६७]"

मान लीजिए नील-रूप का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष का विषय क्या है ? अर्थात् नीलविज्ञान के आलम्बन "नील" की सत्ता यदि विज्ञान के बाहर है तो उसका क्या स्वरूप है ? तीन विकल्प सम्भव हैं—नील-रूप घटादि-अवयवि-निष्ठ हो सकना है, अथवा अनेक-परमाणु-निष्ठ, अथवा परमाणु-सघात-निष्ठ। इनमें पहला पक्ष वैशेषिको का है, दूसरा वैभाषिको का है,[६८] तीसरा सौत्रातिको का। वैशेषिको के विपक्ष में वसुबन्धु का कहना है कि अवयवो के अतिरिक्त अवयवी का ग्रहण नही हो सकता। शेष दो पक्षो के विरोध मे उनका कहना है कि परमाणुओ का न प्रत्येकग-ग्रहण हो सकता है न उनके सघात का। स्वय परमाणु ही सिद्ध नही हो सकता।

ऊपर, नीचे तथा चार दिशाओ को मिलाकर एक परमाणु का अन्य परमाणुओं से छ पार्श्वों मे सयोग कल्पनीय है। यदि इन छ सयोगो को युगपत् माना जाय तो परमाणु के छ अश मानने होगे तथा वह अविभाज्य न रहेगा। दूसरी ओर यदि ये

६७—"न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात्परमाणुर्न सिध्यति॥
षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥
परमाणोरसंयोगे तत्सघातेऽस्ति कस्य सः।
न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति॥
दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।
छायावृती कथं वान्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते॥"

(विंशतिका, का० ११–१४)

६८—तु०—अभिधर्मकोश जि० ३, पृ० २१३—"परमाण्वतीन्द्रियत्वेऽपि समस्तानां प्रत्यक्षत्वम्।" वसुबन्धु ने विंशतिका में प्राचीन वैभाषिको के मत का सघभद्र के नवीन वैभाषिक मत से विभेद नहीं किया है। श्वान्च्वांग के विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र में परमाणुवाद का विस्तृत आलोचन है। दे०—नीचे।

छ संयोग परमाणु के समान प्रदेश में माने जायें तो परमाणु-संयोग से उत्पन्न स्थूल पदार्थ परमाणु के ही आकार का हो जायगा। यदि परमाणु में दिग्विभाग अथवा देशगत विस्तार है तो वह विभाज्य हो जाता है, यदि उसमें दिग्विभाग नहीं है तो छाया एवं आवरण (अवरोध) असम्भव होंगे। पार्श्वभेद होने पर ही छाया सम्भव है, अन्यथा समस्त परमाणु युगपत् आलोकित अथवा अन्धकारित हो जायेंगे। परमाणुओं का प्रतिघात अथवा परस्पर रोध भी तभी सम्भव है जब उनमें ऐकदेशिक स्पर्श हो। निरंश परमाणुओं में या तो सम्पर्क ही नहीं होगा, अन्यथा सर्वात्मना स्पर्श होगा जिससे एक परमाणु दूसरे में मिल कर अभिन्न हो जायगा। यदि छाया तथा रोध को परमाणु के धर्म न मान कर स्थूल पदार्थों के धर्म माना जाय तो पिण्ड को परमाणुओं से पृथक् मानना पड़ेगा। इन विकल्पों से स्पष्ट है कि परमाणु-कल्पना में अपरिहार्य व्याघात है।"

बाह्य पदार्थों को परमाणुनिर्मित मानकर वसुबन्धु ने उनको तर्क द्वारा दूषणीय सिद्ध किया है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि परमाणु-खण्डन से विज्ञान के आलम्बन रूप-आदि का खण्डन मानना युक्त नहीं है क्योंकि परमाणुओं के उल्लेख के बिना ही रूप-आदि का लक्षण किया जा सकता है। चक्षु के विषय नीलादि वर्णों को ही रूप कहते हैं और यही उसका यथार्थ लक्षण है। इसी प्रकार रस-आदि अन्य बाह्य आयतनों के लक्षण कल्पनीय हैं। इन लक्षणों के लिए परमाणु-कल्पना अनावश्यक है। बाह्य पदार्थों के निर्विशेष [illegible] परमाणु [illegible] है, उनके स्वरूप-निर्देश के लिए नहीं।

इसे चक्षु के [illegible]

नील, पीत आदि [illegible]। यदि [illegible] [illegible] होंगे। [illegible]

६९-७०—शांकरभाष्य ब्र० सू० २.२.१२ पर जहाँ शंकराचार्य ने [illegible] परमाणुवाद का खंडन किया है।

७०—"[illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] च सौ भवेत्॥"
([illegible])

लेने पर एक ही उडान मे पक्षियो को अन्तरिक्ष के उस पार हो जाना चाहिए तथा एक डग धरने से ही हम सबको वामनावतार के समान पृथ्वी लाघनी चाहिए। कोई पदार्थ अगत उपलब्ध तथा अगत अनुपलब्ध न हो सकेगा। दीवार को सामने से देखने पर उसका पृष्ठभाग भी दीख जाना चाहिए। एक खेत मे खडे गाय, बैल आदि एक ही स्थान मे होने चाहिए, क्योकि जहाँ एक अवस्थित है वही दूसरा भी। जब उनका अन्तराल शून्य है तो जहाँ एक पहुँचे वहाँ औरो को पहुँचा मानना चाहिए। यही नही केवल लक्षणभेद से ही द्रव्यभेद मानने पर समान रूप पदार्थों मे स्थूल की उपलब्धि होने पर सूक्ष्म की भी हो जानी चाहिए। इन दोषो के कारण नीलादि मे द्रव्यगत अनेकता तथा दिक्परिमाण आदि के द्वारा भेद स्वीकार करने होगे। परमाणु-स्वीकार के बिना इस प्रकार की अनेकता अथवा भेद दुरुपपाद हैं और अतएव नीलादि की सिद्धि असम्भव है तथा परमाणुवाद के खण्डन से ज्ञान के बाहर अवस्थित भूत-भौतिक पदार्थो की सत्ता भी खण्डित हो जाती है।

साधारणतया बाह्य पदार्थो की सत्ता का आधार प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है जोकि सब प्रमाणो मे अग्रणी है, और जबतक यह आधार अक्षुण्ण है, बाह्य पदार्थो का प्रतिषेध निरर्थक है।[७१] अतएव इसका खण्डन करते हुए आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—"जिस प्रकार स्वप्नादि मे प्रत्यक्ष बुद्धि (बिना आलम्बन के होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है), जब वह (प्रत्यक्ष बुद्धि) होती है तब वह अर्थ नही दीखता। उसका प्रत्यक्षत्व कैसे माना जाय? जिस प्रकार (बिना अर्थ के) उसके आभास के साथ विज्ञान की उत्पत्ति होती है,तथा तदनन्तर उसकी स्मृति की, यह कहा जा चुका है।"[७२] स्वप्न तथा भ्रान्ति मे बिना वास्तविक आलम्बन के प्रत्यक्ष बुद्धि उत्पन्न होती है, अत

७१—विज्ञानवाद के विरोध मे यही प्रधान युक्ति है, द्र०—न्या० सू० २ २ २८— "नाभाव उपलब्धे."। बाह्य जगत् प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, अत. सत्य है। किन्तु बाह्य जगत् का यह दृश्यत्व ही उसके मिथ्यात्व का हेतु माना जा सकता है। उपर्युक्त "स्वभावानुमान" में यही अभिप्रेत है। इस अनुमान का वास्तविक आधार योगानुभूति विशेष ही है।

७२—"प्रत्यक्षबुद्धि· स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्व कथं मतम्॥
उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्ति स्मरणं तत।"
(विंशतिका, का० १६, १७)

यदि स्वप्न के समान जागरित मे भी विज्ञान को असद्विषयक माना जाय तो स्वप्न के ही समान जागरित के जगत् का मिथ्यात्व भी लोक प्रसिद्ध होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। इससे यह शका की जा सकती है कि जागरित प्रतीति को स्वप्नवत् मिथ्या नहीं मानना चाहिए।[७९] किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणीय है कि स्वप्नलोक का मिथ्यात्व स्वप्न से जागने पर ही स्फुट होता है।[८०] ऐसे ही समस्त जीव लोक भी वासनानिद्रा से प्रवुद्ध होने पर ही विषयाभाव की यथावत् अवगति करता है।

पुनरपि यह शका हो सकती है कि यदि वाह्य पदार्थों के अभाव में केवल अपने चित्त प्रवाह के विशिष्ट परिणाम से ही अर्थाकार विज्ञान उत्पन्न होता है तो सत्सग अथवा असत्सग, सद्धर्मश्रवण अथवा असद्धर्मश्रवण का भी कोई सत् अथवा असत् फल नही होगा।

वाह्य विषय के अभाव मे सत्सग अथवा असत्सग का प्रश्न ही नही उठता। इसके उत्तर मे वसुबन्धु का कहना है कि चित्त के वाहर अन्य विषयो का अभाव प्रतिपाद्य है न कि अन्य चित्तों का। विज्ञानवाद एकचित्तवाद अथवा "सॉलिप्सिज्म" नही है। एक चित्तधारा पर अन्य चित्तधारा का प्रभाव विज्ञानवादी को स्वीकार्य है।[८१]

स्वप्न मे पाप-पुण्य की उत्पत्ति नही होती, जागरित मे होती है। इसका कारण स्वप्नलोक की अलीकता अथवा जागरित की वास्तविकता को न मानना चाहिए क्योंकि स्वप्न मे चित्त की अकर्मण्यता ही उसका यथार्थ कारण है।[८२]

हिसा एव हिंसाजन्य पाप के विषय मे भी एक चित्तसन्तति का दूसरी चित्तसन्तति पर प्रभाव ही कारण समझना चाहिए। पिशाचादि के द्वारा आविष्ट होने के स्थल पर चित्त का चित्त पर प्रभाव स्पष्ट दीखता है। चित्त व्यापार की परहिंसा मे समर्थता सिद्ध करना कठिन नही है। ऋषिकोप मे दण्डकारण्य का उजडना सुविदित है।[८३]

७९–तु०—ब्र० सू० २.२.२९—"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।"

८०–"स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति॥" (विंशतिका, का० १७)
तु०—शबरभाष्य, पृ० ८–१०।

८१–"अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथ।" (विंशतिका, का० १८)

८२–"मिद्धेनोपहत चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।" (वहीं)

८३–"मरण परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा।
स्मृतिलोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात॥
कथ वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपत।
मनोदण्डो महावद्य कथं वा तेन सिद्धयति॥" (वहीं, का० १९–२०)

परचित्त ज्ञान के विषय में स्मरणीय है कि स्वचित्त ज्ञान के समान वह भी ग्राह्य-ग्राहक विकल्प से दूषित है। विज्ञानमात्रता विज्ञातृ-विज्ञेय-भाव से मुक्त है। विज्ञप्ति-मात्रता का स्वरूप सर्वविदित मन के आभ्यन्तर ज्ञान अथवा स्व-बोध (इन्ट्रॉस्पेक्शन) से प्रकाशित नहीं होता। वह निर्विकल्प, तर्क का अविषय एवं केवल बुद्धगोचर है।[84]

विंशतिका में विज्ञानमात्रता के सामान्य सिद्धान्त का तदनुकूल प्रतिपादन है। त्रिंशिका में विज्ञान के प्रभेदों का तथा उनके आधार पर संसार एवं मोक्ष का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

विज्ञान का त्रिविध परिणाम [illegible]न्य है। आत्मा तथा 'धर्म' उसमें उपचरित अथवा अध्यस्त हैं।[85] परिणाम का अर्थ है कार्यकारणभाव के अनुसार निरोध और उत्पाद।[86] विज्ञान की सत्ता, कार्य-कारण-नियत तथा प्रवाहरूप है। यहाँ वेदान्त से भेद स्पष्ट है। वेदान्त में भी जगत् को ज्ञान से अनन्य बताया गया है, किन्तु ज्ञान को कूटस्थ नित्य माना गया है। अतएव शांकरमत में ज्ञानरूप सत्ता का जगत् के रूप में परिणाम न मानकर विवर्त ही माना जाता है।[87]

विज्ञान का त्रिविध परिणाम इस प्रकार है—आलय विज्ञान, मन, तथा ६ प्रकार के विषयविज्ञान।[88] ये ८ विज्ञान तथा उनसे सम्बद्ध चैतसिक धर्म ही वस्तुसत् हैं, शेष धर्म उपचार अथवा आरोपमात्र। यह स्मरणीय है कि वैभाषिक पाँच प्रकार धर्मों को वास्तविक मानते थे—रूप, चित्त, चैत्त, चित्तविप्रयुक्त तथा असंस्कृत।

८४—"परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा।
स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः॥
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः॥" (वहीं, का० २१-२२)

८५—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥" (त्रिंशिका, का० १)

८६—"कोऽयं परिणामो नाम? अन्यथात्वम्, कारणक्षणनिरोधसमकालः कारण-क्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मलाभः परिणामः।" (स्थिरमति का त्रिंशिका भाष्य, पृ० १६)।

८७—[illegible]

८८—"विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।" (त्रिंशिका, का० २ पूर्वार्ध)।

सौत्रान्तिको ने अन्तिम दो का निराकरण किया। असस्कृत, अभावमात्र है। तथा चित्तविप्रयक्त धर्म प्रज्ञप्तिमात्र। सौत्रान्तिक से योगाचार वनकर वसुवन्धु एक चरण और अग्रसर हुए तथा उन्होने **विंशतिका** मे रूप-धर्म की सत्ता का विस्तृत खण्डन किया। फलत यह युक्त ही है कि **त्रिंशिका** मे केवल चित्त-चैत्त धर्मो को ही वास्तविक वताया गया है। किन्तु **"अष्टविज्ञान"** के विवरण मे वसुवन्धु सर्वथा पूर्व ग्रन्थो के, विशेपत सूत्रो के, ऋणी है।

"आलय नाम का विज्ञान 'विपाकात्मक' तथा सब 'वीजो' का आश्रय है। 'उपादि' एव 'स्थान' उसके आलम्वन है, किन्तु उसके 'आकार' (विज्ञप्ति) के सदृश वे भी 'असविदित' है। आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार, वेदना, सज्ञा, एव चेतना से सदा सम्प्रयुक्त होता है। इस प्रसग मे उपेक्षारूप वेदना विवक्षित है। आलय-विज्ञान 'अनिवृत' तथा 'अव्याकृत' है। उससे सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि भी उसके सदृश (विपाकात्मक, असविदित-आलम्नन, अनिवृत, तथा अव्याकृत) है। आलय-विज्ञान की वृत्ति नदी के प्रवाह के समान है। इसकी व्यावृत्ति अर्हत्त्व मे होती है।[८९]

कुशल एव अकुशल कर्मो की वासना के परिपक्व होने पर उनकी फलोत्पत्ति विपाक कही जाती है।[९०] जन्म के प्रारम्भ मे आलय-विज्ञान ही पिछले जन्म के सस्कारो का सम्पिण्डित फल होता है। कर्मो के अनुसार एक विशिष्ट धातु, गति, एव योनि मे जन्म तथा अन्य फल प्राप्त होते है। ये फल विज्ञान के परिणामविशेष है तथा यह विपाकात्मक विज्ञानपरिणाम ही आलयविज्ञान है।[९१]

८९—"तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाक. सर्ववीजकम्।
असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्॥
सदा स्पर्शमनस्कारवित्सज्ञाचेतनान्वितम्।
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृत च तत्॥
तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्।
तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे ... ...॥ (त्रिंशिका, का० २—५)

९०—"तत्र कुशलाकुशलकर्मवासनापरिपाकवशाद् यथाक्षेप फलाभिनिर्वृत्तिर्विपाक।" (स्थिरमति, पृ० १८)।

९१—"सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाक.।" (वही, (पृ० १८—१९)

आलयविज्ञान में सब सांक्लेशिक धर्मों के बीज संगृहीत हैं। बीज का अर्थ विज्ञानगत सामर्थ्य विशेष है जिससे परिपाकदशा में फलविशेष उत्पन्न होता है।

आलय विज्ञान के "आलम्बन" एवं "आकार" विदित नहीं होते। ये आलम्बन द्विविध हैं—एक ओर "उपादि" या उपादान, दूसरी ओर "स्थान" या भाजन-लोक। उपादान में बीज तथा इन्द्रिययुक्त देह संगृहीत हैं। भाव यह है कि जन्म के समय एक ओर तो आलयविज्ञान शरीर को प्रतिभासित करता है दूसरी ओर उसके उपयुक्त लोक को।[१२] लोकप्रतिभास साधारण कर्म के अनुसार होता है। अतएव विभिन्न आलय-विज्ञानों से पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होने पर भी अनेक दीपों के प्रकाश के समान एक ही लोक की प्रतीति होती है।

स्पर्श-आदि पांच चैत्त धर्म सर्वत्रग हैं। इन्द्रिय, विषय एवं विज्ञान, इन तीन का कार्य-कारण-भाव से समवस्थान संनिपात कहलाता है। इससे उत्पन्न इन्द्रिय-विकार के अनुकूल विषय का वेदनीयतया व्यवस्थापन स्पर्श है।[१३] वेदना अनुभवात्मक एवं त्रिविध है—सुख, दुःख, तथा अदुःख-असुख। आलयविज्ञान से केवल तीसरा ही प्रकार सम्बद्ध है। मनस्कार के द्वारा चित्त आलम्बन की ओर अभिमुख होता है।[१४] संज्ञा के द्वारा आलम्बन के वैशिष्ट्य का निरूपण होता है—"यह नील है,

१२—"...आलयविज्ञानं द्विधा प्रवर्तते।
अध्यात्मम् उपादानविज्ञप्तितो बहिर्धा परिच्छिन्नाकारभाजनविज्ञप्तितश्च।
तत्राध्यात्ममुपादानं परिकल्पितस्वभावाभिनिवेशवासना साधिष्ठानमिन्द्रिय-
रूपं नाम च।...उपादानमुपादिः। स पुनरात्मादिविकल्पवासना रूपादि-
धर्मविकल्पवासना च।...आश्रयोपादानं चोपादिः। आश्रय आत्मभावः
साधिष्ठानम् इन्द्रियरूपं नाम च।...तत्र कामरूपधात्वोः सर्वमेतदु-
पादानं। आरूप्यधातौ तु—नामोपादानमेव। किंतु [illegible]
[illegible] न [illegible]। [illegible] प्रतिसंवेदनाकारेण [illegible]
[illegible] इत्युच्यते। स्थानविज्ञप्तिर्भाजनलोकसंनिवेशविज्ञप्तिः। [illegible]
[illegible] इत्युच्यते।"

(त्रिंशिका, पृ० [illegible])

१३—"त्रयाणां संनिपाते इन्द्रियविकारपरिच्छेदः स्पर्शः वेदनासंनिश्रयदानकर्मकः।"

(वही, पृ० [illegible])

१४—"मनस्कारो चेतस आभोगः [illegible]।" (वही)

न कि पीला" इत्यादि।[95] चेतना मन की चेष्टा है जिसके होने पर विषय की ओर चित्त का खिचाव ऐसे ही होता है जैसे चुम्बक की ओर लोहे का।[96]

मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशो से अनावृत होने के कारण आलय-विज्ञान अनिवृत कहलाता है। स्वय विपाक होने के कारण विपाक के प्रति आलय न कुशल है, न अकुशल, अर्थात् अव्याकृत है।[97]

आलयविज्ञान की क्षणिकता, किन्तु अनुवृत्ति नदी की धारा के समान है। उसकी प्रवृत्ति एक अविच्छिन्न कार्यकारण-परम्परा है।[98] यह परम्परा अर्हत्व प्राप्ति तक विद्यमान रहती है।

"(विज्ञान का) दूसरा परिणाम मन है। आलयविज्ञान को आश्रय तथा आलम्बन बना कर मन की प्रवृत्ति होती है। मन मननात्मक विज्ञान है। वह सदैव आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान, तथा आत्मस्नेह नाम के चार निवृत, किन्तु अव्याकृत क्लेशो से युक्त होता है। जिस धातु अथवा भूमि मे मन की उत्पत्ति होती है तन्मय स्पर्श आदि चैत्तो से वह युक्त होता है। अर्हत्व, निरोध समापत्ति तथा लोकोत्तरमार्ग मे मन का अभाव होता है।[99]

९५—"संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम्।" (वहीं)

९६—"चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा यस्यां सत्यामालम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति अयस्कान्तवशादय प्रस्यन्दवत्।" (वही, पृ० २१)

९७—"मनोभूमिकैरागन्तुकैरूपक्लेशैरनावृतत्वादनिवृतं। विपाकत्वाद् विपाकं प्रति कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणादव्याकृतम्।" (वही, पृ० २१)

९८—"तत्र स्रोतो हेतुफलयोर्नैरन्तर्येण प्रवृत्तिः। उदकसमूहस्य पूर्वापरभागाविच्छेदेन प्रवाह ओघ इत्युच्यते।" (स्थिरमति, पृ० २२), तु० "आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।—(स्थिरमति के द्वारा उद्धृत गाथा, पृ० ३५)

९९—"···तदाश्रित्य प्रवर्तते।

तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्॥

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः॥

यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्चार्हतो न तत्।

न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च॥

द्वितीयः परिणामोऽयं ···।" (त्रिंशिका, का० ५–८)

स्मृति, समाधि, एव प्रज्ञा। कुशल धर्म ग्यारह हैं—श्रद्धा, ह्री, अवपत्रप्य, अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा, तथा अहिंसा। क्लेश छ हैं—राग, प्रतिघ, मोह, मान, मिथ्या दृष्टि, तथा विचिकित्सा। उपक्लेश बीस हैं—क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाह, ईर्ष्या, मात्सर्य, शाठ्य, माया, विहिंसा, मद, अह्री, अत्रपा, औद्धत्य, स्त्यान, अश्रद्धा, कौसीद्य, प्रमाद, मुषित-स्मृतिता, विक्षेप, असम्प्रजन्य। अनियत चार हैं—कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एव विचार।[103] ये चार धर्म द्विविध हैं—क्लिष्ट एव अक्लिष्ट।

आसञ्ज्ञिक का अर्थ असञ्ज्ञिसत्त्वो मे उपपत्ति होने पर चित्त-चैतसिक धर्मो का निरोध है। दो समापत्तियाँ असञ्ज्ञिसमापत्ति तथा निरोध समापत्ति है। मिद्ध एव मूर्छा मे भी बुद्धि-व्यापार उपरत होने के कारण वे 'अचित्तक' कहे गये है। इन पाँच अवस्थाओ मे मनोविज्ञान की प्रवृत्ति नही होती।

ये आठ विज्ञान तथा उनसे सम्प्रयुक्त एक्यावन चैत्त धर्म ही विज्ञानपरिणाम तथा वास्तविक धर्म है। आठ विज्ञान वस्तुत अभिन्न हैं। उनका भेद केवल लक्षणार्थ कल्पित है[104]।

'विज्ञान का यह त्रिविध-परिणाम विकल्प है जिसके द्वारा विकल्पित अर्थ-जगत् असत् है। अतएव यह समस्त त्रैधातुक विज्ञप्तिमात्र है[105]।"

आलयविज्ञान ही सब धर्मो का बीज है। एक जन्म मे पूर्वविपाक के क्षीण होने पर कर्मवासना तथा ग्राहद्वय-वासना के साथ दूसरे विपाक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जन्म से जन्मान्तर तक आलयविज्ञान का प्रवाह अविच्छिन्न रहता है[106]। आलयविज्ञान

१०३–त्रिंशिका, का० १०–१४, स्थिरमति, त्रिंशिकाभाष्य, पृ० २५–३३।

१०४–तु०—लङ्कावतार, पृ० ३१४—"चित्तंमनश्च विज्ञानं लक्षणार्थं प्रकल्प्यते।
अभिन्नलक्षणान्यष्टौ न च लक्ष्यं न लक्षणम्॥"

१०५–विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥" (त्रिंशिका, का० १७)

१०६–"सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते॥
कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तत्।" (त्रिंशिका, का० १८–१९)
तु०—"अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा॥"
(अभिधर्मसूत्र, स्थिरमति के द्वारा उद्धृत, पृ० ३७)

निष्पन्न ही तथता है क्योंकि उसका अन्यथाभाव नही होता। परिनिष्पन्न ही विज्ञप्ति मात्रता है[111]।

जबतक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता मे अवस्थित नही होता, अपितु ग्राह्यग्राहक वासना से लिप्त रहता है तबतक उसकी निवृत्ति नही होती। 'यह विज्ञप्तिमात्र है', इस प्रकार की उपलब्धि को समक्ष स्थापित करने से भी विज्ञप्तिमात्रता मे अवस्थिति नही होती। अर्थात् विज्ञातृत्व मे अभिनिवेश भी विज्ञप्तिमात्रता मे बाधक है। ग्राह्यत्याग के अनन्तर ग्राहक-त्याग भी अभीष्ट है। विषयविषयिभाव के प्रहीण होने पर निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है तथा चित्त विज्ञप्तिमात्रता मे अवस्थित होता है[112]। (यह स्थिति) अ-चित्त एव अनुपलम्भ है। वही लोकोत्तर ज्ञान है। वही द्विविध दोषक्षय के कारण आश्रय की परावृत्ति है। वही कुशल, शाश्वत एव अचिन्त्य अनास्रव धातु है। वही सुखात्मक विमुक्तिकाय तथा महामुनि की धर्मकाय है[113]। विज्ञेय अर्थो की अनुपलब्धि तथा विज्ञातृत्वभाव के त्याग के कारण विज्ञप्तिमात्रता को चित्तरहित तथा उपलब्धिरहित कहा गया है। यह स्मरणीय है कि द्वैत-निविष्ट मन अथवा चित्त का क्षय अनेक आध्यात्मिक दर्शनो मे द्वैतहीन परमार्थ के साक्षात्कार के लिए आवश्यक

१११—"धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।
सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता॥"

(वही, का० २५)

११२—"यावद्विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥
विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रतः किंचित् तन्मात्रे नावतिष्ठते॥
यदालम्बनं विज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥"

(वही, का० २६–२८)

११३—"अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः॥
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥"

(वही, का० २९–३०)

माना गया है[११४]। द्वैतविलय तथा चित्तक्षय की इस अवस्था मे विषय-विषयिभानपूर्वक ज्ञान का अभाव होने के कारण इसे अनुपलम्भ कहा गया है, किन्तु यह ज्ञान का सर्वथा अभाव नही है। वस्तुत यही लोकोत्तर ज्ञान है।

आश्रय का अर्थ आलयविज्ञान है। द्विविध दोष क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण हैं। इनका मूल आलयगत अकर्मण्यता है। उसकी निवृत्ति होने पर अद्वयज्ञान का आविर्भाव होता है। आलयविज्ञान मे रचित ससार के मूलभूत दोषो की निवृत्ति तथा पारमार्थिक ज्ञान का उदय, यही 'आश्रयपरावृत्ति' है[११५]।

दोषो के द्वैविध्य के कारण यह आश्रयपरावृत्ति भी द्विविध है—सोत्तरा तथा निरुत्तरा। श्रावको के क्लेशावरणक्षय से पहली प्राप्त होती है। यही सुखात्मक विमुक्तिकाय है। बोधिसत्त्वो के ज्ञेयावरणक्षय से बुद्ध की धर्मकाय प्रकाशित होती है[११६]। यही अनास्रव धातु है। यह तर्क की अगोचर तथा प्रत्यात्मवेदनीय है। नित्य होने के कारण ही इसे सुखात्मक कहा गया है, क्योकि अनित्य वस्तु दु खात्मक होती है।

वसुबन्धु ने विज्ञानवाद को एक परिष्कृत शास्त्रीय रूप प्रदान किया तथा उसके विरुद्ध आक्षेपो का तार्किक परिहार किया। वसुबन्धु अपने समय के प्रसिद्धतम बौद्ध आचार्य थे। उनके दर्शन मे न्यायानुसारिता स्पष्ट है यद्यपि उन्होने आगमानुसरण का सर्वथा "परित्याग" नही किया है। उनके चार विख्यात शिष्य थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ, तथा दिङनाग। स्थिरमति ने वसुबन्धु की त्रिंशिका पर भाष्य तथा उनके मध्यान्तविभंगसूत्र-भाष्य पर टीका लिखी। ये सस्कृत मे उपलब्ध है।

११४–तु०—बृ० उप० "न प्रेत्यसंज्ञास्तीति" इत्यादि जहाँ द्वैतज्ञान का विलोप सूचित है। "विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्" का आशय भी यही है—विज्ञेय के अभाव में विज्ञातृत्व किस प्रकार शेष रहेगा? योग का लक्षण ही "चित्त-वृत्ति-निरोध" किया गया है। सांख्य में भी ज्ञातृत्व बुद्धिसापेक्ष है, पुरुष चिन्मात्र है। नैयायिकों की मुक्ति में भी मानसिक ज्ञान क्षीण हो जाता है। वेदान्त में भी वृत्तिज्ञान अन्य है, ज्ञानात्मक ब्रह्म अन्य। तु० "विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा" (धम्मपद, दे० ऊपर)।

११५–द्र०—स्थिरमति, पृ० ४४।

११६–वहीं, तु०—"ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरणलक्षणम्।
सर्वबीजं क्लेशबीजं बन्धस्तत्र द्वयोर्द्वयो.॥"
(गाथा वहीं उद्धृत। "द्वयो." का अर्थ है "श्रावकबोधिसत्वयो.")

इनकी अनेक अन्य रचनाओ का उल्लेख मिलता है—अभिधर्मकोश पर करकाशनि नाम की व्याख्या, अभिधर्मसमुच्चय तथा वसुबन्धु के ८ ग्रन्थो पर व्याख्याएँ, काश्यपपरिवर्त पर व्याख्या। अभिधर्म मे स्थिरमति को वसुबन्धु से भी अधिक पण्डित कहा गया है। स्थिरमति की शिष्यपरम्परा मे, पूर्णवर्धन, जिनमित्र, तथा शीलेन्द्रवोधि के नाम उल्लिखित है।

विमुक्तसेन प्रज्ञापारमिता मे पारगत थे। वे पहले कौरुकुल्लक सम्प्रदाय के थे तथा आचार्य बुद्धदास के भतीजे थे। उनकी अभिसमयालकार पर व्याख्या प्रसिद्ध हे। गुणप्रभ विनय के विद्वान् थे। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उन्हे मूल सर्वास्तिवाद के विनय का प्रामाणिक ज्ञान था।

दिङ्नाग—दिङ्नाग ने दक्षिण में काची के निकट सिहवक्त्र के ब्राह्मण परिवार मे जन्म लिया था। प्रारम्भ में वे एक वात्सीपुत्रीय आचार्य नागदत के शिष्य थे। किन्तु पीछे वे वसुवन्धु के शिष्य वने तथा उन्होने तीनो यानो का अध्ययन किया। वे विज्ञानवाद तथा तर्कशास्त्र मे विशेप रूप से निष्णात थे। उन्होने अभिधर्मकोश-मर्म-प्रदीप, अष्टसाहस्रिकापिण्डार्थ, गुणापर्यन्तस्तोत्रव्याख्या, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकाल-परीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन, न्यायमुख, आदि १० ग्रन्थो की रचना की। अपने अनेक निवन्धो को सगृहीत कर उन्होने प्रमाणसमुच्चय नाम के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की तथा उसपर स्वय वृत्ति लिखी। पीछे जिनेन्द्रवुद्धि ने इस पर विशालामलवती नाम की व्याख्या लिखी। दुर्भाग्यवश दिङ्नाग का कोईग्रन्थ सस्कृत मे शेप नही है। 'न्याय-प्रवेश' नाम का सस्कृत मे उपलब्ध ग्रन्थ दिङ्नाग की कृति हे अथवा उनके शिष्य शकर-स्वामी की, यह निश्चित नही हो पाया हे। तिव्वती परम्परा दिङ्नाग को 'न्यायप्रवेश' का लेखक वताती ह, चीनी परम्परा शकर स्वामी को।

दिङ्नाग को मध्यकालीन तर्कशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया हे। उन्होने तर्कविद्या को न केवल आगम से मुक्त किया अपितु पारमार्थिक तत्त्वचिन्तन से भी उसे पृथक् करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि से तर्कशास्त्र के नियम व्यवहारोपयोगी है तथा विभिन्न शास्त्रीय सम्प्रदायो के लिए समान है। यही से विशुद्ध न्यायशास्त्र का उदय मानना चाहिए। और यही कारण है कि दिङ्नाग के अपने पारमार्थिक सिद्धान्तो के विषय मे नाना मत प्रस्तुत किये गये है। दिङ्नाग को न केवल योगाचार, या सौत्रान्तिक, या सौत्रान्तिक-योगाचार, अपितु वैभापिक, अथवा माध्यमिक तक कहा गया हे। वस्तुत उनकी 'आलम्बनपरीक्षा' से उन्हे विज्ञानवादी मानना चाहिए, यद्यपि 'प्रमाणसमुच्चय' मे सौत्रान्तिक छाया देखी जा सकती है।

दिङ्नाग ने **न्यायभाष्यकार** वात्स्यायन तथा सम्भवत प्रशस्तपाद का खण्डन किया है। दूसरी ओर उनका खण्डन **न्यायवार्तिककार** उद्योतकर ने किया है। दिङ्नाग की कृतियो के चीनी अनुवाद ई० ५५७ तथा ई० ५६९ के बीच उपलब्ध होते है। दिङ्नाग को सम्भवत पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे रखना चाहिए।

वसुबन्धु के विज्ञानवाद का उनके अनन्तर अनेक धाराओ मे विकास हुआ। नालन्दा मे दिङ्नाग, अगोत्र तथा धर्मपाल के सहारे एक परम्परा अग्रसर हुई। वलभी मे गुण-मति तथा स्थिरमति दूसरी परम्परा के आचार्य थे। नन्द, परमार्थ तथा जयसेन तीसरी धारा मे उल्लेखनीय है। सातवी शताब्दी मे श्वान्च्वाग ने अपने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि शास्त्र मे प्राय दो शताब्दियो का विज्ञानवादी दार्शनिक विकास सगृहीत किया। विशुद्ध विज्ञानवादी परम्परा का इसे चरम विन्दु मानना चाहिए। दूसरी ओर दिङ्नाग के 'सौत्रान्तिक-योगाचार' मत का तथा बौद्धन्याय का चरम विकास धर्मकीर्ति की रचनाओ मे देखा जा सकता है। इसी परम्परा मे शान्तरक्षित तथा कमलशील को मानना चाहिए।

श्वान्च्वाग की सिद्धि से वसुबन्धु के मुख्य सिद्धान्त—'विज्ञानपरिणाम'—के विकास का परिचय मिलता है। असग तक ज्ञान के दो अश या भाग माने जाते थे—ग्राह्यभाग तथा ग्राहकभाग। अर्थात् ज्ञान ही एक ओर विषयरूप से प्रकट होता है, दूसरी ओर विषयिरूप से। ज्ञान का यह ज्ञेयाश 'निमित्तभाग' कहलाता है, ज्ञातृरूप अश 'दर्शनभाग'। ज्ञेय को 'निमित्त' कहने से इसका मिथ्यात्व तथा ज्ञान के अन्तर्भूत प्रतिभासमात्र होना सूचित होता है। आचार्य नन्द और बन्धुश्री इन्ही दो भागो की सत्ता स्वीकार करते थे। 'दर्शनभाग' विज्ञान का आभ्यन्तर तत्त्व है। वही बाह्य 'निमित्त-भाग' के रूप मे परिणत होता है। अतएव 'परतन्त्र' होते हुए भी वह 'परिकल्पित-तुल्य' है। जहाँ तक 'दर्शनभाग' ग्राहकतया प्रतिभासित होता है, वह (दर्शनभाग) भी निमित्तभाग मे सग्राह्य है। इसके विपरीत स्थिरमति 'निमित्तभाग' तथा 'दर्शनभाग', दोनो को ही परिकल्पित मानते है।

दिङ्नाग ने ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का त्रिविध भेद प्रतिपादित किया। ज्ञाता अथवा ग्राहक ही दर्शनभाग है, ज्ञेय अथवा ग्राह्य ही 'निमित्तभाग' तथा ज्ञान अथवा उपलब्धि ही 'सवित्तिभाग' अथवा 'स्वाभाविकभाग' है। प्रकारान्तर से 'दर्शनभाग' ही प्रमाण है, 'निमित्तभाग' ही प्रमेय, तथा 'सवित्तिभाग' ही प्रमाणफल। निमित्तभाग विज्ञान का आलम्बन है, दर्शनभाग आकार अथवा विज्ञप्ति है, सवित्तिभाग इन दोनो का आश्रय तथा विज्ञान का स्वभाव है। सवित्ति अथवा सवेदन स्वसवित्ति या स्वसवेदन भी कहे गये है। ज्ञान न केवल अपने विषय का प्रकाश करता है, अपितु अपना भी। स्वप्रका-

शता ज्ञान का सर्वस्व है। विज्ञान के ये तीन भाग विज्ञान से पृथक् नही है। एक अभिन्न विज्ञान मे ही ये त्रिविध भेद प्रतिभासित होते है।

धर्मपाल ने इन तीन भागो के अतिरिक्त एक चतुर्थ की कल्पना की है—स्वसवित्तिसवित्तिभाग'। नीलात्मक आलम्वन 'निमित्त' है, नीलाकार उपलब्धि 'दर्शन' है, 'मै नील की उपलब्धि कर रहा हूँ", यह ज्ञान स्वसवित्ति हे, स्वसवित्ति का ज्ञान स्वसवित्ति-सवित्ति है। धर्मपाल इस चतुर्थ भाग की कल्पना मे अनवस्था नही मानते।

आलयगत वीजो के विषय मे भी श्वान्च्वाग ने विभिन्न मतो का उल्लेख किया ह। आचार्य चन्द्रपाल के अनुसार सभी बीज अनादिकालिक तथा प्रकृतिस्थ है। वासना जन्य नही। क्लिष्ट तथा अक्लिष्टवीज सभी स्वाभाविक है। इसके विपरीत नन्द और श्रीसेन के अनुसार सभी वीज भावनाजन्य है, अर्थात् बीज और वासना पर्याय है। धर्मपाल के अनुसार बीज द्विविध है—कुछ अनादि एव प्रकृतिसिद्ध, कुछ वासनात्मक। यदि सभी वीज प्रकृतिसिद्ध होते तो प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान के हेतुप्रत्यय न वन पाते। दूसरी ओर यदि प्रकृतिसिद्ध अक्लिप्ट बीज न होते तो दर्शनभाग के प्रथम क्षण मे विशुद्ध धर्म की उत्पत्ति के लिए हेतुप्रत्यय ही न होता।

दिङ्नाग के पूर्व योगाचार-सम्प्रदाय मे तीन प्रमाणो की सत्ता स्वीकृत थी। दिङ्नाग ने **प्रमाणसमुच्चय** मे सब प्रमाणो का दो मे ही अन्तर्भाव प्रतिपादित किया। उनके पश्चात् यह सिद्धान्त बौद्धो मे प्राय स्वीकृत हो गया कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही दो प्रमाण है। वसुवन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'ततोऽर्थादुत्पन्न विज्ञानम्' (='उस अर्थ से उत्पन्न विज्ञान') किया था। इस लक्षण मे बाह्य-अर्थ की सत्ता स्वीकृत होने से दिङ्नाग ने इसकी ओर अरुचि प्रकट की। उनका अपना प्रत्यक्ष-लक्षण इस प्रकार है 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्।' इसके अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्पक अथवा कल्पनारहित ज्ञान हे। कल्पना नाम, जाति आदि के सयोजन को कहते है।

हेतु के द्वारा अर्थ की उपलब्धि अनुमान है, जिसके तीन अवयव है—पक्षवाक्य, हेतुवाक्य, तथा दृष्टान्तवाक्य। न्यायशास्त्र मे परार्थानुमान के पाच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, तथा निगमन। दिङ्नाग ने अन्तिम दो अवयवो को अनावश्यक माना तथा उदाहरण अथवा दृष्टान्त को व्याप्तिवाक्य मे परिवर्तित कर दिया। दिङ्नाग ने ही अनुमान मे व्याप्ति का सर्वोपरि महत्त्व इस प्रकार स्पष्ट किया। पक्ष को दिङ्नाग ने प्रसिद्ध धर्मी कहा है। धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य है। हेतु के तीन रूप है—पक्षधर्मता, सपक्षवृत्ति, विपक्षव्यावृत्ति। दृष्टान्त मे अन्वय अथवा व्यतिरेक से हेतु और साध्य का सम्बन्ध प्रतिपादित होना है।

दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन थे, तथा उनके शिष्य धर्मकीर्ति कहे गये है। धर्मकीर्ति भी जन्मना दक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा वे ज्ञानार्जन के लिए नालन्दा आये। कहा जाता है कि उस समय वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल वहाँ जीवित थे। किन्तु धर्मकीर्ति और दिङ्नाग-वसुबन्धु के बीच मे समय का अधिक व्यवधान होना चाहिए क्योकि धर्मकीर्ति का य्वान्च्वाग ने उल्लेख नही किया जबकि इत्सिंग ने किया है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति कुमारिल से परिचित है। उन्हे सातवी शताब्दी मे रखना उचित होगा।

धर्मकीर्ति—धर्मकीर्ति ने न्याय सम्बन्धी सात ग्रन्थ लिखे है, जो कि तर्कशास्त्र के अध्ययन मे परवर्ती बौद्धो के लिए प्रमाणभूत है। इनमे **प्रमाणवार्तिक** प्रधान है, शेष छ की उसकी पादरूप मे कल्पना की जाती है। **प्रमाणवार्तिक** के चार खड है जिनमे स्वार्थानुमान, प्रामाण्य, प्रत्यक्ष एव परार्थानुमान का निरूपण है। इसमे प्राय २,००० सक्षिप्त श्लोको मे समस्त विषय का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति के अन्य ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—**प्रमाणविनिश्चय** जो कि प्रमाणवार्तिक का सक्षेप है, न्यायबिन्दु जो उसका और भी लघुकाय सक्षेप है। **हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदना-प्रकरण, सन्तानान्तरसिद्धि**। इन ग्रन्थो मे **न्यायबिन्दु** एव **प्रमाणवार्तिक** सस्कृत मे उपलब्ध एव प्रकाशित है।

धर्मकीर्ति को प्रमाणवार्तिक के प्रथम खड पर ही अपनी व्याख्या लिखने का अवकाश मिला था। शेष भागो पर उन्होने अपने शिष्य देवेन्द्रबुद्धि से व्याख्या करने के लिए कहा था, किन्तु उसके कार्य से उन्हे सन्तोष नही हुआ, यह तारानाथ से ज्ञात होता है। प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदो का क्रम विचित्र प्रतीत होता है। प्रामाण्य से प्रारम्भ करने के स्थान पर स्वार्थानुमान से प्रारम्भ किया गया है। पुनश्च प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान की चर्चा होने के स्थान पर अनुमान की चर्चा पहले की गयी है। इस क्रम-वैचित्र्य पर परवर्ती व्याख्याकारो मे मतभेद उत्पन्न हुआ। **प्रमाणवार्तिक** के व्याख्याकारो के दो मुख्य सम्प्रदाय है। एक ओर देवेन्द्र बुद्धि, शाक्यबुद्धि आदि की कृतियाँ है जिनमे प्रमाणवार्तिक के शब्दार्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है। दूसरी ओर धर्मोत्तर, आनन्दवर्धन, ज्ञानश्री आदि काश्मीरक आचार्यो ने प्रमाणवार्तिक के निगूढ दार्शनिक आशय के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। व्याख्याकारो की एक तीसरी परम्परा भी विदित है जिसमे बुद्ध की प्रमाणभूतता की व्यवस्था मे ही प्रमाणवार्तिक का मर्म माना गया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रज्ञाकर गुप्त थे।

धर्मकीर्ति दिङ्नाग के वार्तिककार थे। वार्तिक को 'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता' कहा गया है। धर्मकीर्ति ने भी उद्योतकर आदि की आलोचना के निराकरण के लिए दिङ्नाग

के सिद्धान्तो मे परिवर्तन तथा परिवर्धन किया। उदाहरण के लिए उन्होंने दिङ्नागीय प्रत्यक्ष के लक्षण मे 'अभ्रान्त' पद का सनिवेश किया—'प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्।' इस परिष्कृत लक्षण से प्रत्यक्ष का द्विचन्द्रादि दर्शन रूप भ्रान्तियो से विवेक करना सरल हो जाता है। धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान की विषय-व्यवस्था भी की—प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, अनुमान का सामान्यलक्षण। ये परिष्कार सौत्रान्तिक दृष्टि से किये गये प्रतीत होते है क्योकि योगाचार मत से सभी प्रत्यक्ष मे भ्रान्तता अनिवार्य है। यदि 'अभ्रान्त' का अर्थ 'अविसवादक' अथवा व्यवहारसमर्थ किया जाय तो अवश्य धर्मकीर्ति का लक्षण योगाचार से समजस हो सकता है। किन्तु तो भी प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण नही कहा जा सकता। कदाचित् यह कहना होगा कि यद्यपि **सन्तानान्तर-सिद्धि, प्रमाणविनिश्चय** तथा **प्रमाणवार्तिक** विज्ञानवाद की दृष्टि से लिखे गये है, **न्याय बिन्दु** सौत्रान्तिक दृष्टि से विरचित है।

विज्ञप्तिमात्रता के समर्थन मे धर्मकीर्ति ने नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। बाह्य विषयो की सत्ता सिद्ध करने के लिए उनकी प्रतीति को ठीक हेतु नही माना जा सकता क्योकि वह व्यभिचारी है। दूसरी ओर बाह्य विषयो की सत्ता नही मानी जा सकती क्योकि वह विचारसह नही है। विषय यदि ज्ञान के अतिरिक्त है तो ज्ञान और विषय का सम्बन्ध दुरुपपाद हो जायगा। विषय ज्ञान का हेतु तथा आलम्बन माना जाता है। यदि विषय ज्ञान का हेतु है तो उससे पूर्ववर्ती होगा। ऐसी स्थिति मे विषय ज्ञान का वर्तमान आलम्बन नही हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि विषय की ज्ञान के प्रति हेतुता इसी मे है कि वह ज्ञान मे अपना आकार अर्पित करता है। किन्तु विषयगत आकार विषय से निर्गत होकर ज्ञानगत किस प्रकार हो जाएगा ? यदि कहा जाय कि विषय के आकार के सदृश आकार ज्ञान मे उत्पन्न हो जाता है, तो भी यह बताना होगा कि ज्ञान के अन्तर्गत आकार की ज्ञान के बहिर्गत आकार से तुलना किस प्रकार होगी ? इन दो आकारो मे पहला सदाविदित है, दूसरा सदा अविदित। वस्तुत ज्ञान और उसके विषय का सम्बन्ध 'सहोपलम्भ नियम' से परिगृहीत है। ज्ञान के होने पर विषय की उपलब्धि होती है, ज्ञान के न होने पर विषय की उपलब्धि नही होती। ज्ञान और विषय अलग-अलग उपलब्ध न होकर सदैव साथ ही उपलब्ध होते हैं। अतएव इन दोनो को अभिन्न मानना चाहिए। यदि ज्ञानाकार विषयाकार के तुल्य है तो विषयाकार पुनरुक्तिवत् अनावश्यक है। यदि ज्ञानाकार विषयाकार से भिन्न है तो विषयाकार नित्य-अज्ञात होने से अनावश्यक है।

फलत ज्ञानमात्र सत्य है, उसी मे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद उल्लसित होता है।

यह भेद एक भ्रान्ति है जैसे एक चन्द्रमा के स्थान पर दो का दीखना। यह कहा जा सकता है कि ज्ञान और ज्ञेय को अनन्य कर देने से एक ओर ज्ञेयलोप के कारण यथार्थ तथा अयथार्थ ज्ञान का भेद लुप्त हो जायगा, दूसरी ओर ज्ञानलोप होने से जगदान्ध्य-प्रसक्त हो जायगा। यदि ज्ञान के वाहर ज्ञेय नही है तो सब ज्ञान वरावर ही सत्य अथवा मिथ्या है। यदि ज्ञेय रूप से प्रकाशमान वस्तु ज्ञान ही है तो इस 'वस्तु' की प्रसिद्धि कैसे होती है? क्या ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान का विषय होकर प्रकाश मे आता है? यदि यह माना जाय तो अनवस्था दुर्निवार है। इन शकाओ का उत्तर यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रामाणिकता का अर्थ अविसवादकता है, 'यथार्थता' नही। वाह्य विपयो के न होने पर भी व्यवहारसामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान मे भेद देखा जा सकता है। अथवा यह कहा जा सकता है कि पारमार्थिक बुद्धज्ञान के लिए विज्ञप्तिमात्रता सत्य होते हुए भी प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था द्वैतग्रस्त व्यवहार के अधीन है। दूसरी ओर, ज्ञान को स्वप्रकाश मानना अनिवाय है। अन्यथा हर प्रकार मे अनवस्था प्रसक्त होगी। माध्य-मिक आदि विरोधियो के विपक्ष मे धर्मकीर्ति ने 'स्वसवेदन' का प्रवल समर्थन किया है। यह स्मरणीय है कि धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद मे आलयविज्ञान का स्थान नगण्य है।

यह उल्लेखनीय है कि अनुमान के क्षेत्र मे धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के हेतु-त्रैरूप्य को नवीन एव परिष्कृत रूप दिया। अनुमान का आधार स्वभाव, कार्यकारणसम्वन्ध, अथवा अनुपलब्धि ही हो सकते हैं। इस विश्लेषण ने व्याप्ति को सुनिश्चित वैज्ञानिक रूप प्रदान किया।

और न तार्किक खडन से किसी धर्म का लोप माना जा सकता है। वस्तुत बौद्ध धर्म प्रधानतया भिक्षुओ का धर्म था तथा इन भिक्षुओ का जीवन विहारो मे केन्द्रित था। उपासको के लिए बौद्ध धर्म ने अपना पृथक् और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आचार एव सस्थाएँ नही गढ पायी थी। नैयायिक उदयन का कहना है कि बौद्ध भी वैदिक सस्कारो का पालन करते थे। उपासको का बौद्ध धर्म मुख्यतया विहारो और चैत्यो के लिए दान तथा तारा, लोकेश्वर आदि की प्रतिमाओ का अर्चन ही था। बौद्ध विहार प्राय राजाओ के द्वारा प्रदत्त अथवा अनुमत भूमिदान पर निर्भर करते थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रचार मे राजकीय समर्थन एव प्रोत्साहन का विशेष हाथ रहा है। दक्षिण और पश्चिम मे हिन्दू शासको की उपेक्षा अथवा वैमुख्य से तथा उत्तर मे तुर्को की विजय से बौद्ध विहार नष्ट और लुप्त हो गये। विहारो के लोप से उपासको की क्षीण बौद्धता का विलोप अनिवार्य था।

अध्याय १२

बौद्ध धर्म की परिणति और ह्रास

सद्धर्म का परिणति-काल—चौथी से सातवीं सदी तक का युग प्राचीन भारत का स्वर्ण-काल कहा जाता है। अनेक दृष्टियों से बौद्ध धर्म के लिए भी इसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण मानना होगा। जैसा ऊपर देखा जा चुका है हीनयान और महायान के दर्शन का इस युग में चरम उत्कर्ष हुआ और बौद्ध कला के इतिहास में भी गुप्त काल की प्रति-माएँ तथा अजन्ता की चित्रकारी मूर्धन्य-भूत हैं। इसी युग में सद्धर्म का पूर्वी एशिया में प्रचार कोरिया और जापान तक पहुँचा तथा चीन में सद्धर्म के मुख्य सम्प्रदायों ने निश्चित रूप प्राप्त किया। अनेक चीनी यात्रियों के विवरण इस स्वर्ण-कालीन बौद्ध प्रसार का हमारे सामने प्रत्यक्षवत् उपस्थित करते हैं। चीन में सद्धर्म के प्रवेश के अनन्तर भारत में आने वाला पहला चीनी यात्री फाश्येन था जो विनय की खोज में मध्य एशिया में होकर भारत आया तथा सामुद्रिक मार्ग से चीन लौटा। फाश्येन ने ई० ३९९ में छ्ग अन न अपनी यात्रा आरम्भ की थी और तुन ह्वग, कराशहर, खोतन, काशगर, पुरुषपुर और मथुरा के मार्ग से छह छ वर्ष में मध्य देश पहुँचा जहाँ उस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। मध्यदेश में छ वर्ष व्यतीत कर फाश्येन ताम्रलिप्ति से सिंहल और जावा होते हुए अनेक प्राकृतिक दुर्घटनाओं से कथंचित् उत्तीर्ण हो दो वर्ष में चीन पहुँचा। ई० ३९९-४१४ में सम्पन्न हुई फाश्येन की यात्रा मध्य एशिया, उत्तरी भारत और सिंहल में बौद्ध धर्म की गुप्त काल के उत्कर्ष के समय की स्थिति प्रकाशित करती है। ई० ५१८ में सुंगयुन और ह्विशग को उत्तरी वेइ वंश की सम्राज्ञी ने ग्रन्थ संकलन के लिए भारत भेजा। उन्होंने वाल्हीक और गन्धार में ये-था जाति को अधिकार में पाया। पुरुषपुर और नगरहार तक पहुँच कर सुंग-युन ई० ५२१ में चीन लौट आया। श्वान्-च्वाग की भारत यात्रा ई० ६२९-४५ में सम्पन्न हुई। श्वान्-च्वाग मध्यएशिया से होकर उत्तरी मार्ग के द्वारा भारत आया था तथा सम्राट हर्षवर्धन के समय में प्राय समस्त भारत घूम कर मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से चीन लौट गया था। श्वान-च्वाग विशेष रूप से योगाचार शास्त्र का जिज्ञासु था। उसके विवरण से भारत में

बौद्ध धर्म की ह्रासोन्मुखता सूचित होती है। इ-चिंग ६७१ मे जलमार्ग से भारत के लिए प्रस्थित हुआ तथा ताम्रलिप्ति ६७३ मे पहुँचा। कौशाम्बी तक उसने प्रमुख बौद्ध तीर्थो की यात्रा की तथा १० वर्ष नालन्दा मे व्यतीत कर जलमार्ग से ही सुमात्रा होते हुए ६९५ मे चीन वापस पहुँचा। इचिंग का मुख्य प्रयोजन विनय की खोज थी और उसके विवरण मे भी मूलसर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के वैनयिक आचार का ही मुख्यतया निरूपण है और इस प्रसग मे उसने चीनी और भारतीय बौद्ध भिक्षुओ का आचारभेद भी प्रकट किया है।

फाश्येन के विवरण से स्पष्ट है कि पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ में मध्यदेश तथा उत्तरापथ में सद्धर्म की स्थिति सन्तोषजनक थी। बौद्ध धर्म के प्राचीन केन्द्रो में केवल कपिल-वस्तु, श्रावस्ती, गया और वैशाली मे ही ह्रास देखा जा सकता था। श्रावस्ती और कपिलवस्तु मे इस ह्रास का कारण स्पष्ट ही इन नगरो का ह्रास था। श्वान्-च्वांग के विवरण से ७वी शताब्दी तक सद्धर्म का ह्रास स्पष्ट विदित होता है। उसने स्वय इस प्रकार की आशका अनेक वार प्रकट की है[1]। यह स्मरणीय है कि अनित्यतावादी बौद्ध धर्म पहले से ही स्वय अपने विनाश के प्रति सशंक था। **चुल्लवग्ग** में भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की है कि स्त्रियों की प्रव्रज्या के कारण सद्धर्म १००० वर्षों के स्थान पर ५०० वर्ष ही रहेगा। **अक्षयमतिनिर्देश** मे पंचशती उन्नति की और पंचशती अवनति की कही गयी है। **करुणापुण्डरीक** मे सद्धर्म की स्थिति के १००० वर्ष के अनन्तर और ५०० वर्ष वताये गये हैं। **चन्द्रगर्भनिर्देश** मे २००० वर्ष तथा **वज्रच्छेदिका** की एक व्याख्या में २५००० वर्षों का उल्लेख है। अन्यत्र सद्धर्म के लिए ५००० वर्षों का जीवन वताया गया है[2]।

उत्तर पश्चिम में सम्भवत हूणों के कारण सद्धर्म की पहले क्षति हुई थी। श्वान्-च्वाग ने गन्धार और उड्डियान मे वहुसख्यक सघारामो को उजडा हुआ पाया[3]। किन्तु कपिशा, कश्मीर और जालन्धर में अभी बौद्ध विहार और भिक्षु प्रचुर थे। वर्तमान उत्तर प्रदेश मे श्वान्-च्वाग ने बौद्ध धर्म की अवनति और अल्प-प्रचार निश्चित रूप से सूचित किया है। केवल कन्नौज, अयोध्या और वाराणसी मे ही सद्धर्म की स्थिति का सुधार हुआ प्रतीत होता है। कन्नौज मे यह सुधार निश्चित है और इसका कारण

१—उदा०, वाटर्स, जि० १, पृ० १२० ।

२—द्र०—बुदोन, जि० २, पृ० १०३–४ ।

३—वाटर्स, जि० १, पृ० २०२, २२६ ।

सम्राट् हर्षवर्धन की कृपा मानना चाहिए। विहार मे पाटलिपुत्र और नालन्दा बौद्ध केन्द्र थे। बगाल मे उस समय बौद्ध धर्म का अपने प्रतिद्वन्द्वियो से अधिक प्रचार न था। आसाम मे उसका प्रचार सर्वथा न था। कलिग, आन्ध्र तथा चोल प्रदेश मे बौद्ध धर्म लुप्तप्राय था[४]। उड्र, द्रविड, कोकण, महाराष्ट्र, मालव, वलभी और सिन्ध मे सद्धर्म समृद्ध था, किन्तु मुलतान मे क्षीण[५]।

श्वान्-च्वाग ने सर्वाधिक प्रचार साम्मितीयो का पाया, उनके अनन्तर क्रमश. स्थविरो का तथा फिर सर्वास्तिवादियो का। लोकोत्तरवादी केवल ब्रामियान मे थे, महीशासक, काश्यपीय और धर्मगुप्तो का श्वान्-च्वाग ने उड्डियान मे उल्लेख किया है। कुछ सौत्रान्तिक स्रुघ्न मे थे, तथा कुछ महासाघिक कश्मीर और धनकटक मे। श्वान्-च्वाग के अनुमान से उस समय भारत मे लगभग २५०० विहारो मे प्राय १६०,००० भिक्षु रहे होगे।

इ-चिग के अनुसार यद्यपि १८ निकायो की चर्चा प्राप्त होती है, वस्तुत उस समय अविच्छिन्न परम्परा के चार ही मुख्य सम्प्रदाय थे—आर्यमहासाघिकनिकाय, आर्य-स्थविरनिकाय, आर्यमूलसर्वास्तिवादनिकाय तथा आर्यसम्मितीयनिकाय[६]। इनमे से किसे महायान मे तथा किसे हीनयान मे गिना जाय, यह व्यवस्थित नही था। उत्तर भारत तथा दक्षिण-पूर्वी द्वीपो मे वे साधारणतया हीनयानी थे, चीन मे महायानी, तथा अन्यत्र हीनयानी कही महायानी। दोनो समान विनय का अनुसरण करते थे। जो वोधिसत्त्वो की पूजा तथा महायान-सूत्रो का पाठ करते थे, वे महायानी कहलाते थे। जो ऐसा नही करते थे, वे हीनयानी कहे जाते थे। तथाकथित महायान के दो ही प्रकार थे—माध्यमिक और योग। माध्यमिको के अनुसार सामान्यत जिसे सत् कहा जाता है वह वस्तुत असत् है तथा प्रत्येक पदार्थ भ्रम के समान निस्सार प्रतिभासमात्र है। योगाचार के अनुसार चित्त के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता नही है। हीनयान और महायान, दोनो ही आर्य-देशना के अनुकूल हैं तथा निर्वाण तक ले जाते हैं[७]।

४—वही, जि० २, पृ० २१४, २२४।
५—वही, जि० २, पृ० २३९, २४२, २४६।
६—तकाकुसु (अनु०) ए रेकार्ड आव् दि बुधिस्ट रिलिजन एज प्रैक्टिज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया, आर्किपेलगो बाइ इ-चिग, पृ० ७।
७—वही, पृ० १४–१५।

आर्य महासांघिक निकाय के सात प्रभेद थे तथा उसका प्रचार विशेषतया मगध एवं पूर्वी भारत मे था। कुछ महासांघिक लाट और सिन्धु में थे। सिंहल में यह निकाय तिरस्कृत था, किन्तु दक्षिण पूर्वी द्वीपो में इसका हाल में ही प्रवेश हुआ था। आर्य-स्थविर निकाय के तीन भेद थे। दक्षिण भारत और सिंहल में इसी का प्रचार था। मगध और पूर्वी भारत में भी यह निकाय उपलभ्य था। इसके कुछ अनुयायी लाट और सिन्धु मे थे। उत्तर भारत मे इसका प्रचार नही था। दक्षिण पूर्वी द्वीपो मे इसका भी हाल मे प्रवेश हुआ था। आर्यमूल-सर्वास्तिवाद-निकाय की चार शाखाएँ थी—मूलसर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक, महीशासक, काश्यपीय। उत्तर भारत में केवल इसी निकाय का प्रचार था। इसके कुछ अनुयायी लाट, सिन्ध और दक्षिण भारत में थे। पूर्वी भारत में अन्य सम्प्रदायो के साथ इसका भी प्रचार था। सिंहल में इसका अनुगमन नही था। किन्तु दक्षिणपूर्वी द्वीपो मे था। धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय भारत मे नही पाये जाते थे। किन्तु उन्हें उद्यान, कराशार और कुस्तुन में देखा जा सकता था। आर्य सम्मितीयो के चार प्रभेद थे। इनका सर्वाधिक प्रचार लाट और सिन्ध में था। उत्तर भारत और सिंहल में इनका अप्रचार था, पूर्वी भारत में औरो के साथ ये भी पाये जाते थे। इनके कुछ अनुयायी दक्षिण में भी थे[८]।

इ-चिंग के विवरण से सिद्ध होता है कि मगध और पूर्वी भारत (नालन्दा से पूर्व) मे चारो मुख्य निकाय प्रचलित थे। इसका कारण स्पष्ट है—मगध मे बौद्धो के मूल तीर्थ थे तथा यही सम्प्रदाय-भेद की जन्मभूमि थी। दक्षिण भारत और सिंहल के बौद्ध सब स्थविरवादी थे, पश्चिम के अधिकाश सम्मितीय, तथा उत्तर के सर्वास्तिवादी। सुमात्रा और जावा मे सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था, चम्पा मे सम्मितीयों का। पूर्वी चीन मे धर्मगुप्तनिकाय प्रधान था। पश्चिमी चीन मे धर्मगुप्त और अशत महासांघिक, दक्षिणी चीन मे सर्वास्तिवाद के सब प्रभेद। चीन मे सामान्यत. महायान का प्रचार था, श्रीभोज मे अशत, उत्तरी भारत और सुमात्रा, जावा आदि मे सामान्यत हीनयान का, शेष भारत मे दोनो यानो का[९]।

इन विभिन्न सम्प्रदायो मे भेद के विषय क्षुद्र और सूक्ष्म थे। उदाहरण के लिए मूलसर्वास्तिवादी अधोवस्त्र की किनारी सीधी काटते थे, अन्य निकाय अनियत आकार की। मूलसर्वास्तिवादी भिक्षुओ के निवास के लिए अलग-अलग कमरो का विधान

८-वही, भूमिका, पृ० २३–२४।
९-वही, पृ० ८–१०।

करते थे, सम्मितीय रस्सियो की सीमाओ से शय्या-विभाजन वैध मानते थे। मूल सर्वास्तिवादी भिक्षा को हाथ मे सीधा ग्रहण करते थे, महासाघिक उसके ग्रहण के लिए भूमि मे स्थान-निर्देश करते थे[10]। सर्वास्तिवादी निवसन के सिरे को दोनों पार्श्वों से कायबन्धन के ऊपर खीच कर अवलम्बित कर देते थे। महासाघिक दाहिने सिरे को बाईं ओर कस कर दबा देते थे, जैसा स्त्रियो मे प्रचलित था। स्थविर और सम्मितीय भी ऐसा करते थे, किन्तु वे निवसन के सिरे को बाहर की ओर लटकने देते थे[11]।

बौद्ध तन्त्र

तान्त्रिक धर्म और लक्षण—'तन्त्र' शब्द के अनेक अर्थ होने हुए भी उसका प्रकृत अर्थ शास्त्र के भेद-विशेष मे रूढ है। शैव, शाक्त, बौद्ध आदि विविध सम्प्रदायों मे यह तन्त्राख्य शास्त्र-भेद लक्षित होता है। तन्त्र के ये अनेक प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से परस्पर निरपेक्ष नही है तथा सर्वत्र कुछ समान लक्षण अनुगत है। ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, परोक्ष-प्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्त्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सासारिक भोगो का अतिरस्कार एव उनका आध्यात्मिक उपयोग आदि प्राय सभी तन्त्रो मे सामानिक-तया उपलब्ध होते है। सभी सम्प्रदायो मे मुक्ति अभीष्ट है तथा सभी मे अज्ञान, कर्म एव वासना मुक्ति के प्रतिबन्ध माने जाते है। इन प्रतिबन्धो के निराकरण के लिए द्वैतवादी दर्शनो मे ज्ञानपूर्वक कर्म अथवा किसी न किसी प्रकार की उपासना अनिवार्य है। अद्वैतवादी दर्शनो मे भी अधिकारभेद से उपासना आवश्यक हो जाती है। कर्म एव वासना के प्रबल होने पर तत्त्वोपदेश मात्र से अपरोक्ष ज्ञान की स्फूर्ति नही होती। ऐसी स्थिति मे उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि का ही मार्ग सुगम है।

ज्ञान वस्तु-परतन्त्र होता है, उपासना कर्तृ-परतन्त्र[12]। उपासना, भावना, ध्यान[13],

१०—वही, पृ० ६—७।

११—वही, पृ० ६६—६७।

१२—पञ्चदशी, ९.७४ "वस्तुतन्त्रो भवेद्बोध. कर्तृतन्त्रमुपासनम्।"

१३—कहीं ध्यान के दो भेद बताये गये है—भावना एव प्रणिधान। इनमें प्रणिधान का विषय वास्तविक होता है, भावना का वास्तविक अथवा कल्पित। द्र०—नीलकण्ठ, महाभारत, शान्तिपर्व, १९५.१५—"द्विविध ध्यानं भावना प्रणिधानं च। तत्राद्यं सिद्धं कल्पितं वा विषयमविकृत्य प्रवर्तते न वस्तुतत्त्वमपेक्षते। प्रणिधानं वस्तुतत्त्वविषयम्।"

सभी मूलत एकार्थक हैं तथा मानसिक क्रिया-विशेष को द्योतित करते हैं। उपासना का स्वरूप 'प्रत्ययावृत्ति' (प्रत्यय या प्रतीति का दुहराना) बताया गया है,[१४] अर्थात् उपास्यविषयक प्रतीति का आवर्तन ही उपासना है। साध्य का चिन्तन ही समस्त आध्यात्मिक साधना का रहस्य है।[१५] अद्वैत पक्ष में साध्य के अन्तत निरुपाधिक एवं अचिन्त्य होने के कारण चिंतन का उपरम ही साधना का अन्तिम रूप है[१६]। किन्तु इस निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति के लिए सोपाधिक लक्ष्य की भावना तथा सविकल्पावस्था सोपान के रूप में ग्राह्य है। अनिर्वाच्य एवं अद्वय परमार्थ का साधना अथवा संसार से सम्बन्ध उपाधि के द्वारा ही कल्पित किया जा सकता है।

उपाधि वस्तुत. शक्ति से अभिन्न है। फलत शक्ति का उपासना ही समस्त तान्त्रिक साधना का मर्म है। शक्ति का मूल व्यापार अद्वैत से द्वैत का अवभासन तथा द्वैत का पुन अद्वैत में निवर्तन है। द्वैतावभासन में सृष्टि, स्थिति एवं लय संगृहीत हैं। यह प्रवृत्ति का व्यापार अविद्यामूलक तथा कालक्रमानुगत है। यही बन्धन एवं नियति का क्षेत्र है। निवृत्ति विद्यामूलक तथा स्वरूपत. अक्रमिक है तथापि उसमें एक औपाधिक क्रमिकता देखी जा सकती है। द्वयकरण अथवा अद्वयकरण व्यापार के कारण शक्ति सदा ही द्वैतावभासिनी है यद्यपि इसका निवृत्ति अथवा परमार्थ का समर्थक रूप विगलद्द्वैत रूप है। शक्ति सम्बन्ध से अद्वय परमार्थ में भी एक प्रकार का 'अद्वैत-द्वैत' अवभासित होता है। इसी कारण उसे युगनद्ध 'अथवा 'यब्-युम्' रूप में कल्पित किया जाता है। शक्ति की मूल अभिव्यक्ति भी दो आकारों में होती है—ग्राह्य एवं ग्राहक, अथवा रूप एवं नाम[१७]। नाम को तीन अरूप स्कन्धों में, अथवा चित्तचैत्त में, अथवा चित्त और वाक् में विभक्त किया जा सकता है।[१८]। नाम-रूप

१४—तु०—पञ्चदशी, ९.१५।

१५—तु० —शंकर, गीताभाष्य गीता २.५४ पर "सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते।"

१६—वही, ६.२५ पर, "न किञ्चिदपि चिन्तयेदेव योगस्य परमो विधिः।"

१७—तु०—तुलसीदास, रामचरित मानस, "नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।"

१८—ग्राह्यग्राहक का भेद योगाचार में सुविदित है, नाम-रूप का उपनिषदों में तथा प्राचीनतम बौद्ध आगमों में, पाँच स्कन्धों का बौद्ध दर्शन में, सामान्यतः चित्त-चैत्त का अभिधर्म में, काय-वाक्-चित्त का प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा बौद्ध तन्त्रों में।

के अवलम्बन से ही 'युगनद्ध' विषयक उपासना सम्पन्न होती है। मन्त्र, यन्त्र, मण्डल, मूर्ति आदि साधनोपयोगी विशुद्ध नाम-रूप के ही भेद है।

मनुष्य के बन्धन का कारण अविद्याशक्ति की अनादि परम्परा है। उसकी मुक्ति के लिए भी विद्या की परम्परा माननी होगी। वासनामुप्त ससारी के प्रबोधन के लिए गुरु की कृपा आवश्यक है। अन्ततोगत्वा गुरुशक्ति को सोपाधिक अथवा 'पर्याय-परमार्थ' से अभिन्न मानना चाहिए। यह परमार्थसत्ता ही परम गुरु अथवा आदि गुरु है जिनमे ज्ञान एव कृपा की समरस स्थिति है। अतएव इन्हें शक्ति-सनाथ अथवा युगनद्ध रूप मे कल्पित किया जाता है। तन्त्रशास्त्र के आदिप्रवर्तक भी ये हो हैं।

मन्त्र आदि साधनो को गुरु-कृपा का ही मूर्त रूप समझना चाहिए। इस कृपा अथवा 'शक्तिपात' के व्यक्तिविशेष की ओर समुदिष्ट होने के कारण ही मन्त्र आदि गोपनीय है। गुरुशक्ति से प्रकट होने के कारण ही इन साधनो की महिमा अचिन्त्य है तथा यथेष्ट ऋद्धि-सिद्धि देने वाली है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि मन्त्र आदि तान्त्रिक साधनो मे विशुद्ध चित्त की स्वाभाविक शक्ति उन्मीलित होती है। इन साधनो को विफलता अथवा अपप्रयोग से बचाने के लिए गोपनीयता आवश्यक है। गोपनीयता के लिए तथा पारिभाषिकता के लिए तन्त्रो की अभिव्यक्ति में प्रतीक-प्राचुर्य देखा जा सकता है। उपासना के सौन्दर्य के लिए भी प्रतीको का उपयोग होता है। इनमें अद्वयीभाव के सुख को घोषित करने के लिए शृगार के प्रतीको का प्रयोग तान्त्रिक उपासना एव अभिव्यक्ति की बहुचर्चित विशेषता है। ससार को परमार्थ से अभिन्न अथवा उसकी सीमित अभिव्यक्ति मान लेने पर ससार का सर्वथा तिरस्कार अपार्थक अथवा अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

वेदो से पूर्व और वैदिक मूल—मनुष्य का प्राचीनतम धर्म न्यूनाधिक रूप मे 'तान्त्रिक' ही था। प्रागैतिहासिक काल मे तथा नाना प्राचीन सभ्यताओ मे शक्ति की उपासना विविध रूपो मे प्रचलित थी। सिन्धु-सभ्यता मे मातृ-शक्ति का और सम्भवतः कुमारी-शक्ति का पूजन विदित था। वैदिक साहित्य मे अनेकत्र तान्त्रिक धर्म के सकेत मिलते है जिन्हे परवर्ती आगम-साहित्य में अगीकृत, विस्तृत तथा रूपान्तरित किया गया। ऋक्-सहिता मे अगस्त्य और लोपामुद्रा का सवाद उदाहार्य है। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋचाएँ परवर्ती अर्थ में मन्त्र न होकर बहुधा स्तुतियाँ ही थी, तथापि उनकी मन्त्रात्मकता का सर्वथा अथवा सर्वदा निषेध नही किया जा

सकता[१९]। वैदिक ऋषि अपने काव्य को निश्चिय से वाक् और चित्त का योग मानते थे[२०]। परवर्ती आवर्तनात्मक जप वैदिक काल मे विदित होने का पर्याप्त प्रमाण नही मिलता, किन्तु गीता एव मनुस्मृति के 'समय' तक इस प्रकार का जप सुप्रचलित हो गया था[२१]। ब्राह्मणो एव आरण्यको की चितियो (='विद्याओ') एव उपनिषदो की 'विद्याओ' मे प्रतीकात्मक उपासना का प्रचुर विकास देखा जाता है।[२२] चितियो का पञ्च-पशु-वध प्रकारान्तर से परवर्ती तन्त्रो मे स्थान पाता है[२३]। वैदिक अग्नि और सोम का आगमो मे व्याख्यान्तरपूर्वक उपयोग मिलता है। पञ्चाग्नि-विद्या के 'योषा वा अग्निर्गौतम' इत्यादि का तान्त्रिक सकेत स्पष्ट है[२४]। कृष्ण देवकीपुत्र को दिये हुए और आगिरस के उपदेश मे कर्म की नवीन व्याख्या है जिसके अनुसार सभी सासारिक कर्म परमार्थोपयोगी हो जाते है[२५]। गीता मे इस दृष्टि का विस्तार पाया जाता है। बृहदारण्यक में अद्वैतानन्द की तुलना रति की 'विगलित वेद्यान्तरता' से की गयी है।[२६] श्वेताश्वतर में 'माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम्' कह कर अद्वैत के अभ्यन्तर शक्ति का

१९–वैदिक मन्त्रो में लौकिक भाषा के द्वारा लौकिक अर्थों का अभिधान किया गया है। उनमें वाक् अर्थ का अनुधावन करती है, न कि अर्थ वाक् का। प्रसिद्ध सावित्री-मन्त्र भी प्रारम्भ में वाक्-स्फूर्ति के लिए प्रार्थनामात्र प्रतीत होता है। इस प्रकार की प्रार्थनाओ का कालान्तर में मन्त्ररूप से प्रयोग अन्यत्र भी विदित है, यथा कुरान की आयतो का। परवर्ती 'ब्रह्मयाग' में वैदिक मन्त्रो पर इस प्रकार की मान्त्रिकता का आरोप सुस्पष्ट है। "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि..." आदि की रहस्यात्मक व्याख्या प्रामाणिक नहीं है। यह स्मरणीय है कि मीमांसको को मन्त्र और अर्थवाद का भेद प्रतिपादित करना पड़ा था। मीमांसकों का मन्त्रवाद भी तान्त्रिक मन्त्रवाद के सदृश नहीं है।

२०–इस प्रसंग में 'धी' शब्द का वैदिक प्रयोग विचारणीय है।

२१–मनुस्मृति, २.७४–८७।

२२–शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उपनिषदो की 'विद्याएँ' सुविदित है।

२३–यही 'पञ्चमुण्डी आसन' का मूल प्रतीत होता है।

२४–बृ० ६.२.१३ तु०—वही, ६.४.२–५ तु०—छा० ५.१३।

२५–छा० ३.१६–१७, विशेषतः ३.१७.१–५।

२६–बृ० ४.३.२१।

स्थान सुरक्षित कर दिया है[२७]। 'नाद' और 'ज्योति' के उल्लेख भी उपनिषदो मे प्राप्त होते है[२८]। नाडीविज्ञान का आरम्भ तथा पिण्ड मे ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त भी आलक्षित होता है[२९]।

प्रचलित धर्म मे निचले तन्त्र के अनेक तत्त्व विद्यमान थे। नाग, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा, पुष्कर, वृक्ष आदि की पूजा मे मन्त्र, वलि, जादू-टोना आदि विदित थे। यक्ष, नाग आदि से बचने के लिए 'रक्षा' प्राचीन बौद्ध साहित्य मे भी मिलती है[३०]। यक्ष-पूजा मे प्रतिमाओ का उपयोग भी होता था[३१]। गन्धर्व और अप्सराओ का काम-शक्ति से सम्बन्ध निश्चित था।

मूल देशना और तंत्र—प्राचीन बौद्ध धर्म मे तान्त्रिक उपासना का स्थान नही था। यह नही कहा जा सकता कि शाक्यमुनि ने सपत्नीक किसी प्रकार का साधन किया था। पीछे भी उनके उपदेश मे काय अथवा वाक् का तान्त्रिक अर्थ मे साधन निर्दिष्ट नही होता। मन्त्र, जप अथवा प्रतिमा का भी उन्होने उल्लेख नही किया और न किसी प्रकार के वहिर्याग या देवोपासना का। प्राण एव चित्त का साधन अवश्य उनके उपदेशो मे मिलता है, किन्तु प्राण-साधन का मन्त्र, मुद्रा, अथवा नाडियो से सम्बन्ध प्रकट नही होता। चित्त-साधन के लिए उपदिष्ट ध्यान भी मुख्यतया प्रणिधान रूप है। प्रारम्भिक सद्धर्म मे स्मृति और ध्यान का उपदेश वितर्क और विकल्प के क्षय के लिए है, तथा ज्ञान का प्रयोजन वासनाक्षय एव शान्ति है। उसमे कायिक अमरता अथवा सिद्धि का स्थान नही था। अतएव परवर्ती बौद्ध तान्त्रिको का यह अभिमत कि धान्यकटक मे स्वय तथागत के द्वारा एक तीसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन वज्रमान के लिए हुआ था, मान्य नही है[३२]। तथापि धान्यकटक का इस प्रसग मे उल्लेख निस्सार नही है।

२७—श्वेताश्वतर, ४.१०, वहीं, १.४–५ मानो किसी तन्त्रशास्त्र से उद्धृत हो। वहीं, २ १२ में 'सिद्ध देह' आरूपित है।

२८—श्वेताश्वतर, २.११, बृ० २.३.६।

२९—नाडियो पर, छा० ६.८.६; बृ० २.१ १९; 'पिण्ड में ब्रह्माण्ड'—छा० ८.१।

३०—उदाहरणार्थ, दीघ का आटानाटिय सुत्त। पालि में इन्हें 'परित्ता' कहते हैं; तु०—मिलिन्द, पृ० १५३।

३१—यक्षो पर दे० कुमारस्वामी, यक्षज्ञ।

३२—सेकोद्देश टीका, पृ० ३–४; तृतीयधर्मचक्रप्रवर्तन की एक अन्य परम्परा—बुदोन, जि० २, पृ० ५१–५२।

'धारणी-युग'–ई० पू० पहली से ई० चौथी सदी तक—महासांघिक सम्प्रदाय में ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रथम उन्मेष मानना चाहिए। उनके आविष्कृत लक्षणो के अनुसार तथागत की 'रूपकाय' एक प्रकार की सिद्ध देह है। 'अनास्रव रूप' की कल्पना कर उन्होने 'रूप' को परमार्थ-साधन का उपयोगी बना दिया। 'नाम' अथवा मन्त्र के विषय मे उनकी प्रगति इससे सूचित होती है कि उन्होने अपने आगमो मे एक नवीन 'धारणी-पिटक' जोड दिया[३३]। महासांघिको की ही आन्ध्रक और वैतुल्यक नाम की शाखाओ मे आभिप्रायिक मिथुन-चर्या को अध्यात्मोपयोगी घोषित किया गया[३४]। वैतुल्यक मत का कथावत्थु मे उल्लेख होने के कारण उसे ई० पू० प्रथम शती तक निष्पन्न मानना चाहिए। प्राय इसी समय बौद्ध धर्म मे प्रतिमाओ का उपयोग तथा महायान का उदय हुआ[३५]।

महायान का वज्रयान से निकट सम्बन्ध है। एक ओर महायान में अनेक 'तान्त्रिक' तत्त्व है, दूसरी ओर महायान के ही दार्शनिक सिद्धान्त वज्रयान मे सगृहीत एव रूपान्तरित है। महायान सूत्रो मे बुद्ध और बोधिसत्त्व अलौकिक और चमत्कारी गुरुओ के रूप मे प्रकाशित किये गये है। बोधिसत्त्व चर्या के प्रारम्भ मे बुद्ध और बोधिसत्त्वो' की मानस पूजा (=अनुत्तर पूजा) का विधान है। कारुणिक बोधिसत्त्व के लिए निरे संसारत्यागी भिक्षु की चर्या अपर्याप्त है। 'उपाय' के रूप मे वह विविध लौकिक जीवन में भाग-ग्रहण कर सकता है, यहाँ तक कि वह करुणा से ब्रह्मचर्य का खण्डन भी कर सकता है (दे०, ऊपर)। बोधिसत्त्व नाना ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करता है तथा अन्तत दशमभूमि मे उसे धारणीमुख की स्फूर्ति होती है। महायानसूत्रो मे धारणियो का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा धारणियो को मन्त्र विशेष ही मानना चाहिए[३६]। धारणियो

३३–दे०—ऊपर।

३४–डिवेट्स कमेन्टरी, पृ० २४३।

३५–दे०—ऊपर।

३६–प्रज्ञा-पारमिता-हृदय-सूत्र में प्रज्ञापारमिता को ही धारणी बना दिया गया है। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र तथा उष्णीष-विजय-धारणी जापान के होरियुजी विहार में ७वीं शती के प्रारम्भ से ताल-पत्रो में चिर रक्षित रहीं। अपरिमितायु-सूत्र धारणी की ही प्रशस्ति है। शिक्षासमुच्चय में रत्नोल्का-धारणी का उल्लेख है। सद्धर्मपुण्डरीक के परवर्ती भाग में धारणी ने स्थान पाया है। चीन में श्रीमित्र ने ई० ३०७–४२ में महामायूरी आदि अनेक धार-

के मन्त्रात्मक विकास मे **कारण्डव्यूह** तथा अवलोकितेश्वर की महिमा को विशेष महत्त्व-शाली कहा गया है[३७]। चैत्य, प्रतिमा, पुस्तक आदि का पूजन महायान मे सुविदित था। माध्यमिको का विशुद्ध विचारमार्ग ही महायान को सर्वथा तान्त्रिक साधन बनने से पथक् रखता है[३८]। किन्तु मैत्रेय और असग का योगाचार-दर्शन विविध क्रिया और चर्या का अगीकार करता है तथा उसका 'परावृत्ति' का सिद्धान्त तान्त्रिक साधना की भूमिका के रूप मे रखा जा सकता है।

महायान और वज्रयान—अद्वयवज्र के अनुसार तीन ही यान है, श्रावकयान, प्रत्येकयान, तथा महायान। चार स्थितियाँ हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमे श्रावक और प्रत्येकयान की व्याख्या वैभाषिक स्थिति से होती है। महायान द्विविध हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। पारमितानय की व्याख्या सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक स्थितियो से होती है, मन्त्रनय की व्याख्या योगाचार और माध्यमिकस्थिति से।[३९]। मन्त्रनय अत्यन्त गभीर है और उसमे केवल तीक्ष्णेन्द्रिय पुरुषो का ही अधिकार है। महासाघिको के 'विद्याधरपिटक' अथवा 'धारणीपिटक' मे पूर्वाविभासित माहायानिक मन्त्रनय को ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म की निश्चित अवतारणा मानना चाहिए।

णियों का अनुवाद किया। धारणियो के अनेक संग्रह प्राप्त होते हैं। नेपाल में पञ्चरक्षा विशेष प्रचलित है। ये पाँच इस प्रकार हैं—महाप्रतिसरा, महासहस्रप्रमर्दिनी, महामायूरी, महाशीतवती, महामन्त्रानुसारिणी; धारणियों का उद्‌गम द्विविध प्रतीत होता है—एक ओर प्रचलित जादू-टोना, दूसरी ओर प्रज्ञापारमिता, बुद्ध और बोधिसत्त्वो के नाम-स्मरण की महिमा।

३७—नलिनाक्ष दत्त, दि एज ऑव् इम्पीरियल कन्नौज में, पृ० २६१।

३८—साधनमाला के अनुसार आर्यनागार्जुन ने 'एक-जटा' का साधन भोट देश में उद्धृत किया था। ये नागार्जुन कदाचित् प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य से भिन्न थे।

३९—"तत्र त्रीणि यानानि श्रावकयानं प्रत्येकयानं महायानं चेति। स्थितयश्चतस्रः वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकभेदेन। तत्र वैभाषिकस्थित्या श्रावकयानं प्रत्येकयानं च व्याख्यायते। महायानं च द्विविधं पारमितानयो मन्त्रनयश्चेति। तत्रपारमितानयः सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते। मन्त्रनयस्तु योगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते।" (अद्वयवज्र, तत्त्वरत्नावली, उद्धृत भट्टाचार्य, इण्डियन बुधिस्ट आइकोनोग्रफी, १९२४, भूमिका, पृ० १२)।

बौद्धो के प्राचीनतम उपलब्ध तन्त्र मञ्जुश्रीमूलकल्प तथा गुह्यसमाज है। मञ्जुश्रीमूलकल्प को महावैपुल्य-महायान-सूत्र कहा गया है। इसका चीनी अनुवाद ई० ९८० और १००० के बीच सम्पन्न हुआ था। तिब्बती अनुवाद ११ वी शताब्दी में हुआ था। चीनी अनुवाद मे केवल २८ अध्याय है, वर्तमान मञ्जुश्रीमूलकल्प मे ५५ है। मञ्जुश्री० और गुह्यसमाज की तुलना के आधार पर मञ्जुश्री० को प्राचीनतर ठहराया गया है[४०]। पञ्च-ध्यानी-बुद्धो से मञ्जुश्री० का उतना परिचय नही है जितना गुह्यसमाज का। दीनार का उल्लेख भी मञ्जुश्रीमूलकल्प मे २७ वे अध्याय के अनन्तर है। भट्टाचार्य महोदय ने असग को गुह्यसमाज का रचयिता बताया है[४१]. इसके समर्थन मे कोई निश्चित प्रमाण नही है। दूसरी ओर असग का तन्त्र से सम्बन्ध अवश्य है। साधनमाला मे आचार्य असग को प्रज्ञापारमिता-साधन का कर्ता कहा गया है[४२]। इन असग को असगान्तर कल्पित करना युक्तिहीन है[४३]। महायानसूत्रालकार मे लिखा है 'मैथुन की परावृत्ति होने पर बुद्धो के सुख-विहार मे तथा स्त्रियो के असक्लेश-दर्शन मे परम विभुत्व प्राप्त होता है'—'मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्। बुद्धसौख्यविहारे च दारासक्लेश-दर्शने ॥' (पृ० ४१)। यहाँ परावृत्ति का अर्थ 'मनोवृत्ति का परिवर्तन करना चाहिए क्योकि इस प्रसग के प्रारम्भ मे ही उन्होने लिखा है—'अवशिष्टै श्लोकै. मनोवृत्तिभेदेन विभुत्वभेद दर्शयति ॥' (वही)। इन्द्रिय, मन, विकल्प आदि परावृत्ति के समान मैथुन की परावृत्ति मे भी उसके मलिन 'पक्ष' का त्याग या व्यावृत्ति, किन्तु विशुद्ध पक्ष की अनुवृत्ति अभिप्रेत है। पाँच इन्द्रियो की परावृत्ति होने पर पाँचो इन्द्रियो की सब विषयो मे वृत्ति हो जाती है। मन की परावृत्ति होने पर निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति होती है। विषय और उनकी उपलब्धि की परावृत्ति होने पर यथेष्ट भोगसन्दर्शन प्राप्त होता है। विकल्प की परावृत्ति होने पर ज्ञान और कर्म सदा अव्याहत रहते है। प्रतिष्ठा की परावृत्ति होने पर अप्रतिष्ठित-निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मैथुन की परावृत्ति होने पर बुद्धोचित सुख-विहार तथा स्त्रियो का अक्लिष्ट दर्शन प्राप्त होता है। आकाश-सज्ञा की व्यावृत्ति के द्वारा यथेष्ट-गमन का लाभ होता है। विविध मनोवृत्ति भेद से विविध विभुत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात. परावृत्ति एक प्रकार की सकोच-

४०—विनयतोष भट्टाचार्य, (सं०) गुह्यसमाज, भूमिका, पृ० ३५ प्र०।

४१—वहीं, पृ० ३४।

४२—साधनमाला, साधन संख्या, १५९, पृ० ३२१।

४३—तु०—विन्टरनित्स, प्र० उ०, जि० २, पृ० ३९२।

निवृत्ति एव विमलीकरण है। परावृत्ति की धारणा को, विशेषत मैथुनपरावृत्ति को तान्त्रिक दृष्टि से पृथक् नही किया जा सकता[४४]।

असग के अभिधर्मसमुच्चय मे 'अभिसन्धिविनिश्चय' का उल्लेख किया गया है।[४५] इसके अर्थ है—कथित अर्थ से भिन्न अभिप्राय, निगूढ अभिसन्धि का विपरीत प्रकार से प्रकाशन। इस वाग्विधि का उदाहरण देते हुए असग का कहना है—'सूत्र में कहा है, बोधिसत्त्व महासत्त्व पाँच धर्मों से युक्त होकर ब्रह्मचारी होता है, परम विशुद्ध ब्रह्मचर्य से युक्त होता है। कौन पाँच ? मैथुन के अतिरिक्त मैथुन से निस्सरण नही ढूंढता, मैथुनत्याग की ओर उपेक्षक होता है, उत्पन्न मैथुनराग को अधिवासित करता है, मैथुन-विरोधी धर्म से त्रस्त होता है। अभीक्ष्ण मैथुन-समापन्न होना है।' यहाँ परववर्ती तान्त्रिको एव सिद्धो की 'सन्ध्याभाषा' का स्पप्ट उल्लेख है।

वज्रयान की गुह्य-परम्परा ई० तीसरी से छठी शती तक—गुह्य समाज की प्राचीनता एव आद्यता इससे स्पष्ट है कि उसमे बोधिसत्त्वो को तथागत के द्वारा वहाँ प्रतिपादित नवीन एव अद्भुत सिद्धान्तो से सन्त्रस्त वताया गया है[४६]। तथा पारिभापिक शब्दो को समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। तारानाथ के अनुसार ३०० वर्प तक तन्त्र की परम्परा गुप्त रही, उसके अनन्तर उसका प्रकाश हुआ तथा धर्मकीर्ति के पश्चात् विशेषत पालयुग मे, उसकी प्रचुर वृद्धि हुई[४७]। गुह्यसमाज की तान्त्रिक परम्परा का उद्भव कदाचित् तीसरी शताब्दी मे हुआ तथा छठी तक उसका गुप्त प्रचार हुआ। ७वी शताव्दी से गुह्यसमाज की अत्यन्त प्रसिद्धि हुई तथा उस पर वहुसख्यक आचार्यो और सिद्धो ने व्याख्याए लिखी[४८]।

महायान मे सक्षेपत पाँच स्कन्ध ही सवृतिसत्य है तथा परमार्थसत्य को शून्यता, प्रज्ञा, अथवा वोधि कहा गया है। वुद्ध के तीन अथवा चार काय बताये गये है[४९]।

४४—असंग, सूत्रालंकार, पृ० ४१–४२, द्र०—बागची, स्टडीज इन दि तन्त्रज, पृ० ८७–९२।

४५—अभिधर्मसमुच्चय (सं० प्रधान), पृ० १०६–७।

४६—गुह्यसमाज, पृ० २१।

४७—तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० २०१।

४८—द्र०—गुह्यसमाज के व्याख्याताओ की विस्तृत सूची, भट्टाचार्य (सं०), गुह्य-समाज (भूमिका), पृ० ३०–३२।

४९—तीन काय—धर्मकाय, सम्भोग, एवं निर्माणकाय, अथवा स्वाभाविककाय मिलाकर चार।

शून्यता-करुणा-गर्भ बोधिचित्त के उत्पादन के द्वारा तथा क्रमिक अभिसम्बोधि के मार्ग से अन्त मे धर्मकाय का अभिसमय अथवा शून्यता का परम साक्षात्कार होता है। मायिक द्वैत से अद्वैत तक के इस विकास का विवरण मैत्रेयनाथ के **अभिसमयालंकार** मे स्पष्ट है। प्रकारान्तर से महायान मे बुद्ध को ही परमार्थ कहा जा सकता है। बुद्ध मे प्रज्ञा एव करुणा का सामरस्य है। ससार के उद्धारक हेतु होने के कारण करुणा ही 'उपाय' है। वज्रयान मे 'प्रज्ञोपाय' की इस युगनद्ध सत्ता को ही परम तत्त्व माना गया है। अभेद्य एव विशुद्ध होने के कारण प्रज्ञा को 'वज्र' (हीरा) कहा जाता है तथा उपाय या करुणा को 'पद्म'। मिथुन-कल्पना मे वज्र पुरुषतत्त्व है पद्म स्त्रीतत्त्व। स्वाभाविक काय, धर्मकाय, सम्भोगकाय एव निर्माणकाय के स्थान पर काय-वाक्-चित्त-वज्र की कल्पना की गयी है तथा बुद्ध भगवान् को कायवाक्-चित्त-वज्रधर अथवा काय-वाक्-चित्त-वज्राधिपति कहा गया है। केवल वज्रधर अथवा वज्रसत्त्व का भी प्रयोग मिलता है। इन्ही वज्रधर से पाँच 'ध्यानी बुद्ध' नि सृत होते हैं जो कि पाँच स्कन्धो के अधिष्ठाता हैं। ये 'ध्यानी बुद्ध' सदैव ध्यानी तथा सदैव बुद्ध रहे तथा रहते हैं। बुद्ध भगवान् को धर्म चक्र-प्रवर्तन, वरद, समाधि, भय एव अभूमिस्पर्श मुद्राओ में प्रदर्शित किया जाता था। मुद्रा द्वारा विशेषित इन्ही बुद्धो से ध्यानी बुद्धो की कल्पना उद्गत प्रतीत होती है। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि, एव अक्षोभ्य नाम के इन ध्यानी बुद्धो का सम्बन्ध क्रमश उपर्युक्त मुद्राओ से तथा रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, एव विज्ञान स्कन्धो से है[५०]। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध अपनी 'शक्ति' से सहचरित है तथा इन मिथुनो के साथ बोधिसत्त्व भी सम्बद्ध हैं। इस प्रकार पाच 'कुल' कल्पनीय हैं। इन्हीं की क्रमबद्ध स्थापना से तथागत-मण्डल निष्पन्न होता है तथा उसके विवरण से गुह्य-समाज का प्रारम्भ होता है। तन्त्रो मे 'मण्डल' अथवा 'चक्र' एक प्रकार का मानचित्र कहा जा सकता है जिसमे देवता उनकी शक्तियाँ, तथा वर्ण आदि के क्रमिक एव विशिष्ट आकार मे विन्यास के द्वारा तत्त्वसमष्टि का निरूपण होता है[५१]। मण्डल एव उसके

५०—तु०—"पञ्चबुद्धस्वभावत्वात् पञ्चस्कन्धा जिनाः स्मृताः।
धातवो लोचनाद्यास्तु बुद्धकायस्ततो मतः।"
(इन्द्रभूति, ज्ञानसिद्धि, २.१)

५१—तु०—"भगं मण्डलमाख्यातं बोधिचित्तं च मण्डलम्।
देहं मण्डलमित्युक्तं त्रिषु मण्डलकल्पना॥"
(गुह्यसमाज, पृ० १५९)

अगो की उत्पत्ति के मूल मे मन्त्र-शक्ति ही है जिसके सहारे तथागत ने 'विद्या-पुरुषो एव 'विद्यास्त्रियो' को निश्चारित किया।

गुह्यसमाज के दूसरे पटल मे वोधिचित्त का उत्पादन वर्णित है। 'उत्पादयन्तु भवन्त चित्त कायाकारेण काय चित्ताकारेण चित्त वाक्प्रव्याहारेणेति'।[५२] अर्थात् चित्त को काय के आकार मे उत्पादित करना चाहिए, काय को चित्त के आकार मे तथा चित्त को वाक् द्वारा उत्पादित करना चाहिए। इस विचित्र उक्ति का अर्थ कदाचित् काय-वाक्-चित्त के समत्वापादन से है। सब धर्मों के नैरात्म्य एव प्रकृतिप्रभास्वरता को जानने से ही निर्विकल्प निरालम्ब वोधिचित्त उत्पन्न होता है जिसका उत्पाद अनुत्पाद से अभिन्न है। सब धर्म आकाशवत् शून्य, अनुत्पन्न, विशुद्ध हैं, यही वोध वोधिचित्त है।[५३] इसे काय-वाक्-चित्त-वज्रधर कहा गया है।

वोधिचित्त के उत्पादन के अनन्तर मण्डल मे अद्वैत भावनापूर्वक शक्तिसहचरित उपासना विहित है। चण्डाल, वेणुकार आदि तथा महापातकी भी इस अनुत्तर महा-यान से सिद्धि प्राप्त करते है[५४]। किन्तु गुरुनिन्दा करने वालो की कोई गति नही है। शक्ति-सहचार मे सामाजिक विधि-निषेध हेय हैं। स्त्रीमात्र मे वुद्धजननी प्रज्ञा भाव-नीय तथा कामनीय है।[५५] 'प्रज्ञा' अथवा 'शक्ति' के साथ ही गुरु अभिषेक करता है। यही 'विद्याव्रत' है।[५६] भिक्षा, तप, नियम आदि का त्याग उचित है, तथा विविध

५२–गुह्यसमाज, पृ० ११।

५३–तु०—"अनादिनिधनं शान्त भावाभावक्षयं विभुम्।
शून्यताकरुणाभिन्नं वोधिचित्तमिति स्मृतम्॥"
(वही, पृ० १५३)

५४–वही, पृ० २०।

५५–वही, पृ० २०।

५६–तु०—"अभिषेकं त्रिधा भेदमस्मिन् तन्त्रे प्रकल्पितम्।
कलशाभिषेक प्रथमं द्वितीयं गुह्याभिषेकतः॥
प्रज्ञाज्ञानं तृतीय तु चतुर्थं तत्पुनस्तथा।
मन्त्रयोग्यां विशालाक्षीं सपुष्पा शुक्रसम्भवाम्॥
गुह्यगुह्याभिषेकं तु दद्यात् शिष्याय मन्त्रिण.।
तामेव देवतां विद्यां गृह्य शिष्यस्य वज्रिणः॥
पाणौ पाणिः प्रदातव्य. साक्षीकृत्य तथागतान्।

कामोपभोग, मासाहार, आदि विहित है। रूप, शब्द, स्पर्श आदि भोगो से बुद्ध पूजनीय है[५७]। रागचर्या ही श्रेष्ठ चर्या एव बोधिसत्त्वचर्या है[५८]। आचार्य से अभिषिक्त होकर मण्डलादिपूर्वक मन्त्रजाप एव शक्ति-पूजा के द्वारा समस्त सिद्धि प्राप्त होती है[५९]। आचार्य और बोधिचित्त वस्तुत अभिन्न है[६०]। सब धर्म काय-वाक्-चित्त मे अधिष्ठित है तथा काय-वाक्-चित्त आकाश मे। अर्थात् शून्यता ही समस्त वज्रसाधना का आदि और अन्त है।

सिद्धि के उपाय चार प्रकार के है—सेवा, उपसाधन, साधन एव महासाधन[६१]। सेवा द्विविध है, सामान्य एव उत्तम। वज्रचतुष्टय के द्वारा सामान्य सेवा तथा ज्ञानामृत के द्वारा उत्तम सेवा निष्पाद्य है। वज्रचतुष्टय इस प्रकार है—शून्यताबोधि, बीजसहृति, बिम्बनिष्पत्ति, अक्षरन्यास। उत्तम सेवा मे ज्ञानामृत षडगयोग से साध्य है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, एव समाधि षडग है। दसो इन्द्रियो का अपनी बाह्य वृत्तियो से निवर्तन 'प्रत्याहार' है। पञ्चविषयात्मक सत्ता की पञ्च-बुद्धात्मक कल्पना ध्यान है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ध्यान के पाँच भेद है। श्वास पञ्चज्ञानात्मक अथवा पञ्चभूतात्मक है। नासिकाग्र मे उसकी पिण्डरूप से कल्पना प्राणायाम है। यह पिण्डरूप श्वास ही पञ्चवर्ण महारत्न है। इन्द्रियनिरोध पूर्वक रत्न धारण करते हुए मन्त्र को हृदय मे ध्यान कर प्राणबिंब में न्यास धारणा है। धारणा से पञ्चधा निमित्त प्रकट होते है जिनके आकार क्रमश· मरीचिका, धूम, खद्योत, क्षेप तथा निरभ्र आकाश के समान होते है। इस स्थिर

हस्तं दत्वा शिरे शिष्यमुच्यते गुरुवज्रिणा।
नान्योपायेन बुद्धत्वं तस्माद्विद्यामिमां वराम्॥
अद्वयाः सर्वधर्म्मास्तु द्वयभावेन लक्षिताः।
तस्माद्वियोगः संसारे न कार्यो भवता सदा॥"

(वही, पृ० १६०–६१)

५७–वही, पृ० २७–२८।

५८–वही, ३७, (तु० प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, १, १५ जहाँ राग=करुणा)।

५९–जप के अनेक भेद—वज्रजाप, कायजाप, वाग्जाप, चित्तजाप, रत्नजाप इत्यादि, वहीं, पृ० ६०–६२।

६०–"बोधिचित्तश्चाचार्यश्चाद्वयमेतदद्वैधीकारम्।" (वही, पृ० १३७)

६१–वही, पृ० १६२–६६।

निमित्त को विस्तारित करना चाहिए तथा उसका स्मरण ही अनुस्मृति है जिसने प्रतिभास उत्पन्न होता है। बिम्बमध्य में सब भावो के पिण्डीकृत रूप में चिन्तन से सहसा ज्ञान उत्पन्न होता है जो समाधि है। प्रत्याहार की प्राप्ति में मन्त्रो का अधिष्ठान, प्राणायाम से बोधिसत्त्वो के द्वारा अधिष्ठान, तथा धारणा से वज्रसत्त्व समावेश सिद्ध होता है। अनुस्मृति से प्रभामण्डल उत्पन्न होता है, तथा समाधि से सब आवरणो का क्षय।

मन्त्रमय चित्त से आकाशगत मूर्ति की भावना उपसाधन है। छ महीनो में दर्शन होना चाहिए। यदि तीन बार ऐसा करने पर भी दर्शन न हो तो हठयोग का अभ्यास करना चाहिए। काय-वाक्-चित्त-वज्र से अद्वयीकरण साधन है। आत्मवत् मण्डल-सृष्टि महासाधन है। सेवा मे योग का आलम्बन महोष्णीषबिम्ब है, उपसाधन में अमृतकुण्डल, साधन में देवताबिम्ब, तथा महासाधन में बुद्धबिम्ब। सेवा में साध्य और साधन का सयोग होता है, उपसाधन में वज्र और पद्म का। साधन में मन्त्रचालन होता है, महासाधन शान्त आकाशभाव है।

वज्रयान और सहजयान—७वीं और ८वीं सदियां, तथा अनन्तर—तारानाथ के अनुसार आचार्य असग से धर्मकीर्ति के समय तक तन्त्र की परम्परा गुप्त रही, किन्तु इसके अनन्तर उसका प्रकाश हुआ तथा पालसम्राटो के समय में अनेकानेक मन्त्राचार्य और वज्राचार्य हुए। इस समय चन्द्रवश के एक सिद्ध राजा का आविर्भाव हुआ तथा ८४ सिद्धो मे से अधिकाश धर्मकीर्ति और राजा चणक के अन्तराल मे प्रकट हुए। पाल युग मे महायान तथा मन्त्रयान का मगध, मगल (=वग ?), ओडिविश, अपरान्त तथा कश्मीर मे विस्तार हुआ[६२]। पाल युग बौद्ध वज्राचार्यो एव सिद्धाचार्यों का युग था। इनमे नाम-बाहुल्य और नाम-साम्य के कारण काल-निर्णय अत्यन्त दुष्कर एव विवादास्पद है। तारानाथ ने आचार्य कम्बलपाद, कुकुराचार्य, सरोरुह वज्र, ललितवज्र तथा इन्द्रभूति को समकालीन बताया है[६३] सरोरुहवज्र अथवा पद्मवज्र नाम के कदाचित् एकाधिक व्यक्ति थे। 'उन्होने' **गुह्यसिद्धि** की रचना की तथा कम्बलपाद के साथ है **वज्रतन्त्र** का प्रवर्तन किया।[६४] अनगवज्र 'उनके' शिष्य थे तथा अनगवज्र के **प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि** आदि अनेक ग्रन्थ विदित है।[६५] इन्द्रभूति को अनगवज्र का शिष्य कहा

६२—तारानाथ, (अनु० शीफनर), पृ० २०१—२।
६३—वही, पृ० १८८।
६४—द्र०—स्नेलग्रोव (सं० एवं अनु०), हेवज्रतन्त्र, जि० १, पृ० १३—१४।
६५—द्र०—भट्टाचार्य (सं०)—टू वज्रयान वर्क्स, भूमिका।

गया है। ये उड्डियान के राजा थे। यह उड्डियान उडीसा मे है अथवा उत्तरापथ का उड्डियान है, यह अनिश्चित है। इन्द्रभूति तिब्बत मे आठवी शताब्दी मे लामाधर्म के प्रवर्तक पद्मसम्भव के 'पिता' कहे गये हैं। इनकी छोटी वहिन लक्ष्मीकरा भी सिद्ध थी तथा उसे सहजयान का प्रवर्तक कहा गया है। साधनमाला मे इन्द्रभूति को कुरुकुल्लासाधन का आविष्कारक वताया गया है। इन्द्रभूति के ज्ञानसिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ विदित है। ज्ञानसिद्धि से उसके पूर्ववर्ती विस्तृत तन्त्रसाहित्य का परिचय मिलता है। यह स्मरणीय है कि सम्भवत इन्द्रभूति नाम के भी एकाधिक व्यक्ति थे।

अनगवज्र का दार्शनिक मत मैत्रेयनाथ के मध्यान्तविभंग का स्मरण दिलाता है।[66] संसार मिथ्या कल्पना की प्रसूति है। न इसके अस्तित्व को मानना चाहिए, न नास्तित्व को। शून्यता ही प्रज्ञातत्त्व है। करुणा को ही राग अथवा उपाय कहा जाता है। शून्यता और करुणा का नीर-क्षीर के समान मेल प्रज्ञोपाय कहलाता है। यही धर्मतत्त्व है जिसमे न कुछ जोड़ा जा सकता है, न घटाया। न उसमे ग्राह्य है, न ग्राहक, न सत् है, न असत्। यह प्रकृति-निर्मल, द्वैताद्वैतविवर्जित, शान्त, शिव और प्रत्यात्मवेद्य है। यह प्रज्ञोपाय ही सव वुद्धो का आलय, दिव्य धर्मधातु, एवं अप्रतिष्ठित निर्वाण है। तीनो काय, तीनो यान, असख्य मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, चक्र, कुल, तथा अशेष जीव, सव वही से विनिर्गत हैं। प्रज्ञोपाय ही समस्त जगत् के लिए चिन्तामणि के समान भुक्ति और मुक्ति का पद है। वही पहुँच कर वुद्धत्व की प्राप्ति होती है। अनन्त-सुख-रूप होने से उसे 'महासुख' कहते हैं। वही समन्तभद्र है।

इस तत्त्वरत्न का शव्दो से प्रतिपादन असम्भव है, क्योकि उसमे शव्द-सकेत ही अगृहीत हैं। अतएव इस प्रत्यात्मवेद्य परमार्थ की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का सेवन आवश्यक है। गुरु की महिमा अपार है तथापि गुरु का उचित आदर-सत्कार करने वाले विरल हैं। गुरु की सन्निधि से शिष्य में प्रभास्वर वोधिचित्त वैसे ही उद्भासित हो उठता है जैसे सूर्य के सम्पर्क से सूर्यकान्तमणि।[67] नवयुवती तथा सुन्दर 'मुद्रा' को प्राप्त कर तथा उसे माल्य, गन्ध, वस्त्र आदि से सत्कृत कर गुरु के पास निवेदित करना चाहिए तथा गुरुपूजन के अनन्तर गुरु से वज्राभिषेक की प्रार्थना करनी चाहिए। इस पर मुद्रायुक्त शिष्य को वज्राचार्य अभिषिक्त कर उसे 'समय' प्रदान करेंगे, तथा सवर

६६–द्र०—प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ("टू वज्रयान वर्क्स," में सम्पादित) प्रथम परिच्छेद।

६७–वही, पृ० १०।

वतायेंगे जिसके अनुसार प्राणिवध न करना चाहिए, तथा निरन्तर सत्त्वहित का आचरण करना चाहिए। इस पर शिष्य को यथाशक्ति गुरुदक्षिणा समर्पण करनी चाहिए।[६८]

प्रज्ञोपाय की भावना मे शून्य और अशून्य की कल्पना छोडकर आकाशवत् भावना करनी चाहिए। सब कर्मो के करते हुए भी यह भावना निरन्तर प्रवृत्त रहती है। प्रज्ञा पारमिता सर्व-धर्म-समता है। विकल्प, राग आदि से मलिन चित्त ही ससार है, निर्विकल्प और प्रभास्वर चित्त ही निर्वाण है।[६९] साधक को निर्विकल्पात्मक प्रज्ञा तथा करुणा का अभ्यास करना चाहिए। वज्रचर्या मे विघ्ननाश के लिए 'पञ्चामृत' तथा 'पञ्चप्रदीप' का भक्षण करना चाहिए। चित्त को कभी क्षुब्ध न होने देना चाहिए। सब कुछ मायामय समझ कर निश्शक चित्त से यथेष्ट भोग करना चाहिए। यह समस्त त्रैधातुक वज्रनाथ ने साधको के सम्भोग एव हित के लिए बनाया है।[७०] प्रज्ञा का परमार्थ रूप शुद्ध और अद्वय है, किन्तु सावृत रूप स्त्रीविग्रह है।[७१] अत स्त्रियो मे किसी प्रकार की हेयता अथवा त्याज्यता न माननी चाहिए। आनन्द के सम्भोग से ही वज्रसत्त्व की सिद्धि होती है।

इन्द्रभूति का कहना है कि अनुत्तर वज्रयान योगतन्त्रो मे प्रोक्त है।[७२] यह स्मरणीय है कि बौद्ध तन्त्र चतुर्विध हैं—क्रियातन्त्र, चर्या०, योग०, अनुत्तरयोग०। वज्रसत्त्व सब जीवो के मन मे व्याप्त है। वज्रयानी को निर्विकल्प, निरहकार और निश्शक होना चाहिए। प्रज्ञोपाय के समायोग से पाप-पुण्य का भेद विगलित हो जाता है। भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य आदि का विवेक छोड देना चाहिए तथा सब धर्मो को प्रतीत्यसमुत्पन्न, निरात्मक एव मायोपम समझना चाहिए। हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मृषावाद आदि कर्मों से नरक प्राप्त होता है, किन्तु योगी उन्ही से मुक्त हो जाता है। सर्वव्यापी, सर्वज्ञ,

६८—वही, तृतीय परिच्छेद।

६९—वही, ४.२२—२३।

७०—"सम्भोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च॥ (वही, ५.३१)

७१—"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकाङ्क्षिभिः।
परमार्थे स्थिता शुद्धा संवृत्या तनुधारिणी॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैवव्यवस्थिता।
अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रीत्या बाह्यार्थसम्भवा॥" (वही, ५. २२—२३)

७२—द्र०—ज्ञानसिद्धि, ("टू वज्रयान वर्क्स" में सम्पादित)।

लोकेश्वर, वज्रधर ही सब मन्त्रो मे वर्णित है। गुरुकृपा से ही इस उत्तम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। गुरु ही त्रिरत्न है। आकाशवत् अलक्षण वज्रज्ञान ही समन्तभद्र, महामुद्रा, धर्मकाय एव आदर्शज्ञान है। रूप, शब्द आदि विषयो के उपयोग मे वज्रयानी को बुद्धपूजा की भावना करनी चाहिए। निर्विकल्पभाव से कामानुकूल कर्म करते हुए वज्रत्व की प्राप्ति होती है।

इन्द्रभूति ने रूपभावना का प्रबल निषेध किया है।[७३] पञ्चस्कन्ध ही पञ्च बुद्ध हैं तथा धातु ही लोचना आदि हैं। अत सभी प्राणी बुद्ध हैं तथा बुद्धत्व के लिए क्रिया निरर्थक है। बुद्धत्व का रूप अथवा काय से किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नही है। रूप के समान ही साकार एव निराकार ज्ञान की कल्पना का भी माध्यमिक रीति से तिरस्कार किया गया है।[७४] निर्विकल्प ज्ञान अथवा निश्चित्तता भी अस्वीकार्य है। बुद्धज्ञान की निर्विकल्पता इसी मे है कि वह अनाभोग (असकल्प) है, उसमे करुणा विचारपूर्वक नही है। किन्तु बुद्धज्ञान अज्ञान अथवा मूढता नही है।[७५] श्वास-प्रश्वास को भी तत्त्व नही माना जा सकता क्योकि वह भस्त्रागत वायु के तुल्य है।[७६] इन्द्रिय सयोग से उत्पन्न 'महासुख' तत्त्व नही है, क्योकि वह प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य है। वास्तविक महासुख स्वसवेद्य सर्वताथागत ज्ञान है। रागसुख को बुद्धार्पण करके जुगुप्सा के बिना चित्तसौख्य के लिए भोगना विहित है। किन्तु वह पारमार्थिक तत्त्व नही है। स्वसवेद्य भी प्रतिषिद्ध है। सभी तत्त्व मिथ्या कल्पित है।

तथागत ज्ञान के लिए बुद्ध वन्दना पाददेशना, पुण्यानुमोदन आदि के अनन्तर बुद्ध-बोधिसत्त्वो का पूजन, बोधिचित्त का उत्पादन तथा समय और सवर का पालन करना चाहिए। पुण्य और पाप मन से उत्पन्न होते है। मन से ही उनकी वृद्धि और विनाश सम्भव हैं। हिसा आदि का तन्त्रो मे उपदेश तभी मान्य है जब वह करुणा से उत्पन्न हो। लोभ आदि से प्रेरित कर्म अवश्य पापावह है।[७७] कृपाप्रेरित योगी के लिए चित्त-साधन मे गम्यागम्य विचार तिरस्कार्य है क्योकि अनादि ससार मे कोई भी सम्बन्ध नित्य अथवा अपरिवर्तनीय नही है। शुचि अशुचि का भेद भी आपेक्षिक और लौकिक कल्पना है।

७३–ज्ञानसिद्धि, दूसरा परिच्छेद।

७४–वही, तीसरा और चौथा परिच्छेद।

७५–वही, पाँचवाँ परिच्छेद।

७६–वही, छठा परिच्छेद।

७७–वही, पृ० ६२–६५।

तात्त्विक महाज्ञान नित्य स्थित है, किन्तु मोहपट से आवृत मूढो के लिए अप्रकाश है। गुरुकृपा से तथा निरन्तर उपासना से ही वह प्रकाशित हो सकता है। तन्त्र में विचित्र रीति से तत्त्वाभिधान होता है। वैरोचन, लोचना, यमान्तक आदि सब ताथागत ज्ञान के ही गुणाकारभेद से विभिन्न नाम हैं।[७८] मण्डललेखन आदि महायोगी के लिए निषिद्ध है।[७९] चन्द्रमंडल के समान चित्त प्रकृतिप्रभास्वर है तथा सूर्यरश्मियो के अपगम से क्रमश सफल होता है।[८०] मृदु, मध्य और अधिमात्र अधिकारियो के लिए साधनभेद निर्दिष्ट है।[८१]

यह विचार्य है कि इन्द्रभूति ने उत्तम अधिकारी अथवा महायोगी के लिए तन्त्र की विविध क्रियाओ को अनुपयोगी कहा है। यही नही परमार्थ को नित्य सिद्ध और सर्वथा अपरिच्छिन्न कह कर उन्होने 'साधन' को भी भ्रान्तिमूलक सूचित किया है। गुरुकृपा एव बोधि चित्त ही वास्तविक उपाय है, और वे परस्पर तथा परमार्थ से अभिन्न हैं। इस प्रकार के वज्रयान मे 'सहजयान' का उन्मेष देखा जा सकता है। 'सहजयान' मे किसी प्रकार के तप, नियम, स्नान, उपवास, प्रतिमार्चन आदि को उपयोगी नही माना जाता। काय मे सब देवताओ का निवास तथा काय को ही आद्य और अन्त्य साधन स्वीकार किया जाता है। सहजसिद्ध के लिए किसी प्रकार का विधिनिषेध भी मान्य न था। सहजयान की अभिव्यक्ति अनेक सिद्धो की वाणी मे मिलती है। परवर्ती शैव और वैष्णव मतो पर भी 'सहजयानी' प्रभाव देखा जा सकता है। सहजयान के मूल का चिन्तन करते हुए मैत्रेयनाथ की 'स्वाभाविककाय' स्मरणीय हे। सब प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म कृत्रिम होने के कारण मिथ्या है। अकृत्रिम या 'सहज' सत्य नित्यसिद्ध ही हो सकता है। इसके लिए सभी साधन अनुपयोगी हैं, किन्तु कितना ही शुद्ध ज्ञान मार्ग हो साधन का स्वीकार अनिवार्य है। 'ज़ेन' सम्प्रदाय तक मे साधन का स्थान है। इसी प्रकार सहजभाव में भी कायाश्रित साधन स्वीकृत है। इसका 'हठयोग' से निकट सम्बन्ध है। सहजयान की रहस्यात्मक एव गीतात्मक अभिव्यक्ति सिद्धो की वाणी मे प्राप्त होती है[८२]। सरहपाद, शबरपाद, लुईपाद आदि के गीतो और दोहो के द्वारा प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठो मे मीमासित अनेक निगूढ दार्शनिक सिद्धान्त साधारण जनता तक एक सुलभ रूप मे पहुँचे।

७८–वही, पृ० ७९–८१। ७९–वही, पृ० ७८।
८०–वही, पृ० ८२। ८१–वही, पृ० ९५–९९।
८२–द्र०—हरप्रसाद शास्त्री, बौद्ध गान औ दोहा, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, दोहाकोश; राहुल सांकृत्यायन, दोहाकोश।

तिब्बती ग्रन्थो से इनके विषय मे विशेष विवरण प्राप्त होता है। किन्तु यह किंवदन्ती-प्रधान है (द्र०—गूनवेदेल, दी गेशिम्ते देर फीरउन्द आस्त्सिगत्साउवरर, भूपेन्द्रनाथ दत्त, मिस्टिक टेल्स आव् लामा तारानाथ)। सरह, अथवा लुईपा को सिद्ध परम्परा का प्रवर्तक कहा गया है तथा उन्हे ७वी, ८ वी या १०वी सदी मे रखा गया है, किन्तु इस विषय मे काल अथवा क्रम का निर्णय अभी विवादास्पद ही है (द्र०—जे० बी० ओ० आर० एस०, १९२८, पृ० ३४१ पृ०, जे० ए० १९३४, पृ० २०९ प्र०, बागची, कौलज्ञाननिर्णय, भूमिका)। इन्द्रभूति के समय से पूर्व ही अनेक बौद्ध तन्त्रो की रचना हो चुकी थी। **हेवज्रतन्त्र** का ऊपर उल्लेख किया गया है। **हेरुक, चण्डमहारोषण, वज्रवाराही, क्रियासमुच्चय, वज्रावली, योगिनीजाल** आदि अनेक तन्त्रो की अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ सस्कृत मे शेष है। **साधनमाला** की प्राचीनतम पाण्डुलिपि ई० ११६७ की है। इसमे नाना साधनो का ध्यान, मन्त्रादि के साथ सग्रह उपलब्ध होता है, जिनके आविष्कर्ताओ मे असग और नागार्जुन, सरहपाद और कुक्कुरीपाद, इन्द्रभूति, अद्वयवज्र और अभयाकरगुप्त आदि के नाम उल्लिखित है।

कालचक्रयान का उदय १०वी शताब्दी से पूर्व रखना चाहिए। **कालचक्रतन्त्र** और उसकी **विमलप्रभा** टीका इसके प्रमाणभूत ग्रन्थ है। विमलप्रभा के आधार पर नडपाद या नारो-पा ने **सेकोद्दशटीका** लिखी थी। नारो-पा १० वी शती मे विक्रमशील के प्रसिद्ध छ द्वारपण्डितो मे से एक थे। मञ्जुश्री को इस तन्त्र का प्रवर्तक तथा सुचन्द्र को विमलप्रभा का रचयिता कहा गया है। इस मत मे 'कालचक्र' परम देवत का ही आख्यान है। कालचक्र मे शून्यता और करुणा सवलित है तथा प्रज्ञात्मक शक्ति से वह सहचरित है। दार्शनिको मे प्रसिद्ध अद्वयतत्त्व ही कालचक्र की धारणा मे मूर्त रूप पाता है। कालचक्र को आदिबुद्ध कहा गया है। यह स्मरणीय है कि 'आदिबुद्ध' की धारणा सद्धर्म में पहले से विदित थी और असग ने उसका उल्लेख किया है। कारण्डव्यूह में भी उसका उल्लेख है। नाम के अनुकूल कालचक्र के मण्डल का कालतत्त्व से सम्बन्ध निश्चित है। यह उल्लेख्य है कि काल का मण्डलाकार निरूपण प्रकारान्तर से अत्यन्त प्राचीन है। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय व आरण्यक का सावित्र चयन द्रष्टव्य है।

बौद्ध और ब्राह्मण-तन्त्र—बौद्ध तन्त्रो के उद्गम और विकास मे शैव-शक्ति तन्त्रो का प्रभाव निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए। **नि श्वासतत्त्वसहिता** की एक पाण्डुलिपि ८वी शती से चली आ रही है जिसमें १८ शिवशास्त्रो का नामोल्लेख है। **पारमेश्वरतन्त्र** की एक पाण्डुलिपि ९ वी शताब्दी की है, **किरणतन्त्र** की १० वी शताब्दी की, ११ वी और १२ वी सदियो से और अनेक तान्त्रिक सहिताओ की

पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं। ९ वी शती के प्रारम्भ मे सुदूर कम्वुज मे इस तान्त्रिक साहित्य का एकदेश प्रवेशित हुआ[८३]। यह स्पष्ट है कि ७वी ८वी शताब्दियो तक शैव-शाक्त-तन्त्रो का पूर्ण विकास हो चुका था। इसी समय से वौद्ध तन्त्रो का विशेष विकास प्रारम्भ होता है। अत काल की दृष्टि से शैव तान्त्रिक परम्परा वौद्ध तान्त्रिक परम्परा से प्राचीन होती है। यह भी स्मरणीय है कि तान्त्रिक धर्म के उपासनात्मक होने के कारण उसमे किसी-न-किसी प्रकार से ईश्वरवाद अन्त-र्निहित है, जो कि मूल वौद्ध धर्म के अनुकूल नही है। मूलत आगमिक परम्परा से प्रभावित होने पर भी वौद्ध तन्त्रो ने शैव-शक्ति तन्त्रो को कालान्तर मे प्रभावित किया। इस प्रसग मे तारा की उपासना उल्लेखनीय है। प्रारम्भ मे वौद्ध देवी होते हुए भी पीछे तारा को 'महाविद्याओ' मे स्वीकार किया गया।

वौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रो के समान तत्त्व विविध हैं—गुरु का महत्त्व, दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मण्डल, चक्र, मुद्रा, नाडी, शक्ति-साहचर्य आदि। वौद्ध तन्त्रो का आचार प्राय 'वामाचार' के सदृश है। 'मालतीमाधव' से वौद्धो का कापालिको से अभेद अथवा निकट सम्वन्ध सूचित होता है।

प्राचीन हीनयान की कट्टर भिक्षुचर्या से वज्रयान की वज्रचर्या सुदूर है। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन का उचित कारण होना चाहिए। इसे भिक्षु-जीवन का समृद्धि-जनित अथवा स्वाभाविक ह्रास एव पतनमात्र कहना अथवा अनार्य प्रभाव का परिणाम मानना सन्तोषजनक नही प्रतीत होता। तान्त्रिक साधना का व्यावहारिक यथार्थ आदर्शच्युत अथवा दुरुपयुक्त हो सकता था—और इसके निश्चित सकेत प्राप्त होते हैं—किन्तु तान्त्रिक साधना का आदर्श ही प्राचीन आदर्श से विदूर है। भेद निर्वाण रूप लक्ष्य मे नही है, किन्तु उसके योग्य साधन के अवधारण मे है। प्राचीन यान मे तृष्णाक्षय के लिए स्वाभाविक सुख की इच्छाओ का दमन तथा उनके दोपो का चिन्तन विहित है। महायान मे अपनी इच्छाओ से सघर्प के स्थान पर दूसरो की सेवा को महत्त्व दिया गया है, तथा वितृष्णता को करुणा ने पदच्युत कर दिया है। वज्रयान मे स्वाभाविक प्रवृत्तियो का वलवत् दमन दोपावह माना गया है। इस प्रकार के दमन से इच्छाओ की वास्तविक निवृत्ति नही होती प्रत्युत् उनमे एक आन्तरालिक भाव तथा पतन की आशका उत्पन्न हो जाती है[८४]। केवल वाह्य सयम अथवा इन्द्रियनिरोध या कर्मत्याग से

८३—द्र०—वागची, स्टडीज इन दि तन्त्र, पृ० ३ प्र०।
८४—तु०—चित्तविशुद्धिप्रकरण (सं० पटेल) १२७—२९ (पृ० ९)।

अन्तर्वर्ती राग या तृष्णा का क्षय असम्भव है[८५]। दूसरी ओर, दृष्टिभेद से सभी कर्म उपासनात्मक एव दिव्यता के सम्पादक हो उठते है। इस प्रकार की जीवनव्यापी साधना के बिना मनुष्य की अभीप्सित पूर्ण सिद्धि असम्भव है। यह न स्थूल भोग का मार्ग है, न दुष्प्राप्य छूछे त्याग का, अपितु मनुष्य के स्वभावनिहित धर्म का अनिवार्य प्रकाश।

दार्शनिक संघर्ष—प्राचीन बौद्ध निकायो अथवा आगमो से विदित होता है कि तथागत के समय मे अनेक ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिक वाद प्रचलित थे जिनका उन्होंने प्रतिषेध किया। निर्ग्रन्थ मत को छोडकर ये वाद परवर्ती काल मे लुप्त हो गये तथा इनका अपना साहित्य अवशेष नही है। दूसरी ओर परवर्ती काल मे प्रचलित साख्य, वेदान्त आदि दार्शनिक प्रस्थानो का इस प्राचीन बौद्ध साहित्य मे निश्चित उल्लेख तक प्राप्त नही होता। वस्तुत उस समय वेदान्त एक पृथक् दर्शनशास्त्र के रूप मे विद्यमान न होकर उपनिषदो की विभिन्न विद्याओ एवं असमन्वित अभिमतो के रूप मे विप्रकीर्ण था। औपनिषद वेदान्त ने एक व्यवस्थित दर्शन का रूप सर्वप्रथम बादरायण के **ब्रह्मसूत्रों** की रचना के द्वारा प्राप्त किया। किन्तु उस समय तक बौद्धो मे अनेक दार्शनिक प्रभेद उत्पन्न हो गये थे[८६] जिनका बादरायण ने उल्लेख तथा खण्डन किया है। साख्यदर्शन भी तथागत के समय मे कदाचित् एक गूढ आध्यात्मिक परम्परा के रूप मे था, परवर्ती काल के समान सुविदित दर्शनशास्त्र के रूप मे नही। योग-दर्शन के विषय मे तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। मीमासा, न्याय अथवा वैशेषिक शास्त्रो का उस समय तक जन्म नही हुआ था और न भागवत अथवा शैव सम्प्रदायो ने किसी रीतिबद्ध दर्शन का प्रतिपादन किया था। तथागत ने सामान्यत शाश्वतवाद, उच्छेदवाद एव प्रचलित आत्मवाद का निराकरण किया। इस निराकरण की रीति मे माध्यमिक तर्क की छाया आभासित होती है। परमार्थ सत्य दोनो अन्तो के परे है। किसी एक अन्त को मान लेने पर आर्य-सत्य निरर्थक हो जायेगे। कालान्तर मे बौद्ध सघ अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया तथा उन सम्प्रदायो के पारस्परिक विचार-सघर्ष से बुद्ध-देशित तत्त्वो का अनेकधा दार्शनिक परिष्कार सिद्ध हुआ। **कथावत्थु** और **अभिधर्म-महाविभाषा** प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायो के दार्शनिक विवाद को प्रदर्शित करते है। जहाँ एक ओर धार्मिक आध्यात्मिक दृष्टि से अर्हत् और बुद्ध-विषयक विवाद महायान के जन्म

८५—तु०—गीता, २.५९।

८६—पाणिनि के द्वारा उल्लिखित पाराशर्य के भिक्षुसूत्र स्पष्ट ही ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकते क्योंकि बादरायण ने जिन अन्य सम्प्रदायो और मतो का उल्लेख किया है वे ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में विकसित नहीं हुए थे।

के लिए महत्त्वपूर्ण थे, वही दूसरी ओर पुद्गल–विषयक तथा 'धर्म'–विषयक विवाद दार्शनिक-तार्किक विकास के लिए पोषक सिद्ध हुए। इस विकास के परिणाम-स्वरूप बौद्धो के प्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गल-नैरात्म्य अथवा अनात्मवाद एव क्षणभगवाद का युक्ति-युक्त प्रतिपादन हुआ। दूसरी ओर महायान के विकास से धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता का सिद्धान्त आविष्कृत तथा माध्यमिको के द्वारा तार्किक रीति से प्रतिपादित हुआ। प्राय इसी समय **न्याय-सूत्रो** मे तथा **ब्रह्मसूत्रो** मे बौद्ध दर्शन का खण्डन मिलता है। नागार्जुन तथा आर्यदेव मे भी अनेक बौद्धेतर दार्शनिक मतो का विशेषत न्याय, साख्य और वैशेषिक का तार्किक निराकरण उपलब्ध होता है। इन माध्यमिक आचार्यो की कृतियो से यह भी ज्ञात होता है कि उनके मत का इस समय अन्यत्र युक्तिपूर्वक प्रतिषेध किया जा रहा था। **विग्रहव्यावर्तनी** तथा **न्याय-सूत्रो** की प्रमाणसामान्य-परीक्षा विशेष रूप से तुलनीय है। तीसरी से पाचवी शताब्दी मे योगाचार-विज्ञानवाद का दर्शन के रूप में आविर्भाव हुआ तथा इसी युग मे बौद्ध दर्शन का मीमासा-भाष्यकार शबरस्वामी तथा न्यायभाष्यकार पक्षिलस्वामी के द्वारा खण्डन मिलता है। पाँचवी शताब्दी से सातवी शताब्दी के बीच मे दार्शनिक सघर्ष का चरम उत्कर्ष हुआ। एक ओर बौद्धो के अभ्यन्तर सौत्रान्तिको और माध्यमिको ने विज्ञानवाद का खण्डन किया, दूसरी ओर दिङ्नाग ने वात्स्यायन का तथा उद्योतकर ने वसुबन्धु और दिङ्नाग का खण्डन किया। प्राय. इसी समय में कुमारिल ने मीमासा की ओर से विज्ञानवाद और शून्यवाद का निरा-करण किया। इस खण्डन-मण्डन के प्रसग मे बौद्ध न्याय का विशिष्ट विकास हुआ तथा अपोहवाद आदि बौद्ध तार्किक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया। आठवी शताब्दी मे शान्तिरक्षित ने बौद्धेतर दर्शनो का विस्तृत खण्डन किया। दूसरी ओर जहा गौडपाद ने बौद्ध सिद्धान्तो का अद्वैत वेदान्त से समन्वय किया था, उनके प्रशिष्य शकराचार्य ने बौद्धो का तर्क-कर्कश तिरस्कार किया। नवी और दसवी शताब्दियो मे वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य तथा जयन्त भट्ट ने बौद्ध मत की तीक्ष्ण आलोचना की। बौद्धो की ओर से धर्मोत्तर, रत्नकीर्ति, रत्नाकर शान्ति, आदि आचार्यो ने बौद्धेतर मतो का प्रत्यालोचन किया। इस परवर्ती बौद्ध तार्किक साहित्य का लेशमात्र ही मूल मे उपलब्ध है। ११ वी और १२ वी शताब्दियो में भारतीय बौद्ध धर्म के पतन के साथ उसका अधिकाश साहित्य भी लुप्त हो गया तथा न्याय दर्शन ने भी बौद्धो से मुक्ति पाकर विशुद्ध तर्क-शास्त्र की ओर करवट बदली। यह कहना कि कुमारिल, शकर, वाचस्पति अथवा उदयन की युक्तियो से बौद्ध दर्शन निराकृत हो गया, वस्तुत धर्मकीर्ति, शान्त-रक्षित, कमलशील, रत्नकीर्ति आदि की अवहेलना होगी।

न्याय-सूत्रों में—न्याय-सूत्रो मे क्षणभग, सर्वपृथक्त्व, सर्वशून्यता तथा बाह्यार्थ-निराकरण का खण्डन मिलता है, जो कि बौद्ध सिद्धान्त है। क्षणभगवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। सब व्यक्ति-पदार्थ क्षणिक है क्योकि शरीर आदि मे अवयवों के उपचय और अपचय के प्रवाह के द्वारा व्यक्तियो का उत्पाद और निरोध देखा जाता है। इसके विरोध मे नैयायिक का कहना है कि यह नियम असिद्ध है। शिला, स्फटिक आदि मे इस प्रकार का उपचय और अपचय नही माना जा सकता। क्षणिक-वादी की युक्ति है कि विनाश अकारण तथा निरन्वय होता है। इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि उत्पत्ति और विनाश दोनो के कारण उपलब्ध होते है। बौद्धो के अनुसार सव धर्म पृथक्-पृथक् सत्तावान् है। प्रत्येक का लक्षण भी पृथक् है। घट-पट आदि शब्द समूहवाची है। इसके खण्डन मे नैयायिक का कहना है कि समूह की सिद्धि भी एकत्व की सिद्धि के विना नही होती। शून्यवादी का कहना है कि घट, पट आदि सब पदार्थो का अभाव है क्योकि उन पदार्थो मे इतरेतर का अभाव सिद्ध होता है। उसके खण्डन मे अक्षपाद का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव सिद्ध है। घट कहने से पट कट आदि का अभाव ही सूचित नही होता,अपितु घटत्व-विशिष्ट-घट-द्रव्य प्रतीत होता है। इसके उत्तर मे शून्यवादी का तर्क है कि पदार्थों का स्वभाव परमार्थत असिद्ध है क्योकि व्यवहार-प्रतीत स्वभाव आपेक्षिक होता है। ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ की कल्पना की जाती है दीर्घकी अपेक्षा ह्रस्व की। इनका वस्तुत. स्व-भाव नही माना जा सकता। ऐसे ही घट आदि की अपेक्षा पट की सिद्धि होती है, पट आदि की अपेक्षा घट की। इसके प्रत्युत्तर मे अक्षपाद का कहना है कि यह उक्ति स्वविरुद्ध है। वस्तुत अपेक्षा और अनपेक्षा मे द्रव्य-भेद नही होता। अपेक्षा से केवल विशेष अथवा अतिशय का ग्रहण होता है। यह अवधेय है कि शून्यवाद मे अपेक्षा के सत्तापरक और ज्ञानपरक अर्थो का विवेक नही किया जाता। पक्षिलस्वामी ने समस्त शून्यवाद को ही व्याघात से दूषित वताया है। प्रतिज्ञा-वाक्य मे उद्देश्य और विधेय के द्योतक पदो का व्याघात है। पुनश्च यदि हेतु का अभाव है तो प्रतिज्ञा असिद्ध है, और यदि प्रतिज्ञा सिद्ध है तो हेतु का अभाव नही। वाह्यार्थ के निराकरण के लिए वौद्ध युक्ति यह है कि पदार्थो की वुद्धि के द्वारा विवेचना करने पर उनके याथात्म्य की उपलब्धि नही होती, जैसे तन्तुओ के खीच लेने पर पट की सत्ता की प्रतीति नही रहती। इसके उत्तर में अक्षपाद का कहना है कि यदि पदार्थो का विवेचन सच है तो उनकी अनुपलब्धि नही कही जा सकती और यदि उनकी अनुपलब्धि है तो उनका विवेचन नही हो सकता। पुनश्च पदार्थो की सत्ता अथवा असत्ता प्रमाणो से उपलब्ध होती है। यदि प्रमाण असत्

हैं तो पदार्थों का असत्त्व असिद्ध हो जाता है।[८७] इस पर बौद्धो का उत्तर है कि प्रमाण और प्रमेय की कल्पना ऐसी ही है जैसे कि स्वप्न अथवा गन्धर्वनगर की।[८८] अक्षपाद का प्रत्युत्तर है कि जागरित की स्वप्नतुल्यता असिद्ध है। स्वय स्वप्न की कल्पना जागरित की अपेक्षा रखती है। भ्रान्ति मे सर्वत्र वास्तविक और यथार्थ उपलभ्य आश्रय स्वीकार्य है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि नैयायिक भ्रान्ति को अन्यथाख्याति मानते हैं। पुनश्च मिथ्या-ज्ञान में न केवल आश्रय का याथार्थ्य अपितु स्वय मिथ्या-ज्ञान की सत्ता भी स्वीकार करनी होगी। फलत यह मानना ठीक नही है कि सब कुछ निरुपाख्य एव निरात्मक है। यह विचारणीय है कि बाह्यार्थ-भग के इस निराकरण मे माध्यमिक और योगाचार का स्पष्ट भेद सकेतित नही है। वात्स्यायन ने अपने भाष्य मे इसे सर्वा-निरूपाख्यता अथवा सर्वनिरात्मकता का निरास बताया है।

ब्रह्मसूत्रो में—ब्रह्मसूत्रो में सर्वास्तिवाद तथा योगाचार का खण्डन किया गया है[८९]। यहाँ भी योगाचार और माध्यमिक का भेद उल्लासित नही है। आत्मा के अभाव में बौद्ध आचार्य पुरुष को समुदाय मानते हैं। बादरायण का कहना है कि इस प्रकार का सघात अनुपपन्न है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा भी अविद्या आदि की उत्पत्ति मात्र सिद्ध होती है। उनके संघात का कोई निमित्त प्रस्तुत नही होता है। यही नही, क्षण-भंग और हेतु-फल-भाव परस्पर विरुद्ध हैं, क्योकि उत्तर-क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व-क्षण निरुद्ध हो जाता है। यदि कारण के निरुद्ध होने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो कार्य की उत्पत्ति को वस्तुत अकारण मानना होगा। इस प्रकार बौद्धो के सस्कृत पदार्थ निराकृत हो जाते हैं। उनके असस्कृत धर्मों पर बादरायण का कहना है कि प्रतिसख्या-निरोध और अप्रतिसख्या-निरोध की प्राप्ति दुर्बोध है, क्योकि इन निरोधो की प्राप्ति जिस चित्त सन्तान को होगी उसका अविच्छेद कल्पनीय होगा जो निरोध के साथ असमञ्जस है। यदि प्रतिसख्यानिरोध के अन्तर्भूत निरोध को ज्ञान-जन्य माना जाय तो निर्हेतुक विनाश की प्रतिज्ञा क्षुब्ध हो जायेगी। दूसरी ओर यदि प्रतिसख्या-निरोध को स्वत प्राप्त माना जाय तो ज्ञान का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। ऐसे ही व्यावर्तक

८७—तु०—न्यायसूत्र २.१.१३-१४—सब प्रमाण प्रतिषिद्ध होने पर प्रतिषेध अनुपपन्न हो जाता है। प्रतिषेध प्रामाणिक होने पर सब प्रमाण प्रतिषिद्ध नहीं रहते।

८८—तु०—नागार्जुन, विग्रहव्यावर्तनी।

८९—ब्र० सू० २.२.१८ प्र०।

के अभाव मे आकाश को असस्कृत-धर्म स्वीकार करना भी अनुपपन्न है। क्षण-भंग तथा नैरात्म्य के स्वीकार से स्मृति असम्भव हो जाती है। वाह्य पदार्थो का बौद्धानुमत खण्डन प्रमाण-विरुद्ध है क्योकि वाह्य पदार्थ उपलब्ध होते है। जागरित को स्वप्न-तुल्य भी नही माना जा सकता है। आलय-विज्ञान की सत्ता भी अप्रामाणिक है तथा क्षणिकता के स्वीकार के विरुद्ध है।

न्यायसूत्रों और **ब्रह्मसूत्रों** के इन विवेचनो की तुलना से यह प्रकट होता है कि न्याय-सूत्रो का बौद्ध दर्शन से परिचय अपेक्षाकृत कम है। यह न्यायसूत्रो की प्राचीनता का द्योतक हो सकता है। दोनो मे ही योगाचार और माध्यमिक का भेद नही किया गया है, और दोनो में ही वाह्यार्थ भग के निरास मे प्राय. वही युक्तियाँ दी गयी हैं। बादरायण ने सर्वास्तिवादियो के तीन असंस्कृत धर्मों से अपना परिचय प्रकट किया है, और सम्भवत आलय-विज्ञान से भी।

उद्योतकर—उद्योतकर का कहना है कि आत्म-विषयक विवाद आत्मा के अस्तित्व के विषय में न होकर उसके विशिष्ट स्वरूप विषय में ही हो सकता है[१०]। बौद्धसूत्रों में मे भी रूप, वेदना, सस्कार आदि स्कन्धो में ही आत्मा का निषेध मिलता है। इसे आत्मा की सामान्य-सत्ता का निषेध न मान कर उसके विशेष-स्वरूप का ही निषेध मानना चाहिए। बौद्धो के प्रसिद्ध **भारहारसूत्र** का उद्धरण देकर उद्योतकर यह भी सिद्ध करते हैं कि बौद्धागम में भी आत्मा की सामान्य-सत्ता का अभ्युपगम प्राप्त होता है।

बौद्धो की ओर से नैरात्म्य के समर्थन मे उद्योतकर दो अनुमान प्रस्तुत करते हैं। (१) 'नास्त्यात्मा अजातत्वात् शशविषाणवत्' अर्थात् अनुत्पन्न होने के कारण आत्मा शश-विषाण के समान अविद्यमान है। (२) 'नास्त्यात्माऽनुपलब्धे.' अर्थात् आत्मा नही है, क्योकि उसकी उपलब्धि नही होती। ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरा अनुमान प्राचीन है। कथावत्थु में पुद्गलवादियो के विरोध में यही प्रधान तर्क है। इसके उत्तर में उद्योतकर का कहना है कि बौद्ध अनुमान में हेतु असिद्ध एव संदिग्ध है। आत्मा अहं-प्रतीति के विषय के रूप में प्रत्यक्ष है। अनुमान तथा आगम से भी उसकी उपलब्धि होती है। प्रथम अनुमान मे यदि अजातत्व हेतु आत्मा का जन्माभाव सूचित करता है तो असिद्ध है, क्योकि आत्मा जन्मवान् है। पक्षान्तर में यदि अजातत्व का अर्थ अकारणत्व किया जाय तो वह हेतु विरुद्ध होगा क्योकि आत्मा के असत्त्व के स्थान पर तब वह आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करेगा।

१०—न्यायवार्तिक (चौखम्भा), पृ० ३३६ प्र०।

क्षण-भग के पक्ष में अनेक युक्तियो का उल्लेख कर उद्योतकर ने उनका खण्डन किया है। बौद्धो के लिए प्रत्येक वस्तु स्वभावत विनाशी है, अत विनाश के लिए कारण अथवा विलम्ब की अपेक्षा न होने से विनाश को उत्पत्ति के समनन्तर मानना चाहिए। उद्योतकर का कहना है कि अकारणता का अर्थ बौद्धो के लिए नित्यत्व अथवा असत्त्व होता है। पहले अर्थ में विनाश नित्य हो जायगा, और अतएव विनाश और उत्पत्ति की साथ अवस्थिति माननी होगी। दूसरे अर्थ मे विनाश के असत्त्व से सर्व-नित्यत्व सिद्ध हो जायगा। वस्तुत. क्षणिकवादी से यह पूछना चाहिए कि क्षणिकत्व क्या विनाशित्व को द्योतित करता है, अथवा आशुविनाशित्व को, अथवा उत्पन्न-प्रध्व-सित्व को, अथवा उत्पन्न-विनाशित्व को? पहले पक्ष में सिद्ध-साधन प्राप्त होता है, दूसरे में विशेषण सिद्धान्त का विरोधी हो जाता है, तीसरे मे यदि उत्पत्ति और विनाश को समकालीन माना जाय तो अनुत्पन्न की उत्पत्ति के समान अनुत्पन्न का विनाश भी प्राप्त होगा। उत्पन्न होने के अनन्तर विनाश मानने पर जैसे कादाचित्क क्रियारूप उत्पत्ति को सकारण माना जाता है ऐसे ही विनाश को सकारण मानना होगा।[११]

उद्योतकर क्षणिकवादी से प्रश्न करते है—क्षणिक का क्या अर्थ है? यदि क्षणिक को क्षयवान् माना जाय तो यह मानना होगा कि क्षय के पूव क्षयवान् की सत्ता है, जो विरुद्ध है। यदि समनन्तर क्षय से विशिष्ट सत्ता को क्षणिक कहा जाय, तो भी असम्भव है, क्योकि जिस समय सत्ता है उस समय क्षय नही है और जिस समय क्षय है, उस समय सत्ता नहीं है। यदि क्षणिक का अर्थ क्षण रूप काल से अविच्छिन्न सत्ता मानी जाय तो सिद्धान्त-विरोध उपस्थित होता है क्योकि बौद्धो के अनुसार काल सज्ञामात्र है। नाममात्र किसी वस्तु का विशेपण नही हो सकता। अथच, क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा करने पर कोई दृप्टान्त ही नही मिल सकता क्योकि प्रदीप आदि का दृप्टान्त असिद्ध है।

कुमारिल—कुमारिल का कहना है कि योगाचार अर्थशून्य विज्ञान को मानते है, माध्यमिक विज्ञान को भी शून्य मानते है[१२]। वाह्यार्थ की शून्यता दोनो को ही मान्य है। इसीलिए भाप्यकार (=शबर) ने वाह्यार्थ की स्थापना के लिए यत्न किया है जिससे दोनो ही वौद्ध मत एक साथ निराकृत हो जायँ। सम्भवत अक्षपाद और वाद-रायण का भी यही अभिप्राय था।

११—न्यायवार्तिक, पृ० ४१५।
१२—द्र०—श्लोकवार्तिक में निरालम्बनवाद एव शून्यवाद के प्रकरण।

बाह्यार्थ के निराकरण के लिए बौद्धों ने दो प्रकार की युक्तियाँ दी है। एक ओर उन्होंने प्रमेय की परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि ज्ञान का आलम्बन न परमाणु हो सकता है न परमाणु-समूह। इस प्रकार की प्रमेय-परीक्षा वसुबन्धु की विंशतिका मे विस्तारित है तथा इसका मूल माध्यमिक आलोचना में मानना चाहिए। दूसरी ओर प्रमाण-परीक्षा मे भी यही निष्कर्ष प्राप्त किया गया है। इसमें ज्ञान को निरालम्बन सिद्ध करने के लिए दो मुख्य अनुमान प्रस्तावित किये गये है—(१) जागरित बोध बोध होने के कारण स्वप्नवत् आलम्बनहीन है, (२) बोध और उसका विषय साथ उपलब्ध होने के कारण अभिन्न है तथा उनमें भेद की प्रतीति भ्रान्त है। इनमें पहला अनुमान प्राचीन है, दूसरे का परिष्कार और विकास दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति के युग मे हुआ। आलम्बन के अभाव मे बोधवैचित्र्य समझाने के लिए विज्ञानवादी 'वासना' के सिद्धान्त का सहारा लेते थे।

कुमारिल ने प्रमाण-परीक्षा की ओर ही ध्यान दिया है। प्रत्ययत्व को हेतु बनाकर निरालम्बनत्व सिद्ध करने के प्रयत्न में एक ओर प्रत्यक्ष-विरोध होता है, दूसरी ओर दृष्टान्त की प्राप्ति नही होती। जागरित अवस्था के प्रत्यक्ष मे बाह्य पदार्थों की सुपरिनिश्चित प्रतीति होती है जिसके तिरस्कार के लिए पर्याप्त प्रबल बाधक उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न का दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि प्रतीतिमात्र में आलम्बन होता है, स्वप्न में भी, भ्रान्ति में भी। असत्प्रतीति में आलम्बन का अभाव नही होता, किन्तु देश-काल का विपरिवर्तन होता है। जहाँ बौद्ध अशेष ज्ञान को निरालम्बन मानते है, मीमांसक अशेष ज्ञान को सालम्बन।

'सहोपलम्भ नियम' का सहारा लेकर बौद्धो का कहना है कि प्रत्यक्ष-विरोध को उपस्थित करना अपार्थक है क्योंकि प्रत्यक्ष में ग्राह्य अश आकारमात्र होता है, तदतिरिक्त बाह्य वस्तु नहीं। ज्ञेय आकार को वस्तुगत मानने पर ज्ञान का उससे सम्बन्ध दुर्घट हो जायेगा। अतएव आकार को ज्ञानगत मान कर ग्राह्य-ग्राहक भेद को ज्ञान के अभ्यन्तर स्वीकार करना चाहिए। इसके विरोध में कुमारिल का कहना है कि ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध प्रकाशक और प्रकाश्य के समान भेदमूलक है। जिस समय विषय का ग्रहण होता है उस समय ज्ञान का ग्रहण नही होता। जिस समय एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का ग्रहण होता है उस समय विषय ज्ञेय नहीं होता। यदि ग्राह्य और ग्राहक का अभेद होता तो उनका समकालिक ग्रहण होता जबकि यथार्थ विपरीत है। यहाँ भी बौद्ध और मीमांसक मतो मे मौलिक भेद है। विज्ञानवादी ज्ञान को स्वप्रकाश मानते है, जिसमें कुमारिल सहमत नही है।

विज्ञानवाद के विरुद्ध कुमारिल की एक बडी आपत्ति यह है कि वह व्यवहारविरोधी है। यदि बिना आलम्बन के ही ज्ञान उद्भासित होता है तो सत्य और मिथ्या का भेद ही विलीन हो जायगा तथा पुरुषार्थी के अभाव मे प्रवृत्ति और निवृत्ति, शास्त्र और वाद, सभी निराश्रय हो जायेगे। वासना का भी व्यवहार को नियामक नही बताया जा सकता क्योकि बाह्य आलम्बन के अभाव मे वासना की उत्पत्ति ही नही होगी।

इस व्यवहारविषयक आपत्ति के परिहार मे बौद्धो का कहना है कि सत्य द्विविध है—सवृति और परमार्थ। बाह्य जगत् की सावृत सत्ता से ही व्यवहार की सिद्धि हो जायगी, वस्तुत जागतिक व्यवहार परमार्थ पर आश्रित न होकर उसके अज्ञान पर आश्रित है। इसीलिए शास्त्र आदि आवश्यक है। दिङ्नाग की उक्ति है कि समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार बुध्यारूढ धर्म और धर्मी से सिद्ध होता है, उसके लिए उनका पारमार्थिक सत्यासत्य अनपेक्षित है। कुमारिल इस परिहार को नही मानते। उनका कहना है कि सवृति-सत्य की कल्पना निस्सार है। 'सत्य है तो सवृत्ति कैसे, मिथ्या है तो सत्यता कैसे ?" सवृति और परमार्थ का भेद सत्य और असत्य के मध्य मे एक तृतीय वस्तु की विमूढ कल्पना है।

शंकर—श्रीशकराचार्य ने शारीरकभाष्य में बौद्धो के तीन सम्प्रदायो का उल्लेख किया है—सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद। सर्वास्तिवादी बाह्य और आन्तर वस्तु की सत्ता मानते हैं तथा उसे चतुर्विध बताते हैं—भूत और भौतिक, चित्त और चैत। पृथ्वी धातु आदि भूत हैं। रूप आदि तथा चक्षु आदि भौतिक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु-सघात हैं। इनके परमाणु क्रमश कठिन, स्निग्ध, उष्ण, और चलनात्मक हैं। चित्त और चैत्त मे पाँच स्कन्ध सगृहीत हैं। ये भी सहत होकर व्यवहारास्पद बनते हैं।

इसके खण्डन मे शकर का कहना है कि ये दोनो प्रकार के समुदाय अनुपपन्न हैं क्योकि समुदायी अचेतन है। चित्त का व्यापार भी समुदायसिद्धि के अधीन है। कोई चेतन भोक्ता या प्रशासिता, या स्थिर सहन्ता स्वीकार नही किया गया है। अतएव स्कन्ध-सघात की प्रवृत्ति को निरपेक्ष मानना होगा। ऐसी स्थिति में उनकी प्रवृत्ति का विराम ही नही होगा। आलयविज्ञान की सत्ता स्वीकार करने से भी काम न चलेगा क्योकि उसे स्थिर मानने पर आत्मा का स्वीकार हो जायेगा, क्षणिक मानने पर वह सहन्ता न हो पायगा। अथच, स्कन्धो की क्षणिकता के स्वीकार से उन्हे निर्व्यापार मानना होगा और अत उनकी प्रवृत्ति भी अनुपपन्न है। इस प्रकार न समुदाय सम्भव है,न तदाश्रित लोकयात्रा।

यह कहा जा सकता है कि अविद्या आदि द्वादश निदानो के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक-भाव से सघात उपपन्न है, किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद से निदानो की उत्पत्तिमात्र सिद्ध होती है, सघात नही। सघात की उत्पत्ति के लिए निमित्त चाहिए जो कि भोक्तृरहित क्षणिक अणुओ के स्वीकार मे असम्भव है। यदि सघातो की अनादि सन्तति मानी जाय तो उसमे एक सघात से दूसरे की उत्पत्ति या नियम से सदृश होगी या अनियम से सदृश या विसदृश। पहले विकल्प मे सन्तान का जाति-भेद न होगा, दूसरे मे एक जाति के अन्दर भी व्यक्तित्व सिद्ध न हो पायेगा। पुनश्च, स्थिर भोक्ता के अभाव में भोग भोगार्थ होगा, मोक्ष मोक्षार्थ। अतएव न भोग प्रार्थनीय होगा, न मोक्ष।

यही नही, क्षणभग मानने पर कार्यकारण-भाव ही सिद्ध न होगा। पूर्वक्षण को निरुद्ध मानने पर उत्तर क्षण को उत्पन्न करने के लिए केवल अभाव रह जायगा। यदि सत्तायुक्त पूर्व क्षण को कारण माना जाय तो उसमे क्रिया और अतएव क्षणान्तर-सम्वन्ध मानना होगा। यदि उसकी सत्ता को क्रिया से अभिन्न माना जाय तो भी अनुपपत्ति रह जाती है क्योकि तब यह वताना होगा कि कारण के स्वभाव से स्पृष्ट कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार होगी ? यदि कारण से कार्य को उपरक्त माना जाय तो कारण की क्षणिकता तिरस्कृत हो जाती है। और यदि कार्य के स्वभाव को कारण से अछूता माना जाय तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जायेगा। अपिच, उत्पाद, और निरोध वस्तु का स्वरूप माने जा सकते है, या उसकी अवस्थान्तर, अथवा वस्त्वन्तर। पहली कल्पना मे 'वस्तु', 'उत्पाद', एव 'निरोध' को पर्याय मानना होगा। दूसरी मे अवस्थाभेद मानने पर क्षणिकत्व छोडना होगा। तीसरी मे वस्तु शाश्वत हो जायगी। यदि वस्तु का दर्शन और अदर्शन ही उसका उत्पाद और निरोध माना जाय तो भी वस्तु शाश्वत हो जायगी क्योकि दर्शन और अदर्शन द्रष्टा के धर्म है, न कि दृश्यवस्तु के। क्षणिकता के स्वीकार से स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान असम्भव हो जायेगे क्योकि इनके लिए पूर्वकालीन दर्शन और उसके उत्तरकालीन स्मरण के क्षणो मे अभिन्न विपयी तथा अभिन्न विषय अपेक्षित है।

विज्ञानवादी के लिए समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार आन्तरिक है तथा बुद्धि-समारूढ रूप से ही उपपन्न है। ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य पदार्थो की सत्ता असम्भव है क्योकि वाह्य अर्थ परमाणु होगे या परमाणु-समूह। परमाणुओ को स्पष्ट ही स्तम्भ आदि की प्रतीति का आलम्बन नही माना जा सकता। दूसरी ओर स्तम्भ आदि को परमाणु-समूह भी नही माना जा सकता क्योकि समूह को परमाणुओ से न भिन्न निरूपित किया जा सकता है, न अभिन्न। इसी प्रकार जाति आदि भी प्रत्याख्येय हैं।

पुनश्च ज्ञान से घट, पट आदि विशिष्ट विषय प्रकाशित होते हैं। अपने विषय के चुनाव मे ज्ञान की यह विशेषपरकता ज्ञान और विषय के सामरूप्य के बिना समझ मे नही आ सकती। इस सारूप्य के मानने पर ज्ञेय आकार को ज्ञानगत मानने में लाघव है। यही नहीं, ज्ञान और ज्ञेय की सदा साथ ही उपलब्धि होती है। अतएव उन्हें अभिन्न मानना ही उचित है। स्वप्न, आदि में इस अभेद का दृष्टान्त मिलता है। जागरित की प्रतीति को भी स्वप्नवत् मानना चाहिए। स्वप्नतुल्य ही बाह्यार्थ के अभाव मे वासना के वैचित्र्य से प्रतीति-वैचित्र्य को सिद्ध समझना चाहिए।

इस युक्ति-कलाप के खण्डन मे शकराचार्य का कहना है कि बाह्यार्थ की सत्ता उपलब्धि के द्वारा ही सुघोषित है। कोई भी घट, पट आदि के ज्ञान को ही घट, पट आदि नही समझता। ज्ञान और ज्ञेय के सहोपलम्भ का कारण उनका अभेद न होकर उनका उपायोपेयभाव है। ज्ञान ज्ञेय का ज्ञापक है अत ज्ञानविरहित ज्ञेय उपस्थित नही होता, किन्तु उससे उनका अभेद सिद्ध नही होता। प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय का भेद लक्षित भी किया जा सकता है। घटज्ञान, पटज्ञान, आदि में ज्ञान के तुल्य होते हुए भी विषयभेद प्रकट होता है, दूसरी ओर, घटज्ञान, घटस्मरण आदि मे विषय का भेद न होते हुए भी विषयी का भेद लक्ष्य है। अथच, ज्ञान स्वय अपना ज्ञेय किस प्रकार हो सकता है। कुशल नट भी अपने कन्धे पर नही चढ सकता। शंकर विज्ञान की स्वसवेद्यता का भी खण्डन करते हैं। अनित्य विज्ञान से अत्यन्त भिन्न नित्य साक्षी ही स्वयसिद्ध है। उसी से विज्ञान को अवभास्य मानना चाहिए। स्वप्न और जागरित की तुलना भी अयुक्त है क्योंकि स्वप्न का बाध होता है, जागरित का नही। स्वप्न स्मृतिरूप है, जागरित उपलब्धि-रूप। वासना के सहारे ज्ञानभेद बताना भी निर्युक्तिक है क्योकि वासना सस्कारविशेष है तथा सस्कार निमित्त अथवा आश्रय के बिना उद्भूत नही होते। बाह्यार्थ के अभाव मे निमित्त की सिद्धि नही होती, क्षणिकत्व के कारण आलयविज्ञान भी वासना का आश्रय नही बन सकता।

शून्यवादियो के पक्ष को शकराचार्य ने सर्व-प्रमाण-विप्रतिषिद्ध कहा है तथा उसका खण्डन अनावश्यक बताया है। लोकव्यवहार सर्व-प्रमाणसिद्ध है। बिना किसी अन्य तत्त्व के स्वीकार के उसका निषेध नही किया जा सकता।

ह्रास और पतन

सिन्ध—सातवी शताब्दी मे श्वान्च्वाग के अनुसार सिन्ध के शासक शूद्रजातीय बौद्ध थे तथा वहाँ विहार एव भिक्षु बहुसख्यक थे, किन्तु उनमें भ्रष्टाचार प्रचलित था। साहसो राय के अनन्तर ब्राह्मण अमात्य चच ने नये राजवश की स्थापना की।

'चचनामा' से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणावाद मे इस समय "बुद्धरक्षित" (?) नाम का बौद्ध श्रमण था जोकि स्पष्ट ही एक सिद्ध नान्त्रिक था। उसके प्रभाव से चच ने बौद्ध धर्म का विरोध नही किया। चच का भाई 'चन्दर' श्रमण बताया जाता है। ई० ७१२ मे चच का पुत्र दाहिर मुहम्मद बिन कासिम के द्वारा मार डाला गया तथा हिन्दुओ के स्थान पर अरबो ने सिन्ध में शासन की बागडोर पकड़ी। अरब विवरणो से यह निस्सन्देह है कि उस समय सिन्ध मे बौद्ध श्रमणो की संख्या प्रचुर तथा उनका प्रभाव पर्याप्त था। किन्तु ये श्रमण स्पष्ट ही कापुरुष एव देशद्रोही थे। अरबो की विजय में इन्होंने अनेक प्रकार से सहायता पहुँचायी। अरबों की धार्मिक सहिष्णुता के कारण आठवी सदी में सिन्धी बौद्धो का सहसा लोप नही हुआ। आठवी सदी के पूर्वार्ध मे ह्वि-चाओ के यात्रा-विवरण (७०६–९) से इसकी पुष्टि होती है। पीछे धर्मपाल के समय में 'सैन्धव श्रावको' का उल्लेख तारानाथ (पृ० २२७) ने किया है। बुदोन ने बुद्धाब्द की गणना पर 'सैन्धव श्रावको' का मत उद्धृत किया है। किन्तु इस्लाम के सान्निध्य में तथा मुस्लिम शासन मे सिन्ध के पहले से विकृत और भ्रष्ट बौद्ध धर्म का क्रमश किन्तु अविदित रूप से क्षय और लोप हुआ।

उत्तर-पश्चिम—कोरिया के भिक्षु ह्वी-चाओ ने ७२६ से ७२९ के बीच भारत-यात्रा की थी। उसके तथा उ-कुंग के विवरण (७५१–९०) से ज्ञात होता है कि आठवी सदी में कपिशा, गन्धार, उड्डियान एव कश्मीर में सद्धर्म का प्रचुर प्रचार था। यह स्मरणीय है कि श्वान्-च्वाग ने गन्धार और उड्डियान मे सद्धर्म के ह्रास का निर्देश किया है। सद्धर्म का यह पुनरुज्जीवन कदाचित् उड्डियान के मन्त्रयान एव वज्रयान के रूप मे था जिसके वहाँ प्रचार का सकेत श्वान्-च्वाग ने भी किया है। उड्डियान में वज्रयान के नेता इन्द्रभूति और पद्मसम्भव थे। आठवी और नवी सदियो में कपिशा, गन्धार और उड्डियान मे तुर्की शाही नरेश शासन करते थे और वे बौद्ध धर्म के अनुकूल प्रतीत होते है। नवी शताब्दी में पुरुषपुर के कनिष्क-विहार में अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है। ई० ८७० में अरबो ने काबुल जीत लिया तथा प्रायः इसी समय लल्लिय नाम के ब्राह्मण ने तुर्की शाही वश के स्थान पर ब्राह्मण शाही वश की स्थापना की जिसका ११वी सदी में कट्टर धर्मान्ध मुस्लिम तुर्कों ने विनाश किया। प्राय इसी समय अलबेरुनी ने अफगानिस्तान एव उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म को लुप्त पाया।

कश्मीर—श्वान्-च्वाग ने कश्मीर में १०० विहार देखे थे, प्राय एक शताब्दी पश्चात् ७५९ में उ-कुंग ने वहाँ ३०० विहारों का उल्लेख किया है। कल्हण से ज्ञात

होता है कि वैष्णव होते हुए भी ललितादित्य और जयापीड ने अनेक बौद्ध विहारो का निर्माण कराया। नवी शताव्दी मे अवन्तिवर्मा के शासनकाल में बौद्ध साहित्य और तन्त्रो की प्रगति का प्रमाण मिलता है। क्षेमगुप्त के समय में बौद्ध मठो का राजनीतिक हस्तक्षेप सूचित होता है। दिद्दा (९५०-१००३) ने अनेक बौद्ध विहार वनवाये। ११वी शताब्दी मे कलश ने तान्त्रिको और बौद्धो का पोषण किया। हर्ष (१०८९-११०१) के घोर अत्याचारो और भ्रष्टाचारो में मन्दिरो का धन लूटना भी था। बौद्ध विहारो की इस समय कितनी क्षति हुई, यह अनिश्चित है। जयसिंह (११२३-४०) के समय मे बौद्ध धर्म के लिए दिये गये अनेक दानो का उल्लेख प्राप्त है।

यह स्पष्ट है कि कश्मीर में अधिकाश शासक बौद्ध न होते हुए भी बौद्ध धर्म के प्रतिकूल नही थे। बौद्ध भिक्षुओ के लिए विविध विहारो का निर्माण बरावर ही होता रहा। कश्मीर मे नवी सदी में धर्मोत्तर आदि अनेक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य हुए थे और प्रत्यभिज्ञा दर्शन का बौद्ध दर्शन से निश्चित सम्बन्ध प्रतीत होता है। ज्ञानश्री, सोमनाथ आदि बुद्धश्रीज्ञान कश्मीरी बौद्ध पण्डित तिव्वत में धर्मप्रचार एव अनुवाद के लिए बुलाये गये। ई० ९६६ में शिग-चिन और १५६ चीनी भिक्षु बौद्ध ग्रन्थो के संकलन के लिए कश्मीर आये। जहाँ एक ओर कश्मीर में बारहवी शताब्दी तक बौद्ध कला और पाण्डित्य की परम्परा बनी रही, दूसरी ओर बौद्ध विहारो और भिक्षुओ में विकृत और भ्रष्ट धर्मचर्या के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। कल्हण ने सस्त्रीक भिक्षुओ का उल्लेख किया है तथा सद्धर्म में श्रद्धालु क्षेमेन्द्र की कृतियो में भिक्षुओ पर व्यग्य का अभाव नही है। उत्तर-पश्चिम के सदृश कश्मीर में भी बौद्ध धर्म का विनाश इस्लाम की देन मानना चाहिए। ई० १३३९ से कश्मीर में मुस्लिम प्रभुत्व निश्चित रूप से विदित है।

पश्चिम और मध्यदेश—श्वान्-च्वाग और इ-चिग के विवरण से सातवी सदी में सद्धर्म की वलभी में समृद्धि ज्ञात होती है। सातवी और आठवी शताव्दियो मे अभिलेखो से सद्धर्म के प्रति वलभी के शासको की अनुकूलता और दानशीलता सूचित होती है। वलभी इस युग में बौद्ध विद्या का एक प्रकृष्ट केन्द्र था। पीछे मध्य भारत और पश्चिम मे वौद्धो के क्रमश ह्रास में राजकीय उपेक्षा तथा ब्राह्मण और जैन धर्मों के प्रसार को कारण मानना चाहिए।[९३]

९३-द्र०—अल्तेकर, राष्ट्रकूटज एण्ड देयर एज, पृ० २७०-७२, ३०७-९; तु०—सी० आइ० आइ०, जि० ४, भाग १, पृ० १४६, १४९।

मध्यदेश मे श्वान्-च्वाग के समय में ही सद्धर्म का ह्रास सूचित होता है। स्पष्ट ही बौद्ध धर्म के लिए गुप्तो की सहिष्णुता पर्याप्त नही थी। उसे अपने विकास के लिए राजकीय पोषण अपेक्षित प्रतीत होता है। आठवी सदी में ह्वी-चाओ और उ-कुग दोनो ने कान्यकुब्ज मे सद्धर्म को समृद्ध, किन्तु वाराणसी मे लुप्तप्राय देखा। छि-ये नाम का चीनी यात्री भारत से ९७६ मे लौटा था। उसने कान्यकुब्ज में भी बौद्ध धर्म को लुप्त पाया, किन्तु मगध मे उसकी स्थिति समृद्ध थी। सारनाथ मे पुरातत्त्वीय सामग्री १२वी शताब्दी के अन्त मे बौद्ध परम्परा का सहसा उच्छेद सूचित करती है जो सम्भवत तुर्की विजय का परिणाम था।

मगध और पूर्व—पाल सम्राट् अपने को 'परमसौगत' कहते थे और मगध मे उनके शासन-काल मे बौद्ध धर्म, दर्शन, तन्त्र तथा कला का एक उज्ज्वल युग आविर्भूत हुआ।[९४] आठवी शताब्दी मे पालवश के प्रभुत्व का वगाल मे उद्भव तथा मगध में विस्तार हुआ। धर्मपाल के समय में पालसाम्राज्य का अधिकार समुद्र से कान्यकुब्ज तक विस्तृत था। देवपाल के समय मे साम्राज्य का यह प्रताप बना रहा। पीछे अनेक भाग्य-विपर्ययो के बावजूद पालशक्ति न्यूनाधिक रूप मे वारहवी शताब्दी तक विद्यमान थी। इस युग मे नालन्दा, विक्रमशील, ओदन्तपुरी, सोमपुरी आदि विहारो की विद्या और ख्याति अपने चरम शिखर तक पहुँची तथा बौद्ध धर्म ने तिब्बत पर विजय प्राप्त की जिसमें शान्तरक्षित, पद्मसम्भव और अतीश ने प्रधान नेतृत्व किया। दूसरी ओर, तन्त्र और हठयोग के विकास ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्मो के बीच की खाई अशत पाटी।

तारानाथ के अनुसार पालयुग में सद्धर्म का मगध, मगल, आडिविश, अपरान्तक जनपद, कश्मीर तथा नेपाल मे विस्तार हुआ। इस विस्तार में सद्धर्म का रूप प्रधानतया महायान एव मन्त्रनय था। प्रथम पालशासक गोपाल का मात्स्यन्याय से अभिभूत प्रजा ने राजपद में वरण किया था। गोपाल ने मगल से प्रारम्भ कर अपना शासन मगध पर भी स्थापित कर लिया। ओदन्तपुरी में गोपाल के समय में ही

९४—द्र० तारानाथ, पृ० २०२-५७; जे० बी० ओ० आर० एस० ५.१७१; विद्याभूषण, हिस्टरी आव दि मेडीवल स्कूल आव् इण्डियन लोजिक; मित्र, डिक्लाइन ऑव् बुद्धिज्म इन इण्डिया; मजुमदार (सं०), हिस्टरी ऑव् बंगाल, जि० १, साहु, बुद्धिज्म इन उड़ीसा; बोस, इण्डियन टीचर्स आव् दि बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज।

कदाचित् वहाँ के सुप्रसिद्ध विहार की स्थापना हुई। अभयाकरगुप्त के समय मे यहाँ एक सहस्र भिक्षु थे। इसी युग मे कश्मीर मे आचार्य शान्तिप्रभ, पुण्यकीर्ति के शिष्य शाक्यप्रभ, दानशील, विशेषमित्र, प्रज्ञावर्मा तथा आचार्य शूर विद्यमान थे। पूर्व मे इस समय आचार्य ज्ञानगर्भ थे तथा विरूप नाम के एक सिद्धाचार्य भी इसी समय के है। शान्तरक्षित नालन्दा के प्रसिद्ध आचार्य थे और पीछे धर्मप्रचार के लिए तिब्बत गये थे। उनका **'तत्त्वसंग्रह'** बौद्ध दर्शन की अनुपम कृति है। इसमे अन्य दर्शनो और सम्प्रदायो का विस्तृत खडन है। ग्रन्थकार का अपना सिद्धान्त खण्डन मे माध्यमिक-स्वातन्त्रिक, प्रमाणमीमासा मे सौतान्त्रिक, तथा परमार्थचिन्तन मे योगाचार-विज्ञानवाद से प्रभावित है। बुद्ध की सर्वज्ञता ही उनके सिद्धान्तो मे मूर्धन्य है।

धर्मपाल का शासन सुदीर्घ बताया गया है। तारानाथ ने उस साम्राज्य का विस्तार समुद्र से दिल्ली और जालन्धर तक बताया है। धर्मपाल ने सिहभद्र और ज्ञानपाद को अपना आचार्य बनाया तथा **प्रज्ञापारमिता** एव **गुह्यसमाज** का विशेष समादर किया। उनके समय मे सिद्धाचार्य कुकुर का आविर्भाव हुआ। धर्मपाल ने ही विक्रम शील-विहार की स्थापना की। यह विहार मगध मे उत्तर की ओर गगातीर पर पर्वताग्र मे स्थित था। विहार के चारो ओर प्राकार था तथा मध्य में १०८ चैत्यगृह थे। वहाँ १०८ आचार्य थे जिनके अतिरिक्त विहार के विविध प्रबन्ध के लिए ६ आचार्य और थे। कालान्तर मे यहाँ एक मध्य मे स्थित आवास के ६ तरफ ६ अन्य आवासो का विकास हुआ। विहार के ६ द्वारो मे विख्यात विद्वान् द्वार-पण्डित के रूप मे रहते थे। धर्मपाल के समय के प्रसिद्ध पण्डितो मे कल्याणगुप्त, सिहभद्र, शोभव्यूह, सागरमेध, प्रभाकर, पूर्णवर्धन, वज्राचार्य बुद्धज्ञानपाद, बुद्धगुह्य एव बुद्धशान्ति उल्लेखनीय है। सिहभद्र ने शान्तिरक्षित से **माध्यमिकशास्त्र** का अध्ययन किया था तथा वेरोचनभद्र से **प्रज्ञापारमिता** एव **अभिसमयालकारोपदेश** का। इन्होने अष्टसाहस्रिका पर व्याख्या आदि अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया। आचार्य सागरमेध की **बोधिसत्त्वभूमि** पर व्याख्या प्रसिद्ध है। वज्राचार्य बुद्धज्ञानपाद के चमत्कारो के विषय मे अनेक प्रसिद्धियाँ थी। **गुह्यसमाज, मायाजाल, बुद्धसमायोग, चन्द्रगुह्यतिलक** तथा **मंजुश्रीक्रोध** नाम के तन्त्रो का वे प्राय व्याख्यान करते थे। यह स्मरणीय है कि इसी युग मे सैन्धव श्रावको ने और सिहल के भिक्षुओ ने विक्रमशील मे तन्त्र-मन्त्र का विरोध प्रकट किया।

तारानाथ के अनुसार देवपाल ने योगी शिरोमणि से प्रेरित होकर ओडिविश के तीर्थिक राजा से युद्ध किया और ओडिविश जीता क्योकि पूर्वकाल में वहाँ सद्धर्म का

प्रचार था जिसका स्थान उस समय तीर्थिको ने ले लिया था। देवपाल ने ४० विशेष तीर्थ्य स्थानो का विनाश किया जिनमे अधिकाश मगल और वरेन्द्र मे थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इन्होने श्रीत्रैकूटक अथवा सोमपुरी विहार का उद्धार किया। इनके समय मे अपर कृष्णाचारिन नाम के आचार्य हुए थे। इन्होने कामरूप मे वसुसिद्धि प्राप्त की थी तथा ये सम्बर, हेवज्र और यमान्तक तन्त्रो के पण्डित थे। इन्होने **शम्बरव्याख्या** और अन्य शास्त्रो का प्रणयन किया। इस समय के अन्य प्रमुख आचार्य थे—शाक्यप्रभ, शाक्यमित्र, सुमतिशील, दष्ट्रासेन, ज्ञानचन्द्र, वज्रायुध, मजुश्रीकीर्ति, ज्ञानदत्त, और वज्रदेव। दक्षिण की ओर इस समय भदन्त अवलोकित थे तथा कश्मीर मे आचार्य धनमित्र। शाक्यमित्र ने **तत्त्वसंग्रह** नाम के योगतन्त्र पर **कोसलालंकार** नाम की व्याख्या कोसल मे लिखी। जीवन के अन्तिम भाग मे ये कश्मीर चले गये। वज्राचार्य मजुश्रीकीर्ति ने **नामसंगीति** पर टीका लिखी। वज्रदेव एक कवि थे और उनके **लोकेश्वरशतकस्तोत्र** की प्रसिद्धि थी।

महीपाल के समय मे आचार्य आनन्दगर्भ, परहित, चन्द्रपद्म, ज्ञानदत्त, ज्ञानकीर्ति आदि थे। कश्मीर में इस समय जिनमित्र, सर्वज्ञदेव, दानशील आदि उल्लेख्य है। सिद्ध तिलोपा भी इसी युग के थे। आनन्दगर्भ महासाघिक सम्प्रदाय के तथा न्याय-माध्यमिक दर्शन के अनुयायी थे। उन्होने बहुसख्यक योग तन्त्रो पर व्याख्याएँ लिखी।

तारानाथ के अनुसार महीपाल के अनन्तर 'महापाल' ने शासन किया। 'महापाल' से किस शासक को समझना चाहिए, यह अनिश्चित है। 'महापाल' ने ओदन्तपुरी मे उरुवास विहार स्थापित किया तथा वहाँ ५०० सैन्धव श्रावको का प्रबन्ध किया। सोमपुरी, नालन्दा, आदि मे उसने अनेक विहार स्थापित किये। कालचक्रतन्त्र का इस समय प्रचार हुआ तथा आचार्य प्रज्ञाकरगुप्त, पद्माकुश, जेतारि, कृष्णसमयवज्र आदि इसी समय के है।

तारानाथ के अनुसार 'चणक' के प्रशासन-काल मे रत्नाकरशान्ति, प्रज्ञाकरमति, वागीश्वरकीर्ति, नारोपा, रत्नवज्र तथा ज्ञानश्रीमित्र विक्रमशील के 'द्वारपण्डित' थे। नारोपा मर-पा के गुरु थे। तिब्बत के प्रसिद्धतम सिद्ध मिल-रे-पा मर-पा के शिष्य थे। रत्नवज्र कश्मीर से विक्रमशील आये थे। कश्मीर लौट कर उन्होने वहाँ धर्म का प्रचार किया तथा अन्त में उद्यान चले गये। ज्ञानश्रीमित्र गौडदेशीय थे तथा पहले सैन्धव श्रावको के पण्डित थे। पीछे उन्होने महायान स्वीकार किया।

अतीश दीपकर श्रीज्ञान को नयपाल के समय मे रखना चाहिए। तारानाथ ने 'नयपाल' के समय मे अमोघवज्र, प्रज्ञाकाररक्षित आदि पण्डित कहे है। प्रज्ञाकर-

रक्षित को पितृ-मातृ-तन्त्रो मे विद्वान् बताया गया है। नारोपा के शिष्य रिरि, जाति के चाण्डाल थे। आचार्य अनुपमसागर कालचक्रतन्त्र के पण्डित थे। कश्मीर मे इस समय शकरानन्द ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थो पर व्याख्याएँ लिखी।

रामपाल के समय मे अभयाकरगुप्त नाम के महान् आचार्य वज्रासनपण्डित थे। तारानाथ के अनुसार इस समय सघ का ह्रास हुआ। विक्रमशील मे इस समय १६० पण्डित थे और १,००० आवासिक भिक्षु थे यद्यपि पर्व के अवसर पर ५,००० एकत्र हो जाते थे। वज्रासन मे राजा के द्वारा पोषित ४० महायान के अभिज्ञ तथा २०० श्रावक भिक्षु निरन्तर वास करते थे। विशिष्ट अवसरो पर १०,००० श्रावक भिक्षु एकत्र होते थे। ओदन्तपुरी मे १,००० भिक्षु सतत निवास करते थे, किन्तु अवसरो पर १२,००० एकत्र हो जाते थे। इस समय मगध के अतिरिक्त प्राय सर्वत्र. तीर्थिक और म्लेच्छ धर्मो की वृद्धि हो रही थी।

तारानाथ ने **'राथिकसेन'** के समय मे २४ "महान्" (आचार्यो) का उल्लेख किया है जिनमे कुछ कश्मीर और नेपाल मे थे तथा सब वज्रधर और सम्बर के अभिज्ञ थे। किन्तु सेनवश के समय ही म्लेच्छो ने कुछ भिक्षुओ की सहायता से मगध मे विजय प्राप्त की तथा विहारो को तहस-नहस किया। बौद्ध आचार्य तिब्बत, नेपाल, दक्षिण आदि की ओर भाग गये तथा मगध और बगाल मे भी सद्धर्म का सूर्यास्त हो गया।

ह्रास के कारण

भारत मे सद्धर्म के ह्रास और पतन के विषय मे अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। यह कहा गया है कि "सद्धर्म का प्रचार केवल स्थानीय तथा कादाचित्क था" (वासिलियफ), अत. उसका पतन आश्चर्यजनक नही है। यह भी कहा गया है कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म में कवलित हो गया जिसमे ७वी शताब्दी से सामितीय और तान्त्रिक प्रसार ने सम्भवत सहायता दी। बौद्ध सघ में तन्त्रो के कारण ज्ञान और आचार के लोप को भी उसके नाश का कारण बताया गया है। कुमारिल तथा शकर के वाद-कौशल को भी बौद्धधर्म के ह्रास मे कारण माना गया है। इस प्रसग मे यह निर्विवाद है कि बौद्ध धर्म के कतिपय तत्त्व हिन्दू धर्म मे अवश्य स्वीकृत हुए हैं। यथा, शाक्तो की कौलपरम्परा मे तथा यह भी स्वीकार्य है कि अनेक भिक्षुओ एव विहारो मे भ्रष्टाचार का अभाव न था जिसका **'राष्ट्रपालपरिपृच्छा'** में स्पष्ट निर्देश है। किन्तु तान्त्रिक आचार तथा तत्सम्बद्ध कुछ विकृति केवल बौद्धो मे ही विदित न थी, अपितु शैवो और शाक्तो मे भी विदित थी, जिनका प्रचार लुप्त नही हुआ

और न तार्किक खडन से किसी धर्म का लोप माना जा सकता है। वस्तुत बौद्ध धर्म प्रधानतया भिक्षुओ का धर्म था तथा इन भिक्षुओ का जीवन विहारों में केन्द्रित था। उपासको के लिए बौद्ध धर्म ने अपना पृथक् और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आचार एव सस्थाएँ नही गढ पायी थी। नैयायिक उदयन का कहना है कि बौद्ध भी वैदिक सस्कारों का पालन करते थे। उपासको का बौद्ध धर्म मुख्यतया विहारो और चैत्यो के लिए दान तथा तारा, लोकेश्वर आदि की प्रतिमाओ का अर्चन ही था। बौद्ध विहार प्राय. राजाओ के द्वारा प्रदत्त अथवा अनुमत भूमिदान पर निर्भर करते थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रचार मे राजकीय समर्थन एव प्रोत्साहन का विशेष हाथ रहा है। दक्षिण और पश्चिम मे हिन्दू शासको की उपेक्षा अथवा वैमुख्य से तथा उत्तर में तुर्कों की विजय से बौद्ध विहार नष्ट और लुप्त हो गये। विहारो के लोप से उपासको की क्षीण बौद्धता का विलोप अनिवार्य था।